

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली



४५१२

क्रम संख्या

२००.३ देव-३

काल न०

खण्ड

**भविष्यत्कहा
तथा
अपभ्रंश-कथाकाव्य**

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री
साहित्याचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला :
सम्पादक एवं नियामक
कश्मीरचन्द्र जैन

ग्रन्थांक : २११
प्रथम संस्करण : १९७०



भविसयत्तकहा
तथा अपभ्रंश कथाकाव्य
(शोध-ग्रन्थ)

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री



प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक

सन्मति युवणाक्षय,

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

• • • •

BHAVISYATTAKAHĀ TATHĀ
APABHRAMSA-KATHĀKĀVYA

(Thesis)

Dr. Devendra Kumar Shashtri

Published by : BHARATIYA JNANPITH

3620/21, Netajee Subhash Marg, Delhi-6

Phone : 272582. Gram : 'JNANPITH', Delhi-6

Price

Rs. 20.00

मूल्य : बीस रुपये ।

वात्सल्यमूर्ति माताजी के स्पन्दनहीन जीवनाभाव में
समस्त रिक्तताओं के मध्य किशोर-जीवन को
सद्भावों से सम्पूरित करने वाले पूज्य
पिताश्री को, विनयावनीतिपूर्वक
सादर समर्पित ।

—देवेन्द्रकुमार

हउं मूढ णिबंघणु गुणणिरत्थु,
जाणउं ण सद-वावार सत्थु ।

अहं लिहियं एयहं पुत्थय, कोऊहलभरिय णिय मणेण ।
ण गुणबियारणवारण, कब्बं जाणेइं बुहयणेण ॥

पुरोवचन

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री को पुस्तक 'भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश-कथाकाव्य' महत्त्वपूर्ण शोध कृति है। 'भविसयत्तकहा' अपभ्रंश का बहुचर्चित कथा-काव्य है। इस पुस्तक के उपलब्ध होने के बाद से अपभ्रंश-साहित्य के शोध को एक नयी दिशा मिली थी। इस की जानकारी के पहले बहुत थोड़ी-सी रचनाओं तक ही अपभ्रंश का अध्ययन सीमित था। परन्तु उस की प्राप्ति से अपभ्रंश रचनाओं के अधिकाधिक प्राप्त होने का विश्वास ही नहीं उत्पन्न हुआ, इस साहित्य के बहुत-से ग्रन्थरत्न ढूँढ निकाले गये और वह धारणा सदा के लिए समाप्त हो गयी कि महान् अपभ्रंश साहित्य अब खो ही गया है। अनेक विद्वानों के प्रयत्नों के फलस्वरूप अब कई दर्जन अपभ्रंश काव्य उपलब्ध हो चुके हैं और सम्पादित-प्रकाशित होते जा रहे हैं। इस प्रकार एक अल्पज्ञात साहित्य को फिर से प्रत्युज्जीवित और लोकगोचर करने में इस कथा-काव्य का ऐतिहासिक महत्त्व है।

यद्यपि इस की चर्चा काफी होती रही है, पर हिन्दी में इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण महत्त्व को स्पष्ट करने योग्य कोई अध्ययन अब तक नहीं हुआ था। डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने इस बड़े अभाव की पूर्ति की है। उन्होंने इस ग्रन्थ के सभी साहित्यिक पक्षों का विशद आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। परन्तु केवल वे इस ग्रन्थ तक ही सीमित नहीं रहे। इसे उपलक्ष्य बना कर उन्होंने अब तक अप्रकाशित हस्तलेख रूप में प्राप्त अपभ्रंश साहित्य का निपुण सर्वेक्षण कर स्वतन्त्र रूप से कथाकाव्य-विधा का अनुशीलन किया है। अपभ्रंश भाषा की विशेषताओं और उस के ऐतिहासिक विकास को भी स्पष्ट किया है। अपभ्रंश पर वैसे हिन्दी में पर्याप्त काम हुआ है, पर शास्त्रीजी का यह प्रयत्न अब तक के अध्ययनों को समेट कर बहुत-कुछ नया रूप देने में कृतकार्य हुआ है।

हिन्दी के काव्यरूपों, छन्दों, काव्यरूढ़ियों, भाषाविकास आदि के अध्ययन की दृष्टि से अपभ्रंश के साहित्य की जानकारी बहुत आवश्यक है। डॉ० देवेन्द्रकुमार की इस पुस्तक का उस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान होगा। मुझे विश्वास है कि भाषा और साहित्य के प्रेमी इस पुस्तक का स्वागत करेंगे।

डॉ० देवेन्द्रकुमार परिश्रमी और अध्ययनशील युवक हैं। उन की इस पुस्तक को देखकर आशा होती है कि वे भविष्य में और भी महत्त्वपूर्ण कृतियों से साहित्य का भाण्डार भरेंगे। मैं उन के इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का स्वागत करता हूँ।

अनुबन्ध

अपभ्रंश-साहित्य में वस्तु, बन्ध और शैली की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य की कई विधाएँ लक्षित होती हैं, जिन में से कथाकाव्य भी एक अन्यतम विधा है। अपभ्रंश-कथाकाव्यों में नियोजित कथावस्तु लोक-कथाओं के साँचे में किन्हीं प्रबन्ध-रूढ़ियों तथा कथाभिप्रायों (मोटिप्स) के साथ वर्णित मिलती है। कुछ कथाएँ जनश्रुति के रूप में प्रचलित होने पर व्रत-माहात्म्य तथा अनुष्ठानों से सम्बद्ध हो कर काव्य-बन्ध का अंग हो नहीं, प्राण बन गयी हैं। अतएव चरितकाव्यों से इन में भेद देखा जाता है। अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में लोक-प्रचलित कहानी की भाँति अधिकतर कथाओं में—वक्ता और श्रोता के रूप में कथा कही जाती है। बीच-बीच में सुनने वाला कवि के शब्दों में ही जिज्ञासा और कुतूहल प्रकट करता चलता है अथवा कवि ही यह कह कर कि अब कथा तिलकद्वीप की चलती है या अब गजपुर का हाल सुनो, श्रोताओं का समाधान करता चलता है। इसी प्रकार कथा या कहानी के लगभग सभी तत्त्वों तथा कथा-शैली की संयोजना आलोच्यमान कथाकाव्यों में प्राप्त होती है।

अपभ्रंश के कवियों ने कथा और चरितकाव्य में कोई अन्तर निर्दिष्ट नहीं किया है। वे जिस रचना को कथा कहते हैं उसी को चरित भी। अतएव कुछ विद्वान् उन्हें चरितकाव्य ही मानते हैं। अभी तक इस दिशा में कोई शोध-कार्य नहीं हुआ था। मेरी जानकारी में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में भी कथाकाव्य की स्वतन्त्र विधा पर किसी ने प्रकाश नहीं डाला था। यद्यपि संस्कृत में कथा गद्य में लिखने का विधान है और अन्य भाषाओं में पद्य में, किन्तु गुणादय की 'बृहत्कथा' के संस्कृत रूपान्तर—बृहत्कथाश्लोकसंग्रह (बुद्धस्वामी), बृहत्कथामंजरी (क्षेमेन्द्र) और कथासरित्सागर (गोमदेव भट्ट) पद्यबद्ध ही मिलते हैं। इसी प्रकार जातक कथाएँ तथा अफगान देशों की अवदान कथाएँ भी पद्य में लिखी हुई मिलती हैं। अतएव पद्य में कथा लिखने की परम्परा प्राचीन जान पड़ती है।

भारतीय साहित्य में कदाचित् प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य में प्रबन्धकाव्य के रूप में कथाकाव्य नाम से अभिहित इस साहित्यिक विधा का सूत्रपात हुआ। कथा में घटनाओं की मुख्यता से तथा विभिन्न पात्रों को कई स्थलों पर संश्लेष में घटित घटनाओं को सुनाने से काव्य में वस्तु की एक से अधिक बार आवृत्ति हुई है, जिस के कारण निश्चय ही इन्हें महाकाव्य की कोटि का न कह कर एकार्थक कहा जा सकता है। प्रेमाख्यानक कथाकाव्यों में प्रेम की मधुर व्यंजना अभिव्यंजित है। ये कई बातों में हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों से मिलते-जुलते हैं। अतएव सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्य और विशेष रूप से जायसी कृत 'पद्मावत' अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों की कोटि के हैं।

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में प्रबन्ध-रचना कड़वक शैली में तथा पद्धतिया बन्ध में हुई है, जो इस साहित्य के महाकाव्यों की अत्यन्त प्राचीन (लगभग छठी सदी से) एवं निजी शिल्प-रचना है। अतएव शैली की दृष्टि से तथा सन्धियों की नियत संख्या में रचित काव्यों को महाकाव्य की कोटि में रखा जा सकता है। किन्तु प्रबन्ध में दो सन्धियों से लेकर बाईस सन्धियों तक के कथाकाव्यों का विवेचन होने से, व्यापक दृष्टिकोण में तथा साहित्य की एक पृथक् विधा का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने में कई प्रकार की अतिव्याप्तियाँ लक्षित होने से इन्हें 'एकार्थक' काव्य के अन्तर्गत माना है। यदि कोई 'भविस्यत्तकहा' जैसी बड़ी प्रबन्ध रचना को चाहे तो महाकाव्य भी कह सकता है। किन्तु मेरी दृष्टि में तो यह कथाकाव्य ही है।

इस प्रबन्ध में दसवीं शताब्दी से लेकर सतरहवीं शताब्दी तक के उपलब्ध कथाकाव्यों का विवेचन हुआ है। काल-क्रम के अनुसार रचनाएँ इस प्रकार हैं— पउमसिरीचरित (दसवीं शताब्दी), धम्मपरिक्खा (वि० स० १०४४), मुदंसणचरित (स० ११००), विलासवईकहा (वि० सं० ११२३), भविसयत्तकहा (विबुध श्रीधर, स० १२३०), जिनदत्तकथा (वि० सं० १२७५) सिद्धचक्रकथा (पं० नरसेन, १४वीं शताब्दी), जिनदत्त चउपई (सं० १३५३), भविसयत्तकहा (धनपाल, सं० १३९३), सि० क० या श्रीपालकथा (प० रघू, पन्द्रहवीं शताब्दी) और सत्तवसण-कहा (वि० सं० १६३४)। उक्त कथाकाव्यों में से भ० क०, वि० क०, जि० क०, सि० क० और श्रीपालकथा का तथा भ० क० एवं जि० चउ० का विशेष अध्ययन हो सका है। अवशिष्ट रचनाओं में से पउमसिरीचरित प्रकाशित होने से उस का परिचय मात्र दिया है। मुदंसणचरित और सत्तवसणकहा का सम्यक् विवेचन प्रबन्ध के बहुत विस्तृत होने के भय से नहीं कर सका हूँ तथा धम्मपरिक्खा में उपदेश प्रधान होने से उस का वर्णन चलता हुआ कर दिया है।

यह प्रबन्ध सात अध्यायों में निबद्ध है। विषय और भाव की दृष्टि से प्रबन्ध में एकरूपता का बराबर ध्यान रखा गया है। प्रथम अध्याय में अपभ्रंश भाषा का मौलिक स्थापनाओं के साथ विचार किया गया है, जिस में वैदिक, अवेस्ता और प्राकृतों से अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध का पूर्ण विवरण एवं अपभ्रंश-साहित्य के युग का परिचय प्रस्तुत किया गया है। दूसरे अध्याय में अपभ्रंश-साहित्य के सामान्य परिचय के साथ उपलब्ध साहित्य का वर्गीकरण कर कथाकाव्य का स्वरूप निदिष्ट किया गया है। इसी अध्याय में प्रबन्धकाव्य की स्वतन्त्र काव्यविधा के रूप में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की आनु-पूर्वी में प्रथम बार कथाकाव्य का उल्लेख हुआ है। तीसरे अध्याय में धनपाल तथा विबुध श्रीधर विरचित 'भविव्यदत्तकथा' का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन किया गया है। भविसयत्तकहा के साथ ही चतुर्थ अध्याय में अपभ्रंश के प्रमुख कथाकाव्यों के अन्तर्गत विलासवईकहा (विलासवतीकथा), जिणयत्तकहा (जिनदत्तकथा), जिनदत्त-चउपई, सिरिपालकहा (रघू) और सिद्धचक्रकहा (सिद्धचक्रकथा नरसेन) की

मूल हस्तलिखित प्रतियों का आद्यन्त अध्ययन कर विशद समीक्षा की गयी है। उक्त सभी कथाकाव्यों के सभी काव्यांगों का स्वतन्त्र रूप से विश्लेषण किया गया है। प्रसंगतः प्रकाशित 'पञ्चमसिरोचरित' एवं हस्तलिखित धम्मपरिक्खा, सुदंसणचरित तथा सत्त्वसणकहा का भी उल्लेख हुआ है। अन्य लघु कथाओं का विवरण 'क्षुल्लक कथाएँ' के अन्तर्गत दिया गया है। पंचम अध्याय में अपभ्रंश-कथाकाव्यों की समालोचित सामान्य प्रवृत्तियों का सर्वेक्षण किया गया है। विषय के सम्यक् अनुशीलन के हेतु षष्ठ अध्याय में लोकतत्त्व का विचार हुआ है। लोकतत्त्व में लोक-कथाओं के रूप, कथा-मानकरूप, कथाभिप्राय एवं लोकजीवन तथा संस्कृति का परिशीलन किया गया है। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा और साहित्य का भाषाविषयक ही नहीं, साहित्य-समालोचनात्मक एवं लोक-साहित्य तथा सास्कृतिकमूलक अध्ययन व चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। सप्तम अध्याय में अपभ्रंश कथाकाव्यों पर सास्कृत-काव्यों के प्रभाव के अतिरिक्त 'भविष्यत्-कहा' के विशेष सन्दर्भ के साथ अपभ्रंश के कथाकाव्यों का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव दर्शाया गया है। विषय के विस्तार के भय से विवेचन में संक्षिप्तता का पूरा ध्यान रखा गया है। सब के अन्त में प्रबन्ध सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची तथा शब्दानुक्रमिका से भी समलंकित है। अतएव सभी प्रकार से शोध प्रबन्ध को व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक बनाने का उपक्रम किया गया है।

इस समूचे प्रबन्ध को ऐतिहासिक दृष्टि से भी एकरूपता प्रदान करने की चेष्टा की है। ऐतिहासिक आलेखन लोक-जीवन की परम्परा में ही विशेष रूप से हुआ है। क्योंकि अपभ्रंश भाषा और साहित्य लोक-जीवन और संस्कृति से बहुत कुछ ग्रहण कर विकसित हुआ है। लोक-साहित्य विषयक कथा-रूपों तथा अभिप्रायों का विचार भी ऐतिहासिक पद्धति पर हो सका है। साहित्यिक दृष्टि से संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश की काव्य-धारा में साहित्यिक विधा का विकास और परम्परा एवं प्रभाव का मूल्यांकन किया गया है। अन्तिम अध्याय में अपभ्रंश के कथाकाव्यों का हिन्दी-साहित्य पर परिलक्षित प्रभाव का स्वतन्त्र विचार किया है।

यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य पर डॉ० हरिवंश कोछड़, डॉ० रामसिंह तोमर तथा डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन के प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु अभी तक कई रचनाएँ प्रकाश में नहीं आ सकी हैं। अधिकांश काव्यों का परिचय मात्र ही मिलता है। अतएव कई अप्राप्य तथा अविवेचित रचनाओं का अनुशीलन कर इस अछूनी भूमि को प्रथम बार स्पर्श किया है। प्रबन्ध में विवेचित काव्य अधिकतर हस्तलिखित एवं अप्रकाशित कथा-काव्य हैं, जिन को ढेंढ निकालने में लेखक को बहुत समय तथा श्रम लगा है। वस्तुतः विषय और विवेचन की दृष्टि से यह प्रथम मौलिक प्रयास है।

प्रबन्ध की रूप-रेखा में लोक-साहित्य विषयक स्वतन्त्र खण्ड की योजना का मुसाव दे कर डॉ० सत्येन्द्रजी ने जो उपकार किया है, उस के लिए मैं हृदय से उन का आभारी हूँ। उन को 'लोक-साहित्य विज्ञान' नामक पुस्तक से अध्ययन करने में बहुत

सहायता मिली है। डॉ० कोछड़ का प्रबन्ध भी सहायक सिद्ध हुआ है। विशेष रूप से मैं पं० जैनसुखदास, न्यायतीर्थ और डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल का कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कड़े प्रतिबन्धों के बीच समय पर हस्तलिखित ग्रन्थ भेज कर मेरी सहायता की और जिन के बिना यह कार्य हो सकना संभव नहीं था। इसी प्रकार श्री दलसुख भाई मालवणिया का भी विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने 'विलासवईकहा' की अप्राप्य प्रति की समग्र फोटो कॉपी भेज कर यथोचित सहायता प्रदान की।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि भारतीय ज्ञानपीठ की मुद्रण-प्रक्रिया के अन्तर्गत यह शोध प्रबन्ध ज्यों का त्यों प्रकाशित हो रहा है। मेरा प्रारम्भ से ही यह विचार था कि प्रबन्ध मूल रूप में ही प्रकाशित हो। इस प्रकाशन के लिए मैं डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये तथा डॉ० हीरालाल जैन का हृदय से आभारी हूँ। प्रिय मित्र डॉ० गोकुलचन्द्र जैन को किसी भी प्रकार भूल सकना मेरे लिए सम्भव नहीं है। डॉ० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने अपने व्यस्त क्षणों में से कुछ समय निकाल कर जो 'पुरोवचन' लिखने की कृपा की, उस के लिए मैं अन्तःकरण से उन का कृतज्ञ हूँ। मुझे जिन विद्वानों तथा मित्रों का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है मैं उन सभी का आभार मानता हूँ। भारतीय ज्ञानपीठ संस्था का विशेष आभार है, जिस के अधिकारी जनों व मुद्रण-विभाग की तत्परता से यह प्रबन्ध यथाशीघ्र ही पाठकों के हाथों में पहुँच सका है। वस्तुतः इस प्रबन्ध की सफलता विद्वत् पाठकों के परितोष पर निर्भर है। यदि अनुसन्धित्सुओं तथा जिज्ञासुओं के लिए यह किसी भी प्रकार सहायक सिद्ध हो सका तो अपना श्रम सार्थक समझूँगा। महाकवि कालिदास के शब्दों में—

“आपरितोषाद् विदुषा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।”

आशा है, विज्ञान नृटियों की ओर ध्यान आकषिप्त करते हुए इस का समुचित मूल्यांकन करेंगे।

अन्त में सभी सुधीजनों के कर-कमलों में यह प्रबन्ध भाव-प्रणति पूर्वक समर्पित है। यथार्थ में काव्य-कला तथा कवि के शब्द-व्यापार का मर्म सम्यक् रूप से जान लेना अत्यन्त दुर्बोध है। अतः यही कहना पड़ता है—

हउं मूढ णिबंघणु गुणणिरत्तु,
जाणउं ण सद् - वावार सत्तु।

—देवेन्द्रकुमार शास्त्री

संक्षिप्त शब्द-संकेत-सूची

१. अनु०	अनुवाद या अनुवादक
२. ऋ०	ऋग्वेद
३. क० द०	कवि दर्पण
४. जि० क०	जिनदत्तकहा
५. जि० ख०	जिनदत्तखण्ड
६. टि०	टिप्पण
७. प० च०	पउमचरित (स्वयम्भू)
८. प्रा० पै०	प्राकृतपैंगलम्
९. भ० क०	भविस्यत्तकहा (धनपाल)
१०. वि० क०	विलासवर्द्धकहा
११. श०	शतपथब्राह्मण
१२. श्री० क०	श्रीपालकथा (प० रघू)
१३. स० क०	सत्तवसणकहा
१४. सि० क०	सिद्धचक्रकहा (पं० नरसेन)
१५. सा० द०	साहित्यदर्पण
१६. सु० द०	सुदसणचरित

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

अपभ्रंश भाषा : परम्परा और युग

१-५५

परम्परा—आर्य भाषा, प्रथम भूमिका, द्वितीय भूमिका, तृतीय भूमिका, अन्तिम प्राकृत, अपभ्रंश-कोशकारों के उल्लेख, वैयाकरणिक उल्लेख, पौराणिक उल्लेख, अपभ्रंश के कवियों की विज्ञप्ति, आभीर और आभीरी, आभीरो का निवास स्थल, आभीरी, अपभ्रंश की उत्पत्ति तथा विकास—अपभ्रंश के भेद, अपभ्रंश का स्वरूप, प्राकृत और अपभ्रंश, देशी, अपभ्रंश भाषा का स्थान, अपभ्रंश : विकार या विकास ? अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी, अपभ्रंश-साहित्य का युग—राजनैतिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, धार्मिक स्थिति, साहित्य-साधना और संस्कृति ।

द्वितीय अध्याय

अपभ्रंश-साहित्य : सामान्य परिचय

५६-८२

सामान्य परिचय—अपभ्रंश-साहित्य, साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, वर्गीकरण, पुराण-काव्य, चरितकाव्य, कथाकाव्य, सामग्री-कथा बनाम आख्यान, कथा और आख्यायिका, कथा का स्वरूप, प्रबन्ध और कथाकाव्य, कथाकाव्य का स्वरूप, कथाकाव्य और चरितकाव्य में अन्तर, कथा और काव्य के भेद ।

तृतीय अध्याय

भविसयत्तकथा : एक अध्ययन

८३-१६३

परिचय—काल-निर्णय, ऐतिहासिक तथ्य, धनपाल का सम्प्रदाय, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, प्रबन्ध-संघटना-काव्यरूढ़ियाँ, वस्तु-वर्णन—नगर, कंचनद्वीप-यात्रा-वर्णन, समुद्र-वर्णन, विवाह-वर्णन, युद्ध-यात्रा-वर्णन, युद्ध-वर्णन, तैल चढ़ाने का वर्णन, वसन्त-वर्णन, बाल-वर्णन, राजद्वार-वर्णन, शकुन-वर्णन, वन-वर्णन, रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, भाव-व्यंजना-वियोग-वर्णन, संवाद-योजना,

शैली, भाषा, अलंकार-योजना, छन्द—अडिल्ला, घत्ता, दुवई, मरहट्टा, चामर, भुजंगप्रयात, शंखनारी, सिंहावलोकन, काव्य, प्लवंगम, कलहंस, गाथा—
भविसयत्तकहा मे समाज और संस्कृति-लोकजीवन और लोकरुचियाँ ।

विबुध श्रीधर और भविसयत्तचरिय

१४३-१६३

परिचय, कथानक, भविष्यदत्तकथा और उस की परम्परा, संस्कृत के कवि विबुध श्रीधर, अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर, विबुध श्रीधर की भविष्यदत्तकथा, भाव-पक्ष, भाषा, शैली, संवाद, प्रबन्ध-रचना, अलंकार, छन्द ।

चतुर्थ अध्याय

अपभ्रंश के प्रमुख कथाकाव्य

१६४-३३७

विलासवईकहा

१८५-२०८

कवि का परिचय, सिद्धसेन नाम के विभिन्न विद्वान्, रचना-काल, रचनाएँ, कथा का आधार, परम्परा, कथावस्तु, प्रबन्ध-रचना, वस्तु-वर्णन, नगर-वर्णन, मलयगिरि-वर्णन, सरोवर-वर्णन, विमान-यात्रा का वर्णन, राजमन्दिर का वर्णन, युद्ध-यात्रा-वर्णन, युद्ध-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, उद्यान-वर्णन, ऋतु-वर्णन, गंगा नदी का वर्णन, समुद्र-वर्णन, वसन्त-वर्णन, विवाह-वर्णन, रूप-वर्णन, भाव-व्यंजना-वियोग-वर्णन, हंसी का वियोग-वर्णन, चरित्र-चित्रण, आदर्श प्रेम की व्यंजना, संवाद-संयोजना, शैली, भाषा, अलंकार-विधान, छन्द-योजना ।

जिणयत्तकहा

२०८-२५८

परिचय, कवि का वंश, ऐतिहासिक प्रमाण, रचना-काल, रचनाएँ, जन्म-काल और परिवार, कथानक, प्रबन्ध-रचना, कथायोजना और उस का स्रोत, जिन-दत्ताख्यान और जिनदत्तकथा, जिनदत्त विषयक अन्य कथाएँ, वस्तु-वर्णन, नगर-वर्णन, बरात का वर्णन, विवाह-वर्णन, हाट-वर्णन, सिंहलद्वीप-यात्रा-वर्णन, समुद्र-वर्णन, बाल-वर्णन, रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, भावाभिव्यंजना, सयोग-वर्णन, वियोग-वर्णन, कामावस्थाओं का वर्णन, रस-निर्णय, चरित्र-चित्रण, घनपाल की भविष्या और लाखू की श्रीमती की तुलना, संवाद-योजना, भाषा और शैली, अलंकार-योजना, छन्दोयोजना—विलासिनी, मौक्तिकदाय, मनोहरदाय, आरनाल, सोमराजी, ललिता, अमरपुर मुन्दरी, मदनावतार, पद्मिनी, पंच-चामर, पमाणिया, नाराच, तोणया, भ्रमरपद, त्रिभंगिका, जंभेटिया, समानिका, आवली—चि० क० में समाज और संस्कृति ।

जिनदत्तचउपई

२५९-२७६

कवि-परिचय, रचना-काल, कथावस्तु का आधार, कथावस्तु, वस्तु-वर्णन, नगर-वर्णन, बरात का वर्णन, उद्यान-वर्णन, समुद्र-वर्णन, नखशिख-वर्णन, वियोग-वर्णन, संवाद-योजना, अलंकार-विधान, छन्द (नाराच सोमकान्त, चौपाई) भाषा और शैली ।

सिरिपालकहा

२७७-३१०

परिचय, कवि का जन्म-स्थान और समय, ऐतिहासिक प्रमाण, कवि का परिचय, रचनाएँ, रचना-काल, जैनाम्नाय मे श्रीपालकथा, श्रीपालचरित्र सम्बन्धी रचनाएँ, कथा का आधार, कथा-वस्तु, प्रबन्ध-रचना, वस्तु-वर्णन—सहस्रकूट चैत्यालय का वर्णन, श्रीपाल का स्वागत-वर्णन, डोमों का नृत्य-वर्णन, समुद्र-संतरण-वर्णन, विवाह-वर्णन, समुद्र-यात्रा का वर्णन, शृंगार-वर्णन, नख-शिख-वर्णन, युद्ध-यात्रा का वर्णन, युद्ध-वर्णन, राज्याभिषेक का वर्णन, संवाद, चरित्र-चित्रण, भावाभिव्यंजना, वियोग-वर्णन, अलंकार-योजना, छन्द-विधान, भाषा तथा शैली ।

सिद्धचक्ककहा

३११-३२६

कवि का परिचय, समय, रचनाएँ, कथावस्तु, प्रबन्ध-रचना, वस्तु-वर्णन, विवाह-वर्णन, यात्रा-वर्णन, समुद्र-यात्रा का वर्णन, युद्ध-वर्णन, युद्ध-यात्रा का वर्णन, भाव-व्यंजना, संवाद, भाषा और शैली, अलंकार-विधान, छन्दो-योजना ।

अन्य कथाकाव्य

३२६-३३७

सत्तवसणकहा—युद्ध-वर्णन, भाषा-शैली, विशेषताएँ, सुदंसणचरिउ, पउम-सिरीचरिउ, धम्मपरिक्खा, चरितकाव्य, क्षुल्लक कथाएँ ।

पंचम अध्याय

अपभ्रंश-कथाकाव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

३३८-३६०

कथावस्तु, कथा-रूप, कथा-प्रकार, प्रबन्ध-संघटन, वस्तु-वर्णन, भाव-व्यंजना, चरित्र-चित्रण, संवाद-संरचना, कलात्मक-संविधान-भाषा, शैली, अलंकार-विधान, छन्दोयोजना ।

षष्ठ अध्याय

लोक-तत्त्व

३६१-४१२

लोककथा के रचना-तत्त्व, लोक-मानस, लोक-गाथा कहें या लोकाख्यान, भविष्यदत्तकथा का लोकरूप, विलासवतीकथा का लोकरूप, विलासवती और पुहुपावती . कथागत साम्य, श्रीपालकथा का लोक-रूप, कथा-मानक-रूप-भ० क० के कथामानकरूप, सि० क० या श्रीपालकथा के कथा-मानकरूप, जि० क० के कथा-मानकरूप, वि० क० के कथा-मानकरूप, अन्य कथा-मानकरूप, कथाभिप्राय-कथा के मूल अभिप्राय, अभिप्रायों का अध्ययन, निष्कर्ष, अभि-प्रायों का वर्गीकरण—पशु सम्बन्धी, जादू, चमत्कारी, मनुष्यभक्षी राक्षस, परीक्षाएँ, बुद्धिमान् और मूर्ख, धोखे, भाग्य का पलटना, भविष्य-निर्देशन, अवसर तथा भाग्य, पुरस्कार तथा दण्ड, कर्म का फल, धार्मिक विश्वास, सामाजिक लोक-जीवन और संस्कृति-धार्मिक विश्वास, शकुन-अपशकुन, ज्योतिषियों की भविष्य-वाणी, दूरस्थ देश में कौआ उड़ा कर सन्देश भेजना, जाति सम्बन्धी, सामाजिक आचार-विचार, लोक-निष्क्ति ।

सप्तम अध्याय

परम्परा और प्रभाव

४१३-४३६

संस्कृत काव्यों का प्रभाव—आत्म-विनय-प्रदर्शन, नगर-वर्णन, वन-वर्णन, अपभ्रंश-कथाकाव्यों में वर्णन-साम्य, भविष्यदत्तकथा का अपभ्रंश की परवर्ती रचनाओं पर प्रभाव, अपभ्रंश-कथाकाव्यों का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव, धनपाल की भ० क० और जायसी का पदमावत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के अन्य काव्य ।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

४३७-४४६

शब्दानुक्रमणिका

४४७-४७४

भविष्यत्कहा
तथा
अष्टांश - कथाकाव्य

प्रथम अध्याय

अपभ्रंश भाषा : परम्परा और युग

प्रत्येक देश और जाति के मूल संस्कार उसकी अपनी भाषा, साहित्य तथा संस्कृति में निहित रहते हैं। जातीय जीवन, लोक परम्परा एवं सामाजिक नीति-रीतियों के अध्ययन से हमें उनकी पूरी जानकारी मिलती है। अतएव भाषा और साहित्य का प्रत्येक अंग लोक-मानस की अभिव्यक्ति का ही लिपिबद्ध स्वर होता है। मौखिक रूप में आज भी हमें गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' तथा प्राकृत और अपभ्रंश में लिखित कथाएँ, सूक्तियाँ, सुभाषित एवं अन्य उक्तियाँ गाँवों में प्रचलित सुनाई देती हैं। वस्तुतः युग-युगों से साहित्यिक तथा सामाजिक परम्परा परस्पर विचारों का विनिमय करती आयी है। इसलिए परम्परा में केवल इतिहास तथा पौराणिकता का लेखा-जोखा न हो कर लोक-जीवन में परिव्यास यथार्थ और आदर्श, रूप-कुरूप, नीति और उपदेश तथा वृत्ति एवं रीति का भी समाहार हो जाता है।

प्रायः जाति तथा सम्प्रदाय का सम्बन्ध विभिन्न धर्म-नीति एवं भाषा से रहा है। यदि पालि बौद्धों की भाषा ख्यात रही है तो प्राकृत जैनो की और संस्कृत पुरोहितों की। किन्तु कुछ बोलियाँ प्राग्वैदिक काल से जन-सामान्य की लोक-वारा में प्रवाहित एवं प्रचलित रही हैं, जिनमें उस युग के शब्द-रूपों की बानगी आज भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए मन, गौ, लाजा, रथ तथा दो, छह और सात आदि अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं में प्रयुक्त शब्द हैं। लोक भाषाओं में प्रचलित कुछ वैदिक शब्द इस प्रकार हैं—अजगर^१, भेडो, लाहा, रोट्^२ इत्यादि। कुछ भिन्न अर्थों में प्रयुक्त शब्द भी मिलते हैं^३ तथा कई विकसित रूप में^४।

१. मन (श० १४।४।३।६), जवेस्ता, यस्न ६.२६ तथा मन (Mān) के लिए देखिए—वेक्टरस न्यु इण्टरनेशनल डिक्शनरी, पृ० १४६१। गच्छतीति गौ (श० ६।१।२।३४), गोस शब्द के लिए देखिए, पेई द्वारा लिखित "द वर्ल्ड्स चोफ लैंग्वेजेज"। दो, छह और सात शब्दों के लिए भी वही द्रष्टव्य है। "नाञ्जेज्जुहोति" (श० १३।२।१।५), देखिए, टर्नर की नेपाली डिक्शनरी। रथ (श० ६।७।५।६), लेटिन तथा आयरिश आदि भाषाओं में भी मिलता है।

२. अजगरो नाम मर्ष (श० ६।४।२२), अजगर (अजिडर), भेडो, लाना, लाहा।

३. रोट् और वेत् आदि शब्दों के लिए—टर्नर की नेपाली डिक्शनरी द्रष्टव्य है।

४. चरु, चमस् और वेव-असुर आदि। चरु (श० ७।६।५२), चमस (श० ४।२।१४)।

५. मेह, धूर्प(धुपा), उल्लुवल (उललो, ओलली), मुसल (मुसल), दाति (दाता) आदि। धूर्प, उल्लुवल, मुसल शब्दों के लिए देखिए, श० १.१.४। मेह (निरुक्त २.६.४) "दातिर्लवनाथे"। निरुक्त, २.१.४।

यही नहीं, गृध्र से गिघाना (ललचाना), लवन से लुनना, मुष् से मूसना तथा घुण्ट से घूटना आदि क्रियाएँ वैदिक परम्परा को सुरक्षित बनाये हुए हैं। इसी प्रकार कुछ शब्दों में वैदिक रूपों के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—उपाध्याय का—पाध्ये (मराठी), वलीवर्दः का वर्दा (बुन्देली, छत्तीसगढ़ी); श्मसान (शवस्य शयनं इति श्मसानम्) का मसान आदि ।

इस प्रकार परम्परा का यह स्रोत मूल धारा तक उसी प्रकार अधुण्ण दिखाई देता है जिस प्रकार गंगा का उत्स सागर-तट से ले कर हिमगिरि की उपत्यकाओं तक विविध रूपों में प्रसरित होने पर भी एक रूप में लक्षित होता है ।

भाषा, संस्कृति तथा इतिहास का इतिहास किसी न किसी रूप में परस्पर सम्बद्ध है। सामाजिक रीति-पद्धति, भोजन-पान तथा पारिवारिक जीवन के विभिन्न अंगों पर उनकी छाप स्पष्ट रूप से देखी जाती है। अतएव वैदिक मूर्धन्य 'ल' का प्रयोग भले ही लौकिक संस्कृत में न हो, पर महाराष्ट्र तथा दक्षिण के घरानों में आज भी प्रचलित है। ऋग्वेद में 'पेरु' शब्द देवता अर्थ का वाचक है। महाराष्ट्र और होशंगाबाद में जामफल को अब तक पेरु कहते हैं। बंगला में इसी का शब्द-रूप प्यारा और उड़िया में पिचड़ू है। प्राचीन इजिप्ट के देवता सूर्य Ph-Ra को भी पेरु कहा गया है। सम्भवतः जिस प्रकार बेल पत्र, घनूरा तथा फूल और फलों को महादेव पर चढ़ाने का विधान है उसी प्रकार अन्य देवी-देवताओं पर किसी समय पेरु (जामफल) चढ़ाना विहित रहा हो। क्योंकि अर्चा की विधि में पत्र, पुष्प और फलों का उपयोग अत्यन्त प्राचीन काल से इस देश में रहा है।

युग के युग पलट जाते हैं, पर भाषा और संस्कृति नहीं पलटती। परिवर्तनों के बीच भी उसका मूल रूप सुरक्षित रहता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि भाषा बोलियों से जो कुछ भी ग्रहण करती है उसे अपनी प्रकृति में ढाल लेती है, अपनी प्रकृति का उन्हे अंग बना लेती है। इसलिए भाषा की प्रकृति में कोई विकार नहीं आता और बाह्य अंग-प्रत्यंगों में विकास होता रहता है। किन्तु विभिन्न संस्कृतियों के संगम में जब भाषा स्वतः हो जाती है तब उस के मूल रूप को दूरेना असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य हो जाता है। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारतवर्ष में यूनानी, शक, सिथियाई, हूण, अरब, तुर्क, मंगोल आदि लोगों का निरन्तर आवागमन होता रहा है। यहाँ की सम्प्रदाय, संस्कृति और भाषा से जहाँ वे अत्यन्त प्रभावित हुए

१ समोचीना सुवानव प्रोणन्नि त नरो हितमनमेहृन्ति पेरव ।—ऋग्वेद, ६, ७४, ४। नरो नेतार पेरव । पा गृणे । मापोरिन्वे रुन्निति रुन्प्रत्ययः । सर्वस्य रक्षकाः । इति तद् भाष्ये सायण ।

२ जी० रामिनन्मनः द रिलीजन्स आन द एनसिमेट वर्ल्ड, पृ० २०। तथा—

“The Chief deity of the Lithuanians was Perkunas or perkins, the god of thunder and lightning, whose resemblance to zeus and Jupiter has often been pointed out” Frazer The golden Bough, part I, Vol II, Page 365. See, same, Part—V, Vol. I page 233.

वहीं उनकी रीति-नीति तथा भाषा का भी प्रभाव इस देश पर पड़ा। इस लिए यह स्वाभाविक ही था कि उनकी भाषाओं के शब्द हमारी भाषाओं में प्राप्त हों।

संस्कृत भाषा में कई शब्द विदेशी भाषाओं से गृहीत हैं। प्रत्येक भाषा की उधार लिये जाने वाले शब्दों की प्रक्रिया विशेष होती है। क्योंकि कोई भी भाषा शब्दों को ज्यों का त्यों बहुत कम ग्रहण करती है। नये शब्दों की रचना तथा वाहरी शब्दों को अपनाने की प्रक्रिया लगभग समान होती है। संस्कृत भाषा में विदेशी शब्दों को ग्रहण करने के लिए सामान्यतः शब्द के आगे 'क' जोड़ दिया जाता है। यह 'क' स्वाधिक प्रत्यय कहा जाता है। इस से अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। भाषा में यह प्रवेश-द्वार के समान है। संस्कृत में अधिकांश देशी और विदेशी शब्दों में स्वाधिक प्रत्यय 'क' जुड़ा मिलता है। यथा—भण्टाक, होलक, कन्दुक, कावृक, तलक, वारक, पाटक, लासक, दर्दरक, फर्फरीक, तर्तरीक, खोलक, चीनक, तुरुष्क, घोटक, पुस्तक आदि। जन-जीवन की शब्दावली में स्पष्टतः ऐसे रूप मिलते हैं जो शताब्दियों के इतिहास को सहेजे हुए हैं। भाषा का यह प्रवाह समूचे राष्ट्र के परिवर्तनशील युगों की गाथा है, जिसमें आर्य तथा आर्यतर संस्कृति की पूरी झलक प्रतिबिम्बित है। मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषाएँ उसी की कड़ी मात्र हैं, जिनमें लोकतत्त्व विशेष रूप से समाया हुआ है।

भारतवर्ष से ले कर आयरलैण्ड तक के विविध देशों की विभिन्न भाषाएँ आर्य-भाषाएँ कही जाती हैं। आर्यभाषाओं की शब्द-सम्पत्ति तथा खति, मिसान्नि, खस और ईरानी आदि जातियों के इतिहास से पता लगता है कि आदि आर्यभूमि भारत से बाहर थी। वैदिक युग के पूर्व ईरान और भारत एक थे। अवेस्ता तथा वेदों में समान रूप से यज्ञपरायण संस्कृति के दर्शन होते हैं। दोनों की भाषा में भी अत्यन्त साम्य है। अवेस्ता तीन भागों में निबद्ध है—यसन, विस्परेद और वेन्दीदाद। यसन में गाथा भाग सर्वप्राचीन है। गाथाएँ छन्दों में हैं। अवेस्ता की भाषा में कुछ विशेषताएँ प्राकृतों की भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए—संस्कृत अन्त्य अस् अवेस्ता में प्राकृत की भाँति ओ देखा जाता है। यथा—अयस् (वं०), अय्यो (अवे०)। अरुपस् (वं०), अउरुपो (अवे०) आदि। प्राकृतों में प्रायः अन्त्य 'औ' मिलता है। इस के उदाहरण हैं—भट्टो, पुत्तो, गुत्तो, सावओ, नाहो, देवो, चउत्थो, पंचमो, छट्ठो, सत्तमो, तईओ, विईओ, पढमो, अरिट्टो, कम्मो, जंघो, घम्मो, दंतो, चंदो, वलो, तिलओ, मल्लो, सीसो, जक्खो, महल्लो तथा कप्पो आदि। सामान्य रूप से प्राकृत की प्रवृत्ति ओकारान्त है।

संस्कृत में एक साथ एक पद में दो स्वर प्रयुक्त नहीं होते। किन्तु अवेस्ता में

१. डॉ० हेमचन्द्र जोशी—आदि-आर्यों का मूल स्थान शीर्षक लेख, सरस्वती अंक फरवरी १९६६, पृ० ८६।

२. जहाँगीर मोराबजी—'सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता' की भूमिका। कुछ शब्द हैं—ख'ध (खत्र), गाथु (गातु), चिध (चित्र), पुध (पुत्र), तूमी (भूमि), दूर, चित्, आयु आदि। देखिए, पं० राजाराम+अवेस्ता का पीढ़ात पृ० ६८।

अपभ्रंशों के संयोग की भाँति स्वरयोग की भी बहुलता है। अवेस्ता का स्वरयोग प्रवृत्ति, निवृत्ति, भक्ति, तथा नाति के भेद से चार प्रकार का है^१। प्राकृतों में भी स्वर के बाद स्वर का प्रयोग बहुल है। यथा—पूइआ, इअ, पूअइ, नईए, चमिआ, पीआ, तओ, गलिआ, उईओ, एअस्स, तईए, नईओ, नमुई, ओइओ, भूमीए तथा पमाए इत्यादि। प्राकृतों में हो नहीं, यह प्रवृत्ति अपभ्रंश में भी दिखाई देती है। जैसे कि—आइअ, ओइण्ण, उइइ, एउ, घारेइ, आलोइउ, कंलिरीए, देउ, भेउ, पालेइ, दइउ और उइन्न् आदि। अपभ्रंश में प्रवृत्ति स्वरयोग की भाँति निवृत्ति स्वरयोग के भी उदाहरण मिलते हैं। इसे वैयाकरणों की भाषा में सम्प्रसारण कहते हैं। इसमें 'य' को 'इ' तथा 'व' को 'उ' होता है। अवेस्ता में गायम् को गाइम्, अभवन् को वाउन्, अश्वम् को नाउमो और यवम् को यओम् हो जाता है। प्राकृत में इसके उदाहरण विरल हैं। अपभ्रंश के अलाउ (अल्लवु) क्षुणि (ज्वनि), दइय (दयित), केयारउ (केकारव), देउल (देवकुल), तुरिउ (त्वरित), उति—(उक्ति-वचन), पउति (प्रोक्ति), पउति (प्रवृत्ति), आदि में निवृत्तिस्वर योग स्पष्ट है। स्वर-परिवर्तन के विविध रूप तथा भक्तिस्वर योग भी प्राकृत-अपभ्रंश में दिखाई देता है। स्वरभक्ति वैदिक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में समान रूप से मिलती है, परन्तु संस्कृत-साहित्य की भाषा में उसके दर्शन नहीं होते। इसी प्रकार वेदों में तथा प्राकृतों में 'ऋ' के स्थान पर 'उ' लक्षित होता है। यथा—ऋतु, उउ। कृत, कुठ (ऋग्वेद)^२। किन्तु वेदों में ऐसे प्रयोग विरल हैं। ऋ, लु और ल वेदों के विशेष स्वर हैं। जान पड़ता है कि इन स्वरों के स्थान पर अन्य स्वरों का प्रयोग सरलीकरण की प्रवृत्ति के अनुसार बोलियों से वेदों की भाषा में अपना लिया गया होगा। क्योंकि अवेस्ता तथा वेदों में मूर्धन्य ध्वनियाँ प्रधान हैं। वैदिक और प्राकृत भाषा में कुछ ऐसी समान बातें मिलती हैं, जो लौकिक संस्कृत में प्राप्त नहीं होती। श्री वी० जे० चोकसी ने दोनों में जिन समान प्रवृत्तियों का निर्देश किया है वे इस प्रकार हैं—

१. वैदिक और प्राकृत में सन्धि के नियम शिथिल हैं, पर संस्कृत में नहीं है। यथा—भार्या-भारिया, किलष्ट-किलिष्ट। स्वरभक्ति भी समान है।
२. विभक्तियों में भी सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। वैदिक आस (देवास) प्राकृत में आहो (पुत्ताहो) तथा आये, आए हो जाता है। इसी प्रकार 'एभिः' एहि के रूप में मिलता है।
३. प्राकृत के कुछ शब्दों का सीधा सम्बन्ध वैदिक शब्दावली से है। उदाहरण के लिए पासो (वै० पस्), तात्, यात् तथा एत्य (वै० इत्या) शब्दों को गिनाया जा सकता है, जिनका शास्त्रीय संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है।

१. वही, भूमिका।

२. वी० जे० चोकसी—कम्पेरेटिव प्राकृत ग्रामर पृ० ७।

४. प्राकृत और वैदिक संस्कृत में ऋ को उ हो जाता है। उउ (ऋतु), कुठ (व०) ।
५. संयुक्त व्यंजनों में दो में से एक का लोप कर ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर देते हैं। यथा—दूलय, दूल्ह। ऋग्वेद में भी ये मिलते हैं ।
६. अन्त्य के दो व्यंजनों में से अन्तिम का लोप हो जाता है। उदाहरण हैं—
तावत्-ताव, यशस्, जश। वैदिक पश्चात्-पश्चा, उच्चात्-उच्चा, नीचात्-नीचा।
७. संयुक्त र् या य् का लोप हो जाता है। जैसे—प्रगल्भ-पगम्भ, श्यामा-शामा, वैदिक अप्रगल्भ-अपगल्भ ।
८. जब स्वर किसी व्यंजन के साथ समुक्त हो और यदि वह दीर्घ हो तो ह्रस्व हो जाता है। यथा—पात्र-पत्त, रात्रि-रत्त, चूर्ण-बुष्ण ।
वैदिक अमात्र-अमत्त ।
९. दोनों में द् को ड् हो जाता है। जैसे कि—दण्ड-डण्ड, दंस-डंस। वैदिक पुरोदास-पुरोडास ।
१०. दोनों में घ् को ह् हो जाता है। यथा-वधिर-वहिर। प्रतिसंहाय (व०)
११. कर्त्ता कारक एकवचन संज्ञा शब्दों में अन्त्य अ को औ हो जाता है। जैसे—देवो, जिणो। वैदिक संवत्सरो, सो ।
१२. दोनों में ही तृतीया कारक बहुवचन में हि और भि विभक्ति का प्रयोग होता है। यथा—देवेहि, देवेभिः (व०) ।
१३. दोनों में ही षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के लिए होता है।
१४. दोनों में ही पचमी विभक्ति का अन्त्य त् लुप्त दिखाई देता है। यथा—
देवा-देवात्, जिणा-जिणात्, वैदिक उच्चा-उच्चात्, नीचा, पश्चा ।
१५. दोनों में ही द्विवचन नहीं है। जैसे कि—रामलक्षणा (प्रा०)। वैदिक इन्द्रावरुणा (इन्द्रवरुणौ)। दो, दुवे, वे (प्रा०) ।

इस अध्ययन से चोकसी महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्राकृत का विकास शास्त्रीय संस्कृत से न हो कर वैदिक संस्कृत से हुआ है तथा भारतीय व्याकरण इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं।^१ अवेस्ता के गाथिक भाग, ऋग्वेद तथा प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इनका मूल स्रोत एक ही है। पालि और शिला-लेखों की भाषा तथा वेदों की भाषा में अत्यन्त साम्य है। इन की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. अवेस्ता की भाषा तथा प्राकृतों में प्रथमान्त एकवचन में ओ विभक्ति मिलती है। यथा—यो, नो (य० अवे०), सूनो, दुज्मनो, दुज्मिनो, हमो, हामो (अवे०) आदि। पालि में भी पुं०-नपुं० लिंग अकारान्त शब्दों के कर्त्ता कारक एकवचन में ओ होता है। मागधी में इसे ए तथा लगभग सभी प्राकृतों में आ पाया

जाता है। प्राकृत की प्रवृत्ति ही ओकारान्त कही जाती है। लाड़ो और कच्छी सिन्धी में तथा पुरानी राजस्थानी में भी कुछ अकारान्त संज्ञा शब्द ओकारान्त मिलते हैं। यथा—अयाणो, दादो, मयो, घोडो, रामो, गोविन्दो, किशिनो, जो, सो (सिन्धी) इत्यादि। ह्रायो, आखो, नेहो, उतरयो, ओ, दीहड़ो, आजूणो, तो, दूहो, कपडो तथा मेवाडो (प्रा० राज०) आदि।

२. अशोक की प्राकृत और पालि के मूल अंशों में ऋ तथा लृ स्वर नहीं मिलते। विद्वानों की मान्यता है कि उन में ऐ, औ, अय, अव, ए, ओ, अन्य व्यंजन और विसर्गों का लोप है। घोषभाव की प्रक्रिया का पता यही से मिलने लगता है। अवेस्ता में भी कहीं-कहीं 'ऋ' के स्थान पर 'र' दिखाई देता है। यथा—रतूम, गरमम् (धर्मम्), दरगम् (दीर्घम्)। किन्तु इस का कारण स्वरभक्ति कहा जा सकता है। स्वरभक्ति पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में भी पायी जाती है।

३. अवेस्ता की भाषा एक हो कर भी प्रान्तीय भेदों से भिन्न है। शिलालेखों की भाषा पश्चिमी ईरानी कही जाती है, जिसे पुरानी फारसी कहते हैं। उस से पहलवी तथा पहलवी से वर्तमान फारसी का विकास हुआ है। प्राकृत भाषा भी प्रादेशिक भेदों से कई प्रकार की कही गयी है।

४. अवेस्ता और प्राकृत—साहित्य का प्रारम्भिक भाग गाथा में निबद्ध है।^१ गाथा प्राकृत का औरस छन्द माना जाता है। सामान्यतः गाथा शब्द से प्राकृत का बोध होता है। जैनों के सर्व प्राचीन ग्रन्थ गाथाबद्ध है।

५. वैदिक की भाँति पालि और प्राकृत में भी द को ड हो जाता है। यथा—पुरोडास (वँ०), डहं (दहन), डंस (प्राकृत)। अपभ्रंश में भी यही प्रवृत्ति मिलती है—डहड़, खुडिय, डोलह, डुक्कर आदि। सिन्धी में भी यह है।

६. प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं में स्वरावस्थान तथा सम्प्रसारण अवेस्ता, वैदिक, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में भी प्राप्त होता है।

७. अवेस्ता में तीनों लिंगों के लिए सामान्ये नपुंसकम्^३ का प्रयोग है। वैदिक भाषा में लिंग एवं कारकों का व्यत्यय कहा जाता है। प्राकृत तथा पालि में भी नपुंसक लिंग का सामान्य प्रयोग और विभक्तियों का विनिमय देखा जाता है। पष्ठी विभक्ति वैदिक, संस्कृत और प्राकृत में ही नहीं अपभ्रंश में भी व्यापक रही है। पष्ठी के एकव० में चतुर्थी के एकव० का हो जाना सामान्य प्रवृत्ति थी। वैदिक में भी इसके प्रयोग मिलते हैं। अपभ्रंश में लिंग की अत्यन्त अव्यवस्था है। अवेस्ता की भाँति इसमें किसी भी लिंग के लिए नपुंसक लिंग का हो जाना साधारण बात है।

८. पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में द्विवचन नहीं है।

१. जहाँगीर सोरामजी—सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता की भूमिका।

२. ता दाओ स्पन्ता मइन्नु मज्जा अहुरा। गाथा ३, १, ६।

३. जहाँगीर सोरामजी—सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता भूमिका।

९. वैदिक और संस्कृत सन्धिबहुल हैं^१, पर प्राकृत और अपभ्रंश में यह बात नहीं है।

१०. पश्चिमी पालि में ष का लोप मिलता है और पूर्वी में श, ष, स के स्थान पर श का व्यवहार। भागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी पूर्वी अपभ्रंश की भाँति श का प्रयोग व्यापक है।^२

इस अध्ययन से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली तो यह कि वैदिक और अवेस्ता की भाषा में अत्यन्त साम्य है तथा उसकी कुछ विशेषताएँ पालि और प्राकृत में ही नहीं अपभ्रंश में भी मिलती हैं। दूसरी यह है कि कुछ वैदिक शब्द-रूप तथा प्रयोग प्राकृतों में सामान्य हैं, जिनसे पता लगता है कि वेदों में उनका व्यवहार बोलियों से हुआ होगा। तीसरी यह कि अवेस्ता और प्राकृतों की सामान्य प्रवृत्ति ओकारान्त (देओ-देवो) है, जो वेदों की भाषा में नहीं है। इसी प्रकार यस्न भाग तथा प्राकृत-अपभ्रंश में ह्रस्व ए, ओ का प्रयोग है, पर वेदों में नहीं है।^३ चौथी अवेस्ता तथा प्राकृत-अपभ्रंश में स्वर के पश्चात् स्वर का व्यवहार एक ही पद में होता है, किन्तु वैदिक तथा संस्कृत में स्वर के पश्चात् स्वर प्रयुक्त नहीं होता। पाँचवी, स्वरयोग के विविध रूप इन परवर्ती भाषाओं में विशेष है, जो वेदों की भाषा में नहीं है। 'य' श्रुति भी इनमें मिलती है। इन सब बातों से यह पता लगता है कि वेदों की भाषा से प्राकृत बोलचाल की भाषा के अधिक निकट रही है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि वेदों में तथा संस्कृत में जो वैकल्पिक रूप मिलते हैं वे प्रायः बोलियों के हैं। महर्षि पाणिनि और पतंजलि के निर्देशों से भी इसी बात की पुष्टि होती है।^४

आर्य भाषा

भाषावैज्ञानिकों ने आर्य भाषा का सम्बन्ध विरोस् (WIROS) से या इयु प्रजा से बताया है। किसी समय इस प्रजा ने एशिया का परिभ्रमण किया होगा और तभी विभिन्न जातियों के सम्पर्क से भाषागत विविध परिवर्तन सम्भव हुए होंगे। जो भी हो, एक ओर आर्य भाषा का सम्बन्ध भारोपीय कुल से है और दूसरी ओर ईरानी कुल से। आर्य प्रजाएँ अवश्य ही किसी समय युरोप से ले कर भारतवर्ष के मध्य प्रदेश तक फैली होंगी। आर्य यज्ञमूलक सस्कृति के पुरस्कर्ता थे। ईरानी और आर्यों के देवता,

१. सन्धि- संस्कृतबहुलम् । प्राकृतानुशासन-पुरुषोत्तमदेव, १६ ।

२. पसो श; प्राकृतानुशासन-पुरुषोत्तमदेव, २०, ३ ।

तथा रम्योलंशौ मागधिकायाम् । इति नमि साधु ।

३. न च लोके न च वेदे ह्रस्व एकार ओकार । सिद्धहेमशब्दानुशासन ।

नेत्र लोके न च वेदेऽकारो विबुतोऽस्ति । महाभाष्य, १ आ, १ पा०, २ आ० ।

नेत्र लोके न च वेदे दीर्घप्लुतौ संकृती स्तः । वही, १, १, १ ।

४. जराया जरस्यतरस्यां (भाषायाम्) । ७।२।१०१ । तथा-विभाषा तृतीयादिष्वच, पाणिनि व्याकरण, ७।१।१७ । "विभाषा बृह-मृगावीनाम्", १, १, ६ । दीपादीनां विभाषा महाभाष्य, १ अ० १ पा० ६ आ०, नृ० ३२८-३६ । महाभाष्य ।

संस्कृति, उपासना, संस्कार तथा सम्प्रदाय में अत्यन्त समता है। अवेस्ता में मित्र और वरुण के अतिरिक्त नास्तिया, विवस्वत्, यम तथा वृत्रहन् आदि का उल्लेख मिलता है। इन देवताओं के नाम बोगाज्जकोई अर्थात् वर्तमान अंकारा के पास मिलते हैं।^१ इसीलिए प्राथमिक युग की भारतीय आर्य भाषा को प्राचीन भारत-ईरानी (Old Indo-Aryan) या आदिम भारतीय आर्य भाषा कहा जाता है। आर्यन् शब्द पुरानी फ़ारसी में एर्यन् मिलता है। इस से स्पष्ट है कि भारत के तथा ईरान के आर्य किसी समय उत्तर की ओर एक ही स्थान पर रहे होंगे। स्थान-परिवर्तन तथा भौगोलिक मिश्रता के कारण धीरे-धीरे उन की भाषा में बहुविध परिवर्तन होते गये, और आज उन की शाखाओं में आश्चर्यजनक भेद दिखाई देता है। आर्यों का प्राचीनतम साहित्य वेद और पारसियों का अवेस्ता है। वेदों की अपेक्षा अवेस्ता की भाषा में बोलियों की श्रृंखला स्पष्ट है। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ उसी प्रकार अवेस्ता की भाषा से पुरानी फ़ारसी, पहलवी तथा वर्तमान फ़ारसी का विकास हुआ। आधुनिक फ़ारसी पर अवश्य अरबी का अधिक प्रभाव कहा जाता है।

अनुमान है कि २००० से १५०० ई० पू० के लगभग आर्यों के दल उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से भारत में प्रविष्ट होने लगे थे। सर्वप्रथम वे सप्तसिन्धु प्रदेश में विस्थापित हुए होंगे। पश्चात् पूर्व तथा दक्षिण की ओर फैले होंगे। भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व यहाँ द्रविड, कोल, मुण्डा आदि आर्येतर प्रजाएँ रहती थी। किन्तु यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के भारत में आने के समय तक आर्य संस्कृति दक्षिण तक फैल चुकी थी। आर्यों के भारत-विजय के मुख्य तीन कारण थे—सुविकसित भाषा, अश्व और यज्ञपरायण संस्कृति।

प्रथम भूमिका—आर्य लोग आर्येतर प्रजाओं पर धीरे-धीरे जिस प्रकार अपना प्रभाव डालते रहे, उसी प्रकार प्रभाव रूपमें समय-समय पर कुछ-न-कुछ ग्रहण भी करते रहे। आर्य, द्रविड और आस्ट्रिक परिवारों की लगभग सभी भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण मिलते हैं, जिसे द्रविड प्रभाव कहा जाता है। इसी प्रकार शब्दों की दोहरा कर बोलने की प्रवृत्ति आस्ट्रिक प्रभाव को सूचित करती है। भारत में केवल आर्य ही नहीं अन्य जातियों के आने के भी प्रमाण मिलते हैं। उत्तरी बंगाल, आसाम, और पूर्वी बंगाल की खासी जातियों से सम्बन्ध भोज तथा हमेर जातियों का आर्य होना यही सूचित करता है।^२ कई मिश्रित जातियाँ इस देश में वर्षों से रही हैं। इन का संकेत हमें पुराणों में भी मिलता है। बर्बर, म्लेच्छ, असुर, नाग तथा शबर आदि के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। दसवीं शताब्दी के पूर्व बंगाल में बोडो जाति की एक शाखा कम्बोजी ने कुछ समय के लिए उत्तरी बंगाल पर आधिपत्य स्थापित किया था। उस के पहले ही तिब्बत-चीनी की

१. डॉ० जोश—आदि-आर्यों का मूलस्थान, सरस्वती, पृ० ६०।

२. शिशुशेखर मिश्र : भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश : प्रथम संस्करण, पृ० २७।

तिब्बत-बर्मो शाखा का बोडो समुदाय (बोडो, मेच, कोच, कछारी, रामा, गारो, तिपुरा) आसाम तथा पूर्वी बंगाल में बसता हुआ समूचे पूर्वी और उत्तरी बंगाल में फैल गया था^१। विभिन्न तथा विविध जातियों के संगम के ही परिणामस्वरूप यहाँ की भाषाओं में वैविध्य लक्षित होता है। स्वाभाविक परिवर्तन के साथ भाषा में शताब्दियों तक विशेष बदलाव नहीं होता। यद्यपि आर्यों के विकास क्षेत्र में अनेकों प्राकृतिक तथा मानवीय बाधाएँ पहाड़ों की भाँति सामने अडती रही और भाषा में भी परिवर्तन-विवर्तन होते रहे, किन्तु उन की भाषा का अविच्छिन्न रूप सहस्राब्दियों के पश्चात् भी वैदिक साहित्य में सुरक्षित है।

भाषाविषयक इतिहास की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषाओं की तीन अवस्थाएँ कही जा सकती हैं। पहली अवस्था में आर्य भाषा का इस देश में प्रसार हुआ और आर्येतर भाषाओं का संघर्ष। धीरे-धीरे उस की जड़ रूप गयी तथा उस में साहित्य लिखा जाने लगा। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ संक्रान्ति काल का उत्तरवर्ती साहित्य है। इसी लिए उस पर आर्येतर प्रभाव भी लक्षित होता है। विजातीय बोलियों से भी वह अछूता नहीं है। कुछ विद्वान् तो यहाँ तक मानते हैं कि आर्य भाषा के यथार्थ स्वरूप का पता वेदों से नहीं लगता^२। जो भी हो, ब्राह्मण ग्रन्थों में तात्कालिक भाषा सम्बन्धी कुछ निर्देश मिलते हैं। प्रतीत होता है कि आर्य भाषा मुख्यतः तीन विभेदों में विभक्त थी। (१) उदीच्य या उत्तरीय (या पश्चिमोत्तरीय), (२) मध्यदेशीय या बीच के देश की, तथा (३) प्राच्य या पूरब की भाषा। अवस्था से ही 'ल' का 'र' मिलने लगता है। भारोपीय 'ल' भी ईरानियन में 'र' ही होता है। ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तर में यह व्यवस्था चालू रही है। क्योंकि ऋग्वेद की अधिकांश रचना भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में हुई और इसलिए उस प्रदेश की बोलियों का ईरानियन से साम्य होना स्वाभाविक ही था। भारत की पूर्व की बोलियों में तो 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' का ही व्यवहार होता था। 'ल' वाले शब्द भी ठीक-ठीक ऋग्वेद में आ गये हैं^३। भारत के पूर्वी प्रदेशों में आज भी 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' का व्यवहार प्रचलित है। यही नहीं, पिछले सहस्र वर्षों से मगध में 'स' और 'ष' के स्थान पर 'श' का व्यवहार बना हुआ है^४। किन्तु शूरसेन (मथुरा तथा निकटवर्ती) प्रदेश में 'श' और 'ष' के स्थान पर 'स' का चलन है^५। जान पड़ता है कि उच्चारण-भेद के कारण बोलियों के पूरबी और पच्छिमी भेद अत्यन्त प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं। कौपीतिक ब्राह्मण तथा महाभाष्य के

१ शिवशेखर मिश्र : भारतीय संस्कृति में आर्येतराशः, प्रथम संस्करण, पृ० २७।

२ डॉ० प्रबोध बेबरदास पण्डित : प्राकृत भाषा, १६५४, पृ० १४।

३ डॉ० मुनोति कुमार चटर्जी : भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ६१।

४ डॉ० प्रबोध बेबरदास पण्डित : प्राकृत भाषा, पृ० १४।

५ सर्वज्ञ सप्तोः श। ष प्रकृत्या कचित् ।—प्राकृतशब्दानुशासन पुरुषोत्तमदेव।

६. शपो' स.। बही, ४०, ३, २।

निर्देशों से यही पता मिलता है^१। यास्क के निरुक्त से भी इस बात की पुष्टि होती है।^२

संक्षेप में, वेदों से ब्राह्मण काल तक सांस्कृतिक स्पर्धा में आर्य जाति पूर्णतया विजेता रही। इसलिए यह स्वाभाविक हो था कि वह अपनी भाषा का प्रसार देश के कोने-कोने तक करती। भाषा और संस्कृति के संघर्ष की यह प्रथम भूमिका भाषाशास्त्र में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की पहली भूमिका कही जाती है। आर्य प्रजा के सम्पर्क में आने के कारण आर्येतर संस्कृति तथा भाषाओं में बहुविध परिवर्तन हुए। विकास की इस धारा में आर्य-साहित्य की रचना हुई तथा यज्ञ-याग का प्रचार हुआ। साहित्य विप्रों की शिष्टता से अनुरंजित था इसलिए बोलियों को महत्त्व नहीं मिला; किन्तु प्रतीत होता है कि आर्यों में भी दो भेद हो गये थे। पहला समूह अहिंसामूलक यज्ञसंस्कृतिका पोषक था और दूसरा बाह्य पाषण्डो से पूर्ण। प्रथम लोकभाषा और आचार का समर्थक था तथा दूसरा उन के विपरीत शिष्ट भाषा और संस्कारों का महत्त्व देता था। पहला उदार था और दूसरा जातीय पक्षपात तथा संकीर्णता से लित। वर्ण-भेद के कारण तथा स्थान और काल-भेद से भी अनेक प्राकृतों की सम्भावना बढ़ती गयी। धीरे-धीरे जातीय दृष्टिकोण और भी संकुचित होते गये। यद्यपि प्राकृत का साहित्य भी जन-बोलियों से ऊपर उठ कर लिखा गया है लेकिन बोलियाँ उस में से शक्ति हुई स्पष्ट लक्षित होती हैं। और सच बात तो यह है कि ऋग्वेद की परवर्ती भाषा में भी अन्य बोलियों के रूप एक साथ दिखाई देने हैं। प्राचीन भारत में विभिन्न भाषाओं के बीच आदान-प्रदान जारी था। अनाय बोलियाँ भी प्रचलित थी और उन की शक्ति दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उस के बाद तक बहुत प्रबल थी। भारतीय आर्य भाषाओं के ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध धर्मसम्बन्धी साहित्य पर उन का प्रभाव दृष्टिगोचर है^३। इस प्रकार प्रथम भूमिका में उत्तर-मध्य में विस्थापित आर्यों के सांस्कृतिक केन्द्रों की भाषा शिष्ट जनों की भाषा रही होगी। महर्षि पाणिनि ने अपना व्याकरण इसी शिष्ट भाषा को ध्यान में रख कर लिखा है। सम्भवतः अन्य बोलियाँ उस समय मध्य देश में बाहर थी, पर वे स्वाभाविक रीति से अपना विकास करती रही।

द्वितीय भूमिका—इस अवस्था में पहुँच कर आर्य भाषा विभिन्न रूपों में स्थान तथा काल के अनुसार नाना जनपदों में विकसित हुई। यद्यपि आर्यों के आने के पूर्व नागरिक संस्कृति का उन्मेष आर्येतर प्रजाओं में हो चुका था^४, किन्तु भाषा और संस्कृति का वास्तविक अभ्युदय मध्य युग में हुआ। यदि यह सत्य है कि द्वितीय भूमिका में अपना साहित्यिक आसन ग्रहण करने वाली भाषाओं पर संस्कृत (वैदिक)

१ तस्माद् उदीच्याम् प्राह्वनरा नाम् उ विभवे, उद च उ एन गन्ति नाचम् शिशितम्, यो ना तत् आगच्छति, तस्य वा सुभूषन्त इति ।—कौपीतिक ब्राह्मण ७-६।

२ निरुक्त १ अ०, २ पा०, ४ स०, पृ० ४८-४९। तथा—वही २, १, ४।

३ डॉ० मुनीति कुमार चटर्जी ज्ञातम्भग, पृ० १०३।

४ वही, पृ० १७६।

का गहरा प्रभाव पड़ा है तो यह भी यथार्थता से परे नहीं है कि जनबोलियों का विशेष विकास इसी भूमिका में हुआ है। जैन और बौद्धों ने ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के लगभग देशी भाषा को विशेष रूप से अपनाया और उस के पश्चात् ही भारतीय भाषाओं की विकासधारा का नया प्रवाह आरम्भ होता है^१। विकास की दृष्टि से इस भूमिका के तीन रूप माने जा सकते हैं—पालि, प्राकृत और अपभ्रंस।

विद्वानों की मान्यता है कि प्राकृत विकासधारा के प्रवाह में से उठ खड़ी हुई एक अवस्था विशेष है, जिस ने समूचे मध्य युग पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। दूसरे शब्दों में हम प्राचीनतम भारतीय आर्यभाषा तथा नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के मध्य की भाषाविषयक अत्यन्त आवश्यक ऐतिहासिक भूमिका को प्राकृत नाम दे सकते हैं।

प्राकृत साहित्य के मुख्य दो अंग हैं—बौद्ध साहित्य और जैन आगम साहित्य। पालि साहित्य जिस भाषा में लिखित उपलब्ध है उस में पूर्व तथा पश्चिम की भाषाओं का अत्यधिक मिश्रण है। धार्मिक तत्त्व विशेष से अनुरंजित तथा उसी प्रकार की शैली में लिखित होने के कारण उस भाषा को बोलियों की स्थान और काल-भेद के आधार पर रूप-रेखा खीचना टेढ़ी खीर है।

प्राकृत का दूसरा अंग जैन आगम है। तीर्थंकर महावीर का जन्म मगध में हुआ था। उन का बचपन तथा कुछ यौवन काल भी वहीं बीता था। परन्तु उन की वाणी का संकलन लगभग एक सहस्र वर्षों के पश्चात् हो सका। इस लिए जिस अर्द्ध मागधी भाषा में उन के प्रवचन हुए उस का साहित्य पालि साहित्य से भी अर्वाचीन है। अतएव भाषाविकास के इतिहास को समझने के लिए उस से विशेष जानकारी नहीं मिलती। फिर भी, पालि से उस का महत्त्व विशेष आँका जाता है जो उचित है। क्योंकि अर्द्धमागधी का आधार पूर्वी क्षेत्र है और पालि का मध्यदेश। जैन प्राकृत साहित्य सीमित सीमाओं में रहने के कारण अधिक सुरक्षित रहा है; किन्तु पालि साहित्य अशोक के पुत्र महेन्द्र के द्वारा उज्जैन में लिखाया गया कहा जाता है। प्राकृत का तीसरा महत्त्व अशोक के शिलालेखों में है। अशोक के शिलालेखों (ई० पू० २७० से २५० ई० पू०) को हम भारत का सर्वप्रथम भाषा-सर्वेक्षण कह सकते हैं। ये लेख चार प्रकार के हैं—उत्तरपश्चिमी, गिरनारी, दक्खिनी तथा गंगा-जमुना के प्रदेशों से लगा कर महानदी तक के। यद्यपि इन लेखों की भाषा राजभाषा कही जाती है, लेकिन इन को ध्यान से देखने पर पता लगता है कि इन में प्रादेशिक बोलियों का भी समावेश है। इनमें उत्तर पश्चिम की शिलालेखों की भाषाएँ धम्मपद की उस भाषा से मिलती-जुलती हैं जो ई० पू० दूसरी शताब्दी में गोश्टुंग की गुफा में एक फ़ांसीसी यानी को प्राप्त हुई थी। गिरनार के लेखों की भाषा साहित्यिक पालि से प्रभावित है तथा गंगा-जमुना से लेकर महानदी पर्यन्त लेखों की भाषा को नाटकों में

प्रयुक्त मागधी से प्रभावित कहा जाता है। दक्खिनी लेखों की भाषा अर्द्धमागधी से प्रभावित मानी जाती है। इस प्रकार इन समूचे लेखों की भाषा मिश्रित जान पड़ती है। प्राकृतों का चौथा रूप भारत के बाहर का है। भारत के बाहर मिलने वाले प्राकृतों के लेख भाषा की विशेष अवस्था के सूचक हैं। उन में चीनी और तुर्किस्तान से प्राप्त खतपत्र तथा उल्लिखित घम्पपद कहे जाते हैं, जो खोटन (कुस्तान) के सीमान्त प्रदेश से उपलब्ध हुए हैं। उन में लिखित भाषा निय प्राकृत कहालाती है। निय प्राकृत भाषा की विकसित परम्परा की सूचक है। प्राकृतों का परवर्ती रूप हमें निय प्राकृत में परिलक्षित होता है। क्योंकि उस की बहुत-सी बातें अपभ्रंश से सादृश्य लिये हुए हैं। इस से अनुमान है कि जो विकास आर्यभाषा का दूसरी-तीसरी शताब्दी में भारत से बाहर हुआ था लगभग वंसा ही अपभ्रंश-काल में भारतवर्ष में हुआ था। उन का अपना स्वरूप तथा व्याकरणिक ढाँचा समान होते हुए भी कई बातों में भिन्न है। निय प्राकृत का ध्वनि-स्वरूप प्राचीन है, पर रूप-तत्त्वों में अन्तर है। विकास की पूरी अवस्था उस में दृष्टिगोचर होती है। अतएव वह अपभ्रंश से भिन्न है।

प्राकृत की पहली भूमिका में ऋ, लृ, ए और औ का लोप है। संयुक्त व्यंजनों में सावर्ण्य भाव मिलता है। तथा मध्यग स्पर्श व्यंजनों का घोष भाव इसी अवस्था में आरम्भ हो गया था। दूसरी भूमिका में पहली भूमिका की बातें ज्यों की त्यों हैं, पर घोष भाव का घर्ष भाव होने लगा था। निय प्राकृत में यह स्पष्ट है। विभक्तियों का विनिमय भी उस में प्राप्त होता है। नाटकों, व्याकरणों तथा साहित्य की प्राकृतों में बोलियों से समन्वित जो रूप मिलता है उसे हम साहित्यिक प्राकृत के नाम से जानते हैं। वैयाकरणों ने इस प्राकृत को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया है। आदर्श प्राकृत महाराष्ट्री मानी गयी है। वैयाकरणों और आलंकारिकों की दृष्टि में यह उत्कृष्ट प्राकृत है। प्रमुख प्रबन्ध तथा गीति काम्य इसी प्राकृत में निबद्ध है। साहित्यिक प्राकृतों परम्परागत हैं। वे रुढ़ियों से अत्यन्त ग्रस्त एवं त्रस्त हैं। क्योंकि संस्कृत के आदर्श मानो पर उन की रचना हुई है। इसी लिए कई विद्वान् प्राकृतों को कृत्रिम कहते हैं और संस्कृत को इस का मूल बताते हैं। इस के प्रमाण में मार्कण्डेय, चण्ड तथा हेमचन्द्र आदि की "प्रकृति-संस्कृतम्" वाली उक्ति उद्धृत की जाती है।^१ किन्तु इस का अर्थ

१ महाराष्ट्राभ्यां भाषां प्रकृतं प्राकृतं विदुः ।—दण्डी : काव्यादर्श, १, ३४ ।

२ प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवं प्राकृतम् उच्यते ।—मार्कण्डेय : प्राकृतसर्वस्व, १.१ । प्रकृते मस्कृताह आगतं प्राकृतम् ।—बाणभट्टालंकार की सिंहदेवगणित कृत टीका, २.२. । प्रकृतेरागत प्राकृतम् । प्रकृतिः संस्कृतम् ।—धनिक : दशरूपक की टीका, २.६० । प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवत्वात् प्राकृतं संस्कृतम् ।—प्राकृतचन्द्रिका, पीटसंग की तीसरी रिपोर्ट से । प्रकृतेः सम्स्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता ।—नरसिंह : प्राकृतशब्दप्रदीपिका । प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भव तत आगतं वा प्राकृतम् ।—हेमचन्द्र : सिद्धहेमशब्दानुशासन, १.१ । प्राकृतस्य तु सर्वम् एव संस्कृतं योनिः ।—कपूरमंजरी, बाणदेव कृत संजीविनी टीका । सिद्धं प्राकृतं त्रेधा । सिद्धं प्रसिद्धं प्राकृतं त्रेधा भवति । संस्कृतं योनिः । उच्यते—मात्रा, मत्ता । निरय, णित्त्वं इत्यादि ।—अण्ड : प्राकृतप्रकाश, सट्टिप्पण हस्तलिखित ग्रन्थ से ।

यही है कि जिस प्रकार ग्रीक के आदर्शमान (माडल) पर लैटिन का व्याकरण लिखा गया ठीक उसी प्रकार संस्कृत के आदर्श पर प्राकृतों का व्याकरण रचा गया । अपभ्रंश व्याकरण का भी आदर्श संस्कृत व्याकरण रहा है । परन्तु प्राकृत भाषाओं की जड़ें जनता की बोलियों के भीतर जमी हुई हैं, और इन के मुख्य तत्त्व आदिकाल में जीती-जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिये गये हैं । किन्तु बोलचाल को भापाएँ, जो बाद में साहित्यिक भाषाओं के पद पर चढ़ गयीं, संस्कृत की भाँति ही बहुत ठोको-पीटी गयीं, ताकि उन का एक सुगठित रूप बन जाये ।

इस प्रकार साहित्य तथा बोलचाल की प्राकृतों में अन्तर रहा है । जो प्राकृतें संस्कृत के प्रभाव से दूर रही हैं वे अधिक विकासशील थी । भारत के बाहर की प्राकृतों में मुख्य बात यही है ।

तृतीय भूमिका—प्राकृत को यह तीसरी भूमिका कही जाती है, जिस में साहित्य की, नाटक की और व्याकरण की प्राकृतों की रचना हुई । इस अवस्था में आकर घर्ष भाव लुप्त होने लगा और मूर्धन्य स्वर-व्यंजनों का व्यवहार बढ़ने लगा । इसी को महाराष्ट्री प्राकृत कहते हैं । यद्यपि उन में बोलियों के भी कुछ रूप मिलते हैं, पर उन का स्वरूप स्पष्ट नहीं है । उन में विशेष रूप से मध्यग व्यंजनों का लोप दिखाई देता है । वस्तुतः इसे दूसरी भूमिका की ही एक अवस्था समझनी चाहिए । क्योंकि अश्वघोष के नाटकों से विशेष परिवर्तन इस भूमिका में नहीं देखा जाता । विशेषता यही है कि यह लोक-भूमि से बहुत कुछ हट कर चली है । और संस्कृत की लोक पर ही इस का विकास हुआ है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राकृतों में सब से अधिक विकसित एवं मौलिक रूप नियम प्राकृतों का है जो अपभ्रंश के निकट है । इस का समय ई० की प्रथम शताब्दी कृता गया है । मौलिक यह इस रूप में है कि इस का साहित्य हमें भारत के बाहर मिलता है, और संस्कृत का जो प्रभाव भारत की प्राकृतों पर है वह इस पर नहीं है । फिर, प्राकृतों का विकास बोलचाल की भाषाओं के मेल-मिलाप से न हो कर शिष्टों की पद्धति पर हुआ है । यद्यपि बोलियों का प्रभाव उन पर पड़ा है, पर प्राकृत के लेखक संस्कृत की परिपाटी पर चले हैं । अतएव जन-जीवन और साहित्य की भाषा में अन्तर सदा से बना रहा । इस का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि प्राकृतों के प्रारम्भिक काल में ही संस्कृत का उदय और विकास काल उन्नतिसौल था, जिस से प्राकृतों का विकास रुक गया । समय के अनुकूल संस्कृत में कई प्रकार के परिवर्तन हुए । इस काल के कई साहित्यिक रूप ऐसे हैं जो ऊपर से संस्कृत दिखाई देते हैं, पर जिन के नीचे प्राकृत का बहुता हुआ पानी प्रतीत होता है । संस्कृत के ही नहीं, प्राकृत के व्याकरणों ने भी इस का विचार संस्कृत व्याकरण के आधार पर किया है । उन्होंने

भाषावैज्ञानिक नियमों (ध्वनि, रूप, वाक्य आदि) के आधार पर प्राकृत का विश्लेषण नहीं किया । उन का आदर्श शास्त्रीय संस्कृत हो रही है । प्रायः सभी प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं का व्याकरण संस्कृत को आधार मान कर लिखा गया है ।

अन्तिम प्राकृत—संस्कृत के अधिकांश वैयाकरण संस्कृत से इतर शब्दों को अपभ्रंश तथा भाषा को अपभ्रंश कहते हैं । इस लिए भारतीय विद्वानों का विश्वास है कि प्राकृत संस्कृत का अपभ्रष्ट रूप है । किन्तु भाषा के ऐतिहासिक विवेचन में हम ऊपर विचार कर चुके हैं कि आर्यों की बोलचाल की भाषा ही परवर्ती काल में प्राकृत नाम-रूप से ख्यात रही है । अतएव प्राकृत का जन्म संस्कृत से न हो कर आर्यों की जन सामान्य बोली से हुआ है ।^१ आर्य प्राकृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और अवहट्ठ ये सभी एक ही विकास धारा की विभिन्न कड़ियाँ हैं, जिन में भारतीय समाज, संस्कृति और लोक परम्परा की विविध मान्यताओं के साथ ही भाषा तथा विचारों का समग्र इतिहास लिपिबद्ध है । प्राकृत केवल जैन या बौद्ध सम्प्रदाय (पालि के रूप में) की भाषा नहीं थी वरन् भील, कोल, शबर, दस्यु, चाण्डाल आदि से ले कर राजदरबार और रनिवासों तक में यह भाषा बोली जाती थी । आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे अव्युत्पन्न (अनगढ़, ग्राम्य) जन भाषा कहा है ।^२ आ० भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में प्रयुक्त मुख्य भाषाएँ चार कही गयी हैं—^३ संस्कृत, प्राकृत, अतिभाषा और आर्यभाषा तथा जातिभाषा । प्राकृत भाषाएँ सात प्रकार की कही गयी हैं ।^४ स्पष्ट हो नाट्य लोक की वस्तु होने के कारण लेखकों को प्राकृत तथा जन-बोलियों को स्थान देना पड़ा ।

प्राकृत अपनी अन्तिम भूमिका में पुनः लोक संस्कृति और भाषा का प्रतिनिधित्व करती हुई दिखाई देती है । शब्दरूप और क्रियाओं में ही नहीं, रूपतरणों में भी भेद लक्षित होता है । इस भूमिका में भाषा शिष्टों से हट कर विकसित हुई है । इस पर देशी पानी अधिक चढ़ा हुआ है । यही कारण है कि संस्कृत (छन्दस्), पालि और प्राकृत जितनी एक दूसरे के निकट हैं उतनी अपभ्रंश नहीं है ।

अपभ्रंश प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की अन्तिम भूमिका का नाम है । कुछ विद्वान् प्राकृतों की अन्तिम अवस्था को अपभ्रंश नाम देते हैं । इसी प्रकार कुछ लोग प्राकृत को ही अपभ्रंश समझते हैं । यह सब है कि अपभ्रंश में प्राकृतों को प्रायः सभी

१. दिनेशचन्द्र सरकार ए ग्रामर ऑव् दि प्राकृत लेग्जि, भूमिका, पृ० १ ।

२. अव्युत्पन्न इति प्रकृतेस्तज्जनप्रयोज्यत्वात् प्राकृतमिति केचित् ।—नाट्यशास्त्र की विवृति, अभिनवगुप्त ।

३. भाषा चतुर्विधा क्लृप्ता दशरूपे प्रयोगतः ॥

संस्कृतं प्राकृतं चैव यत्र पाठव प्रयुज्यते ।

अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च ॥

—भरतमुनि नाट्यशास्त्र, १७२६-२७ ।

४. मागधयन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी । वाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिता ।

—वही, १७, ४६ ।

विशेषताएँ मिलती हैं पर यह भी सच है कि अपभ्रंश प्राकृतों से या प्राकृत से भिन्न है। दोनों की प्रवृत्तियाँ विभिन्न हैं। प्रकृति में भी अन्तर है।

अपभ्रंश—अपभ्रंश प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं तथा नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी है, जो नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की पुरोगामिनी कही जाती है। यह प्राकृतों की उस अन्तिम अवस्था का विकास है, जिस में जन-जन को भावनाओं का समवेत स्वर अपने वास्तविक रूप में मुखरित हुआ है^१। अतएव एक ओर जहाँ अपभ्रंश—भाषा और साहित्य उपलब्ध रूप में प्राकृत की परम्परा में विकसित हुआ है, वही दूसरी ओर लोक बोली तथा जीवन के सामरस्य का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु उत्तरवर्ती अपभ्रंश काल में भाषा और साहित्य पर समानान्तर रूप से संस्कृत और प्राकृत का प्रभाव लक्षित होने लगता है।

यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश का उल्लेख सामान्य रूप से मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के अन्तर्गत किया जाता है, किन्तु इन का मूल स्रोत अत्यन्त प्राचीन है। फिर, प्रत्येक भाषा के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि किसी भी भाषा के बल पर कोई स्वतन्त्र भाषा जन्म नहीं लेती। वर्तमान भाषाओं का मूल रूप किसी न किसी बोली में प्रतिष्ठित रहता है। किन्तु युग के परिवर्तन के साथ ही बोली तथा भाषा में भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए—एंग्लो-सेक्सन या पुरानी अंगरेज़ी अपनी स्वाभाविक अवस्था में संस्कृत की भाँति संयोगात्मक थी; पर आज की—अंगरेज़ी वियोगात्मक है^२। यही भाषा की अवस्था-विशेष या भूमिका कही जाती है। प्राकृत और अपभ्रंश में भी यह भेद लक्षित होता है। अपभ्रंश के सम्बन्ध में प्राचीन उल्लेख हमें पाँच रूपों में प्राप्त होते हैं—कोशकारों के, वैयाकरणों के, संस्कृत-साहित्य-समालोचकों के, पौराणिक तथा अपभ्रंश के कवियों के उल्लेख।

कोशकारों के उल्लेख—संस्कृत के वैयाकरणों ने व्याकरण के साथ ही शब्दकोशों की भी रचना की है। इसलिए—व्याकरण ग्रन्थों की भाँति कोश भी लीक पीटते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए, अपभ्रंश शब्द के लिए व्याकरण का सब से पहला प्रयोग है—अपशब्द। अमरकोश, विश्वप्रकाश, मेदिनी, अनेकार्य संग्रह, विजयलोचन, शब्द-रत्नसमन्वय तथा शब्दकल्पद्रुम आदि कोशों में अपभ्रंश का अर्थ अपशब्द एवं भाषा-विशेष भी मिलता है। मेदिनी में तथा अन्य कोशों में भी दोनों अर्थ मिलते हैं, पर अमरकोश में केवल अपशब्द अर्थ है^३। सम्भव है तब तक अपभ्रंश का

१. एम० एम० कर्त्रे 'प्राकृत मैग्नेज एण्ड देयर कन्ट्रिब्युशन टु इण्डियन कन्वर, पृ० २२।

२. एन० पी० मुणे 'द डिस्कवरी ऑफ़ इंग्लिश, पृ० ५।

३. अपभ्रंशोऽपशब्द स्यात्। १, ६, २, १। अपभ्रंशोऽपशब्दे स्याद्भाषाभेदावगतयोः। विश्वप्रकाश, ३०, ३७। अपभ्रंशस्तु पतने भाषाभेदापशब्दयोः।—मेदिनी, ३०, ३१। अपभ्रंशो भाषाभेदापशब्दयोः।—अनेकार्यसंग्रह, ४, ३२३। अपभ्रंशो वृणसने भाषाभेदापशब्दयोः।—विजयलोचन,

विशेष प्रचार साहित्य में न हुआ हो। इस से अधिक विवरण कोशों में प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार कोशों में अपभ्रंश शब्द का अर्थ बिगड़ा हुआ शब्द अथवा बिगड़े हुए शब्दों वाली भाषा है।

वैयाकरणिक उल्लेख—संस्कृत व्याकरणशास्त्र के प्राचीन आचार्य व्याडि का मत उद्धृत करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि शब्दसंस्कार से हीन शब्दों का नाम अपभ्रंश है,^१ यथा गौ शब्द के प्रयोग को इच्छा रखने वाला यदि गोणी, गोपोत आदि शब्दों का व्यवहार करे जो साधुसम्मत न हों तो उसे अपभ्रंश कहते हैं। वैयाकरण इस तथ्य से अपरिचित नहीं थे कि भाषा का स्वभाव ही अपभ्रंश है, पर वे साधु भाषा के पक्षपाती थे। इस लिए उन का यह भी कथन है कि परम्परा से विकृत हो कर यह अपभ्रंश चली आ रही है। जो शब्द शिष्टजनों के द्वारा व्यवहृत नहीं होता वह अवाचक है तथा ऐसे ही अवाचक शब्द जब प्रसिद्ध हो जाते हैं तब वे अपभ्रंश बन जाते हैं।^२ इस लिए यदि कोई अम्बा, अम्बा करने वाले शिक्षा ग्रहण करते हुए बालक की भाषा को अपभ्रंश कहे तो उचित नहीं होगा, क्योंकि वह अव्यक्त होती है और व्यक्त होने पर ही उस शब्द के सम्बन्ध में कोई निर्णय दिया जा सकता है।^३

स्पष्ट है कि शिष्टों के द्वारा प्रयुक्त न होने से तथा संस्कारहीन होने से अव्यवहारीय शब्दावली को अपभ्रंश कहते हैं। महाभाष्य में अपभ्रंश का उल्लेख तीन स्थलों पर तथा अपशब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। महर्षि पतंजलि का अपशब्द से अभिप्राय व्याकरण के नियमों में पतित शब्द से है। प्रायः म्लेच्छ लोग अपशब्दों का व्यवहार करते हैं इस लिए ब्राह्मणों को अपशब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। महाभाष्य के अध्ययन में पता लगता है कि उस समय म्लेच्छ आदि आर्यतर जातियाँ तथा निम्न श्रेणी की जातियाँ शब्दों को बिगाड़ कर सहज प्रवृत्ति के अनुसार उन का उच्चारण करती थी। आर्य लोग म्लेच्छों को घृणा की तथा निरस्कार की दृष्टि से देखते थे। अतएव भौगोलिक परिवर्तन के कारण जब म्लेच्छों से आर्य भाषा के शब्दों का उच्चारण ठीक से न बना होगा तब उन शब्दों को वैयाकरणों ने अपशब्द नाम दिया

चतुर्थ, ३८। अपभ्रंशोऽपशब्दे म्याद्विभाषाभेदावपातयो।—शब्दरत्नमन्त्रय कोश। साधु-
शब्दस्य शक्तिरप्यप्ययमुक्त्यापोत्स्वार्णयुक्तोऽपशब्दे।—शब्दरत्नपट्टम् से उद्धृत, प्रथम संस्करण,
पृ० २२६।

१ श द संस्कारहीन। यो गौमिति प्रयुयुतिने। तमपभ्रंशमिच्छन्ति चिदिष्टार्थनिवेशनम्।—
वाक्यपदीय, भाष्यकाण्ड, १४८।

२ पाठ्याभ्यामपभ्रंश निगुणैर्विभक्तिषु। प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः—बहो, १६४।

३ अम्बावर्ति यथा बान् शिशुमाष प्रभाषते। अगवत तद्विदा तेन व्यक्ते भवति निर्णयः—
बहो, १६२।

४. तेऽसुरा हेनयो हेनय इति कुर्वन्त परावभूयुः। तस्माद् आश्रणेन न म्लेच्छित्त वै नापभाषित वै,
म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।—महाभाष्य, १ अ०, १ पा०, १ अ०। अपशब्दत्वं व्याकरणानुगत-
शब्दस्यैवपुत्रज्ञान एव प्रसिद्धमिति भावः।—बहो।

होगा। किन्तु अब आर्यों ने देखा होगा कि भारत में विस्थापित नीची जातियाँ भी एक शब्द के लिए कई अप्रसिद्ध तथा शब्दानुशासन से हीन शब्दों का व्यवहार करती हैं तब उसे आर्य जाति और भाषा से गिरा हुआ, अपभ्रष्ट तथा अपभ्रंश कहा होगा। वैयाकरण यह भलीभाँति जानते थे कि समाज में अपशब्दों का चलन अधिक है और शब्दों का व्यवहार कम है, पर वे शिष्ट भाषा के पक्षपाती थे।^१ पतंजलि वैदिक शब्दों की सिद्धि लोक से मानते हैं।^२ महाभाष्य में शब्दों की साधुता और असाधुता का विशेष विचार है। नागेश ने आगे चल कर एक नया प्रश्न उपस्थित किया कि साधु शब्दों की भाँति अपभ्रंश में शक्ति मानी जाये अथवा नहीं। किन्तु यह कैसे जान सकते हैं कि यह शब्द साधु है या असाधु? कुछ लोगों का विचार है कि अनुमान से जान सकते हैं कि वाचक या अवाचक है। इसलिए जो अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं उन्हें साधु शब्दों का व्यवहार करना चाहिए।^३ अत्यन्त ऊहापोह के अनन्तर नागेश ने अपभ्रंश शब्दों को साधु शब्दों की भाँति अर्थप्रकाशक मान कर उन का विचार किया है।^४ भाषा की शब्दशक्ति की उन्होंने चार प्रकार से मीमांसा की है।^५ किन्तु कौण्डभट्ट इसे स्वीकार नहीं करते। उन का कथन है कि असाधु शब्दों में साधुत्व का भ्रम होने से ही शब्दबोध होता है।^६ इस प्रकार संस्कृत के वैयाकरण शिष्ट एवं साधु शब्दों के अत्यन्त पक्षपाती दिखाई देते हैं। दूसरे, अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में न कर 'अपशब्द' के लिए किया गया है। प्राकृत के प्रायः सभी वैयाकरणों ने प्राकृतों के अन्तर्गत अपभ्रंश का विधान किया है। भाषा तो प्रारम्भ से ही 'भाषा' के नाम से प्रचलित रही है। कुमार, पाणिनि, जैनेन्द्र तथा शाकटायन आदि के संस्कारों से 'संस्कृत' नाम से प्रसिद्ध हुई। और तब से संस्कृत, प्राकृत के भेद से भाषा के दो रूप हो गये।^७ आगे चल कर प्रादेशिक भेदों के आधार पर प्राकृत के भी कई भेद होते गये। टीकाकार मल्लिनाथ के समकालीन

१ भूर्यासोऽपशब्दाः, अण्वोर्यास शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्वयथा गौरिरयस्य शब्दस्य गावो गौणी गोता गोपोतनिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः।—वही।

२ वेदाद्गो वैदिका शब्दा सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः, अनर्थकं व्याकरणम् इति।

३ असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिद्विध्यते। न हि विद्वोऽसोऽपभ्रंशादेव साक्षादर्थं पर्ययन्ति इति नापशब्दानामर्थेन संबन्धः। अपशब्दास्तु सादृश्यात्साधुशब्दमनुमापयन्ति।—दुर्बलाचार्य कृत कुञ्जिका टीका, पृ० ६५।

४ एवं साधौ प्रयोक्तव्ये गोऽपभ्रंशः प्रयुज्यते।

तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते।—वही, पृ० ६६।

५ अपभ्रंशः साधुशब्दैरभेदमिनापञ्चा अर्थस्य प्रकाशका इत्यर्थः।—वैयाकरणसिद्धान्तसधुर्मजूषा की टीका, पृ० ६६।

तथा—सा च शक्तिः साधुचिवापभ्रंशेष्वपि, शक्तिग्राहकशिरोमणैर्बह्वहारास्य सुस्थानात्।

(१) अपभ्रंशेषु शक्तिसदसत्त्वविचारः, (२) अपभ्रंशेषु शक्तिग्रहणस्य प्रमात्वम्, (३) अपभ्रंशानां शक्तत्व-सिद्धान्तः, (४) अपभ्रंशानां शक्तत्वेऽनन्तरविचारः।—नागेशभट्ट।

६ असाधुत्वेऽपि साधुत्वप्रमादं बोधोऽस्तु नाम, अपभ्रंशवत्।—वैयाकरणभूषणसारः। धात्वर्थ-निर्णये, पृ० ११७।

७ भाषा द्विवधा संस्कृता च प्राकृती चेति भेदतः।

मौमरपाणिनीयादिसंस्कृता संस्कृता मता।—बड् भाषाचन्द्रिका, १, २३।

लक्ष्मीधर ने प्राकृतों के छह भेदों का उल्लेख किया है।^१ उन्होंने यह भी कहा है कि साहित्यिक प्राकृत या प्राकृत महाराष्ट्र में उत्पन्न होने वाली भाषा का नाम है तथा अपभ्रंश आभीर, चण्डाल, यवन आदि नीच जातियों की भाषा है। नाटक आदि काव्यांगों में इस का व्यवहार नहीं होता।^२ नीच कर्म करने वाली जातियों की भाषा प्राकृत और अपभ्रंश कही जाती है। योगिनी, अप्सरा तथा शिल्पियों की भाषा ब्राह्मणों की भाँति संस्कृत थी।^३ वर्णों के आधार पर भाषा-विधान प्रसिद्ध है; पर निश्चित पता लगता है कि जातियों के अनुसार प्राचीन काल में भाषा-विधान तथा व्यवहार प्रचलित था। इस लिए शताब्दियों तक साहित्य में प्राकृत को मान्यता नहीं मिल सकी और उस का तिरस्कार होता रहा। लेकिन नाट्य का सम्बन्ध लोक-जीवन से होने के कारण विवश हो प्राकृतों को स्थान देना पड़ा; किन्तु उस की अभिव्यक्ति का माध्यम नीच पात्रों की बनाया। इस का यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्राकृत का व्यवहार केवल नीच लोग ही करते थे। यदि ऐसा होता तो कहीं-कहीं प्रधान पात्रों तथा रानी, देवी आदि स्त्रीरत्नों के मुख से उस का प्रयोग क्यों कराया जाता? भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इस का स्पष्ट उल्लेख है।^४ सम्भवतः लोकनाट्य पहले प्राकृत में लिखे जाते थे। नाट्य जनता की बोली में ही भलीभाँति प्रदर्शित किया जा सकता है। उस के कई भेद होते थे।^५

वैयाकरणों ने प्राकृत व्याकरण में प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का विचार किया है। सिंहराज का कथन है कि अपभ्रंश में प्रायः शौरसेनी की भाँति कार्य होता है।^६ प्राकृतरूपावतार की भाँति प्राकृतमणिदीप, प्राकृतशब्दानुशासन, आर्यप्राकृत व्याकरण तथा चण्ड कृत प्राकृतप्रकाश में शौरसेनी प्राकृत के अन्तर्गत अपभ्रंश का विधान मिलता है। स्पष्ट रूप से आ० मार्कण्डेय और आ० हेमचन्द्र अपभ्रंश का विवरण देते हैं। प्राकृतसर्वस्व में अपभ्रंश के मुख्य तीन भेद कहे गये हैं^७—नागर, ब्राह्म और जपनागर।

१. पञ्चविधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी ।

पैशाची वृत्तिकापैशाच्यपञ्चश इति क्रमात् ॥—वही, १, २६ ।

२. तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्राद्विभूतं ॥—वही, १, २७ ।

३. वही, ३३-३६ ।

४. जातिभाषाभ्यां पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम् ।

प्राकृतं संस्कृतं चैव चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम् ।—नाट्यशास्त्र, १७, ३१-३२ ।

स्त्रीनीचजातिषु तथा नमुसके प्राकृतं योजयम् ।

शिष्टा ये चैव लिङ्गरथा' संस्कृतं तेषु योजयेत् ॥—वही, १७, ३७-३८ ।

५. ऋजुस्वभावसंस्थानं प्राकृतं तु स्वभावजम् ।

मङ्गलाध्ययनध्यानस्वभावजयकर्मसु ॥

एभ्योऽन्ये बहवो भेदा लोकाभिनयसंश्रया ।

ते च लोकस्वभावेन प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तव्यम् ॥—वही, ८, ३८-३९ ।

द्विविधं हि स्मृतं पाठ्यं संस्कृतं प्राकृतं तथा ।—वही, ८, १४, ५ ।

६. शौरसेनीवत् । अपभ्रंशे शौरसेनीवत् कार्यं भवति ।—प्राकृतरूपावतार, २२, १ ।

७. नागरी नाचट्टोपनागरश्चेति ते त्रयः ।

अपभ्रंश' परे मूर्धमेतत्वात् पृथङ् मताः ।—प्राकृतसर्वस्व, १ ।

अन्य अपभ्रंशों में बहुत ही सूक्ष्म अन्तर होने से उन का निर्देश अलग से नहीं किया गया। ब्राह्मण सिन्ध की बोली है। उस का जन्म ही सिन्ध में हुआ^१। नागर से अभिप्राय गुजरात तथा उपनागर से है जो सिन्ध और गुजरात का मध्यवर्ती (मालव, मारवाड़, पंजाब आदि) प्रदेश कहा जाता है।

वैयाकरणों के इन उल्लेखों से पता चलता है कि अपभ्रंश प्रादेशिक बोलियों के रूप में फैली हुई थी। परन्तु वैयाकरण लोग उन का विवरण देने में रुचि नहीं रखते थे, क्योंकि वे रूढ़ भाषा का विचार करते थे। इस के अतिरिक्त साहित्य की भाषा में जो नाम-रूप मिलते थे उन का पूरा-पूरा अभिधान है।

वैयाकरणों की अपेक्षा संस्कृत साहित्य के समालोचकों ने अपभ्रंश का परिचय ठीक से दिया है। आचार्य भामह संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश को भी काव्य की भाषा कहते हैं।^२ दण्डी ने अहीर, मछुआ आदि लोगों की भाषा को अपभ्रंश कहा है। उन्होंने अपभ्रंश के प्रादेशिक भेदों के आधार पर छह भेद बताये हैं^३। काव्यादर्श में स्पष्ट उल्लेख है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित भाषा में भी वाङ्मय है^४। दण्डी ने काव्यप्रपञ्च के तीन भेद किये हैं—गद्य, पद्य और मिश्र। भाषा के भेद से उन्होंने चार प्रकार के काव्यों (वाङ्मय) की गिनती की है। यही नहीं, शास्त्रों में संस्कृत के अतिरिक्त सभी अपभ्रंश है। यहाँ आ० दण्डी शास्त्रकारों की मान्यता से अलग स्पष्ट वक्ता एवं सच्चे आलोचक के रूप में सम्मुख आते हैं। इस से यह भी पता लगता है कि दण्डी के समय (सातवीं शताब्दी) तक अपभ्रंश में प्रबन्ध-काव्य लिखे जाने लगे थे। नमि साधु ने भी अपभ्रंश को आभीरी भाषा कहा है^५। भोज के समय में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में समान रूप से प्रबन्ध-रचना का प्रचार था।^६ आनन्दवर्धन भी प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्यों की रचना का उल्लेख संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में करते हैं^७। वाग्भट ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के साथ ग्राम्य भाषा

१. ब्राह्मणो नागरात् सिद्धयेत् । सिन्धुदेशोद्भवो ब्राह्मणोऽपभ्रंशः ।—वही, पाद १८, सूत्र १।

२. संस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ।—काव्यालंकार, १, १६।

३. आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता ।

शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥—काव्यादर्श, १, ३६।

४. प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च मूर्खेभ्यो च ।

पठोऽत्र भूमिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥—काव्यालंकार, २, १२। (रुद्रट)।

५. तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा
अपभ्रंशाश्च मिश्रञ्चैस्याहुरायश्चितुर्विधम् ॥—वही, १, ३२।

६. आभीरीभाषा अपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते ।

—रुद्रट कृत काव्यालंकार की टीका।

७. संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव चापरः ।

शब्दो योजयितुं कश्चिदपभ्रंशेन वा पुनः ॥

पैशाच्या शौरसेन्या च मागधान्या निष्पद्यते ।

द्वित्राभिः कोऽपि भाषाभिः सर्वाभिरपि कश्चन ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण।

८. गतः काव्यस्य भेदेना युक्तं संस्कृतप्राकृतपभ्रंशानिबद्धं सन्दाभितकविशेषकलापककुलकामि ।

—ध्वन्यालोक, १-७।

का भी उल्लेख किया है^१। सम्भवतः हेमचन्द्र के समय में शिष्ट और ग्राम्य नामक साहित्यिक अपभ्रंश के दो रूप प्रचलित^२ थे। परवर्ती समालोचकों में आ० मम्मट, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, जिनदत्त, अमरचन्द्र, विद्वनाथ आदि अपभ्रंश का उल्लेख करते हैं^३।

भरत मुनि ने सात भाषाओं के साथ ही विभाषाओं का निर्देश भी किया है। मुख्य भाषाएँ चार हैं—संस्कृत और प्राकृत तथा अतिभाषा, आर्यभाषा, और जाति भाषा। नाटकों में इन्हीं चार भाषाओं का प्रयोग होता था। अति भाषा से अभिप्राय देवभाषा एवं वैदिक शब्दों से भरपूर संस्कृत से तथा आर्यभाषा और जाति भाषा से अर्थ विभिन्न प्राकृतों से है^४। वस्तुतः भाषा संस्कृत मानी जाती थी; प्राकृत नहीं। नाट्यशास्त्र के उल्लेखों से पता लगता है कि प्राकृत उस युग में काव्य की समृद्ध भाषा थी। उस के व्याकरण की भी रचना हो चुकी थी। नाट्यशास्त्र में उस का संक्षिप्त व्याकरण भी समाविष्ट है। देश की संस्थिति के आधार पर भाषाओं का विभाजन भरत-मुनि की मुख्य विशेषता है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि गंगा और पूर्वी समुद्र के मध्य की भाषा एकारबहुल है, विन्ध्यराज और महासागर के मध्य की भाषा नकारबहुल है, गुजरात, उज्जैन और बेतवा के उत्तर क्षेत्रों की भाषा प्रायः चकारबहुल है, सिन्ध, सिन्ध का धारपार प्रदेश, वर्तमान पश्चिमी-दक्षिणी पंजाब तथा हिमालय के पार्श्ववर्ती पहाड़ी प्रदेश की भाषा उकारबहुल है तथा बेतवा नदी के किनारे और आजू के टीलों पर रहने वाले ओकारबहुल भाषा का प्रयोग करते हैं^५। इस प्रकार भरतमुनि भौगोलिक दृष्टि की ध्यान में रख कर पूर्व की भाषा एकारप्रधान, उत्तर-पश्चिम की उकारबहुल और

१. संस्कृत प्राकृत तस्यापञ्चशो भूतभाषितम् ।

इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ॥—वाग्भटालंकार, २, १ ।

२. तथा—तत्र प्रायः संस्कृतप्राकृतपञ्चशशाग्राम्यभाषाभिन्नद्विभिन्नान्यवृत्तसर्गारिवासकसन्ध्यावस्कन्धक-
बन्धम् ।—काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय ।

३. उक्त लेखकों के ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं ।

४. साकाराभीरवण्डालशमरद्विमितान्भजा ।

हीनाननेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता ॥—नाट्यशास्त्र, १७, ६० ।

संस्कृतं भाषा स्वरभेदादिपूर्णसंस्कारोपेता संस्कृतभाषा भाषाभेदानामुक्ता वैदिकशब्दमाहुः ।
आर्यभाषातो विलक्षणस्वरमस्या इत्यन्ये ।—नाट्य० विवृति, अभिनवगुप्त ।

अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भुभुजाय ।

त्रिविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता ।—नाट्यशास्त्र, १७, २८-२९ ।

५. गंगासागरमध्ये तु ये देशाः संस्कृतिताः ।

एकारबहुला भाषा तेषु तज्जः प्रयोजयेत् ।

विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशाः, श्रुतिमागताः ।

नकारबहुला तेषु भाषा तज्जः प्रयोजयेत् ।

सुराष्ट्रान्तिसिन्धु क्षेत्रवर्गपुत्रेशु च ॥

ये देशास्तेषु कुर्वीत चकारप्रायसंभ्रमाय ।

हिमवतसिन्धुसौवीरायु ये जनाः समुपाश्रिताः ।

उकारबहुला तज्जस्तेषु भाषा प्रयोजयेत् ॥—नाट्यशास्त्र १७, ५६-६३ ।

दक्षिण की नकारान्त, मध्यदेश की ओकारान्त तथा पश्चिम की चकारप्रधान भाषा कहते हैं। नाट्यशास्त्र में दक्षिण की जिन बोलियों में आभीरोक्ति का उल्लेख हुआ है उस पर भरतमुनि को स्वयं सन्देह है। सम्भव है कुछ पुनन्तु लोग दक्षिण में पहुँच गये हों और उन्हीं के सम्बन्ध में यह संकेत हो। केवल यह संकेत भर है^१। इस से स्पष्ट है कि भरतमुनि के समय में अपभ्रंश भिन्न जातियों की बोली थी। मुख्य रूप से उस का सम्बन्ध अहीरों से था। किन्तु यह किस प्रदेश की बोली थी, इस का विवरण हमें नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। इस के लिए आभीर जाति तथा उस के प्रसार का इतिहास जानना होगा। दसवीं शताब्दी तक अपभ्रंश ने बहुत कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, पर ऋद्धिवादी दृष्टिकोण साहित्य-समाज में हो नहीं समालोचकों में भी कई की भाँति घर कर चुका था। राजशेखर की काव्य-मीमांसा में काव्य के परिवेश में शब्द और अर्थ को शरीर, संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन, पैशाची को पाद तथा मिश्र भाषा को वक्षस्थल कहा गया है^२, जो सामाजिक मनो-वृत्तियों का परिचायक है। अपभ्रंश की प्रवृत्ति उकारान्त है^३ इसलिए भरतमुनि के विवरण से यह निश्चित हो जाता है कि उकारबहुला बोली जो आभीर जाति की भाषा थी आगे चलकर अपभ्रंश कहलायी। काव्यमीमांसा में इसे समूचे मारवाड़, टक्क (वर्तमान पूर्वी पंजाब) और भादानक की भाषा कहा गया है^४। वस्तुतः अपभ्रंश पश्चिम की भाषा है। उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम की मध्यवर्ती बोली किसी समय अहीरों की भाषा रही होगी। राजशेखर ने काव्य-परीक्षा के लिए सभा में अपभ्रंश के कवियों को पश्चिम में बैठने पर बल दिया है^५। इन सब विवरणों से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश का प्रथम प्रसार उत्तर से पश्चिम की ओर हुआ होगा। राजशेखर के युग का भारतवर्ष का भाषा सम्बन्धी प्रादेशिक मान-चित्र इस प्रकार था—उत्तर में संस्कृत, पूर्व में प्राकृत, पश्चिम में अपभ्रंश और दक्षिण में भूत-भाषा का प्रचार था। मध्यदेश में बहुभाषाविदों तथा कई भाषाओं के जानकार कवियों का निवास था^६। मुख्य रूप से उस युग में ये ही चार भाषाएँ थीं। काव्यमीमांसा के

१. आभीरोक्ति शब्दरी वा जामिनी वनचारिणु ।—वही, १७, ६६।

अत्र नोक्तं मया यत्तु लोकाद् ग्राह्यं बुधैस्तु तत् ।—वही, १७, ६४।

२. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृत बाहुः, जघनमपभ्रंश, पैशाचं पादौ, उरौ मिश्रम् ।
—काव्यमीमांसा, तीसरा अध्याय।

३. स्वमो रस्योत् ।—हेमचन्द्रानुशासन, ८, ३३१।

४. गौडाद्याः संस्कृतस्थाः पश्चित्तरुचयः प्राकृते लाटदेसयाः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुजहजमादानकास्थः ।—काव्यमीमांसा, १० अ०।

५. तस्य षोडशसु संस्कृता कवयो निविशेरत् । पूर्वेण प्राकृताः कवयः, ततः परं नटनर्तकगायन-
नादनवाजाननकुशीलवैतालान्तरा अन्येऽपि तथाविधाः । पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः, ततः परं
दक्षिणतो भूतभाषाकवयः ।—वही, १० अ०।

६. यो मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिबण्णः ।—वही, १० अ०।

एक और उद्धरण से इस की पुष्टि हो जाती है^१। गुजरात, त्रवण (पश्चिमी सीराष्ट्र) तथा मारवाड़ में अपभ्रंश का विशेष प्रचार था। यहाँ तक कि उन देशों के लोग संस्कृत को सीधे के साथ ही अपभ्रंश की भाँति मिश्रित (मिलीनी) बोलते थे।^२ इस प्रकार दसवीं शताब्दी में संस्कृत और प्राकृत के बाद अपभ्रंश काव्य तथा साहित्य में विशिष्ट रूप से प्रचलित हो गयी थी। अब वह बोली मात्र नहीं थी। संस्कृत-साहित्य के समालोचकों के इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरतमुनि जिस आभोरोकि अथवा उकारबहुला प्रादेशिक बोली का अभिधान करते हैं, वही आगे चल कर काव्य की भाषा के रूप में अपभ्रंश नाम से विख्यात हुई।

पौराणिक उल्लेख—विष्णुधर्मोत्तर पुराण चतुर्थ शताब्दी की रचना कही जाती है। उस में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के भेद से तीन प्रकार के गीतों का उल्लेख है।^३ उस के विवरण से यह भी पता चलता है कि उस युग में गीतों का अत्यन्त प्रचलन था। संभवतः अपभ्रंश तब तक काव्य की भाषा नहीं बनी थी। वह एक देशी भाषा थी और उस में धार्मिक तथा लौकिक गीत और पूजाएँ लिखी जाती थी। यहाँ अपभ्रंश का उल्लेख प्राकृत भाषा लक्षण नाम के अन्तर्गत हुआ है। यह तब अपभ्रंश इसलिए कही जाती थी कि देशी होने पर भी प्राकृत का इस पर अत्यन्त प्रभाव था तथा प्राकृत के लक्षणों से इस के लक्षण स्पष्ट नहीं थे।^४ ई० पू० शताब्दियों में अपभ्रंश कह कर जिस का तिरस्कार किया जाता था, इसी पदवात् वही आर्यावर्त क्षेत्र में अपनायी जाने लगी^५ तथा देशी बोलियों में से निम्न जातियों की बोली को अपभ्रंश नाम दिया गया। शाबरभाष्य में देशी भाषाओं के सन्दर्भ में अपभ्रंश का उल्लेख हुआ है। कश्मीरी शैवागम को देखने से पता लगता है कि उस में प्राकृत धर्म और भाषा का अत्यन्त महत्त्व वर्णित है। श्री महेस्वरानन्द ने प्राकृत और अपभ्रंश का विशेष रूप से उल्लेख किया है।^६

१. समस्कृतमपभ्रंश लालित्यातिङ्गित पठेत् ।

प्राकृत भूतभाषा च सीधवासरमुद्गिरैत् ॥—वर्ही, ७ अ० ।

२. मुराष्ट्रवर्णनाया ये पठन्त्यपि सौष्ठवम् ।

अपभ्रंशवर्णनानि ते संस्कृतवचास्पयि ॥—वही, ७ अ० ।

३. संस्कृत प्राकृत चैव गीतं द्विविधमुच्यते ।

अपभ्रष्टं तृतीयं तु तदनन्तं नराधिप ॥ विष्णुधर्मोत्तर, १७७३ अ० २।३।२।१०

४. न शक्यते लक्षणस्तु वक्तुम् ।

लोकेषु यस्याप्यपभ्रंशं श्रुत्य हि तद्देशविदोऽधिकारम् ॥—वही, १।७।१२

५. ये शब्दा न प्रसिद्धा स्मुरार्यावर्तनिवासिनाम् ।

तेषां म्लेच्छप्रसिद्धोऽर्थो प्राज्ञो नेति विचार्यते ॥—तन्त्रनालिक, १।१।११

६. देशभाषापभ्रंशपदानि हि विप्लुति भूयिष्ठानि न शक्यन्ते विवेक्तुम् ।

७. एह हि विचार्या क्रिचपि भोज्यवस्था तृतीयमस्ति सम्प्रदायस्य कश्मीरोद्भवतत्वात् प्राकृतभाषा-विशेषत्वाच्च यथा संप्रदायं व्यवहार इत्युपदेश इति । तथा—संस्कृतव्यतिरेकेणान्या सर्वाणि भाषापभ्रंशः । शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोच्यते ।—महार्थमञ्जरी, ११२-३ ।

अपभ्रंश सम्बन्धी विविध उल्लेख यत्र-तत्र बिखरे हुए भी मिलते हैं वलभी के राजा धरसेन के शिलालेख में भी संस्कृत, प्राकृत की ओणी में अपभ्रंश का उल्लेख है।^१

केवल अपभ्रंश नाम को सूचित करने वाले विविध उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन उल्लेखों से यही पता लगता है कि छठी शताब्दी के पूर्व अपभ्रंश का प्रचलन हो गया था।

अपभ्रंश कवियों की विज्ञप्ति—उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्य में महाकवि स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' प्रथम रचना है। कवि ने अपनी इस रामकथा को संस्कृत तथा प्राकृत रूपी पुलिनो से अलंकृत देशी भाषा रूपी दो तटों से उज्ज्वल कहा है।^२ उन्होंने ने यह भी कहा है कि मेरे वचन ग्रामीण भाषा से रहित हैं। सामान्य भाषा में ही आगम की युक्तियों को रच रहा हूँ।^३ स्वयम्भू का रचना-काल आठवीं शताब्दी कहा जाता है।

उद्धरणों से पता लगता है कि उन के समय में अपभ्रंश बोली जाती थी और पढ़ी-पढ़ाई भी जाती थी। आदि जिन ऋषभ की पुत्री ने अन्य शिक्षाओं के साथ अपभ्रंश की शिक्षा भी ग्रहण की थी। स्वयम्भू की भाँति महाकवि पुष्पदन्त (१० वीं शताब्दी) भी अपने काव्यों की भाषा देशी कहते हैं।^४ इसी प्रकार कवि पद्मदेव भी 'देसीसद्दत्थगाढ' कह कर अपनी भाषा का परिचय देते हैं।^५ प्रायः सभी अपभ्रंश के कवियों ने काव्य की भाषा देशी में काव्य-रचना की है।

अब्दुलरहमान अवश्य अवहट्ट कह कर अपभ्रंश की ओर संकेत करते हैं।^६ कोऊहल प्राकृत को भाषा तथा बोलियों को देशी कहते हैं। उन की लीलावती कथा में भी देशी शब्द भरपूर हैं।^७ इस प्रकार अपभ्रंश के अधिकतर लेखक अपनी भाषा को देशी कहते हैं। अवहस और अवहट्ट जैसे शब्द भी अपभ्रंश के लिए प्रयुक्त मिलते हैं।

१ मंस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणतराग्य करण- ५—वलभी के धरसेन त्रितीय का दानपत्र। इण्डियन एण्टिक्वेरी, भा० १०, अक्टूबर १८८१, पृ० २८४।

२ दोहसमासपवाहाकिय सक्कयपाययपुल्लिनालकिय।
देसीभाषा उभय तड्डुजल कविदुक्कधणमइसिलायल।—पउमचरिउ, १, २।

३ सामण्य भास छुडु मावडउ छुडु आगमजुत्ति का वि घडउ।
छुडु होन्नु मुहासिय बयणाई गामिल्ल भास परिहरणाई।—वही, १, २।

४ लीलेमदेमभासउ चर्चति, लक्खणई विसिड्डई दगववन्ति।—गायकुमारचरिउ, १, १।

गाउ हउं होमि नियमवणु ण मुणमि,
लक्खणु थदु देसि ण वियाणमि।—महापुराण, १, ८, १०।

५ नायरणु वेसिमइत्थगाढ वंदासकारविसालपोड।—पासगाहचरिउ, १, १।

६ अन्हट्टपयक्कयपाइयमि पैसाइयमि भासाए।
लक्खणवंदाहरणे सुक्कह भूसिय जेहि।—सन्देशरासक, १, ६।

७ एमेय गुडजुयई मनोहरं पाययाए भासाए।
पविरल देसी सुलम्बं कहसु कहां दिव्व माणुमियं।—लीलावती कथा, गाथा ४१।

किन्तु देशी कहने की प्रथा हमें प्राकृत-युग से मिलने लगती है।^१ इस लिए यदि अपभ्रंश के कवि अपनी रचना की भाषा देशी कहते हैं तो वह परम्परागत भाषा का अभिधान मात्र है। और यह सच है कि चौथी-पाँचवीं शताब्दी में अपभ्रंश में भाषा-काव्यों की रचना होने लगी थी। आठवीं शताब्दी के लगते-लगते यह परिनिष्ठित अपभ्रंश बन चुकी थी। पुष्पदन्त की रचनाएँ प्रौढ भाषा में निबद्ध हैं। स्वयम्भू की भाषा से उस में विशेष अन्तर है। पउमचरित भी जनता की बोली में नहीं लिखा गया है। स्वयम्भू से बहुत पहले ही अपभ्रंश में रचना हो चुकी थी। अपभ्रंश के कई कवियों ने चतुर्मुख के साथ स्वयम्भू का उल्लेख किया है।^२ सम्भवतः भद्र भी स्वयम्भू के पूर्ववर्ती कवि हैं।^३ स्वयम्भू के समकालीन कवियों में मुख्य हैं—^४ क्षुत्, भाउरदेव, धनदेव, अण्जदेव, छद्मल, गोदन्द, जिनदास, विजहद, सुदसील आदि। इस से स्पष्ट है कि लोक में अपभ्रंश-कविता आठवीं शताब्दी के पूर्व भी अली-भीति प्रचलित थी।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अपभ्रंश भरतमुनि के युग में आभीरों की बोली मात्र थी। छठी सदी में वह काव्य की भाषा बन चुकी थी। किन्तु बोलचाल की भाषा से उस का सम्बन्ध बराबर बना रहा। साहित्य की भाषा लोक में 'अवहंस' नाम से तब प्रचलित थी। वही आगे चल कर अवहट्ट कहलायी। सन्देशरासक और कीर्तिलता की भाषा अवहट्ट है।^५ इस का अपभ्रंश नाम वैयाकरणों द्वारा अभिहित किया गया प्रतीत होता है। क्यों कि म्लेच्छों की भाषा के लिए अपशब्द अत्यन्त प्राचीन काल से

१ ओ पाउअस्म सारो तस्स मए नववत्तवत्तणं सिट्ठम्।

एत्ताहे अवहंसो साहिज्जन्तं णिसामेह ॥—स्वयम्भूखन्द, ४, १।

एरथ नअभुच्छन्धं अवहसन्तं परिसमत्तम्। बही, ८, ६३।

पान्निस्सएण रइया विरथरओ तह य वेसिवयणेहि

नामेण तरंगवई कहा विचिन्ता य विउला य।—सनरकुमार चरित की भूमिका, डॉ० जैकोबी पृ० १८।

ण समाणमि ण्दु न मधमेउ ण हीणाहिउ मत्तासमेउ।

णउ सनकउ पायउ वैसभास णउ सहट्ट वण्णु जाणमि समास।—जैमिणाहचरित (लक्ष्मणदेव)

पाहुउथेहा की भूमिका से उद्धृत, पृ० ४६।

२ स्वयम्भू, पुष्पदन्त, नयनदी, देवसेनमणि, लक्ष्मण, अश्वत्थरहमान, धनपाल, महिन्दु और रहसू ने चतुर्मुख का भादर स्मरण किया है।

३ त्रिभुवन स्वयम्भू की उक्ति है—

जलकीनाए सयम्भू चउमुह एव च गोग्गह कहाए।

भद्रद च मन्तवैरे अज्ज वि कण्णो ण पावन्ति ॥—पउमचरित १४, १३, ६, १।

४ देखिए, स्वयम्भूखन्द, अ० ४।

५ अवहट्टयसकव्याहार्यमि पेसाहार्यपि भासाए।—सन्देशरासक, १, ६।

सवकय भाणी बुहज न भावइ पाउअ रस को मम्म न पावइ

वैसिल नज्जा सब जन मिट्ठा तं तैसन जम्पओ अवहट्टा।—कीर्तिलता, १, १६-२२।

व्यवहार में था।^१ उसी के अनुकरण पर अपभ्रंश शब्द चलन में आ गया। प्रमाणों से पता लगता है कि छठी सदी से पहले अपभ्रंश कविता का जनता में सम्यक् प्रचार था। संस्कृत-साहित्य के समालोचक भामह के उल्लेख तथा धरसेन के शिलालेख के विवरण से स्पष्ट है कि छठी सदी में संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी प्रबन्ध काव्य लिखे जाते थे। दसवीं सदी के लगते तक काव्य के तीन भेद संस्कृत समालोचकों के द्वारा स्वीकृत हो चुके थे।^२ परवर्ती काल में इस के कई भेद स्पष्ट होने लगते हैं। प्राकृत की भाँति अपभ्रंश की काव्यधारा भी देशी परम्परा की है, इस लिए अपभ्रंश लेखक अपने काव्य की भाषा देशी कहते हैं।

आभीर और आभीरी—ऐतिहासिक विवरणों से पता चलता है कि आभीर एक विदेशी जाति थी। सम्भवतः शकों के आने के पूर्व वह पूर्वी ईरान के किसी भाग में रहती थी।^३ आभीर किसी समय इण्डस नदी के किनारे पर रहते थे। प्रसिद्ध भूगोल-शास्त्री प्लोलेमी के अनुसार सिन्धु के निम्नवर्ती प्रदेश की घाटी और काठियावाड़ के मध्य में स्थित अबेरिया प्रदेश आभीर देश था।^४ यद्यपि आभीर श्लेष्य कहे जाते हैं, पर उन्हें अनार्य नहीं कहा जा सकता। गुण्ड के शिलालेख (१८१ ई०) में आभीर सेनापति रुद्रभूति के द्वारा ग्राम में बाणो खुदवाने का उल्लेख है। महान् सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तरी सिन्ध में जो शूद्र रहते थे श्रीक वासी उन्हें सोद्रोइ कहते थे। सोद्रोइ का सम्बन्ध आभीरों से बताया जाता है जो सरस्वती के तट पर रहते थे।^५ गुप्तकालीन राजा समुद्रगुप्त के समय (३६० ई०) आभीर राजपूताना, मालवा, और पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों में रहते थे। वस्तुतः अहीरों का अम्बुदध गुप्त युग में हुआ। आभीर राजा ईश्वरसेन महाराष्ट्र प्रदेश में २४८ ई० के लगभग राज्य करता था। इसके पूर्व आभीर आयुधजीवी जाति के रूप में प्रसिद्ध थे। समुद्रगुप्त के युग में नौ जातीय प्रदेशों में आभीरवंश का भी अपना राज्य तथा प्रजातन्त्रीय शासन था। स्मिथ ने उन की स्थिति जाली और बिदिशा के मध्य में अहीरवाड़ा प्रदेश में कही है।^६ किन्तु अहीर देश के विभिन्न भागों में समय-समय पर फैलते रहे हैं। इस लिए उत्तर से लेकर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, गुजरात, मालवा और दक्षिण भारत तक विस्थापित आभीर राजाओं के राज्य करने के विवरण प्राप्त होते हैं। पुराणों में भी आभीर राजाओं का

१ पतञ्जलि . महाभाष्य, १.१.१।

२. वे०. काव्यालंकार, १.१६। काठियावर्ष, १.३२।

३. द एज ऑव इम्पीरियल युनिटो, जिन्द २, तृतीय संस्करण, पृ० २०३।

४. के० पो० जायमवाल हिन्दू पोलिटो, ग्रयम जिन्द, तृतीय संस्करण, पृ० ३०।

५. सोहस्य (न) र्वे (न) गुतरशते वैशाल सुबे र्वचमिपरयति (हि) नि नश्वरिणी आभीरेण सेनापति बाणकश्य पुत्रेण सेनापतिरुद्रभूतिना ग्रामे र्वचमिपरयति इण्डिका, जिन्द २५ भाग ८, अक्टूबर १९४०, पृ० २०३।

६. के० ए० नोलकान्त शास्त्री . एज ऑव इ नन्दाइ एण्ड मीनल, प्रथम संस्करण, १९६१, पृ० ४०।

७. डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय : अर्ली हिस्ट्री ऑव नार्थ इण्डिया, ग्रयम संस्करण, १९६१, पृ० ११६।

उल्लेख मिलता है ।^१

पौराणिक तथा धार्मिक उल्लेखों से निश्चित हो जाता है कि आभीर शूद्र थे । कात्यायन ने महाशूद्र शब्द की पहचान आभीर जाति से करायी है ।^२ इस पर से डॉ० अग्रवाल का अनुमान है कि सामाजिक व्यवहार और छुआछूत की दृष्टि से आभीरों का पद ऊँचा होने से वे महाशूद्र (ऊँचे शूद्र) कहलाये ।^३ आभीर शूद्रों में विशेष रूप से वर्णित है । महाभाष्य में 'शूद्राभीर' समस्त पद में आभीर शब्द जाति विशेष का वाचक है ।^४ डॉ० जायसवाल का मत है कि प्टोलेमो के अनुसार सिन्ध का लाहक प्रदेश अभीरिया कहा जाता था तथा जान पड़ता है कि गुजरात के आभीर अशोक के समय के राष्ट्रिक और महाभारत युग के यादव है ।^५ पुराणों के विवरणों तथा अन्य प्रमाणों से भी इस की पुष्टि होती है कि यादव क्षत्रियों की एक शाखा आगे चल कर आभीर कहलायी । शक्तिसंगमतन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि आहुक वंश से आभीरों की उत्पत्ति हुई है ।^६ इसी प्रकार जातिविवेकाध्याय में भी वर्णित है ।^७ ब्राह्मणोत्पत्ति-मार्तण्ड में ऐसे ब्राह्मणों की उत्पत्ति का विवरण है जो मूलतः भील थे । इन्हें आभिल या आभीर ब्राह्मण कहा जाता था ।^८ पृथ्वीराजरासो में छत्तौस क्षत्रिय वंशों के वर्णन में आभीर का भी उल्लेख है ।^९ मत्स्यपुराण में यदुवंश के वणन के सन्दर्भ में हैहय तथा आहुक वंशी राजाओं का भी विवरण मिलता है, जिस से उन के सम्बन्ध का भी पता लगता है ।^{१०} डॉ० गुरे के अनुसार दक्षिण की कोली जाति की अग्रो, अहीर और भील तीन उपजातियाँ हैं । मराठे ग्वालों की उपजाति अहीर, कुनबी, कुरुवा और मराठा कही जाती है ।^{११} मध्यप्रदेश के अहीरों में क्षत्रियों की भाँति गोत्र और वंश देखे जाते हैं । उन की चार उपजातियाँ हैं—जिज्ञोतिया, नरवरिया, कोसरिया, कनोजिया ।^{१२} जान पड़ता है कि

१ सप्ताभीरा आवभूत्या दश गर्दभिनी नृपाः ।

कङ्का. पांडुना भूपाला भाविष्यन्त्यतिलोत्तुपा ३—आमहभागवत, १२, १, २६ ।

२ अजायतहाप् १४, १, ४१ ।

महाशूद्राब्धो ह्याभीर जातिवचनस्तत्र तत्पत्तविधिना टाप् प्राप् प्रतिषिद्धनरे ।

आ० वामनजयारिय कृत काशिका वृत्ति ।

३ डॉ० बाहुदेवशरण अग्रवाल 'पाणिनाकालीन भारतवर्ष', प्रथम संस्करण, पृ० ६५ ।

४ यदि सामान्यविशेषाचिन्माह्वन् न भवतोऽयुच्यते, शूद्राभीरं गानसोबर्दं तृणोत्पत्तिमिति न सिध्यति । नेष दाप । इह तावच्छूद्राभीरमिति, आभीरा जात्यन्तराणि ।—महाभाष्य, १, २, ७२ ।

५ हिन्दू पोलिटो, प्रथम भाग, मृत्योय संस्करण, पृ० १२६ ।

६ आहुकवशात् समुद्भूताः आभीरा इति प्रकाशिताः ।—शक्तिसंगमतन्त्र ।

७ आहुकजन्मवन्तश्च आभीरा क्षत्रिया भवन् । जातिविवेकाध्याय ।

८ ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड, पृ० ३४७ ।

९ रवि मसि आपव नम, कुरुस्थ परमार सदावर ।

चहुवान चानुक्क, अदक सिलार अभीयर ।—पृथ्वीराजरासो, समय १, ६—२७७ ।

१० शतजंरि दायादस्त्रय परमकीर्त्य । हैहयश्च हयश्चैव तथा वेणुहयश्च य । मत्स्य पुराण, ४३, ८ ।

तस्यासौत् पुत्रमिधुनं नृपाविजितं धिला । आहुकश्चाहुकी चैव त्पार्तं मतिमतावर । बहो४४, ६६ ।

११ डॉ० जी० एस० गुरे कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, प्रथम संस्करण, पृ० ३७ ।

१२ नही, पृ० ३५ ।

प्रादेशिक भिन्नता और सामाजिक भेद के कारण अहीर कई उपजातियों में बँट गये थे । सम्भव है कि गुजर और अहीर किसी समय एक रहे हों । गुजर जाति आज भी उत्तर भारत में सिन्ध और गंगा के मध्य प्रदेश में चारों ओर फैली हुई है । इस जाति के अधिकार में कई बड़े-बड़े दुर्ग तथा गढ़ रहे हैं । गुजरात, गुजरवाँ तथा गुजरानवाला आदि नामों से इस का पूरा सम्बन्ध है । जाट, गुजर और अहीरो की सामाजिक दशा लगभग एक-सी रही है ।^१ गुजर की भाँति अहीर भी सवर्ण हिन्दू हैं । दोनों ही गाय, भैंस तथा पशुओं के पालन का कार्य करते हैं । ई० की पाँचवीं शताब्दी में दक्षिण-पश्चिमी राजपूताने में एक गुजर रियासत थी । मुन्डेलखण्ड में कुछ वर्षों पूर्व तक समथर रियासत गुजरो की रही है ।^२ श्री सकसेना ने गुजर की गणना संयुक्तप्रान्त की अपराधी जातियों में की है ।^३ अबुलफजल ने राजपूतों के अन्तर्गत अहीर, लोष, गुजर, बागडी, कुर्मी, मीना, मेव, मेहतर, भील, कोली, ग्वालिया, गरशिया, खसिया, बावरिया, विसेन, वेस, खाण्ड और खारोकी का उल्लेख किया है ।^४ महाराष्ट्र सम्प्रदाय में अभिल्ल या आभीर ब्राह्मण प्रसिद्ध है ।^५ व्यासस्मृति में गोप को अन्त्यज कहा गया है ।^६ ब्रह्मवैवर्तकार स्पष्ट रूप से गोप, नाई, भील आदि को सत् शूद्र कहते हैं ।^७ पश्चिमोत्तर प्रदेशों में आभीर गोपविशेष है । इन को अहीर, गोपाल कहते हैं । इन का जल दूषित नहीं माना जाता ।^८ वस्तुतः अहीर वर्णसंकर जाति है ।^९ प्राचीनतम युग में आभीर क्षत्रिय रहे होंगे, किन्तु ज्यों-ज्यों उन में आचरणहीनता बढ़ती गयी वे शूद्रों की श्रेणी में सम्मिलित होते गये । अन्त में उन्हें शूद्र ही कहा जाने लगा । इस का संकेत हमें मनुस्मृति में मिलता है ।^{१०} कालान्तर में अहीरो में कई भेद-प्रभेद हो गये । कुछ लोग अपने को बाबानन्द के वंशज मानते हैं और कुछ भगवान् श्रोकृष्ण से अपना सम्बन्ध बताते हुए अपने को यदुवंशी कहते हैं । छत्तीसगढ़ में सामान्यतः अपने को राउत कहते हैं । राउत शब्द अपभ्रंश भाषा का है, जिस का अर्थ राजपूत्र या राजपूत है । किसी

१. प्रकाशनागरायण सक्सेना मयुक्त प्रान्त की अपराधी जातियाँ, प्रथम संस्करण, पृ० १२३ ।

२ वही पृ० १२२ ।

३ वही पृ० ७ ।

४ आहने अकबरो, जिगद ३, जर्जेंट द्वारा जन्वित, १८६४, पृ० ११८ ।

५ प० ज्वालाप्रसाद मिश्र जातिभास्कर, १९६५, पृ० २०३ ।

६ ब्राह्मण्या शूद्रजनितस्त्राण्डालस्त्रिभिः स्मृतः ।

वज्रको नापितो गोप आशायः कुम्भकारकः ॥—व्यासस्मृति, १, १० ।

७ गोपनापितभिन्नाश्च तथा मोदककूबरी ।

ताम्बूलिस्वर्णकारी च तथा वणिज्जातयः ।

इत्येवमाद्या विप्रेन्द्र सद्युदा परिकीर्तिताः ॥—ब्रह्मवैवर्तपुराण, १०, १० अ० १६-१८ ।

८ जातिभास्कर, पृ० ४७७ ।

९ वैश्य एव आभीरो गवाक्षपजीवी, इति प्रकृतिवादः ।

मणिमन्ध्या तन्तुवामद्गोवजातेश्च संभवः ॥—वही, २८१, पृ० ४७७ ।

१०. शनकैस्तु क्रियालोपादिना क्षत्रियजातयः ।

द्वधत्वं गता सं के ब्राह्मणवर्धनेन च ॥—मनुस्मृति, १०, ४३ ।

समय अहीरो की गिनती राजपूतों में की जाती थी। सूर्यवंशी राजाओं के ख्यानवे कुलों में रावत भी एक राजकुल था।^१ राजपूतों के अन्तर्गत राउतों के भी कई भेद हैं।^२ इस देश के लगभग सभी भागों में विभिन्न प्रान्तों के अहीर, राउत मिलते हैं। छत्तीस-गढ़ में ही कन्नोजिया, झिरिया, जुझोतिया, देसिया आदि के राउतों का निवास है। ये लोग अपने को गहिरा भी कहते हैं। सम्भव है कि महरवाल वंश की किसी शाखा से भी इन का सम्बन्ध रहा हो। कोसरिया मूलतः बंगाल के हैं, जिन की मूल आजीविका गन्ना (कुसर) उत्पादन करना कहा जाता है।

आभीरों का निवास स्थल—आभीरों के मूलनिवास के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत कठिन है, पर प्राप्त उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि पहले-पहल आभीरों की भाँति अहीर भी उत्तरापथ के सिन्धु प्रदेश की घाटी के आस-पास कहीं बसे हुए थे। ब्रह्मपुराण के २१२ अध्याय में आभीरार्जुन संवाद में अर्जुन धन-धान्य से समृद्ध पंचनद प्रदेश में जाते हैं, जहाँ पहुँच कर आभीर से उन की मन्त्रणा होती है। वायुपुराण, मत्स्यपुराण तथा महाभारत में उत्तर दिशा में कहे गये देशों में आभीर प्रदेश का उल्लेख है।^३ किन्तु ब्रह्मपुराण में दक्षिणापथ के राज्यों में आभीर का नाम मिलता है।^४ श्रीमद्भागवत के विवरण से यह पता लगता है कि मध्यदेश और दक्षिण के बीच कहीं आभीर राजाओं का शासन था, जो प्रायः शूद्र थे। बृहत्संहिता में दक्षिण में तथा नैर्ऋत्यकोण में आभीरप्रदेश कहा गया है।^५ किसी-किसी ने पश्चिम दिशा में भी उस का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों के विवरण से यही प्रतीत होता है कि आभीरों का प्रसार उत्तर से पश्चिम की ओर तथा दक्षिण की ओर हुआ। शक्तिसंगमतन्त्र के अनुसार विन्ध्याचल पर आभीर देश स्थित था।^६ किन्तु बराहमिहिर के एक अन्य उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि आभीरों का निवास बहुत पहले से पश्चिम-दक्षिण में रहा है।^७ गुप्त युग के पूर्व ही अहंर लोग दक्षिण की ओर मालवा से आगे काठियावाड़ और नर्मदा एवं विन्ध्याचल के मध्य बसे हुए थे। गुजरात में आभीर बहुत समय से बसे हुए हैं। गृह्यरिपु आभीर राजा था। उन को भाषा अपभ्रंश साहित्य की भाषा थी।

१ जातिभास्कर, पृ० २३१।

२ वही, पृ० २५४।

३ मत्स्यपुराण, ११३, ४०। वायुपुराण, ४५-११५। महाभारत, भीष्मपर्व, अ० ६, ४७।

४ आभीरा सह वैशिषया अष्टव्याः सरवाश्च ये।

पुलिन्दाश्चैव मौलेया वेदर्भा दन्तके सह ॥—ब्रह्मपुराण, २७, ५६।

५ कण्टकट्टकगणनवासिश्चिकणिकारकोट्कणाभीरा ।—बृहत्संहिता, १४, १२। तथा—केन-गिरिवनमाकर्णप्राथेयपाराशरश्रुवाः।

सर्मारकिरातवण्डकव्याशयाभीरचक्षुका ॥—वही, १४, १८।

६ श्रीकोट्कणदधामागे तापीतः पश्चिमे तटे।

आभीरदेशो देवेशि विन्ध्यशैले व्यवस्थितः ॥—आष्टे त्रिनशनरी, पृ० १४३।

७ आमतर्जु दपुष्करसीराष्ट्राभीरशुद्धैरवतकाः।

नष्टा यस्मिन्नेवै सरस्वती पश्चिमे वेशः ॥—बृहत्संहिता, १६, ३१।

बलभी के उत्थान के पूर्व ही अपभ्रंश साहित्य की भाषा बन चुकी थी। यही नहीं, गुजरात और दक्षिण भारत में आभीरों की सामाजिक स्थिति महत्वपूर्ण रही है। उन की भाषा तथा नाम विदेशी नहीं है।^१ आलोच्य काल में अहीरों को जिस आभीर भाषा का उल्लेख किया जाता है उस का सम्बन्ध गुजरात, राजपूताना और मालवा की भाषा में देखा जा सकता है। यद्यपि आचार्य दण्डी ने आभीर आदि की बोली को अपभ्रंश कहा है, पर आदि शब्द से जिन जातियों का उल्लेख किया जाता है वे निम्न जातियाँ हैं और उन का निवास आर्यावर्त में कहा गया है।^२

आभीरी

आचार्य भरतमुनि ने विभाषा के रूप में जिस आभीर या आभीरोक्ति का उल्लेख किया है उसी को पहचान दण्डी “आभीरादिगिरः” से कराते है।^३ भरतमुनि के युग में भाषा प्रादेशिक नाम-रूपों के भेद से सात थी, पर प्रान्तों में बोली जाने वाली बोलियों से कुछ पृथक् नीच जाति के लोगों को बोलियाँ सम्भवतः उन्हें ही विभाषा कहा गया है। इन विभाषाओं में आभीर के साथ ही शकार, चण्डाल, शबर और द्राविड जातियों की बोली को भी विभाषा में गिनाया गया है। मृच्छकटिक की टीका में पृथ्वीधर ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश को भारतवर्ष की मुख्य साहित्यिक भाषा कहा है। प्राकृत भाषाओं में मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्घमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या (महाराष्ट्री) मुख्य हैं। अपभ्रंशों में भी शकारी, आभीरी, चण्डाली, शबरी, द्राविडी, उड्डा तथा वनेचरों की भाषा ठक्की मुख्य हैं। प्राकृतों की भाषा और अपभ्रंशों की विभाषा माना गया है।^४ मृच्छकटिक में हमें शौरसेनी, अवन्ति, प्राच्या, मागधी, शकारी, चण्डाली और ठक्की सात भाषाओं का प्रयोग दिखाई देता है। प्रतिनायक शकार शकारी बोली में ही बोलता है। शकारबहुल होने में शकारों की भाषा शकारी कही जाती है।^५ किन्तु शकार राष्ट्रिय कहा गया है, और इस लिए उस की भाषा राष्ट्रिया जाननी चाहिए। आ० दण्डी के ‘आभीरादिगिरः’

१ के० एम० मुन्शी द गनोरी देट नाज गुर्जदेश, भाग ३, प्रथम संस्करण, पृ० ११६।

२ वही : पृ० ११६।

३ निपादा भार्गव भूते दास लौकर्मजीवनम्।

कैवर्त इति य प्राहुरार्यावर्त निवासिनः ॥—मनुस्मृति, १०, ३४।

४ गजराज्याविकीन्द्रादिषोषस्थाननिवासिनाम्।

आभीरोक्ति शबरी वा द्राविडी वनचारिणु ॥—नाट्यशास्त्र, १७, ८६।

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।

शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥—काव्यादर्श, १, ३६।

५ प्राकृते—मागधयवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।

बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिता ॥—मृच्छकटिक टीका १, १। पृथ्वीधर।

दे०, नाट्यशास्त्र, १७-४६, ५०।

६, शकाराणां शकारानां शकारौ संप्रयोजयेत्।

तानव्यशकारबहुलत्वादेव भाषाया अस्याः शकारोति संज्ञा ॥—मृच्छकटिक टीका।

७, शकारो राष्ट्रियः स्मृतः, इति वचनात् शकारस्य भाषा राष्ट्रिया विज्ञेया।—वही।

एव पर रगाचार्य की टीका है कि गोप, शबर, शक और चाण्डाल आदि की भाषा आभीरी, शाबरी, चाण्डाली आदि है। इस प्रकार के उद्धरणों से यह पता लगता है कि आभीरी गोप, ग्वाला या गौली लोगों की बोली थी, जो समान के निम्न वर्ग की भाषा मानी जाती थी। भरतमुनि तथा पृथ्वीधर के विवरण से यह भी प्रतीत होता है कि यह बनेचर लोगों की भी बोली थी। क्योंकि पृथ्वीधर ने बनेचरों की जिस ढक्क विभाषा का उल्लेख किया है वह उकारबहुल है और अपभ्रंश से उस का पूर्ण साम्य है। यथार्थ में आभीर जाति किसी एक प्रान्त में स्थायी रूप से नहीं रही। उसे भ्रमणशील कहा गया है जो उचित ही है^१। सिन्ध से लेकर दक्षिण भारत तक फैले हुए अहीरों की भाषा में विविध प्रादेशिक भेद मिलते हैं। इसलिए हम उत्तर से दक्षिण भारत तक विभिन्न प्रदेशों में फैली हुई भाषाओं के कुछ शब्दरूपों तथा प्रत्ययों की बानगी आज भी प्राप्त कर सकते हैं^२। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अपभ्रंश का प्रसार उत्तर से पश्चिम, पूरब तथा दक्षिण की ओर—हुआ है। आ० भरतमुनि के समय में आभीर बोली प्रचलित थी, जो हिमवान्, सिन्धु, सोनार और निकटवर्ती प्रदेशों में रहने वाले लोगों की भाषा थी^३। पुराणों के उल्लेखों से भी उत्तरापथ में आभीरों की तथा आभीर प्रदेश की स्थिति का पता चलता है। किन्तु इन प्रमाणों के मिलने पर भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता—कि अपभ्रंश अहीरों की बोली थी। क्योंकि उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिष्ट लोगों की भाषा की तुलना में अपभ्रंश नीची थी और इसी लिए अपभ्रंशों की प्रचुरता से उसे शूद्रों, म्लेच्छों या महाशूद्रों अथवा आभीर आदि निम्न जातियों की विभाषा (बोली) कहा गया है। यदि वह अहीर, भील, मछुआ आदि लोगों की बोली होती तो उन के द्वारा लिखे हुए साहित्य या प्रदेश विशेष की बोली का निर्देश अवश्य मिलता। फिर, भाषा-विकास की दृष्टि से अध्ययन करने में कई प्रकार की बिप्रतिपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। अतएव जातिविशेष से भाषा का सम्बन्ध न जोड़ कर प्रवृत्ति-विशेष से उस की पहचान करना उचित जान पड़ता है। कारण स्पष्ट है कि अपभ्रंश का उपलब्ध अधिकांश साहित्य जैन साहित्य है। इसलिए भरतमुनि ने जिसे उकारबहुल कहा है वह भाषा विशेष की प्रवृत्ति का लक्षण है, जो विशेष रूप से अपभ्रंश में ही लक्षित होता है तथा जो प्राकृत की ओकारान्त प्रवृत्ति का लुप्तवान्त रूप है। अतएव प्राकृत की भाँति अपभ्रंश की भी जन-सामान्य की भाषा कहना समीचीन जान पड़ता है।

१ न। उ। कारभाषा ढक्कविभाषा। संस्कृतभाषास्ते दन्त्यतालव्यसंज्ञाकारव्ययुक्ता च।

२ सो० डी० दलाल और युने : अविसयत्तकहा की भूमिका, १६२२, पृ० ४६।

३ रेविए, एल० ए० रिचब्रज्जसाइण्ड द्वारा लिखित "नाट्स आन द पोस्टपोजीसम जीव सेट मिडिल इण्डो-आर्यन, तथय एण्ड रेसि, रेसिम्"। प्रकाशित, भारतीय विद्या, जिल्द १६, संख्या ३-४, पृ० ७७-८६।

४ हिमन त्सिन्धुसौवीराण्ये जनाः समुपाभिताः।

उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषा प्रयोजयेत् ॥—नाट्यशास्त्र, १७, ६२।

अपभ्रंश की उत्पत्ति तथा विकास—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, विष्णुधर्मोत्तर-पुराण तथा प्राकृत के व्याकरणों में प्राकृत के अन्तर्गत अपभ्रंशक। विचार किया गया है। हेमचन्द्र ने प्राकृतों को ध्यान में रख कर ही अपभ्रंश के नाम-रूपों का विवेचन किया है। भाषागत प्रमाणों से तथा अन्य उल्लेखों से पता लगता है कि सामान्य रूप से अपभ्रंश प्राकृतों का विकसित रूप है। साहित्य की भाषा बनने के पूर्व यह एक बोली मात्र थी, जो महाशूद्रों द्वारा बोली जाती थी। नाट्य में जातिभाषा के प्रयोग का विधान तो था, किन्तु निम्न जातियों को बोलियों का निषेध था।^१ अपभ्रंश का जन्म इन्हीं बोलियों तथा देशी भाषाओं से हुआ है। यद्यपि बोलों के रूप में हमें उस की कोई जानकारी नहीं मिलती, पर नाट्यशास्त्र में उद्धृत उदाहरणों में उस की झलक दिखाई देती है।

भरतमुनि ने उकारबहुला जिस विभाषा का उल्लेख किया है वह अपभ्रंश के लिए निर्दिष्ट है। भाषा के रूप में सब तक आभीरी का अभिधान नहीं हुआ था, इसलिए कदाचित् वह आभीरोक्त या विभाषा (आभीरी) के नाम से अभिहित की जाती थी। नाट्यशास्त्र में उदाहृत 'मोरल्लउ नचवन्तउ' 'महागमे संयन्तउ' आदि उदाहरणों में अपभ्रंश के बोली-रूपों का पता लगता है। अपभ्रंश का साहित्यिक ढाँचा प्राकृत का होने से भाषा और साहित्य रूपों पर प्राकृतों का अत्यधिक प्रभाव है। उस में प्राकृतों की प्रायः सभी विशेषताएँ प्राप्त हैं। परन्तु मुख्य रूप से वह शौरसेनी की चाल पर विकसित हुई है।^२ प्राकृतों का माडल यदि संस्कृत का है तो अपभ्रंश का माडल प्राकृतों का है। वस्तुतः देशी बोलियों का पानी पी कर ही अपभ्रंश फली-फूली है। भरतमुनि तथा पृथ्वीधर के अनुसार नाटकों में विभाषाओं का भी प्रयोग किया जाता था। नाट्य, प्रकरण आदि में विविध प्राकृतों में से शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या और मागधी का विशेष चलन था। अपभ्रंशों में शकार, चाण्डाली, शाबरी और ढक्क भाषाएँ विशेष रूप से प्रयुक्त होती थी।^३ नाट्यशास्त्र में ढक्क नामक देशी भाषा का उल्लेख तो नहीं मिलता है, पर जिन वनेचर लोगों की भाषा को आभीरोक्ति या शाबरी कह कर भरतमुनि ने परिचय दिया है उसी को पृथ्वीधर ढक्क भाषा कहते

१ प्रायोग्रहणावस्थापभ्रंशो विशेषः बहुमते तस्यापि स्वचित्पाकतवत् शौरसेनीवच्च काय भवति ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, सूत्र, ४, २२६।

२ जातिभाषाश्रयं पाठ्यं । द्विविधं समुदाहृतम् ।—नाट्यशास्त्र, १०, ३१।

न बर्बरकिरातान्त्र द्रमिणाणां जातिषु।

नाट्यप्रयोगे वर्तय्यं पाठ्यं भाषासमाश्रयम् ।—वहो, १०, ४६।

३. शौरसेनीवत् । ४, ४४६।

अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति ।—हेमचन्द्र।

सिंहराजकृत प्राकृतरूपावतार २१, १।

४ नाटकादौ बहुप्रकारप्राकृतप्रपञ्चेषु चतस्र एव भाषाः प्रयुज्यन्ते—

शौरसेन्यवन्तिकाप्राच्यामागध्याः । अपभ्रंशप्रपञ्चेषु चतस्र एव भाषाः प्रयुज्यन्ते—शक्ररीचाण्डाली शाबरीढक्ककेशीया ।—मूलप्रकटिक टीका १, १।

है। अतः अनुमानतः हीन जातियों के द्वारा व्यवहृत होने के कारण साहित्य में तब तक इसे उचित स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। किन्तु नाट्य लोकधर्मी होने के कारण इन विभाषाओं के प्रयोगों से भी अछूते न रहे। संस्कृत-नाटकों में सम्भवतः प्रथम बार हमें इस ढङ्क या आभीरोक्ति की वानगी मृच्छकटिक में मिलती है। नाटकों में पात्रों के अनुसार भाषा का प्रयोग करने का विधान है। मृच्छकटिक में चाण्डाली भाषा बोलने वाले चाण्डाल, शकारी बोलने वाले शकार तथा ढङ्क भाषा बोलने वाले माथुर और घूतकर हैं। इनकी भाषा पर विचार करने से उस समय की भाषाविषयक सामाजिक स्थिति का बोध होता है। माथुर जुआरियों का मुखिया है। उस की और जुआरियों की भाषा ठेठ बोली एवं असंस्कृत भाषा है। आज भी हम फटो पर बैठ कर खेलने वाले जुआरियों की भाषा को अपने से बहुत कुछ भिन्न सुन सकते हैं। माथुर के शब्दों पर स्पष्ट रूप से हमें उकारबहुला को छाप लगी हुई दिखाई देती है। यथा—लुद्ध (लुद्धो), जूदकर (घूतकर), पाधु (पाधो), पडिमाणुणु (प्रतिमाणूय), देडलु (देबकुल), घुत्तु (घूर्त), शिलु (शिर), गंधु (गण्डु), माथुर, पिदर, मादर, णिउणु (निपुण) आदि। अपभ्रंश की शाबरी बोली को छोड़ कर तीनों बोलियों के नमूने हमें इस नाटक में मिलते हैं।^१ वस्तुतः भाषा की दृष्टि से संस्कृत के सभी नाटकों में इस का स्थान विशिष्ट है। भाषा समाज और संस्कृति की लाकचेतना का यह पूर्ण प्रकाशन करने वाला संस्कृत साहित्य में एक मात्र नाटक है। इस में प्रयुक्त ढङ्क बोली मागधी से अत्यन्त प्रभावित है। इस लिए जान पड़ता है कि भले ही आभीर तथा आभीरी का प्रसार उत्तर से पश्चिम तथा दक्षिण की ओर हुआ हो, पर प्राकृतों की भाँति अपभ्रंश को भी साहित्यिक भाषा बनने का सौभाग्य पूरब में प्राप्त हुआ। किन्तु पूर्वी अपभ्रंश में लिखा हुआ साहित्य बहुत कम उपलब्ध है, परन्तु जो वर्तमान है वह प्राचीनतम साहित्य में गिना जाता है।

बलभी के राजा धरसेन द्वितीय के दानपत्र से पता लगता है कि उस के पिता संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं में प्रबन्ध काव्य रचने में निपुण थे।^२ इस से यह भी पता चलता है कि छठी शताब्दी के मध्य तक अपभ्रंश में प्रबन्ध काव्य लिखने का चलन हो गया था। क्योंकि उक्त शिलालेख ५५९ और ५६९ के बीच का लिखा हुआ माना जाता है। आ० भामह, दण्डी और नमिसाधु के उल्लेखों से भी इस की पुष्टि होती है। नमिसाधु ने स्पष्ट रूप से आभीरी या अपभ्रंश भाषा के लक्षण

१. विविधा भाषा विभाषाः। हीनपात्रप्रयोज्यस्याद्धीना। वनेचराणां चेति ढङ्कभाषासंग्रहः।
—मृच्छकटिक टीका, १, १।

२. मृच्छकटिके तु शबरपात्राभावाच्छाकारी नास्ति।—बही।

अपभ्रंशपाठेषु शकारी भाषापाठो राष्ट्रियः। चाण्डालीभाषापाठो चाण्डाली। ढङ्कभाषा-
पाठो माथुरघूतकरी।—बही।

३. संस्कृतप्राकृतपभ्रंशभाषात्रयप्रतिषेद्धप्रबन्धरचनानिपुणतरान्त करणः...

—इण्डियन एण्टिक्वेरी, भा० १०, अक्टूबर, १८८१, पृ० २८४।

मागधी में कहे हैं। उन्होंने प्राकृत प्रधान होने से अपभ्रंश को उस के अन्तर्गत गिनाते हुए उस के तीन मुख्य भेदों का निर्देश किया है—उपनागर, आभीर और ग्राम्य।^१ उन के बताने हुए इस वर्गीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश गँवारू भाषा थी। क्योंकि उपनागर और आभीर शब्द सामान्यतः हीन तथा ग्राम्य अर्थ के चोटक हैं। राजा भोज के युग में (१०२२-६३ ई०) प्राकृत की भाँति अपभ्रंश का अच्छा प्रचार था। कहा जाता है कि स्वयं राजा भोज संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अच्छे जानकार थे तथा तीनों भाषाओं में रचना करते थे। काव्य में भी तीनों भाषाओं का समान महत्त्व था।^२ किन्तु गुजरात में अपभ्रंश का विशेष प्रचार था। वहाँ के लोग केवल अपभ्रंश से ही सन्तोष का अनुभव करते थे।^३ यही नहीं, लाट देण के वासी संस्कृत से द्वेष रखते थे और प्राकृत को रुचि से सुनते थे। गौडदेशीय जनों की भी यही दशा थी। शालिवाहन राजा के काल में प्राकृत का अत्यधिक अम्बुदय हुआ। और उसी मधुर प्राकृत से भरित अपभ्रंश की रचना अत्यन्त भव्य और सरस है। इसे मगध और मधुरा के निवासी बोलते थे, और जो कवि जनों की भी इष्ट थी।^४ इस प्रकार म्यारहवीं शताब्दी में मगध और मधुरा अपभ्रंश भाषा-भाषियों के केन्द्रस्थान थे।

संस्कृत के प्रसिद्ध कवि कालिदास के ग्रन्थों के टीकाकार मल्लिनाथ के समकालीन प्राकृत व्याकरण लक्ष्मीधर ने स्पष्ट रूप से षड्भाषाचन्द्रिका में प्राकृत के प्राकृत, वीरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश के नाम से छह भेद कहे हैं।^५ प्राकृत शब्द से काव्य में महाराष्ट्री प्राकृत का बोध होता रहा है, जो किसी समय समूचे महाराष्ट्र, मध्य-देश, दक्षिण तथा उत्तर-पश्चिम भारत की बोली रही है। किन्तु साहित्य में पहले पहल महाराष्ट्र में अपनायी जाने के कारण सम्भवतः इसे महाराष्ट्री कहा जाने लगा। इस का जन्म भी महाराष्ट्र में हुआ कहा जाता है।^६ जिस प्रकार प्राकृतों के लिए संस्कृत

१ आभीरी भाषा अपभ्रंशस्था कथिता न्वभिन्मागध्यामपि हरयते तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः । सा ग्राम्यैरुपनागराभीरग्राम्यावभेदेन त्रिषोक्तस्तन्निरसार्थमुक्तं धूरिभेद इति । कुता वैशविषे-
षाद, तस्य च लक्षण लोकादेव सम्यगवनेय ।—रुद्रट कृत काव्यालंकार की टीका, २, १२।

२ संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव चापरः ।

शब्दो रचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन जायते ।—सरस्वतीकण्ठाभरण, २, १० ।

३ कृष्णन्ति सटभ लाटा प्राकृतं संस्कृतद्विषः ।

अपभ्रंशेन तु यन्ति स्वेन नाप्येन गुञ्जराः ।—वहो, २, १३ ।

४. वहो, २, १४-१५ । तथा—

गिरः श्रव्या दिव्या प्रकृतमधुरा प्राकृतधुर

सुभव्योऽपभ्रंशः सरसवचनं भुतवचनम् ।

विदग्धानामिष्टे मगधमधुरानासिभणिति—

निर्भखा यस्तेषां स ह्य कविराजो विजयते ।—वहो, २, १६ ।

५. षड्विधा सा प्राकृती च वीरसेनी च मागधी ।

पैशाची चूलिकापैशाच्यध्वंश इति क्रमात् ।—षड्भाषाचन्द्रिका, १, २६ ।

६. तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रीद्विषं विदुः ।—वहो, १, २० ।

आदर्श रही है उसी प्रकार परवर्ती प्राकृत के लिए महाराष्ट्री और अपभ्रंश के लिए शौरसेनी आदर्श मानी जाती रही है। संस्कृत वैयाकरणों ने अपशब्द कह कर तथा संस्कृत के साहित्य समालोचकों ने 'आभीरादिगिरः' कह कर जिस बोली का या विभाषा का निर्देश किया है वही साहित्य में अपभ्रंश कही जाती है^१। अपभ्रंश का प्रयोग नाटको में चाण्डाल आदि के द्वारा होने के कारण काव्यांगों में उस का बहुत ही कम समावेश किया जाता है।^२ वैयाकरणों के शब्दों में प्राकृत नीच जाति की और अपभ्रंश सब से नीची जाति की भाषा है। इसीलिए साहित्य में इन्हें महत्त्व प्रदान नहीं किया गया। किन्तु राजनैतिक उचल-पुचल में वह साहित्यिक गौरव प्राप्त कर जन-मानस में व्याप्त रही।

राजशेखर ने काव्य की मुख्य चार भाषाओं का निर्देश किया है। संस्कृत वाणी सुनने में दिव्य, प्राकृत स्वभाव से मधुर, अपभ्रंश सुमध्य और भूतभाषा सरस है।^३ काव्यमीमांसा के विवरण में पता लगता है कि अपभ्रंश का प्रचलन मारवाड़ में ही नहीं पश्चिमो पंजाब, गुजरात तथा मालवा में भी था। वाग्भट ने संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश और ग्राम्य भाषा में लिखे गये कई प्रबन्ध काव्यों का उल्लेख किया है। उस ने प्रादेशिक भेदों के अनुसार अपभ्रंश के विविध भेदों का भी निर्देश किया है।^४

अपभ्रंश के भेद—आ० हेमचन्द्र ने शिष्ट और ग्राम्य के भेद से अपभ्रंश के दो रूपों की चर्चा की है।^५ किन्तु प्राकृतसंस्कृतकार मार्कण्डेय ने भाषा के चार विभाग माने हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची। भाषा के पाँच भेद हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती तथा मागधी। विभाषाएँ भी पाँच कही गयी हैं—वकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरी और शाक्वी (शाखी)। उन्होंने अपभ्रंश के नागर, उपनागर और ब्राह्मण तीन मुख्य भेद माने हैं तथा आद्री, द्राविडी आदि सप्ताईस भेद कहे हैं। अधिकतर वैयाकरण प्राकृत का ही प्रधान रूप से विचार करते हुए लक्षित होते हैं। सभी प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के प्राकृत (महाराष्ट्री), शौरसेनी, मागधी और पैशाची इन चार भेदों का व्याकरण दिया है। केवल वाल्मीकीय प्राकृतशब्दानु-

१ अपभ्रंशस्तु भाषा स्वादाभागादिगिरि भव्य ।

कविप्रयोगानर्तरवान्नापशब्द स तु स्वेचित् ॥—पट्टभाषाचन्द्रिका, २, ३१ ।

२ अपभ्रंशस्तु चाण्डालयवनविषु युज्यते ।

नाटकादावपभ्रंशविन्यासस्यासहिष्णवः ॥—बह्म, १, ३६ ।

३ गिरः शब्दा दिव्या, प्रकृति मधुरा प्राकृतमधुरः

सुमध्योऽपभ्रंश सरसमवचनं भूतवचनम् ॥—बालरामायण, १, ११ ।

४ तत्र प्रायः संस्कृतप्राकृतपञ्चशयाम्यभाषाभिषद्भिर्ज्ञान्यवृत्तसर्गाश्रितसकसन्ध्यवस्कन्धकवन्धम् ।

तथा—अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्वैद्येषु भाषितम् ।

५ एच० जे० बी० "इन्डोलॉजिकल टु द भविसयत्तकहा" शीर्थक लेख, अनु० प्रो० एस० एन० बोपाल, प्रकाशित, 'जर्नल ऑफ द ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बंबई', द्वितीय जिल्ह, मार्च, १९१३, पृ० २४ ।

शासन और हेमचन्द्र कृत शब्दानुशासन में इन के अतिरिक्त चूलिका और पैशाची अपभ्रंश का अधिक विवरण है। यह भाषाचन्द्रिका में भी उक्त छहों भाषाओं का विचार हुआ है। यदि हम सभी उल्लेखों पर विचार करे तो देशी भेदों से अपभ्रंश के कई भेदों की कल्पना करनी होगी। किन्तु उसे उचित नहीं कहा जा सकता। फिर, उपलब्ध साहित्य से उस की कोई संगति भी नहीं बैठती, इस लिए केवल साहित्यिक रचनाओं को देखते हुए अपभ्रंश के अनिवार्यतः दो भेद माने जा सकते हैं—पूर्वी और पश्चिमी। किन्तु डॉ० तगारे ने पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी तीन भेद माने हैं।^१ यद्यपि अपभ्रंश साहित्य उत्तर भारत को छोड़ कर तीनों भागों में प्राप्त होता है पर भाषा की दृष्टि से हम उसे मुख्य दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं। दक्षिण भारत से प्राप्त साहित्य मूलतः पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश में निबद्ध है। पूर्वी अपभ्रंश मागधी प्राकृत से प्रभावित है। साहित्य में महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचलन रहा है। क्योंकि उक्त दोनों प्राकृत संस्कृत के अधिक निकट रही हैं।^२ फिर अपभ्रंश में शौरसेनी के अनुसार भाषा-विधान है।^३ इसलिए शौरसेनी अपभ्रंश की मुख्यता का सहज में निश्चय हो जाता है। पूर्वी अपभ्रंश में हमें सिद्ध-साहित्य लिखा हुआ मिलता है जो मागधी के अधिक निकट है। किन्तु दक्षिणी अपभ्रंश का कोई स्पष्ट भेदक रेखा नहीं खींची जा सकती। अतएव अपभ्रंश के मुख्य दो तथा प्रादेशिक अनेक भेद माने जा सकते हैं। अन्य भेदों में सामान्य रूप से कही-कही अन्तर दिखाई देता है, जिस का उल्लेख प्राकृत वैयाकरणों ने अत्यन्त सक्षिप्त रूप में किया है। इसी प्रकार भाषा की दृष्टि से देशी और साहित्यिक भेद से अपभ्रंश के दो रूप कहे जा सकते हैं। स्वयम्भू ने अपनी भाषा को ग्रामीण जनो की भाषा से हीन देशी भाषा कहा है।^४ देशी लोकभाषा का वह रूप था जो जन-सामान्य में प्रचलित था, लेकिन साहित्यिक भाषा केवल शिष्ट जनों की थी। समाज में भाषाविषयक यह अन्तर वैदिक युग से ले कर आज तक बराबर हुआ है। इस का एक मात्र कारण सामाजिक वर्ग-भेद माना जा सकता है।

अपभ्रंश का स्वरूप—अपभ्रंश में सामान्य रूप से प्राकृतों की सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। शौरसेनी में 'त' को 'द' करने की प्रवृत्ति है तथा 'य' को 'ज' होने का विधान है। अपभ्रंश में भी ये दोनों नियम प्रयुक्त देखे जाते हैं। महाराष्ट्री प्राकृत में मध्यम व्यंजन का लोप हो जाता है। अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति व्यापक है। मागधी में

१. तगारे हिस्टारिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश, १९४८, पृ० १४-१६ ॥

२. प्रकृति संस्कृतम् ।—बरकचि प्राकृतप्रकाश, १२, २।

शौरसेन्या ये शब्दास्तेषां प्रकृति संस्कृतम्।

३. शौरसेनीयत् । ८, ४४६ ।—हेमचन्द्र ।

अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीयत् कार्य भवति ।

४. सकम्पयमयपुलिगालं किय बैसोशासा उमय तडुज्जस ।—पद्मचरित, १, २, ४।

तथा—सामण्णभास छुडु सावडउ, छुडु आवमजुत्तु कावि घडउ ।

छुडु होन्तु महासिय वयभाई, मामिण्णभास पांरहरणाई ।—१, ३, १०-११।

‘ज’ को ‘य’, ‘ब’ को ‘त’ और ‘त’ को ‘द’ हो जाता है। अपभ्रंश में भी कहीं-कहीं इन नियमों का पालन देखा जाता है। इसी प्रकार वैयाकी में ‘ण’ को ‘न’ और ‘द’ को ‘त’ का विधान है, जो अपभ्रंश में भी पाया जाता है। मागधी की प्रसिद्ध प्रवृत्ति ‘र’ को ‘ल’ और ‘स’ को ‘श’ अपभ्रंश में व्यापक है। नमि साधु ने मागधी के जिन सामान्य नियमों का उल्लेख किया है वे अपभ्रंश में पूर्ण रूप से दिखाई देते हैं। इस का संकेत भी उन्होंने किया है। वस्तुतः मृच्छकटिक में जिस ढक्क भाषा का प्रयोग हुआ है उस से अपभ्रंश का विकास हुआ समझना चाहिए। इस ढक्क भाषा पर मागधी का भी पूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है। अपभ्रंश की प्रवृत्ति ही नहीं रूपात्मक वृत्ति तथा रचना में भी दोनों में अत्यधिक साम्य है। उदाहरण के लिए माधुर का यह वाक्य “धुत्तु जूदकर बिपदावेहिं पादेहिं देवळं पविट्टो” लिया जा सकता है। इसी प्रकार “एसु तुमं हु जूदिअरमंडळीए बद्धोसि,” “कधं जूदिअलमंडलाए बद्धोमिह” —वाक्य कहे जा सकते हैं, जो मागधी में प्रभावित होने पर भी अपभ्रंश के निकट हैं। यद्यपि नाटक में प्रयुक्त बोलियाँ प्रायः संस्कृत से प्रभावापन्न हैं, पर क्रियाओं को छाड़ कर अन्य रूपों पर बहुत कम ही प्रभाव है, यथा—“पिदरु विविकणिअ पअच्छ”। कहा जाता है कि प्राकृत वैयाकरणों में चण्ड ने सम्भवतः प्रथम बार अपभ्रंश का उल्लेख किया है तथा उस के नियमों का विवरण दिया है।^१ जो भी हो, पर चण्ड कृत प्राकृतप्रकाश को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश में प्राकृतों की मुख्य विशेषताओं के साथ ही देशी प्रवृत्तियों का भी समावेश होने लगा था। इसी लिए उस में कुछ नवीन प्रत्ययों तथा क्रियाओं का विवरण मिलता है।^२ यही नहीं, प्राकृतप्रकाश की टीका में देशीय भेदों से प्राकृत के अनेक भेद कहे गये हैं।^३ यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश का विधान प्राकृतों के अन्तर्गत किया है, पर अपभ्रंश निश्चय ही प्राकृत में भिन्न है; प्राकृत नहीं है। नमि साधु के “तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः” कहने का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि प्राकृत के समान ही अपभ्रंश में भी नियम देखे जाते हैं, इस लिए वह प्राकृत के समान ही है; न कि प्राकृत है।

प्राकृत और अपभ्रंश

जहाँ प्राकृत की प्रवृत्ति ओकारान्त है वहाँ अपभ्रंश की उकारान्त। किन्तु आ० हेमचन्द्र के अनुसार ‘सु’ आदि विभक्तियों के परे रहते संज्ञा शब्दों के अन्त्य स्वर प्रायः दीर्घ या ह्रस्व हो जाते हैं, यथा—

ढोल्ला सामला घण चम्पा-वण्णी ।

गाइ सुवण्ण रेह कस-वट्टइ दिण्णी ॥

१ सं० सी० डी० दत्तात्रेय और गुणै : अविसदसकडा, सूचिका, पृ० ६१ ।

२ अंशे फिटं फिटं फुडं फुडं धुक्कं धुक्कं । इत्तेणुं ज । गुंजइ हसइ । मरवधे अण्ण हण्णो एतो प्रत्ययो भवत ।

३ प्राकृतं बहु तत्तुस्यं वैयादिकमनेकथाः ।—प्राकृतप्रकाश टीका ।

यही डोल्ला और सामला शब्द दोर्च हैं तथा सुवण्ण ह्रस्व । डॉ० जैकोबी और अल्सडोर्फ ने इस अन्तर एवं नियम पर बड़ा बल दिया है । अल्सडोर्फ का कथन है कि अपभ्रंश की स्वाभाविक प्रवृत्ति ह्रस्वान्त है ।^१ किन्तु वस्तुतः वह उकारान्त ही है । नाम-रूपों तथा संज्ञा शब्दों पर स्पष्ट रूप से उस की छाप देखी जा सकती है । भरतमुनि और प्राकृत वैयाकरणों ने इस प्रवृत्ति का विशेष उल्लेख किया है । स्वयं आ० हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में कर्त्ता और कर्म के एकवचन में अकारान्त शब्द के अन्तिम 'अ' को 'उ' का विधान किया है ।^२ पाली तथा प्राकृतों की अपेक्षा अपभ्रंश में शब्द-रूप और क्रिया-रूप अधिक सरल हैं । संस्कृत में गण, लकार, पद तथा वचन आदि के भेद से शब्द और क्रिया-रूपों में जो जटिलता थी वह पाली-युग में बहुत कुछ सरल हो जाती है । पाली युग में द्विवचन का लोप दिखाई देता है । दस गणों के स्थान पर पाँच गण मिलने लगते हैं, जो प्राकृत युग में समासप्राय हो जाते हैं । सरलीकरण की प्रवृत्ति अपभ्रंश में विशेष रूप से दिखाई देती है । इसी लिए प्राकृत के रायडल, एयूणबीसो, वाणिजगा, पिच्छिऊण आदि शब्द राडल, एकबीस, वणिज, वणिज, पुच्छउ आदि के रूप में अपभ्रंश में देखे जाते हैं । पाली में परस्मैपद और भ्वादि गण-रूपों की बहुलता है । प्राकृतों में भी यही प्रवृत्ति बहुल है । सामान्यतः सभी प्राकृतों में चतुर्थी विभक्ति का एक प्रकार से लोप दिखाई देता है, और उस के स्थान पर षष्ठी का प्रचलन रहा है ।^३ कर्त्ता और कर्म में बहुवचन रूप तपुंसक लिंग की भाँति बनने लगे । प्रायः दुहरे रूपों का लोप हो गया, केवल परस्मैपदी रूपों का चलन रहा । संयुक्ताक्षरों के स्थान पर द्वित्व की प्रवृत्ति बढ़ती गयी । किन्तु अपभ्रंश में विभक्ति-रूपों में और भी अधिक सरलता आ गयी । कर्त्ता और कर्म में जहाँ समान रूप प्रचलित हो गये वहाँ सम्बोधन और सम्बन्ध के बहुवचन के रूपों में साम्य बढ़ चला । षष्ठी विभक्ति का प्रायः लोप ही हो गया ।^४ इस प्रकार प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी विभक्ति का निर्विभक्तिक पद से अपभ्रंश-युग में बोध होने लगा था । यही नहीं, विभक्तियों का भी विनिमय इस युग में होने लगा था । परवर्ती काल में व्रज, अवधी और अवहट्ठ तथा देशी भाषाओं में निर्विभक्तिक प्रयोगों का स्पष्ट प्रचार दिखाई देता है । अपभ्रंश में सन्धि के नियम निश्चित नहीं हैं । इसी प्रकार लिंग में भी अव्यवस्था है ।^५ किन्तु पाली, प्राकृत की भाँति ह्रस्व एकार और ओकार का चलन रहा है ।^६ ह्रस्व ऋ का भी कहीं-कहीं प्रयोग है, पर साधारणतः संस्कृत के

१. अपभ्रंश स्टडियन, पृ० ६-७ ।

२. स्वयं रसपोत, १-सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८, ३३९ ।

३. सर्वत्र षष्ठी चतुर्थ्याः इति क्रमदोस्वर । यथा-विपस्व वैहि ।

४. पञ्चमः । १-सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८, ३४६ ।

अपभ्रंशो षष्ठा विभक्त्याः प्रायो ह्युप भवति ।

५. लिङ्गमतन्त्रम् १-वही, ८, ४४६ ।

६. न च लोके न च वेदे ह्रस्व एकार ओकार । वही ।

जट, लृ, ऐ और औ का अपभ्रंश में प्रयोग नहीं है। क्रिया-रूपों में वर्तमान तथा विशेष रूप से भूतकाल में कृदन्त का प्रयोग मिलता है। संस्कृत के हलन्त, इकारान्त और उकारान्त शब्द अपभ्रंश में अकारान्त बन जाते हैं। हिन्दी की आकारान्त और ईकारान्त प्रवृत्ति का मूल अपभ्रंश की उभयविध प्रवृत्तियों में देखा जाता है। आ० हेमचन्द्र ने इस का विधान भी किया है।^१ अपभ्रंश में कुछ ऐसे प्रत्यय तथा परसर्ग दिखाई देते हैं जो पाली और प्राकृत में नहीं मिलते। ये भाषा-विकास की अवस्था विशेष के सूचक होने के साथ ही नवीन उपलब्धि के प्रमाण हैं। उदाहरण के लिए—पूर्वकालिक क्रिया निष्पन्न करने के लिए संस्कृत में क्त्वा और ल्यप् प्रत्ययों का विधान है तथा पाली प्राकृत में उसे तूण और इय आदेश हो जाते हैं।^२ किन्तु अपभ्रंश में इस के लिए इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एवि और एविणु इन आठ प्रत्ययों का प्रयोग होता है।^३ इसी प्रकार क्रियार्थक क्रिया के लिए अपभ्रंश में घातु के आठ रूप होते हैं जो प्राकृत में नहीं हैं। कृदन्त रूपों में भी विविधता देखा जाती है। निष्क्य ही हिन्दी के कृदन्त तथा सज्ञा शब्दों में लिंग की जो अव्यवस्था है वह अपभ्रंश से सम्बन्धित है। अ, ङङ और डुल्ल अपभ्रंश के स्वाधिक प्रत्यय हैं।^४ प्पण और तण प्रत्ययों की भी विशेष व्यवस्था है।^५ इस भाषा में देशों शब्द-रूपों का बाहुल्य है।^६ शब्द तथा क्रिया-रूप अपभ्रंश प्रकृति में ढले हुए ही दिखाई देते हैं। कहा जाता है कि अपभ्रंश की ध्वन्यात्मक विशेषता 'य' श्रुति है।^७ किन्तु यह मागधी और अट्टमागधी की भी विशेषता है।^८ वस्तुतः इस भाषा की ध्वन्यात्मक विशेषता स्वरों के ह्रस्व उच्चारण में निहित है। प्राकृत और अपभ्रंश में संयुक्त व्यंजनों का अधिक प्रयोग है। स्वरों में या तो सन्धि कर दी जाती है अथवा सम्प्रसारण। किसी-किसी ध्वनि का लोप कर उसे कोई अन्य रूप ही दे दिया जाता है। क्रिया-रूपों में भी यह प्रवृत्ति मुख्य है। अपभ्रंश में निष्ठाबोधक कई प्रत्यय हैं। प्रत्यय और रूपा की इस विविधता से पता लगता है कि संस्कृत से प्राकृत में और प्राकृत से अपभ्रंश युग में इन रूपों में विकासात्मक प्रवृत्ति बढ़ती रही तथा आन्तर भाषाओं से प्रभाव रूप में भारतीय आर्य-भाषाएँ बहुत कुछ ग्रहण करती रही हैं। देशी बोलियों में कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व

१ व्यादी दीर्घत्वम् ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, ५, ३३०।

२ क्त्वा तूण इयौ ।—सं०-पं० मधुराप्रसाद । पाली-प्राकृत व्याकरण, २, ३६।

३ क्त्वा इइउइविअय (एप्पिण्येप्पिण्येविणव) ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन ।

४ अट्टडुल्लो स्वाधिकलुक् च ।—त्रिविक्रमदेव प्राकृतशब्दानुशासन, २६, ३, ३।

५ स्वस्तलो प्पणु ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन ।

विशेष द्रष्टव्य है—लेखक का 'अपभ्रंश के प्पणु और तण प्रत्यय' शीर्षक लेख, नाम्नीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६६, अं० ४, सन् २०१७।

६ तशाधारधोलोपादीत् ।—प्राकृतशब्दानुशासन, ६४, ३, ४।

भाडगास्तु देश्या सिद्धा ।—वही, ७२, ३, ४।

७. अवर्णो य' श्रुति ।—पाली-प्राकृतव्याकरण, २, २६।

मिलते हैं, जिन को जड़ें लोकपरम्परा में लक्षित होती हैं। वस्तुतः अपभ्रंश का विकास भी उसी परम्परा से हुआ है।

देशी

प्राकृत युग में ही साहित्य की भाषा को देशी कहने का प्रचलन हो गया था। पादलिप्तसूरि अपनी कथा की भाषा को जो कि प्राकृत है देशी कहते हैं।^१ इन का समय लगभग पाँचवीं शताब्दी कहा जा सकता है। उद्योतन सूरि (७६९ ई०) स्पष्ट रूप से कुवलयमाला कथा की महाराष्ट्री प्राकृत को देशी कहते हैं और उसे प्राकृत से भिन्न बताते हैं।^२ कौकहल ने भी महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित लीलावई की भाषा को महाराष्ट्र की देशी भाषा कहा है।^३ यद्यपि यह सच है कि लीलावई में देशी शब्दों का प्राधान्य है, पर स्वयं कवि अन्य स्थल पर प्राकृत को देशी भाषा कहता है।^४ वण्डी ने भी देशविशेष की जातीय भाषा होने के कारण अपभ्रंश का उल्लेख किया है।^५ प्राकृतों में देशों विशेषताओं का स्पष्टतः प्राधान्य रहा है।^६ आ० रुद्रट तो अपभ्रंश को देशी भाषा ही कहते हैं।^७ मृच्छकटिक में जिस उक्क विभाषा का प्रयोग हुआ है उसे टक्क (आधुनिक पूर्वी पंजाब) देश की बोली माना जा सकता है। काव्यादर्श की टीका काव्यलक्षण में प्राकृत की भाँति अपभ्रंश के भी चार भेद हैं और उसे देशीय कहा है।^८ संस्कृत और प्राकृत के कवियों ने ही नहीं अपभ्रंश के लेखकों ने भी अपनी रचनाओं की भाषा को देशी कहा है। महाकवि स्वयम्भू अपने प्रबन्ध काव्य 'पउमचरित' की भाषा को संस्कृत और प्राकृत रूपी पुलिनो से अलकृत तथा देशी भाषा रूपी दो तटों से उज्ज्वल कहते हैं।^९ पुण्डन्त भी नम्रता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि न तो मैं छन्दशास्त्र के नियमों को भलीभाँति जानता हूँ और न छन्द तथा देशी भाषा को ही।^{१०} पद्मदेव, लक्ष्मण और अन्य अपभ्रंश कवि अपनी भाषा का परिचय देशी कह कर

१. पालिप्तएण रत्नया विरञ्जो तस्मं देशीयणेहि ।

नामेण तरंगवई कहा बिचिता बिचिता बिहुलापय ॥—जेकाभी सनत्कुमारचरित की भूमिका, पृ० १७० से उद्धृत ।

२. पाययभासा रहया भाहृदयदेमो वयणणिबद्धा ।—डॉ० आ० ने उपाध्ये लीलावई की भूमिका में उद्धृत ।

३. भणिय च पियय भाए रहयं मरहट्ट देशो भासाए ।

अगाई हमोए कहाए सज्जणा संग जाउगाई ॥—लीलावई, गाथा १३३० ।

४. एमेय युद्ध जुयई मनोहर पाययाएँ भासाए ।

विवरल देशो सुलबल कहसु कह दिव्य माणुसियं ॥—वही, गाथा ४६ ।

५. आभोरादिगिर काव्येण्वपभ्रंश इति स्मृत् ।—काव्यादर्श, १, ३६ ।

६. तदुभयस्तत्समा देशोऽन्येकः प्राकृतक्रमः ।—वही, १, ३३ ।

७. षष्ठोऽत्र सूरिभेदा देशविशेषादपभ्रंशः ।—काव्यालंकार, २, १२ ।

८. अपभ्रंशाऽपि प्राकृतवचनपूर्वा स्मर्यते । यत्तुक्तम्—

शब्दभन्व शब्दसमं देशोऽयं सर्वशब्दसामान्यम् ।

प्राकृतवदपभ्रंशं जानोहि चतुर्भिधमाहितम् ॥—रत्नग्रीहान 'काव्यादर्श' की टीका, १, ३६ ।

९. सनकयपायय पुलिनालं किय देशीभाषा उभय सहुज्जल ।—पउमचरित, १, २, ३-४ ।

१०. म हजं होमि बियबलवज्जु न मुणमि सलवज्जु खंदु वेसि न वियणमि ।—महापुराण, १, ८, १० ।

देते हैं।^१ आचार्य हेमचन्द्र ने देसोसदसगह में कहा है कि जो शब्द प्रकृति-प्रत्यय आदि से शब्दशास्त्र से सिद्ध नहीं है तथा संस्कृत कोशों में जो प्रसिद्ध नहीं है और न लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों से जिनका अर्थ सम्भव है वे इस कोश में निबद्ध हैं,^२ और देशविशेष (महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि) में प्रसिद्ध होने के कारण उन शब्दों को एवं अति काल से प्रयुक्त होने वाली प्राकृत भाषा विशेष को देशी कहते हैं।^३ देशी की इस परिभाषा में शब्द हो नहीं उन शब्दों से युक्त भाषा का भी ग्रहण हुआ है। देशीनाम-माला में नाना देशों में प्रसिद्ध देशी शब्दों का संग्रह तथा अर्थ निबद्ध है। इसमें कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो अपभ्रंश के हैं। उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भाषा को डॉ० चटर्जी प्राचीन कोशल देश की बोली कोशली मानते हैं।^४ यह लगभग म्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी की रचना कही जाती है। इसके लेखक पं० दामोदर ग्रन्थ की भाषा को भ्रष्ट गिरा कहते हैं।^५ साधुसुन्दरगणी कृत उत्तरत्नाकर में अनेक देशी शब्दों का संग्रह है। वस्तुतः ये रचनाएँ लोक परम्परा की हैं जो लोकधर्म तथा भाषा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं। इसी परम्परा में आगे चल कर हमें विद्यापति की कीर्तिलता और पदावली जैसी रचनाएँ मिलती हैं। स्वयं विद्यापति ने देशी वचनों को मधुर कह कर उस का महत्त्व गाया है।^६ स्पष्टतः भाषा और काव्य की यह वही धारा है जो लोक जीवन को साथ ले कर विकसित होती रही है। इस में प्रायः सभी साहित्यार्थों का विकास हुआ है, पर क्रमशः वे शास्त्रीय नियमों से आबद्ध होते गये, और इसीलिए केवल जन-जीवन की झलक ही उन में मिलती है, समाज की चेतना का पूर्ण प्रतिबिम्ब नहीं।

अपभ्रंश भाषा का स्थान

जाति, भाषा, साहित्य और इतिहास के उल्लिखित प्रमाणों से पता लगता है कि उत्तर वैदिक युग में आभीर सिन्ध और पंजाब के प्रदेशों में फैले हुए थे, जिनका मुख्य कर्म गो-पालन था। महर्षि वाल्मीकि ने उत्तरापथ के द्रुमकुत्स नामक स्थान पर दस्युओं के अन्तर्गत आभीरों का विवरण दिया है।^७ उत्तर में

१ डॉ० हीरालाल जैन . पाहुदधोहा, धर्मिका, १० ४४-४५ ।

२ जै लक्षणो ण सिद्धा ण पसिद्धा मक्कयाहिहाणेषु ।

ण य गउगलवखणासत्तिसं भवा ते इह णिबद्धा ॥—देशीनाममाला, १, २ ।

३ वैयविससपसिद्धो भण्यमाणा अणन्तया हुन्ति ।

तम्हा अणाइवाइअपमट्टभासाविससओ वैसी ॥—वही, १, ४ ।

४ डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी उक्तिव्यक्तिप्रकरण, प्रस्तावना, १०६ ।

५ ततो देशे देशे प्रतिविषयं लोक पामरजनो यया यया गिरापभ्रष्टया यत् किञ्चित् अभिधेयं वस्तु वक्ति व्यवहरति सापभ्रश भाषा ॥—उक्तिव्यक्तिप्रकरण, श्लोक ७ विवृत्ति ।

६ देसिल वअना सभ जन मिट्टा

तं तैसन जम्पओ अवहट्टा ॥—कीर्तिलता, १, २१-२२ ।

७ उत्तरैणावकाशोऽस्ति कश्चित्पुण्यतरो मम ।

द्रुमकुत्स इति स्थाता लोके स्थाता यथा भवात् ॥—रामायण, १, २२-२३ ।

उपवर्शनकर्मणि बह्वस्त्य इत्यत्र ।

आभीरप्रमुखाः पापा पिमन्ति ससिर्धं मम ॥—वही, १, २२, २३ ।

आभीर नाम के प्रदेश का भी उल्लेख मिलता है। संगीत शास्त्र में आभीरी राग भी है।^१ जान पड़ता है कि जिस प्रकार आर्यों के आचार-विचार से हीन होने पर आभीर शूद्र और म्लेच्छ कहे गये हैं उसी प्रकार वेदों के राग से भिन्न होने के कारण, गमक से हीन आभीरी देशी राग कहा गया है।^२ यही नहीं, साहित्य में आभीर नामक एक नये मात्रिक वृत्त का भी चलन हो गया।^३ यह सब लोक-परम्परा का प्रभाव एवं विकास कहा जा सकता है। इस में शास्त्रीयता का केवल आवरण भर है। परवर्ती काल में इन में और भी अधिक विकास हुआ। इस प्रकार आभीर जाति, प्रदेश और कला का प्राचीन विवरण मिलता है। भाषा के रूप में भरतमुनि ने जिसे आभीरोक्ति तथा उकारबहुला कहा है उस की पहिचान दण्डी अपभ्रंश से कराते है। नमिसाधु, मार्कण्डेय, लक्ष्मीधर, पृथ्वीधर और रत्नश्रीज्ञान आदि अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीर से जोड़ते हैं। भरतमुनि आभीरी भाषा से ही नहीं जाति से भी परिचित थे।^४ दण्डी ने कदाचित् पहली बार स्पष्टतः अपभ्रंश को आभीरी कहा। उन के काव्यादर्श की टीकाओं में सम्भवतः सर्वप्राचीन रत्नश्रीज्ञान कृत काव्यलक्षण उपलब्ध होती है। यह राष्ट्रकूट राजा तुंगभद्र के समय लिखी गयी थी। दण्डी के 'आभीरादिगिरः' पद की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है कि आभीर पंजाबी है और आदि शब्द से ढक्क आदि विभाषाओं का ग्रहण करना चाहिए।^५ बहुत कर ढक्क से अभिप्राय ढाका प्रदेश से रहा होगा। पृथ्वीधर ने मृच्छकटिक में प्रयुक्त जिस ढक्क विभाषा का निर्देश किया है उस का सम्बन्ध ढक्क देश से न हो कर ढाका से है। वस्तुतः अपभ्रंश पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोली रही है पर ज्यों-ज्यों आभीरों का प्रसार उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर होता रहा है भाषा का क्षेत्र और विकास भी बढ़ता रहा है। इस देश के कई प्रदेशों में आभीरों का राज्य रहा है। ये गणतन्त्र राज्य के प्रतिष्ठापक रहे हैं। नेपाल, गुजरात, महाराष्ट्र और पश्चिमी सीमान्तप्रदेशों में कई आभीर राजाओं का राज्य रहा है। भरतमुनि ने हिमालय की तराई, सिन्धु प्रदेश और सिन्धु नदी के पूर्ववर्ती घाटी प्रदेश में बसने वाले वनेचरों की भाषा को आभीरोक्ति कहा है। राजसेखर अपभ्रंश का

१ शुद्धपञ्चमसंभूता गमकस्फुरकान्विता ।

आभीरी गमहीना स्वाद्वनहुला पञ्चमेन च ॥ भरतकोश में उद्धृत, सं०-श्रीमान् वसिष्ठ रामकृष्ण कवि, प्रथम संस्करण ।

२ वही । तथा—

मानापञ्चमभाषेयमाभीरी परिकीर्तिता ।

रिगाम्यां च विहीना च औडुबा परिकीर्तिता ॥—जगदेव, नही ।

३. एकादशकलघारि कविकुलमानसहारि ।

इदमाभीरमवेहि जगन्मन्तमनुचेहि ॥—शब्दार्थचिन्तामणि (सुखानन्द), प्रथम भाग, पृ० २७३ ।

४. आभीरयुवतीना तु द्विवेणीधरमेव च ।

शिर परिगमप्रायो नीलप्रायमथाम्बरम् ॥—नाट्यशास्त्र, २३, ६५ । चौखम्बा संस्करण ।

५ आभीरा वाहिका । आदि शब्देन ढक्कादिपरिग्रह । तेषां गिरी भाषा अपभ्रंश इति अपभ्रंशनाम्ना ।

क्षेत्र समूचा राजपूताना, पंजाब^१ (पूर्व में व्यास नदी से पश्चिम में सिन्धु नदी तक का प्रदेश), और मादानक कहते हैं । इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवीं शताब्दी तक उत्तर-पश्चिम भारत में अपभ्रंश बोली जाती रही है । किन्तु पश्चिम में हो नहीं पूरब में भी अपभ्रंश का प्रचार रहा है । आभीरों के स्थानान्तरण के साथ ही आभीरी भी फैलती रही है । गुप्त-युग में आभीर राजाओं का प्रभुत्व भी रहा है । पर इतिहास में उन्हें महत्त्व नहीं मिला । इस का कारण सामाजिकता के अतिरिक्त हेय भावना भी कहा जा सकता है । समाज में आभीर खूद माने जाते रहे हैं और क्षत्रियत्व का पद प्रदान करने के लिए समाज उन के लिए प्रतिकूल रहा है । यह निश्चय है कि ढक्क भाषा अपभ्रंश की बोली रही है, जिस पर मागधी का विशेष प्रभाव है । किन्तु यह एक बड़ा प्रश्न है कि अपभ्रंश जैन-साहित्य की भाषा कब और कैसे बनी ? जैन और बौद्ध आचार्य बहुत कर जन-बोलियों में उपदेश देने तथा ग्रन्थ लिखने के पक्षपाती रहे हैं । सम्भवतः जब आभीरों के दल नेपाल और मालवा से कई दलों में विभक्त हो कर दक्षिण और पूरब की ओर बढ़े होंगे तभी लिच्छवियों से उन की मुठभेड़ हुई होगी तथा अपनी संस्कृति और भाषा से प्रभावित किया होगा । यद्यपि उस युग में भाषागत एकरूपता किसी न किसी रूप में अवश्य होगी पर जातिगत भिन्नता और विभिन्न संस्कृतियों के मेल से परिवर्तन होना स्वाभाविक है । और इसीलिए ढक्क विभाषा पर हम एक ओर अपभ्रंश की छाप देखते हैं तो दूसरी ओर मागधी का पूर्ण प्रभाव । ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि आभीर त्रिकूटों की भाँति सफल शासक थे । पाँचवीं शताब्दी में उत्तर महाराष्ट्र और उत्तर गुजरात त्रिकूटों के अधिकार में थे, जो उन्हें आभीर राजा से प्राप्त हुए थे^२ : यही नहीं, छठी शताब्दी के प्रारम्भ में ही आभीरों ने लिच्छवि राज्य पर आक्रमण कर उसे जीत लिया था और कुछ समय तक शासन भी किया था ।^३ शिलालेखों के प्रमाण से भी इस की पुष्टि होती है । इस प्रकार उक्त सन्दर्भों से पता लगता है कि अपभ्रंश उत्तर-पश्चिम प्रदेशों की भाषा थी जिस का सम्बन्ध विशेष रूप से निम्न जातियों से था और प्रामाणिक रूप से जो आभीरों तथा जन सामान्य की बोली थी ।

अपभ्रंश : विकार या विकास—संस्कृत के व्याडि, भर्तृहरि और पतंजलि आदि वैयाकरण उच्चारण की असावधानी से पहले जिसे अपशब्द कह कर भाषा का बोध कराते थे बाद में अपशब्द एवं भ्रष्ट शब्दों का बाहुल्य देख कर उसी को 'अपभ्रष्ट गिरः' या अपभ्रंश कहने लगे । वैयाकरणों का स्पष्ट मत है कि साधु प्रयोग संस्कृत है और विकृत अपभ्रंश । उन का यह भी कथन है कि शब्दों को बिगाड़ कर बोलने की

१ पंजाब में चेहका महत्त्वपूर्ण राज्य कहा जाता है जो टक्क में अभिन्न है । उस की राजधानी सिमालकोट के पास थी । टक्क पूर्व में व्यास नदी से लेकर पश्चिम में सिन्धु तक विस्तृत था ।

दे०, द क्लासिकल एज, जिन्द तृतीय, पृ० १११ ।

२. वही, पृ० ११३ ।

३. वही, पृ० ८६ ।

प्रवृत्ति परम्परागत है और इसलिए शब्दों की प्रकृति ही अपभ्रंश है।^१ किन्तु महर्षि पतंजलि का कथन है कि एक ही शब्द के कई बिगड़े हुए रूप मिलते हैं और इसलिए वे सब अपभ्रंश हैं। यथा—एक गौ शब्द के वाचक गाबी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश शब्द हैं।^२ किन्तु किसी एक वस्तु के बोधक अनेक शब्दों के होने से तो कोई भाषा अपभ्रंश नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि एक ही भाषा में एक पदार्थ के वाचक अनेक शब्द हैं। इसलिए पतंजलि का यह अभिप्राय नहीं कहा जा सकता कि एक अर्थ के बोधक कई शब्दों के होने से वह अपभ्रंश है। इस के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि ये शब्द आर्येतर प्रजाओं द्वारा ही प्रयुक्त होते हों या शूद्रों अथवा म्लेच्छों में व्यवहृत हो और दूसरे व्युत्पत्तिलम्प्य अर्थ के वाचक न हों। महाभाष्य के विवरण से भी इस का किञ्चित् संकेत मिलता है।^३ स्पष्ट ही महाभाष्य में कथित अपभ्रंश शब्दों में से गोणी प्राकृत में, पाली में और सिन्धी में तथा गाबी (ग्राह्वी) बंगला में प्रयुक्त है। गाय का वाचक 'गाबी' शब्द पाली में भी देखा जाता है। गोपोतलिका का अर्थ जवान गाय कहा जाता है। सम्भवतः गोता वस्तु गाय को कहते थे। महाभाष्य के आदि पद से गोणा तथा गोण शब्द का ग्रहण किया जा सकता है। प्राकृत में 'गोणा' तथा 'गोला' शब्द भी गाय के अर्थ में प्रचलित रहा है।^४ पाली में 'गोण' शब्द गाय का बोधक है।^५ देशीनाममाला की टीका में भी गाय अर्थ में 'गोण' शब्द प्रयुक्त हुआ है।^६ गोण का एक अर्थ पाली और प्राकृत में बैल भी है। हेमचन्द्र ने इस का एक अर्थ सन का वस्त्र कहा है।^७ अतएव अपभ्रष्ट शब्दों से भरित किसी भाषा को अपभ्रंश नहीं कहा जा सकता। वैयाकरणों का यह दृष्टिकोण सीमित एवं संकुचित कहा जा सकता है। यद्यपि महर्षि पाणिनि ने आर्येतर प्रजाओं तथा म्लेच्छों की बोलियों से संस्कृत को बचाने का अप्रतिम प्रयत्न किया, किन्तु असीरियन, मिश्र, फिनोड्रियन आदि भाषाओं से समय-समय पर प्रभावित हो कर संस्कृत भाषा नाम-रूपों की ग्रहण

१. पारम्पर्यादिपञ्चंशा विगुणेष्वभिधानुषु।

प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचक १-वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, १५४।

२. एकैकस्य हि शब्दस्य बहुगोऽपभ्रंशः। तद्वयथा गौरियस्य शब्दस्य गाबी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहुगोऽपभ्रंशः। १-महाभाष्य, १, १, १।

३. वेदाग्नौ वै विक्वा शब्दा मिद्धा लोकाच्च लौकिका, अनर्थकं व्याकरणम् इति। यदि तन्मन्त्रशब्दोपदेशः कियते, गौरियेतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद्-गाव्यावयोऽपभ्रंशः इति। अथाप्यपशब्दोपदेशः कियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद् गौरियेय शब्द-इति। किं पुनरत्र ज्यायः।

—बही, १, १, १।

४. वे०, गोसास शब्द, जैनगम शब्दसंग्रह (अर्द्ध मागधी गुजराती कोष), पृ० ३००। प्रथम संस्करण।

५. नंदी तथा बहुला गिट्टी गोला य रोहिणी सुरही १-पाइअलच्छी नाममाला, ४५।

६. गोण नाम्नि वा सुहिना सुच १-काचबायन। पाली व्याकरण, २११, २६, ३०। सहग्राहणेन स्यादिसेसेमु पुञ्जुत्तरवचनैसुपि गोण गु गव्यावैसो होति।

७. गोणशब्दस्तु गवि शब्दानुशासने साधितोऽपि गोणादिप्रपञ्चत्वादस्य प्रबन्धस्येहोपासः।

—देशीनाममाला, रत्नावली टीका, २, १०४।

८. जानी गोणी छिद्रवस्त्रे। —अभिधानचिन्तामणि, ३, ६७६।

करखी रही है। प्राकृत और अपभ्रंश लोक-परम्परा की भाषाएँ हैं जो देशी पानी पीकर परिपुष्ट होती रही हैं। उन में जातीय और विजातीय सभी मेल के तत्त्व तथा उपादान ललित होते हैं। निश्चित ही ये देशी भाषाएँ रही हैं और इन में लिखा हुआ साहित्य भी बहुत कुछ लोक-साहित्य है। महाराष्ट्र में तो अभी तक अपनी भाषा को प्राकृत कहने की परम्परा बनी हुई है। मराठी भाषा के आदि कवि मुकुन्दराज कहते हैं कि यदि गन्ना ऊपर से काला भी हो तो उस का रस तो मीठा है न? इसी प्रकार मेरे बोल प्राकृत में होने पर भी उन में विवेक तो भरा हुआ है। इसी प्रकार यदि कल्पतरु के फल घर के ही झाड़ में फलें तो फिर उन्हें कौन ग्रहण न करेगा? भाषा चाहे देशी हो या मराठी पर यदि उस में उपनिषदों का सार है तो हम उसे गाँठ में क्यों न बाँधेंगे? गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'गिरा ग्राम्य' कह कर देशी भाषा का महत्त्व दर्शाया है।^१ वस्तुतः प्राकृत और देशी भाषा में कोई अन्तर नहीं है, केवल कथन मात्र का भेद है। दक्षिण भारत में आलवारों ने और उत्तर में सन्तो ने अपने ग्रन्थों की रचना बहुतकर देवी भाषा में ही की है। महाराष्ट्र के एकनाथ और उत्तर भारत के तुलसीदास और कबीरदास प्राकृत और भाषा का ही गुण-गान गाते हैं।^३ अतएव वैयाकरण जिसे अपभ्रंश तथा विकृत कहते हैं वह भाषा का विकार न हो कर विकास है। भाषा का यह विकास शब्दों में ही नहीं अर्थ में भी देखा जाता है। संस्कृत के जो प्रयोग वैदिक युग में प्रचलित थे वे कालिदास के युग में नहीं दिखाई देते और जो विशिष्ट शब्द-प्रयोग कालिदास में हैं वे परवर्ती रचनाओं में नहीं मिलते। उदाहरण के लिए भले ही कुछ शब्दों को हम ठुँड कर गिना दें पर चलन में बहुत से शब्द निरन्तर घटते ही चले गये हैं। यशस्तिलक चम्पू में सोमदेव ने कुछ वैदिक शब्दों का प्रयोग किया है पर वे अर्थ में भिन्न हैं।^४ यथार्थतः परिवर्तन भाषा का स्वभाव है और उस की गतिशीलता का भी यही सब से बड़ा प्रमाण है। जहाँ वैयाकरण शिष्टों के प्रयोग से हीन भाषा को अपभ्रंश कहते हैं वही साहित्यशास्त्री अश्लील तथा ग्राम्यपदों को सदोष मानते हैं और काव्य में उन का निषेध करते हैं। स्पष्ट ही निम्न वर्ग के लोगों के शब्द-

१ कल्पतरुचैनि पाठे, जरी फलती घरची भांडे।

तरी तिथे आखंडाचैनि कांडे, न नाशार्थी का।

देशी हा का महराठी, परी उपनिषदाची च राहाटी।

तरी हा अर्थ जोबाचिया गाठी, का बांधावा।—विवेकसिन्धु

तथा—“महाराष्ट्रीपदेन प्राकृतग्रहणम्”—कल्याणन—सूत्रवृत्ति (भामह)।

२ ग्राम्य सुगमि पय बिसेद अति, गुनर करहि सय पान।

गिरा ग्राम्य सिय राम जय, गावहि सुनहि सुजान।—रामचरितमानस, बालकाण्ड १० (ख)

३ आता मस्कृता अथवा प्राकृता। भाषा जाली जे हरिकथा।—एकनाथ

जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषा जिन्ह हरि चरित बलाने।

—रामचरितमानस, बालकाण्ड, गुटका, पृ० ४४।

कबिरा संसकित रूप जन, भावा बहता नीर।

जब चाहे तब ही लहे होवे सान्त सरीर।—कबीर

४. देखिए यशस्तिलकम् (सोमदेव) की भूमिका, पृ० ८।

प्रयोग सुनने में बुरे लगते हैं और सम्भवतः इसीलिए वे काव्य में अनुचित माने जाते हैं। भोज ने भी कहा है कि लोक को छोड़ कर और कहीं ग्राम्य प्रयोग नहीं चलते। अश्लील, अमंगल और धृणासूचक शब्द को ग्राम्य कहते हैं।^१ यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य एक दो रचनाओं में छोड़ कर यथार्थ की कठोर भूमि पर पैर नहीं फैला सका है। फिर, जीवन्त यथार्थ में बीभत्स और रौद्र को रस रूप में अभिव्यक्त करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। काव्य में ऐसे सन्दर्भों में धृणा व्यंजक चित्रों को भी ग्राम्य भाषा में अभिव्यंजित करना ही पड़ता है और पाठक अत्यन्त रुचि के साथ उस का रसास्वाद करता है। यही नहीं, प्रकृति, स्थान आदि के भेद से प्रबन्ध में परवर्ती युग में ग्राम्य और देशी भाषाओं का प्रयोग भी विहित माना जाने लगा था।^२ नाट्य तथा रूपकों में स्पष्टतः अपभ्रंश कहीं जाने वाली भाषा का प्रयोग होता था। यद्यपि उस पर प्राकृतों का पानो चढ़ा दिया जाता था पर उस की चेतना तो झलकती हो रहती थी। यदि समूचे भारतीय वाङ्मय का आलोडन किया जाय तो एक नहीं अनेकों ऐसी रचनाएँ मिलेंगी जिन में प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का भी प्रयोग है। अभिनवगुप्त के तन्त्रसार में भी प्राकृत के साथ कुछ अपभ्रंश के दोहे मिलते हैं।^३ इन के अतिरिक्त ग्राम्यदोष के जो उदाहरण मिलते हैं उन में जिस विशिष्ट शब्द से ग्राम्यत्व की प्रतीति करायी जाती है वह प्रायः द्व्यर्थक होता है। वस्तुतः लक्षण-शास्त्रों में ग्राम्य और अश्लील दोष की कल्पना हेय है। समाज में ये इतने घुले-मिले शब्द होते हैं कि सामान्य जनता उन पर ध्यान ही नहीं देती है। इस प्रकार जन सामान्य की कुशुचि का परिणाम न हो कर यह शिष्टता का द्योतन मात्र है, जिस में वर्ग-भेद की मूल भावना निहित है। समाज में उच्च जनों के बीच गाली देना सब से बुरा समझा जाता है। किन्तु लोक में विवाह जैसे मांगलिक कार्यों में रुचि पूर्वक गारो गायी जाती है, फागें खेले जाती हैं। छोटे-बड़े सभी मिल कर उन में भाग लेते हैं। ग्राम्य गीत, लावनी और ब्राह्मसा आदि इसी प्रकार की काव्यगत विधाएँ हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वैयाकरण और साहित्यशास्त्री जिसे भ्रष्ट, अश्लील और ग्राम्य तथा काव्य के लिए अनुपादेय एवं हेय समझते हैं वह जन-जन की चेतनात्मक अभिव्यक्ति का प्रकाशन है। वस्तुतः शब्द और अपशब्दों में मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक भावना की मुख्यता रहती है, न कि शब्दों के याषार्थ्य की। फिर शब्दों का बिगड़ना और बदलना लोक-जीवन की प्रवृत्ति में निहित रहता है।

१. अश्लीलामङ्गलधृणावदर्थं ग्राम्यमुच्यते।

देश्यातिरिक्तं लोकमात्रप्रयुक्तं ग्राम्यम्। तत्त्रिधा वीडाजुगुप्सातद्रुदायित्वान्। तत्राद्यमश्लीलं भौर्यस्यास्ति तच्छीलम्। न श्लीलमश्लीलम्।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १, १४४।

२. प्रकृतिस्थादिभेदेन ग्राम्यादिभिरपि या।

अपदं तस्य धानुज्ञा भाषाचित्रे विधीयते ॥—वही, १, ११८।

यथा—ऐसे सख्त जि बोलु। इत्यादि। १, १५१।

३. जह जह जस्तु जहि चिब पफुरइ अज्जबसाउ।

तह तस्तु ताहि चिब तारिखु होइ पहाउ ॥—तन्त्रसार, ४, १।

भाषाशास्त्री उस के नियम गढ़ नहीं सकता। शब्दों का अनुशासन मात्र करना उस का ध्येय होता है। यह लोकप्रवृत्ति है कि वह सरलता और लाघव की ओर बढ़ती है। यदि भाषा भी जटिलता से सरलता की ओर बढ़े तो क्या उसे अस्वाभाविक कहा जायेगा? इतना ही नहीं, ऐसी प्रवृत्तियों को जनता भी अत्यन्त चाब से अपनाती है। भाषा संस्कृति और समाज से अपने को अलग नहीं कर सकती। यही कारण है कि भारतीय साहित्य के मध्ययुग में स्त्री-पुरुष तथा व्यावहारिक वस्तुओं के नाम अपभ्रंश के साँचे में ढले हुए मिलते हैं। डॉ० अग्रवाल ने राष्ट्रकूट युग के कुछ मध्यकालीन अपभ्रंश नामों का उल्लेख किया है जो उस युग के शिलालेखों तथा जैन पुस्तक-प्रशस्तियों में मिलते हैं।^१ इस प्रकार भाषागत विकास की प्रवृत्ति को अपभ्रष्ट या विकृत कहना रुढ़िबद्धता का परिचय देना है। आज भी जो प्राचीनता के पक्षपाती हैं, वे ऐसे नामों में भ्रष्टता की गन्ध पाते हैं। पर वस्तुतः यह प्राचीनता के नाम पर वर्तमान की घोर उपेक्षा है जिसे आने वाला युग कभी नहीं भुला सकता। और फिर जिसे आज हम संस्कृत और शिष्टता का पानी पिला कर सम्मान प्रदान कर रहे हैं कल वही लोक-ढाँचे में ढलती-निलरती किसी दूसरी ही भाषा के रूप को ग्रहण करने लगती है। भाषा का यह स्वभाव है, जिसे कोई बदल नहीं सकता। केवल हमारी मानसिक प्रवृत्ति ही उस के इस स्वभाव के कारण अच्छा-बुरा नाम दे कर अपना समाधान करती रहे पर वह समाज में स्थान बनाये बिना रहती नहीं। कौन जानता था कि सदियों से अपभ्रष्ट कह कर जिस की उपेक्षा होती रही है उसी की बेटी बीसवीं शताब्दी में जन-जागरण का कार्य कर समूचे भारत राष्ट्र की राष्ट्रीय भाषा बनेगी। ये कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिन्हें हम अब अधिक समय तक अँधेरे में नहीं रख सकते।

अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी

अपभ्रंश मध्ययुगीन आर्य भाषाओं के विकास की अन्तिम अवस्था का नाम है। इस युग में भारतीय संस्कृति, समाज, साहित्य और भाषा तथा कला में अत्यन्त उलट-फेर दिखाई देते हैं, जिस का मुख्य कारण विभिन्न जातियों का सगम, मिश्रण तथा प्रभाव है। गुप्त युग से ही अपभ्रंश का प्रचार और प्रसार-क्षेत्र बढ़ने लगता है। दसवीं शताब्दी तक वह राजपूताना, मालवा, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत के कुछ भागों से लगा कर पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों तक लोक-बोलियों में फैली रही है। यही कारण है कि अपभ्रंश की उकारान्त प्रवृत्ति सिन्धी, सौराष्ट्री और अवधी में ही नहीं तेलुगु में भी दिखाई देती है। यही नहीं, टेसिटोरी जिसे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी कहते हैं उसे ही कई विद्वान् जूनी या पुरानी गुजराती मानते हैं और दोनों का ही उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से स्वीकार करते हैं।^२ इस से अपभ्रंश की व्यापकता का तो पता

१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कुछ मध्यकालीन अपभ्रंश नाम, हिन्दी-अनुशोचन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, वर्ष १३, अंक १-२, पृ० २२५।

२. डॉ० एल० पी० टेसिटोरी पुरानी राजस्थानी, अनु० नामवरसिंह, द्वितीय संस्करण पृ० ४

लगता ही है पर दोनों की एकरूपता का भी निश्चय हो जाता है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश की ही एक स्थिति को पुरानी हिन्दी मानते हैं और उस से हिन्दी का विकास हुआ स्वीकार करते हैं। उन का कथन है कि विक्रम की सातवीं शताब्दी से म्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर यह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गयी।^१ इस में उन्होंने देशों का प्राधान्य माना है। किन्तु तथ्य यह है कि जिसे वह पुरानी हिन्दी कहते हैं उसी का विद्यापति अबहट्ट कह कर परिचय देते हैं। और यह अबहट्ट या अबहंस अपभ्रंश के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा नहीं है। इस में ग्राम्य और देशी परम्परा के तत्त्व प्राचीन काल से ही विद्यमान हैं। इस लिए इसे अपभ्रंशकालीन परवर्ती रूप अर्थात् उत्तरकालीन पश्चिमी अपभ्रंश माना जाता है। भाषा-विकास के इतिहास से पता लगता है कि किसी समय दक्षिणी सौराष्ट्री और गुजराती तथा मेवाडी (राजस्थानी) एक थी। इसी प्रकार वज्ज, कन्नौजी और बुन्देली भी एक थी।^२ किन्तु उत्तर काल में राजनैतिक उथल-पुथल और छोटे-छोटे राज्यों में बँट जाने के कारण उन में कई भेदोपभेद हो गये।

प्राकृत भाषा की प्राचीनतम रचनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि प्राकृत युग में ही बोली के रूप में अपभ्रंश का जन्म हो गया था। केवल वैदिक भाषा में ही नहीं आर्मेनियन, ग्रीक और लैटिन आदि में भी बोलियाँ सुरक्षित हैं।^३ वस्तुतः पाली और प्राकृतों का विकास विभिन्न बोलियों के योग से हुआ है। फिर, भाषा का यह सामान्य तत्त्व है कि कोई भी भाषा किसी बोली को जन्म नहीं दे सकती। इस लिए जब हम कहते हैं कि हिन्दी का विकास अपभ्रंश से हुआ तो इस का यही अर्थ है कि अपभ्रंश के योग से उस का जीवन फूलता-फलता रहता है। किन्तु भाषा के पद पर समासीन हो जाने के बाद प्रायः भाषाओं का जीवन शास्त्रीय एवं कृत्रिम हो जाता है। इसीलिए विद्यापति ने देशी भाषा में कीर्तिलता की रचना कर लोक-रुचि का परिचय दिया है। भारतीय भाषाओं में दशवीं शताब्दी के अनन्तर लोक-भाषाओं का प्रभाव बढ़-चढ़ गया था इस लिए साहित्य में भी उन का स्थान बनने लगा था। यथार्थ में यह भाषा का संक्रमण काल था, जिस में नवीन प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थी। इसीलिए कोई इस काल की उत्तर-पश्चिम भारत में फैली हुई भाषा को प्राचीन राजस्थानी, जूनी गुजराती, पश्चिमी अबहट्ट और कोई शौरसेनी अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा कहते हैं।^४ वस्तुतः इन सभी भाषा-रूपों पर आ० हेमचन्द्र के व्याकरण में उदाहृत अपभ्रंश दोहों की छाप लगी हुई मिलती है। अतएव नाना-रूपों की कल्पना करने की अपेक्षा अपभ्रंश नाम देने में लाघव है। भाषा-विकास की सूचक नयी अवस्था के लिए इसे

१. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पुरानी हिन्दी, प्रथम संस्करण, पृ० ८।

२. लेखक का "हिन्दी में शोध की नयी दिशाएँ" शीर्षक लेख, "साहित्य-सन्देश", सितम्बर '६१।

३. ययुअस एच० प्रे. फाउण्डेल्स ऑफ़ लेंग्वेज, द्वितीय संस्करण, पृ० ३०४।

४. डॉ० सुमोतिकुमार चटर्जी ओरिजन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ़ बंगाली लेंग्वेज, पृ० ११३।

परवर्ती अपभ्रंश नाम दिया जा सकता है। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो परवर्ती अपभ्रंश में हमें अत्यधिक अन्तर मिलता है। परवर्ती अपभ्रंश में लिखी गयी रचनाएँ देशी बोलियों से युक्त हैं। उक्ति रत्नाकर, उक्ति व्यक्ति प्रकरण और गुर्जर रासक आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। अतएव अपभ्रंश में बंगला, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, मुन्देल-खण्डी तथा ब्रज आदि भाषाओं और बोलियों के शब्द-रूप मिलते हैं, जिन में भाषा और रचना में अत्यन्त साम्य है।

अपभ्रंश साहित्य का युग

ऐतिहासिक विकास के अनुसार अपभ्रंश साहित्य का युग छठी शताब्दी से फन्द्रहवीं सदी तक माना जा सकता है। सोलहवीं और सतरहवीं सदी में लिखी गयी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। आठ मामह के लगभग सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले नहीं तो उन के युग में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में प्रबन्ध काव्य अवश्य लिखे जाते रहे होंगे तभी तो उन्होंने काव्य के रूप में उन का उल्लेख किया है। अपभ्रंश साहित्य का यह युग इतिहास में राजपूत और गुर्जरो का समसामयिक युग रहा है। आभीरो का उत्कर्ष काल भी यही है। तीसरी शताब्दी से ही आभीर राजाओं के शासन का विवरण मिलने लगता है और पुराणों के अनुसार यह कहा जा सकता है कि दस आभीर राजाओं ने आन्ध्रों के पश्चात् साठ-सत्तर वर्ष तक राज्य किया था। पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप और ईश्वरसेन सम्भवतः (२३५-४० ई०) उस वंश के प्रतिष्ठपक थे।^१ इतिहास में भी इस के प्रमाण विरल नहीं हैं। चन्द्रवल्ली के शिलालेख से पता लगता है कि मयूरशर्मन् ने त्रिकूट, आभीर, पल्लव, पारियात्रिक, शकस्थान, स्यन्दक, पृष्ठट और मोकरी वंश के राजाओं को पराजित किया था।^२ नेपाल की एक वंशावली के अनुसार वहाँ का राजा वसन्तदेव आभीरों से पराजित हो गया था।^३ गुप्त युग में आभीर पूर्वी राजपूताना, और मालवा में बसे हुए थे तथा वहाँ और चम्बल की ओर उन का शासन विस्थापित था। उस समय पंजाब, पूर्वी राजपूताना और मालवा के कई भागों में जातीय गणतन्त्र राज्य थे।^४

मध्य युग में गुर्जरो की स्थिति अच्छी थी। परिहार राजपूत गुर्जर या गूजरो को एक शाखा है। दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में इन में कई अच्छे राजा हुए हैं। राजा भोज गूजरो के प्रतिहार वंश के थे।^५ राजपूतों का देश के सभी भागों

१. के० ए० नीलकान्त शास्त्री हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १४०।

२. चन्द्रवल्ली इन्स्क्रिप्शन ऑफ मयूरशर्मन् आर्कालॉजिकल सर्वे ऑफ मैसूर एनल रिपोर्ट १९२६, प्लेट ११, प्रकाशित १९२१, पृ० ५०।

३. द क्सासिकल एज, खण्ड तृतीय, पृ० ८४ (प्रथम संस्करण)।

४. बिनसेण्ट ए० विमथ द अलर्न हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३०२

५. वही, पृ० ४२७।

में प्राबल्य रहा है। उत्तरी भारत के राजपूतों में चौहान, परिहार, तोमर और पवार तथा दक्षिण में चन्देल, कलचुरि या हैहय, गाहड़वाल और राष्ट्रकूट मुख्य रहे हैं।^१ राजपूत परवर्ती काल में गुजरात के सभी प्रदेशों में फैल गये थे। इस लिए उन प्रदेशों तथा जनपदों की बोली और भाषा में अत्यन्त साम्य है। आलोच्य काल में कन्नौज में गुर्जर-प्रतिहार, गाहड़वाल; शाकम्भरी और अजमेर में चौहान; बुन्देलखण्ड में चन्देल; मालवा में परमार; अन्हिलवाड़ में सोलंकी; त्रिपुरि में कलचुरि और बंगाल में पाल तथा सेन वंश के राज्य विस्थापित थे। दक्षिण राज्यों में मान्यखेड के राष्ट्रकूट, कल्याण के पविचमी चालुक्य, देवगिरि के यादव और कदम्बकुल के राज्य प्रमुख थे।

राजनैतिक स्थिति—गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तरी भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेश तोमरवंश के अधिकार में थे। इस वंश का प्रसिद्ध राजा अनंगपाल था। जब अजमेर के राजा बीसलदेव (विप्रहपाल चतुर्थ) ने दिल्ली के तोमरों को युद्ध में पराजित कर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तब दिल्ली राज्य भी अजमेर राज्य के अन्तर्गत हो गया। गुजरात में सोलंकीयों का राज्य था। गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ा में थी। सोलंकी राजपूत पहले के प्रतिहारों के अधीन थे पर बाद में स्वतन्त्र हो गये। जैन रचनाओं में इन का पूरा विवरण मिलता है। नवीं शताब्दी में कन्नौज पर प्रतिहारों का आधिपत्य स्थापित हुआ। दक्षिण राजपूताना के गुर्जर प्रतिहारों ने भीनमाल में सातवीं शताब्दी के आरम्भ में ही राजधानी बना ली थी। इसके पूर्व तक कन्नौज का वही महत्व था जो मुगल-युग में दिल्ली का था। कन्नौज और कश्मीर इस काल में संस्कृत-साहित्य के दो प्रमुख केन्द्र थे। गुर्जर-प्रतिहार वंश का अन्तिम शासक राज्यपाल १०१२ ई० में महमूद गजनवी से पराजित हो गया। कन्नौज के पतन के पश्चात् उसने अपनी राजधानी गंगा के दक्षिणी तट पर हटा ली थी; किन्तु अब उम का भी पतन हो गया। इसी समय प्रतिहार राज्य अनेक छोटे राज्यों में विभक्त हो गया—गुजरात में चालुक्य, मालवा में परमार, अजमेर में चौहान, मयुरा में यादव, चेदि में चाहल, देहली में तोमर और बंगाल में सेन।

यवन लोग इस देश को एक साथ पूर्ण रूप से नहीं जीत सके। वे अपने राज्य का विस्तार क्रमशः लगभग पाँच सौ वर्षों में कर सके। इस युग के राजा लोग युद्धप्रेमी होने के साथ ही विद्या तथा कला के भी प्रेमी होते थे। इसी काल में प्रतिहार शक्ति के क्षीण होते ही अधीनस्थ चन्देल, कलचुरि तथा चौहान राज्य स्वतन्त्र हो गये थे। इसी प्रकार गुर्जर सोलंकी, चालुक्य और मालवा के परमार भी स्वाधीन हो गये थे। स्पष्ट ही म्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत की शक्ति अधिक क्षीण हो गयी थी तथा साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गये थे। इस युग में कई क्षेत्रों में जहाँ जातीय

१. जिनसेण्ट ए० स्मिथ : द अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४३०।

प्रभुत्व बढ़ रहा था वहीं विदेशी शक्तियाँ अत्यन्त प्रभावशील हो उठी थीं। इस लिए कई प्रकार के संघर्ष हुए, जिन से भारत की राजनैतिक चेतना दिनों दिन घुँघली होती गयी। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् इस देश पर यूनानी, शक, सिथियाई, हूण, अरब, तुर्क, और मंगोल आदि निरन्तर आक्रमण करते रहे। शकों के पश्चात् शको का शासन स्थापित हुआ। उन के केन्द्रस्थल थे—सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन और महाराष्ट्र। शकों की ही भाँति आभीरों और कुषाणों ने भी भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर जाने-प्रजाने आक्रमण किये। कुषाणों का शासन किसी न किसी रूप में उत्तर भारत में दूसरी सदी ईसवी के अन्त तक जमा रहा। शको ने अपने शासन के सिन्ध, पंजाब, मथुरा, मालवा और महाराष्ट्र ये पाँच केन्द्र बनाये थे। आभीर उन के पश्चिम में स्थानापन्न हुए, कुषाण उत्तर में।^१ गुप्त साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने में हूणों का आक्रमण प्रमुख था। हूण अत्यन्त बर्बर थे। स्मिथ ने गुर्जरो को श्वेत हूणों से मिश्रित जाति कहा है।^२ जो भी हो, विभिन्न जातियों के सम्पर्क और संगम से उस काल में समाज और राजनीति में नयी चेतना का प्रसार हुआ। शको के युग में ही आभीर भारतीय सत्ता पर छाप लगाने लगे थे। गुप्त युग में उन का और भी जोर बढ़ा और धीरे-धीरे मध्य भारत तक छा गये। इसी समय पार्थव और पल्लवों का प्रभुत्व बिलकुल क्षीण हो जाने से कुषाणों का आधिपत्य स्थापित हुआ। कनिष्क के शासन-काल में बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार हुआ। उत्तर काल में गणतन्त्र राज्यों का प्राबल्य रहा, जिन का संचालन-सूत्र प्रायः आयुषजीवी जातियों के हाथ रहा। यह युग जन-जीवन के विग्रह का था जो इतिहास में मध्यकाल के नाम से जाना जाता है। यद्यपि विरोधी शक्तियाँ अब भारतीय जीवन में घुल-मिल सी गयी थी, किन्तु पौरोहित्य और पुराण-वाद के बिरेड एक नयी क्रान्ति का सूत्रपात होने लगा था। यही वह समय था जब चालुक्य सत्ता राष्ट्रकूटों के हाथ पहुँच कर उन की दासी बन गयी थी। सुदूर दक्षिण में चोल शासन राजतन्त्रात्मक व्यवस्था पर प्रभावशील था। दक्षिण भारत के इतिहास में यह स्वर्ण युग माना जाता है जब समूची राजनैतिक सत्ता एक ही तन्त्र में केन्द्रित रही है। यह इस बात का प्रमाण है कि समय-समय पर देश की राजनैतिक चेतना विविध जातीय तथा विभिन्न विजातीय शक्तियों के द्वारा मथी जाने पर भी अपने अस्तित्व को बनाये रही है और परिस्थितियों के अनुकूल उस में भावनात्मक एकता को वृद्धि प्रज्वलित होती रही है।

सामाजिक स्थिति—शकों और शको के भारत आगमन के पश्चात् ही समाज कई विरोधों से अस्त-व्यस्त हो उठा था। कुषाणों ने आते ही उसे प्रभावित एवं आन्दोलित कर बहु देवी-देवताओं का प्रचार किया। इतिहास में वे मध्य एशियाई, ग्रीक और भारतीय संस्कृतियों के पारस्परिक सम्मिश्रण के साधन बने। कनिष्क अनेक

१ भगवतशरण उपाध्याय भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, प्रथम संस्करण, पृ० १०१।

२ निनसेण्ट प० स्मिथ 'द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', चतुर्थ संस्करण, पृ० ३४०।

संस्कृतियों के देवताओं में विश्वास करता था और उस के चित्रों पर ग्रीक, मिस्रीय, पारसी तथा भारतीय देवताओं का अपूर्व समारोह है।^१ कुषाणकालीन समाज, वेश-भूषा, कला, शिल्प तथा स्थापत्य आदि में आगे चक्र कर बहुविध विकार हुआ जो मुसलमानों के गौरव गरिमा को प्राप्त हुआ। यद्यपि ग्रीक, यूनान, कुषाण, आभीर, हूण और गुर्जरों ने भारतीय सामाजिक विधान तथा वर्णाश्रम के रूप में प्रतिपालित वर्गवाद के विरुद्ध क्रान्ति की रचना की थी, किन्तु कई जातिगत इकाइयों जैसे न अपना सको थी। अतएव परवर्ती काल में अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। परिणामतः सामाजिक शक्ति बिखरने लगी। जाति और नियम पर अधिक बल दिया जाने लगा। ब्राह्मणों का प्रभुत्व समाज में विशेष था। किन्तु साथ ही कई प्रकार के परिवर्तन होने लगे थे। वैवाहिक बन्धनों में पहले जैसी दृढ़ता नहीं थी। राजाओं ने क्षत्रियों का प्रभुत्व बढ़ चुका था। धीरे-धीरे आक्रान्ताओं की भाँति राजनीति का प्रभाव समाज पर भी पड़ने लगा।

आलोच्य काल में दक्षिण भारत में ही नहीं उत्तर भारत में भी कला की बहुत उन्नति हुई। खजुराहो और आबू तथा कश्मीर और दक्षिण में समोपवर्ती प्रदेशों में स्थित मन्दिर इस युग की चित्रकला के जीवन्त निदर्शन हैं। राजा भोज के समय वास्तुविद्या, व्याकरण, अलंकार, योगशास्त्र और ज्योतिष आदि विषयों पर कई उपयोगी और विद्वत्पूर्ण ग्रन्थ लिखे गये।^२ इस युग में जातिभेद बहुत ही बढ़ गया था। सदाचार की दृष्टि से उच्च वर्गों का रहन-सहन ऊँचा था। ऊँचे कुल की स्त्रियाँ शासन में भाग लेती थी, समाज के मागलिक कार्यों में हाथ बँटाती थी। चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय की बड़ी बहिन जकादेवी एक प्रान्त पर शासन करती थी।^३ दक्षिण में सगोत, नृत्य एवं ललित कलाओं का बहुत प्रचार था। वैश्य कृषि-कर्म छोड़ कर अब पूर्ण रूप से वाणिज्य व्यवसाय करने लगे थे। किन्तु सामाजिक विधान लगभग उधों के स्थानों थे। वैयक्तिक आचार-विचार की अपेक्षा सामाजिक नैतिकता का महत्त्व था।

धार्मिक स्थिति—पाँचवी या छठी शताब्दी में विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय के लोग इस देश में मिल-जुल कर रहते थे। किन्तु सातवी शताब्दी में विशेष कर तमिल को परिस्थितियों में कई प्रकार के परिवर्तन हुए। अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष में वैदिक यज्ञ-याग, मूर्ति-पूजा, देवी-देवताओं की उपासना और बलि-दान की प्रथाएँ प्रचलित रही हैं। किन्तु आन्दोलन के रूप में इसी समय दक्षिण भारत से एक लहर उठी, जिस का उद्देश्य जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षीण कर शिव तथा विष्णु की उपासना का प्रचार करना था।^४ शैव और वैष्णव धर्म के प्रचारक थे सन्त एक मूर्ति

१. भगवत्शरण उपाध्याय ' भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ० ७५।

२. गौरीशंकर होराचंद ओका ' मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, तृतीय संस्करण, पृ० ३५।

३. कै० ए० नीलकान्त शास्त्री : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, प्रथम भाग, पृ० २६२।

४. वही, पृ० २६६।

से दूसरी मूर्ति तक नाचते, गाते, विवाद करते तमिल भाषा में स्तोत्र और पदों को बोलते हुए अपने मत का प्रचार करते थे। वैष्णव सन्त आलवार के नाम से तथा शैव सन्त मायनवार के नाम से प्रसिद्ध हैं। भक्ति के जिस रूप का इन्होंने प्रसार किया आगे चल कर वही आ० रामानुज और रामानन्द के द्वारा उत्तर भारत के जन-जीवन में प्रचलित हो गया। वस्तुतः उक्त सन्त क्रान्तदर्शी थे, जिन्होंने जन-भाषा, साहित्य और भक्ति के विविध अंगों का प्रचार किया। परवर्ती काल में आचार्य रामानुज और बल्लभ ने उन्हें सैद्धान्तिक रूप में प्रतिष्ठित कर वर्णवाद तथा उत्तरकालीन सिद्धान्तों का विरोध कर भक्ति की पूर्णतया स्थापना की।

दक्षिण में ही नहीं उत्तर भारत में भी शैव मत का अधिक प्राबल्य रहा है। इसकी विभिन्न शाखाएँ और सम्प्रदाय समूचे देश में व्याप्त हैं। दक्षिण के सन्त भक्तों से इस मत की भक्ति में अन्तर है। इस के मुख्य सम्प्रदाय हैं—पाशुपत, कालामुख और कापालिक। दक्षिण भारत के सातवीं शताब्दी के लिखे हुए शिलालेखों तथा साहित्य में इस के उल्लेख मिलते हैं।^१ आगे चल कर पाशुपत से ही लकुलीश सम्प्रदाय का जन्म हुआ। शाक्त और कौल भी इन्हीं से विकसित हुए। दसवीं शताब्दी में सीमानन्द ने कश्मीर में शैव सम्प्रदाय की एक नयी शाखा का प्रचार किया, जो प्रत्यभिज्ञा के नाम से प्रचलित हुई।^२ पुष्पदन्त के जसहरचरित में काली चण्डमारी देवी तथा भैरवानन्द का वर्णन है, जिस से ज्ञात होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी में पशु-बलि और नाथ सम्प्रदाय का बड़ा प्रचार था।^३ इसी प्रकार सूफी मत का प्रचार भी इस समय तक भलीभाँति हो चला था। बारहवीं शताब्दी में वृन्दावन में आचार्य निम्बार्क ने वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। तदनन्तर बंगाल में महाप्रभु चैतन्य, जयदेव, चण्डीदास और बिद्यापति ने तथा गुजरात में मध्वाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। दसवीं शताब्दी में लोकायत सम्प्रदाय का बड़ा जोर था।^४ यशस्तिलक चम्पू में शैव, पाशुपत, लोकायत, नाथ और वैष्णव आदि सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है जो दसवीं सदी का जोता-जागता चित्र कहा जा सकता है। यद्यपि आठवीं शताब्दी में आचार्य शंकर ने समूचे भारत में शैव सम्प्रदाय तथा अद्वैत वेदान्त का प्रचार कर जैन और बौद्ध को अत्यन्त हानि पहुँचायी थी, किन्तु दसवीं सदी में जैमिनि, कपिल और कणाद की भाँति जिन, चार्वाक तथा बुद्ध का आदर के साथ स्मरण किया जाता था।^५ इस युग में खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति विशेष थी। प्रायः सभी साहित्यिक और दार्शनिक तान्त्रिक

१. के० ए० नीलकान्त शास्त्री हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, प्रथम भाग, पृ० २७०।

२. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १८।

३. पुष्पदन्त : जसहरचरित, १, ६, १, ६।

४. के० के० हान्दाही 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कलचर, प्रथम संस्करण, पृ० २३०।

५. काचित् -- पण्डितप्रकाशमण्डनोमण्डनाडम्बरगीर्ण्यम्कर्मरम्भेषु जिनजैमिनिकपिलकणचरचार्याक-शाक्यप्रणीतप्रमाणसंवीणतया विदुष्विनीना परिषदा चित्तभित्तिभारमयशःप्रशस्तीरुचिल्लेख।

—बही, पृ० १२ से उद्धृत।

साधना, हिंसा और भोगवादी प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। इस प्रकार धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से आलोच्य काल अत्यधिक चिन्तनशील रहा है।

साहित्य-साधना और संस्कृति

यह युग साहित्य-साधना की दृष्टि से अत्यन्त गौरवपूर्ण है। विभिन्न भाषाओं में, विविध रूपों तथा शैलियों में, अनेक विधाओं में साहित्य-रचना इस को मुख्य विशेषताएँ हैं। नवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक कश्मीर और कन्नौज संस्कृत-साहित्य के दो बड़े केन्द्र थे। प्राकृत के साथ ही संस्कृत काव्य तथा नाटकों का विकास इसी युग में हुआ। काव्यशास्त्र एवं लक्षणग्रन्थों की अधिकांश रचनाएँ मध्य काल में हुईं। भारतीय विचारों की पूर्णता का श्रोतक यह श्रेष्ठ युग कहा जाता है। जैन, वैष्णव, शैव, बौद्ध, सुफी और सन्त तथा नाय सभी ने निदिष्ट काल में उत्तम साहित्य एवं कला को समृद्ध बना कर मध्यकालीन जन-जीवन को प्रभावित किया, जिस की छाप आज भी किसी न किसी रूप में हमें दिखाई देती है। यद्यपि पूर्व गुप्त युग में अश्वघोष के बुद्धचरित से चरित काव्य की धारा आरम्भ हुई प्रतीत होती है किन्तु ऐतिहासिक व्यक्ति को लेकर बाणभट्ट ने ही कदाचित् पहले पहल हर्षचरित के रूप में रचना की। इस युग में शास्त्र और पुराण, दर्शन और काव्य तथा नाटकों में आशातीत उन्नति हुई। संस्कृत-साहित्य के समालोचक इसी युग की देन हैं। वस्तुतः साहित्यशास्त्र का यह स्वर्णकाल कहा जा सकता है। भामह, दण्डी, लोल्लट, उद्भट, वामन, शंकु, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, मुकुल, प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, भट्टतीत, कुन्तक, घनंजय, अभिनवगुप्त, भोज, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, हयक, हेमचन्द्र, रामचन्द्रगुणचन्द्र, माणिक्यचन्द्र, अजितसेन, नमिसाधु, वाग्भट्ट और अमरचन्द्र तथा विनयचन्द्र आदि इस काल के प्रसिद्ध आचार्य थे। चम्पू-लेखकों में त्रिविक्रम भट्ट, सोमदेव, हरिचन्द्र, अर्हदास और नागचन्द्र मुख्य हैं। नाटक-रचयिताओं में भवभूति, राजशेखर, हस्तिमल्ल, रामचन्द्रसूरि और जयसिंहसूरि का उल्लेख किया जाता है।^१ मोहपराजय, मदनपराजय (संस्कृत), मयणपराजय, ज्ञानसूर्योदय आदि रूपक काव्य (Allegory) भी इस युग में लिखे गये। इन के अतिरिक्त ऐतिहासिक काव्य, रासा-साहित्य और जैन पुराण तथा दार्शनिक ग्रन्थ भी विशेष रूप से इस काल में लिखे गये।

छठी से आठवीं शताब्दी तक तमिल साहित्य की अधिकांश रचना हुई। यद्यपि तमिल-साहित्य की प्राचीनतम रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं पर प्राप्त रचनाओं से ज्ञात होता है कि संवत्तर-काल या काव्यकाल में जैन साहित्यकारों का सबसे अधिक योग रहा है। इस युग में पंच भूतकाव्य तथा पंच लघुकाव्य की रचना मुख्य बताया जाती है। पाँच महाकाव्यों में से स्कन्धो विरचित शिलप्पदिकारम् और जैन मुनि तिरुत्तककेवचर

१. नाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण पृ० ५१२।

कृत जीवकविन्तामणि प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य है। इन में नीति और रीति का भी उचित समावेश है। पाँच सषु काव्य हैं :— मीलकैषि, शुक्लमणि, अशोदरकावियम्, नाग-कुमारकावियम् और उदयणन् कदं। कौतूहल का विषय है कि ये दसों काव्य जैन और बौद्ध मुनियों तथा कवियों द्वारा रचित हैं।^१ तेलुगु में भी जैन कवि अवर्जण, विजय-राघव आदि उल्लेखनीय हैं। किन्तु तेलुगु भाषा में जैन-साहित्य अत्यन्त अल्प है।

कन्नड़ की सब से प्राचीन रचना 'कविराजमार्ग' कही जाती है। इस के रचयिता जैन कवि श्रीविजय माने जाते हैं। इस साहित्य के इतिहास में पम्प-युग (९५०-११५० ई०) अत्यन्त समृद्ध रहा है, जो स्वर्णकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। इस का दूसरा नाम जैनयुग भी है, क्योंकि इस काल में कन्नड़-साहित्य की श्रीवृद्धि करने में जैन-कवियों का प्रधान योग रहा है। इस साहित्य पर पम्परामायण का विशेष प्रभाव कहा जाता है। प्रत्येक कवि ने धार्मिक काव्य के साथ ही लौकिक अथवा शुद्ध काव्य रचे हैं।^२ इस युग में जैन कवियों द्वारा विकसित चम्पूशैली परवर्ती काल में वीर शैव कवियों के द्वारा भी अपनायी गयी।^३

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से यह समृद्ध युग प्रबन्ध काव्य का रहा है। इस में मत-वादों की प्रबलता के साथ ही विष्णु और शिव तथा शिव और जिन की समन्वयात्मक प्रवृत्ति भी मिलती है। राष्ट्रकूटों के युग में जैन धर्म और साहित्य ने अत्यन्त गरिमा प्राप्त की। आचार्य शंकर, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, देवसेन, विद्यानन्द, मण्डनमिश्र, अकलंक, वीरसेन, सायण, विज्ञानेश्वर, धर्मकीर्ति, उदयन, उद्योतकर, प्रभाचन्द्र, समन्तभद्र आदि प्रकाण्ड दार्शनिक इसी युग में हुए। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तथा लोकभाषाओं में विशेषतः गीत इसी समय लिखे गये। संक्षेप में, यह युग साहित्य की प्रायः सभी विधाओं से पूर्ण भारतीय वाङ्मय से अनुरंजित तथा काव्यमार्गों एवं दार्शनिक, लक्ष्ण-णिक, पौराणिक और धार्मिक शास्त्रों से समन्वित रहा है। भारतीय मध्ययुगीन साहित्य में जहाँ एक ओर चौल शासनकाल (८५०-१२०० ई०) में जो कि तमिल साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है— प्रबन्ध काव्य की प्रमुखता थी वही चोलुक्य शासन काल में उत्तरी गुजरात में एक नवीन साहित्यिक चेतना जागृत रही, परिणामतः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन गुजराती भाषा में धार्मिक तथा साहित्यिक रचनाओं की एक नयी लहर ही फैल गयी।^४ जूनी गुजराती में मुख्य रूप से रासो रचनाएँ ही मिलती हैं। तेलुगु साहित्य में भी इस काल में प्रबन्ध और गीत काव्य की प्रमुखता थी। प्राकृत और अपभ्रंश में भी गीतियों की गीति कथा और प्रबन्ध काव्य लिखे गये। संस्कृत में

१. पूर्ण सोमसुन्दरम् : तमिल और उसका साहित्य, पृ० १३।

२. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८७।

३. वही, पृ० १६१।

४. लक्ष्मीशंकर व्यास : चौलुक्य कुमारपाल, प्रबन्ध संस्करण, पृ० २३६।

भी भारवि, माघ, हरिश्चन्द्र, देवनन्द, रविदेव, भट्टि, कुमारदास, रत्नाकर^१, शिव-स्वामी, वादीमसिंह, क्षेमेन्द्र, मंखक, हर्ष और कविराज आदि इसी काल में हुए। महाकाव्यों के अम्युत्थान का यह काल ही रहा है। महाकाव्यों का अम्युत्थान-युग महाकवि कालिदास से प्रारम्भ हो कर श्रीहर्ष में पर्यवसित हो जाता है।^२ इस के पश्चात् जैन महाकाव्योंका प्राचाम्य रहा है जो उन्नीसवीं शताब्दी तक बराबर लिखे जाते रहे हैं। गीति काव्य के लेखकों में अमरुक, भर्तृहरि, गोवर्धनाचार्य, जिनदास और जयदेव मुख्य हैं। यद्यपि आठवीं शताब्दी से ही अपभ्रंश में लिखे गये प्रबन्ध मिलने लगते हैं पर विशेष रूप से इसवी शताब्दी उन का उत्कर्ष काल रहा है। इस प्रकार ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि ललित कलाओं के उत्थान की दृष्टि से भी यह युग स्वर्ण काल कहा जा सकता है।



१ वाचस्पति गैराला अक्षर अक्षर रहें, प्रथम संस्करण, पृ० १३२। देखिए रत्नाकर और शिवस्वामी।

२. वही, पृ० १३३।

द्वितीय अध्याय

अपभ्रंश-साहित्य : सामान्य परिचय

श्री रिचर्ड पिशेल ने सन् १९०२ में जब 'माटेरियालियन् सुर-केष्टनिस डेस अपभ्रंश' नामक पुस्तक को प्राकृत के व्याकरण के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया था तब तक अपभ्रंश-ग्रन्थों की बहुत कम जानकारी उन्हें मिल सकी थी। अपभ्रंश के नाम पर हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धृत दोहों तथा संस्कृत नाटकों में बिखरे हुए दोहों तक ही वे अपभ्रंश-साहित्य को सीमित समझ सके थे। उन का अनुमान था कि इस भाषा का साहित्य विलुप्त हो गया है। सर्वप्रथम १८७७ ई० में रिचर्ड पिशेल ने हेमचन्द्र कृत 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' का प्रकाशन किया, जिस में अपभ्रंश का व्याकरण भी सम्मिलित था। किन्तु अपभ्रंश के उपलब्ध प्रथम प्रबन्ध काव्य के प्रकाशन का श्रेय हर्मन जेकोबी को है। उन्होंने पहली बार सन् १९१८ ई० में 'भविष्यत् कथा' का प्रकाशन जर्मन भाषा में किया था। भारतवर्ष में सन् १९२३ ई० में गुणे और दलाल के सम्पादकत्व में बड़ौदा, गायकबाड़ औरियन्टल सीरिज, से यह प्रकाशित हुआ। इस के पश्चात् कई अपभ्रंश रचनाएँ प्रकाश में आयी और आती जा रही हैं। प्राप्त सूचनाओं तथा खोज के आधार पर उपलब्ध प्रबन्ध काव्यों को संख्या लगभग एक सौ तक पहुँच गयी है। कई अपभ्रंश कथाएँ तथा अन्य छन्दोबद्ध रचनाएँ भी हैं जो अभी तक प्रकाश में नहीं आयीं। इसी प्रकार कई काव्यों की प्रतियाँ हमें आगरा और भरतपुर के भण्डारों से मिली हैं जो उल्लेखनीय हैं। कई छोटी-छोटी रचनाओं की हम ने दिल्ली तथा अन्य भण्डारों से प्रतिलिपि की थी। डॉ० हीरालाल जैन, पं० परमानन्द शास्त्री और अगरचन्द नाहुटा के निजी संग्रह में भी कई छोटी-बड़ी अपभ्रंश की रचनाएँ हैं। इस प्रकार अभी कई अपभ्रंश ग्रन्थ प्रकाशनीय हैं। इस क्षेत्र में डॉ० हर्मन जेकोबी पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने अपभ्रंशव्याकरण, भविष्यत् कथा, सन्तकुमारचरित (१९२१ ई०) आदि ग्रन्थों का पहली बार प्रकाशन किया था। भविष्यत् कथा के पश्चात् जसहरचरित, गायकुमार चरित, करकण्डु चरित, महापुराण, पडमचरित, पडमसिरी चरित आदि काव्य तथा अपभ्रंश काव्यप्रयी, प्राचीन गुर्जर-काव्यसंग्रह, दोहाकोष, पाहुडदोहा, सावयधम्म दोहा, संजम मंजरी, चूनड़ी, फागु आदि रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य का आदि काल, तृतीय संस्करण, पृ० ३। देखिए, 'पडमसिरीचरित' की भूमिका, पृ० ६-६।

२. द्रष्टव्य लेखक का 'अपभ्रंश कथा काव्य और भविष्यत् कथा' हिन्दुस्तानी, भाग २३, अंक १, पृ० २२४।

उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य मुख्यतः कथा और चरितमूलक है। प्राकृत-साहित्य की परम्परागत प्रायः सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस साहित्य में प्राप्त होती हैं। प्राकृत का कथा-साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। इस में दृष्टान्त, लघुकथा, धर्मकथा, नाट्यात्मक, नाट्यात्मिका, अनुयोग, पृच्छा, चरित, प्रबन्ध, पुराण, संवाद तथा प्रेमाख्यान आदि बीसियों रूप मिलते हैं। गद्य, चम्पू, नाटक, गीति, रास आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं का विकास भी प्राकृत-साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। साहित्यिक रूप में यह काव्य-सौष्ठव से अनुरंजित तथा कल्पनात्मक वैभव से पूर्ण है। प्राकृत-साहित्य ने अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के साहित्य को ही नहीं, बहुत कुछ अंशों में संस्कृत-साहित्य को भी प्रभावित किया है। कितनी ही नवीन परम्पराएँ और छन्द आदि उस के अपने हैं।^१ संस्कृत के नाटकों में नृत्य, संगीत और कला एवं सामान्य पात्रों की भाषा पर प्राकृत का प्रभाव और प्रयोग स्पष्ट है।^२ हिन्दी के चौपाई, छप्पय, दोहा, रोला, दुमिरा, सोरठा, गीति, कुण्डलिया; उल्लाला, पढ़ड़ी या पढ़री आदि छन्द निश्चित रूप से प्राकृत के हैं। इन के अतिरिक्त कई छन्दों का विकास अपभ्रंश में तथा परवर्ती साहित्य में प्राप्त होता है। संस्कृत के आर्या तथा गीति, मराठी का ओवी और अभंग तथा गीतिमूलक छन्दों का विकास और विकास प्राकृत एवं अपभ्रंश के मात्रिक छन्दों से हुआ है।^३ मराठी, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी में प्रयुक्त अनेक मात्रिक छन्दों का स्रोत प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य में निहित है। संस्कृत में अन्त्यानुप्रास अपभ्रंश की ही देन है।

बाल और यौवन-काल के सर्वांगपूर्ण चित्र इस साहित्य में प्राप्त होते हैं। संयोग और वियोग की विविध दशाओं का आकलन भी इस में हुआ है। कथा-काव्यों में जहाँ एक ओर कथाओं का विवरण है वहीं काव्यात्मक वर्णन, प्रकृति-चित्रण, रसात्मक व्यंजना, अलंकरणान्तकता तथा मनोवैज्ञानिकता प्राप्त होती है। अपभ्रंशकाव्य गीति, संवाद और चित्र-विधान से अत्यन्त भरित है। उन में लौकिक और शास्त्रीय दोनों प्रकार की शैलियों का समावेश है। लोक-पक्ष की सबल अभिव्यक्ति इस साहित्य का जीवन-दर्शन है। इस में पुराण काव्य और चरित काव्य अधिक है; किन्तु कथाकाव्य भी उपलब्ध है, जो अनुबन्ध में प्रबन्ध की भाँति है। मुक्तकों में चर्यागीति, दोहा, गीत, बारहमासा आदि प्राप्त होते हैं। इस साहित्य में गद्य स्वतन्त्र रूप से नहीं मिलता। कुवलयमाला कथा,

१. डॉ० राममिह तोमर : प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उस का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, आलोचना, जुलाई १९६३, पृ० ६६।

२. डॉ० हरदेव बाहरी : प्राकृत और उस का साहित्य, पृ० १४३।

३. विस्तृत विवरण के लिए प्रष्टभ्य है—लेखक का 'प्राकृतछन्दकोश' शीर्षक लेख, हिन्दुस्तानी, भाग २२, अंक ३-४, पृ० ४५।

संस्कृत नाटकों में, दशैताम्बर जैन ग्रन्थों की टीकाओं में^१ तथा उक्तिव्यक्तिप्रकरण आदि ग्रन्थों में प्रकीर्णक रूप में अपभ्रंश-गद्य दृष्टिगोचर होता है। परन्तु अभी तक स्वतन्त्र रूप में गद्य में कोई रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। हाँ, साहित्य के अतिरिक्त वैद्यक, योग और पूजा-रचनाएँ भी छन्दोबद्ध उपलब्ध हैं। मुनि यशःकीर्ति विरचित 'जगत्सुन्दरी-प्रयोगमाला' आयुर्वेद का सुन्दर ग्रन्थ है। समूचा ग्रन्थ पद्यबद्ध है। सरस्वतीस्तोत्र, वज्रलक्षण पूजा और अपभ्रंश भाषा में लिखित कई छोटी-छोटी धार्मिक रचनाएँ तथा फुटकर बातें भी मिलती हैं।

अपभ्रंश-साहित्य के मुख्य केन्द्र राजस्थान, गुजरात, मालवा (घार), हरियाणा और बुन्देलखण्ड रहे हैं। मलखेडा (हैदराबाद) या मान्यखेट का नाम केवल महाकवि पुष्पदन्त के कारण कहा जा सकता है। पूर्वी अपभ्रंश-साहित्य का क्षेत्र मिथिला, बंगाल और उड़ीसा कहा जा सकता है। यद्यपि बुन्देलखण्ड से प्राप्त साहित्य प्रकाश में नहीं आया है, पर वह प्रकाशनीय है। दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य में संस्कृत-प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भाषा में भी साहित्य लिखा गया। आ० रत्नश्री ज्ञान ने राष्ट्रकूट राजा तुंग के समय दण्डी के काव्यादर्श की काव्यलक्षण नामक टीका लिखी थी। पुष्पदन्त तो वहाँ जीवन भर रहे। स्वयम्भू मूलतः कोशली थे। बाद में दाक्षिणात्य कर्णाटकवासी बन गये।^२ सामान्यतः मध्यदेश में मध्ययुगीन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य समानान्तर रूप से शताब्दियों तक लिखा जाता रहा है। बरार और कर्णाटक से भी अपभ्रंश साहित्य मिलने की सूचनाएँ मिलती हैं। अपभ्रंश की छोटी-बड़ी रचनाएँ मुख्य रूप से जहाँ-जहाँ जैन विद्वान् रहे हैं, लिखी जाती रही हैं। कुछ स्थानों के नाम इस प्रकार हैं—अणहिलपुर, श्रीवालयपुर, अचलपुर, गोमद नगर (मालवा), बिलरामपुर (एटा), गोध्रा (गुजरात), चन्द्रवाड (उत्तरप्रदेश), जोगिनीपुर (दिल्ली), करहल (इटवा), हिसार, ग्वालियर, टिहड़ा नगरी, मेदपाट (मेवाड़), दिल्ली, सोनीपत, नागरमण्डल (गुजरात), हिसारकोट, जेरहटनगर (माण्डू) तथा रोहतक आदि।

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में भी कथानुबन्ध के साथ काव्यगत रुचियों का परिपालन प्राप्त होता है। किन्तु अपभ्रंश में इस प्रकार के कथा-काव्यों का महत्त्व घटनाओं के क्रमिक विकास या चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में न हो कर पुराण-कथाओं तथा लोक-कथाओं के सामाजिक अभिप्राय तथा काव्यात्मक

१. अगस्त्यनाटका 'दशैताम्बर अपभ्रंश साहित्य', महावीर जयन्ती स्मारिका, अगस्त ६२ पृ० १६०।

२. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन पञ्चमचरित भाग १, भूमिका।

वर्णन में है। कहीं-कहीं प्रबन्ध की लीक का अनुसरण भी उन में लक्षित होता है। काव्यगत रुढ़ियों में निम्न-लिखित मुख्य हैं—मंगलाचरण, आत्मपरिचय, विनय-प्रदर्शन, सृजन-दुर्जन वर्णन, काव्य के वास्तविक अध्येता और रचना का उद्देश्य। संस्कृत के महाकाव्यों की रचना सगौ मे, प्राकृतोंको आश्वासों तथा उद्देश्यों और अपभ्रंश के महाकाव्यों की सन्धियों में हुई। सन्धि कई कडवकोंसे मिल कर बनती है। कुछ महाकाव्य काण्डों में विभक्त हैं। प्रत्येक काण्ड कई सन्धियों के मेल से बनता है। काण्डों में विभाजन की यह शैली वाल्मीकिरामायण में मिलती है और हिन्दी में भी दिखाई देती है, यहाँ तक कि रामचरितमानस को भी सोपानोके साथ ही काण्डों में विभाजित कर देखा जाता है।^१ रासो ग्रन्थों में घटनाओं की प्रधानता के साथ ही कथा-बन्ध ठवणि, प्रक्रम और भासों में तथा ठवणि वस्तु में विभाजित देखा जाता है। इसी प्रकार बेलि रचनाएँ कड़ियों तथा कई बेलों में विभक्त प्राप्त होती हैं। बेलि और फागु रचनाएँ प्रायः खण्ड काव्य संज्ञक होती थी। यद्यपि ऐसा कोई नियम नहीं था, पर अधिकांश रचनाएँ खण्ड काव्य हैं। उन में खण्डकाव्य के विषय हैं^२। रास, फागु, बेलि, विलास आदि शब्द रूढ़ हो जाने से काव्य के ही वाचक रहे हैं; निश्चित काव्यात्मक प्रवृत्ति के बोधक नहीं।^३ उद्देश्य के अनुसार अवश्य रास और फागु रचनाएँ अभिनयमूलक होती थी और उन के अभिनय में नृत्यगीत मुख्य रूपा से सहायक होते थे।^४ कथा के प्रवाह में लगभग समस्त रचनाओं में गीत तत्त्व भूषण है। गीतमूलक कई प्रकार की शैलियाँ तथा गीत इन रचनाओं में मिलते हैं। चर्चरो रचनाएँ तो लोकनाट्य ही रही हैं, जो नृत्य और संगीत प्रधान होती थीं। कई प्रकार के विनय और भक्तिपरक गीत भी चूनडो, रास, सन्धि, पृच्छा, अनुप्रेक्षा और जन्मकल्याणक आदि में लिखे जाते थे। सम्भवतः मराठी की भाँति पोवाड़ा या पवाडा (बोर गीत) तथा ढबल या धबल गीतो का प्रचलन अपभ्रंश काव्यों में तथा मुक्तकों में रहा है। अतएव इन काव्य-रूपों में भेद लक्षित होता है।

वर्गीकरण

अपभ्रंश-साहित्य मुख्यतः पौराणिक और लौकिक है। प्रबन्ध-काव्यों में कुछ काव्य पुराणों के आरूपान ले कर लिखे गये हैं और कुछ लौकिक (लोक-प्रचलित)

१ डॉ० हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश-साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० ५१।

२ कृष्णचन्द्र . 'राजस्थानी का बेलि साहित्य' कुछ नयी कृतियाँ, शोध-पत्रिका, वर्ष १२ अंक १, सितम्बर १९६०, पृ० ७५।

३-लेखक का सन्देशरागक तथा परवर्ती हिन्दी काव्यपारा नामक लघु प्रबन्ध, अप्रकाशित, पृ० २२।

डॉ० दशरथ ओझा और शर्मा . रास और रासान्वयी काव्य, प्रथम संस्करण, पृ० २७।

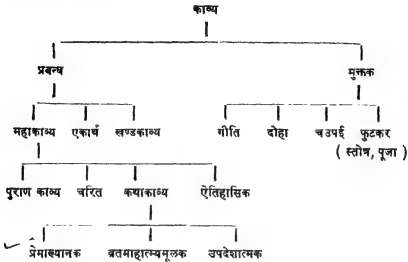
कथाओं से भरित हैं। महाकाव्यों में पौराणिकता के साथ ही लोकतत्त्व का भी समावेश मिलता है। किन्तु कुछ ग्रन्थ बिल्कुल पौराणिक हैं। ऐसे काव्यों में से अधिकांश पुराणसंज्ञक हैं। डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने प्रबन्धकाव्य के मुख्यतः दो रूप माने हैं^१—शास्त्रीय प्रबन्ध काव्य और चरितकाव्य। किन्तु जिन में कथानक की प्रधानता है और जो कई अवान्तर कथाओं से समन्वित हैं उन्हें हम पुराण की श्रेणी में रखना चाहेंगे। क्योंकि अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों का विकास एक रूप में न हो कर बहुविध हुआ है, जिस में हमें पुराण, लोकाख्यान, घटनामूलक तथा शास्त्रीय बन्ध की शैलियाँ तथा वर्णन-प्रवृत्ति लक्षित होती हैं। कुछ पुराण-कथाएँ लोक-काव्य के साँचे में ढली हुई मिलती हैं जो न तो पुराण काव्य के अन्तर्गत आती हैं और न लोककाव्य के ही। प्रबन्ध काव्य का यह वर्गीकरण शैली की दृष्टि से किया जाता है। वस्तु की दृष्टि से भी अपभ्रंश की उन छोटी-छोटी रचनाओं पर विचार करना आवश्यक हो जाता है जो केवल विवरण मात्र हैं और जो शुद्ध धार्मिक भावना से प्रेरित हो कर लिखी गयी। ये रचनाएँ न तो चरितकाव्य के अन्तर्गत आती हैं और न कथाकाव्य के ही। उन्हें पुराण-कथा ही कहा जा सकता है। ऐसी जैन कथाओं की रचना का उद्देश्य जनता में दान, शील, तप, व्रत और धर्म तथा जीवन में आस्था आदि सद्भाव रूप धार्मिक गुणों का विकास करना रहा है। डॉ० वेबर, लायमन, जेकोबी, ग्युह्लर, हटेल और अल्सडोर्फ आदि ने जैन कथा साहित्य के इस महत्त्व का मूल्यांकन बहुत पहले किया था^२। फिर भी, बन्ध की दृष्टि से इन का साहित्य में बराबर महत्त्व है। इस प्रकार अपभ्रंश में एक ओर व्रत-माहात्म्य तथा उद्देश्य विशेष से वर्णित छन्दोबद्ध कथाएँ मिलती हैं और दूसरी ओर पुराण, चरित और कथा-काव्य प्रबन्ध काव्य की शैली में उपलब्ध होते हैं। पुराणकाव्यों में जो आकार-प्रकार में बृहत् तथा शास्त्रीय शैली में निबद्ध हैं वे महाकाव्य संज्ञक हैं और महापुरुष के जीवन चरित को ले कर लिखी गयी प्रबन्ध रचनाएँ चरितकाव्य के अन्तर्गत आती हैं।

अपभ्रंश-साहित्य में चरित काव्यों की संख्या अधिक है। भारतीय साहित्य में चरितकाव्य का प्रचलन महापुरुषों के जीवनचरित वर्णन के निमित्त हुआ है, जिस में आदि से अन्त तक नायक का चरित-कीर्तन वर्णित रहता है। हिन्दी में राम, कृष्ण, महावीर तथा जैन साहित्य में त्रैलोक्य शालाकापुरुषों का जीवनचरित हमें दो रूपों में ही अधिकतर मिलता है—पुराणकाव्य के रूप में और चरितकाव्य के रूप में। वस्तुतः पुराणकाव्य और चरितकाव्य का भेद शैली के आधार पर लक्षित होता है। पुराण काव्य में विस्तार तथा पौराणिक रुढ़ियाँ अधिक होती हैं, जब कि चरितकाव्य में

१. हिन्दी साहित्य-कोश, प्रथम संस्करण, पृ० २८६।

२. सुनि जिनविजय 'कथा कोश प्रकरण का प्रास्ताविक वस्तुव्य, पृ० १६।

संक्षेप होता है। संक्षेप में, अपभ्रंश-साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार है—



पुराणकाव्य—हरिवंशपुराण (श्रुतकीर्ति) ४४ सन्धियों में निबद्ध, हरिवंश-पुराण (धवल) एक सौ बाईस सन्धियों का काव्य, पुष्पवन्त रचित एक सौ दो सन्धियों में निबद्ध महापुराण, महाकवि स्वयम्भू विरचित एक सौ बारह सन्धियों का हरिवंशपुराण (रिट्ठनेमिचरित) तथा नन्वे सन्धियों में निबद्ध पउमचरित इत्यादि।

चरितकाव्य—गेमिणाहचरित, पासणाहचरित, चन्दप्पहचरित, संभवणाहचरित, सातिणाहचरित, बाहुबलिचरित, पञ्जुणचरित, सम्महजिणचरित, जम्बुसामिचरित, सुकुमालचरित, महावीरचरित, जसहरचरित, करकण्डचरित, जीवंधरचरित, सुकोसल-चरित, मेहेसरचरित, पउमचरित इत्यादि।

कथाकाव्य—भविष्यत्तकहा, जिनदत्तकहा, विलासवईकहा, सत्तवसणकहा, सिद्धचक्रकहा, सिरिपालकहा आदि।

ऐतिहासिक काव्य में विद्यापति की कीर्तिलता तथा खण्डकाव्य में अब्दुलरहमान कृत सन्देशरासक मात्र उपलब्ध हैं। दोहाबन्ध रचनाओं में सावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, सुण्यदोहा तथा गीति-साहित्य में नेमिगीत, नेमोश्वरगीत (बल्हव), गुणस्यामगीत (ब० धीवर्द्धन), जंबुस्वामी गीत, पार्वगीत, चेतन गीत, रावलिमी गीत, पंचेन्द्री-बेलि आदि रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। बौद्धों की चर्यागीति, संबोधगीति, आत्मसंबोधन तथा

पद आदि इसी बिधा की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार नेमिनाथचउपई, पद्मावती चोपई,^१ तथा जिनदत्तचउपई अपभ्रंश की चउपई रचनाएँ हैं।

उक्त रचनाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश-साहित्य काव्यात्मक विधाओं से अत्यन्त समृद्ध है। रासो-साहित्य इस में एक स्वतन्त्र ही काव्य-प्रकार है जो शैली के भेद से अन्य रचनाओं से भिन्न देखा जाता है। इसी प्रकार फागु और चर्चरी रचनाएँ बन्ध की दृष्टि से अपना पृथक् महत्त्व रखती हैं। इनके अतिरिक्त प्राकृत में चम्पू, रूपक और गद्यकाव्य को विशेष बिधाएँ हैं। अपभ्रंश में—मयणपराजयवरिउ, मयणजुझ, मनकरहारास आदि रूपक काव्य तो दृष्टिगोचर हैं पर नाटक-साहित्य अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। इसी प्रकार स्वतन्त्र गद्य-रचना भी अभी तक नहीं मिली है। यद्यपि आख्यानों में तथा अन्य रचनाओं में कहीं-कहीं अपभ्रंश का गद्य देखने को मिलता है, किन्तु अलग से गद्यबन्ध कोई रचना मेरे देखने में नहीं आयी। नाट्य-रचना भी इस साहित्य में उपलब्ध नहीं है। इस से यही विचार बार-बार मन में उठता है कि हो न हो यह समूचा साहित्य पद्यबद्ध ही है। यहाँ तक कि मुनि यश.कीर्ति कृत 'जगमुन्दरी प्रयोगमाला' (आयुर्वेद ग्रन्थ) तथा ध्रुतकीर्ति विरचित 'योगशास्त्र' दोनों ही छन्दोबद्ध हैं। डॉ० कोछड़ ने 'उर्वरसमालकहाण्य-छप्पय' नामक रचना का उल्लेख किया है, जिस से पता चलता है कि छप्पयबन्ध रचनाएँ भी परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य में लिखी जाने लगी थीं।^१ अतएव काव्य-विधा में अपभ्रंश-साहित्य की बहुमुखी प्रगति का पता लगता है, जो पुरोगामी आधुनिक भारतीय आर्य-साहित्य का प्रेरक रहा है।

सामग्री

गत दशक में हुई शोध-खोज से यह स्पष्ट हो गया है कि अभ्रंश में प्रबन्धकाव्यों के साथ ही कथा-साहित्य प्रचुर उपलब्ध है। किन्तु अधिकांश रचनाएँ व्रतकथाएँ हैं जो धार्मिक महत्त्व दर्शाने के उद्देश्य से लिखी गयी। इन कथाओं में व्रत का विधान तथा माहात्म्य विशेष रूप से वर्णित है। जिन कथाओं में व्रत का विधान नहीं है वे भी धार्मिक भावना से प्रेरित शुद्ध उपदेशात्मक कथाएँ हैं। माणिकचन्द विरचित 'सतवसनकथा' ऐसी ही रचना है जिस में सात व्यसनों (आलस्य खेलना, मदिरा-पान करना, वेश्यागमन करना, मास खाना, चोरी करना, जुआ खेलना और पशुओं का गमन करना) के त्याग का उपदेश कथाओं के दृष्टान्तों के माध्यम से वर्णित है। ये कथाएँ सन्निबद्ध तथा सन्निमुक्त दोनों ही शैलियों में लिखी हुई मिलती हैं। कुछ कथाएँ आकार में बड़ी हैं और कुछ छोटी हैं। व्रतकथाएँ सामान्यतः अधिक से अधिक दो सन्निबद्धों में निबद्ध हैं। कुछ कथाएँ आकार में बहुत ही छोटी हैं। ब्रह्म साधारण कृत कोकिलापंचमी, मुकुटसप्तमी, क्षीरदादशी, रजिवासर, त्रिकालचतुर्विधो, पुष्पव्रत,

^१ डॉ० हरिप्रसाद कोछड़ : अपभ्रंश-साहित्य, पृ० १६८।

निर्दुःखसप्तमी, निर्दरपंचमी आदि कथाएँ पंच-पौष कठवकों की रचनाएँ हैं। पं० रघू की 'अणवमीकहा' तो केवल चार ही कठवकों की रचना है। कुछ कथाएँ इन से आकार में बड़ी भी हैं; किन्तु अधिक बड़ी नहीं। उदाहरण के लिए, हरिवन्द की 'अणवमियकहा' सोलह कठवकों में निबद्ध है। बिमलकीर्ति विरचित 'मुखवद्विहाण कहा', 'सुर्यवदहमीकहा' तथा देवनन्दि रचित 'रोहिणीविहाणकहा' और यति विनयचन्द्र कृत 'णिज्जरपंचमीविहाणकहा' आदि इसी आकार की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार मुनि गुणभद्र लिखित सोलह कथाओं का पता मिलता है जो सभी छोटी-छोटी कथाएँ हैं। भ० ललितकीर्ति, यशःकीर्ति, नेमचन्द्र और विनयचन्द्र आदि की अधिकतर रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। इन रचनाओं को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश कथाएँ व्रत-माहात्म्य को प्रदर्शित करने वाली तथा आकार में छोटी और विवरणप्रधान हैं। केवल इन में वस्तु है; विवरण नहीं। रचनाएँ वस्तुमूलक होने से संक्षिप्त तथा वर्णनरहित हैं। अतएव काव्यात्मक दृष्टि से इन का मूल्यांकन करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

उक्त लघु या क्षुल्लक कथाओं के अतिरिक्त कुछ बृहत् कथाओं की संकलना भी प्राप्त होती है। इन प्रकार की रचनाएँ 'कथाकोष' हैं, जिन में धार्मिक कथाओं का संकलन दिखाई पड़ता है। ये संग्रहात्मक ग्रन्थ हैं जो काव्यरूप में निबद्ध हैं। श्रीचन्द्रकृत 'कहाकोसु' ५३ सन्धियों में निबद्ध ऐसा ही कथाकोष है। पं० रघू रचित 'पुष्पासक्कहाकोसु' भी इसी प्रकार की रचना है। वस्तुगत वर्णन में अवश्य कहीं-कहीं लेखक की भौलिकता परिलक्षित होती है। अन्य स्फुट कथाकोष भी मिलते हैं, जिन में संस्कृत-अ० अंग या अपभ्रंश-हिन्दी की कथाओं का संग्रह मात्र दिखलाई पड़ता है। इन कथाकोषों के लेखक अज्ञात ही हैं।

दूसरे प्रकार की कथाएँ कथाकाव्य हैं, जिन में कथा और काव्य का सुन्दर कलात्मक संयोजन लक्षित होता है। यद्यपि इन में वर्णित कथाएँ लोककथाएँ हैं, नायक जन-जीवन का विशिष्ट व्यक्ति है, पर अपने कार्यों में वह महान् तथा आदर्श है। वह यथार्थ जीवन से परे का व्यक्ति नहीं है। उस की महत्ता जन्मजात नहीं; जीवन के गुस्तर संघर्षों के बीच प्रतिफलित होती है। वह साधारण से महान् बनता है। ऐसे कथाकाव्यों में प्रसिद्ध तथा प्रमुख रचना है—भविष्यदत्तकथा। यह पंचमी व्रतकथा के नाम से भी प्रसिद्ध रही है। इस में श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य काव्यात्मक ढंग से वर्णित है। विबुध श्रीधर रचित 'भविष्यत्तकहा' भी ऐसी ही रचना है। लाख विरचित 'त्रिणयत्तकहा' और साधारण मिथुन कृत 'विलासवईकहा' अपभ्रंश के सुन्दर कलात्मक कथाकाव्य हैं। इधर अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्य भी जैन ग्रन्थों में देखने को मिले हैं, जिन का अनुशीलन इस पुस्तक में किया गया है।

संक्षेप में अपभ्रंश का कथा-साहित्य इस प्रकार है :

१. अमन्तकीर्ति गुरु : पुष्पञ्जलि-कथा
२. अप्रदेव : सवणवारसिविहाणकथा, सोडसकारणविहाणकथा, सुयमस्य-विहाणकथा, बिजुचोरकथा ।
३. अमरकीर्तिगणि : पुरंदरविहाणकथा (वि० सं० १२७५), छवठम्भोवणस (वि० सं० १२४७) ।
४. उदयचन्द्र : सुयंघदहमीकथा (१९६६ ई० में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित) ।
५. कवि ठकुरसी : मेघमालावयकथा (वि० सं० १५८०)
६. कवि देवदत्त : सुयन्घदसमीकथा
७. गुणभद्र भट्टारक : अणंतवयकथा, सवणावारसिविहाणकथा, पक्खवयकथा, गणपंचमीकथा, चंदायणकथा, चंदणछट्ठीकथा, णरयउतारीदुद्धारसकथा, णिदुहसत्तमीकथा, मउडसत्तमीकथा, पुष्पञ्जलिवयकथा, रयणत्तयविहाणकथा, दहलक्खणवयकथा, लडविहाणकथा, सोडस-कारणवयविहि, सुयंघदहमीकथा ।
८. देवनन्दि : रोहिणिविहाणकथा
९. धनपाल : भविसयत्तकथा
१०. शाहिल : पउमसिरीचरित
११. नयनन्दो : सुदंसणचरित
१२. नरसेन : सिद्धचक्ककथा, जिणरत्तिविहाणकथा
१३. नेमचन्द्र : रविवयकथा, अणंतवयकथा
१४. भगवतीदास : मउडसत्तमीकथा, सुयंघदसमीकथा
१५. भट्टारक ललितकीर्ति : जिनराविकथा, ज्येष्ठजिनवरकथा, दशलक्षणीव्रत-कथा, धनकलशकथा, कंजिकाव्रतकथा, कर्मनिर्जराचतुर्दशीकथा ।
१६. माणिक्यचन्द्र : सत्तवसणवज्जणकथा
१७. मुनि बालचन्द्र : निरयदुहसत्तमीकथा, रविवयकथा, णरयउतारीदुद्धारसी-कथा ।
१८. यति विनयचन्द्र : जिणरपंचमीविहाणकथा, णरयउतारीदुद्धारसीकथा ।
१९. यशःकीर्ति : जिणरत्तिविहाणकथा, रविवयकथा ।
दशलक्षणधर्मकथा (सरस्वती भवन, बम्बई)
२०. रङ्गू : पुण्णासवकथाकोसु, सिद्धचक्कमाहप्पकथा, अणधमीकथा, रविवय-कथा ।
२१. रल्लू : जिनदत्तचउपई
२२. लालू : जिणयत्तकथा, चंदणछट्ठीकथा ।

२३. विनयचन्द : गिञ्जरपंचमीकहा, दुद्वारसकहा ।
२४. विमलकीर्ति : सुखसंपदविहाणकहा, सुयंघदसमीकहा, चंदायणवउकहा ।
२५. विबुध श्रीधर : भविसयत्तकहा
२६. श्रीचन्द : कहाकोसु
२७. साधारण ब्रह्म : कोकिलापंचमीकहा, मउडसत्तमीकहा, दुद्वारसीकहा, रवि-
वउकहा, तिणचउवीसीकहा, पुप्फंजलवयकहा, निर्दुहसत्तमीकहा,
गिञ्जरपंचमीकहा ।
२८. साधारण सिद्धसेन : विलासवईकहा (वि० सं० ११२३)
२९. हरिचन्द : अणत्थमीकहा, बहुलखणकहा, नारिकेरकहा ।
३०. हरिचन्द्र : पुष्पांजलिकथा

इन के अतिरिक्त कुछ अज्ञात लेखकों की कथा-रचनाएँ भी देखने को मिलती हैं, जिन में से कुछ निम्नलिखित हैं—

मुक्तावलिबिधानकथा, पुरन्दरबिधानकथा, सुगन्धदशमीकथा, चन्दनपष्ठीकथा, निर्दोषसप्तमीकथा, रोहिणीविधान, अनन्तव्रतकथा, जिनरात्रिविधान, सुगन्धदशमीकथा, मालारोहणकथा इत्यादि । सम्भावना यह भी है कि नागीर, जंसलमेर, पाटण तथा ईडर आदि के जैन भण्डारों में कुछ अन्य कथाएँ तथा कथाकाव्य भी उपलब्ध हो सकें । सम्प्रति इसी सामग्री का विचार करना समुचित होगा ।

कथा बनाम आख्यान

‘कथा’ भारतीय साहित्य का अत्यन्त प्राचीन अंग है । कथा पहले है काव्य बाद में । कदाचित् कथाश्री का चलन सब से पहले प्रकृतिविषयक रहस्य को समझने और समझाने के निमित्त हुआ था । तब उन्हें कथा नहीं कहा जाता था । कथा का सब से पुराना नाम आख्यान मिलता है । वेदों में आख्यानों के विविध उल्लेख मिलते हैं । इन आख्यानों का सम्बन्ध विशेष रूप से अतिमानवीय घटनाओं से युक्त है । वैदिक आख्यानों का उपयोग मुख्य रूप से मन्त्रों की अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन के लिए हुआ है । वे मन्त्र और यज्ञ-विधि से पूर्णतः सम्बद्ध हैं । अतएव उन में आख्यानों का उल्लेख मात्र है; विवरण नहीं मिलता । ब्राह्मण भागों में अवश्य उन का विवरण प्राप्त होता है । किन्तु वे यथास्थान बिखरे हुए हैं । उन में संवाद एवं वार्त्तालाप एक ही शैली में अनुस्यूत दिखाई देते हैं । उपनिषदों में इस शैली का विकास वार्त्ताओं तथा आख्यानों के माध्यम से हुआ । वार्त्ताएँ दृष्टान्त रूप में सम्भवतः इसी युग में प्रचलित हुईं । पुराण-काल में पौराणिक रचनाएँ इतिवृत्त को ले कर विकसित हुईं, जिन में धार्मिक भावना मुख्य है । युग और समाज के परिवर्तन के साथ ही लोक-परम्परा में जो वार्त्ताएँ जड़ जमा चुकी थीं वे हो आगे चल कर किंवदन्ती नाम से अभिहित हुईं । किंवदन्ती ही साहित्यिक विधा

में परवर्ती काल में 'लोककथा' नाम से ख्यात रही। किन्तु पौराणिक कथा का माहात्म्य आज भी धार्मिकता के बिबरण तथा वर्णन से बना हुआ है।

यद्यपि कथाएँ रूपक मात्र हैं पर उन में भारतीय जीवन के अनुभवपूर्ण अभिप्राय निहित हैं। कथा के बहाने धर्म, नीति, आचार-व्यवहार का ही उन में समावेश नहीं है बल्कि लोक-जीवन का जोता-जागता चित्र तथा भारतीय संस्कृति और समाज का चित्र भी स्वाभाविक रूप में उन में प्रतिबिम्बित है। कई आख्यान श्रुति के अंग बन कर युगों-युगो तक प्रचलित रहे हैं। पुराण-युग में उन में विविध परिवर्तन और संशोधन हुए। यो तो वेदकाल से ले कर पुराण-युग तक उन में बहुविध विकास हुआ^१ पर कथा का वास्तविक ढाँचा उन्हें तभी (पुराण-युग में ही) मिल सका जब धार्मिक वृत्तों से भरपूर होने पर भी लोक-जीवन तथा घटनाओं का समावेश भी उन में होने लगा था।

प्रत्येक देश में कथाओं का प्रचलन मन्दिर, मसजिद, गिर्जाघर या अन्य किसी धार्मिक स्थान से हुआ है जहाँ समाज परस्पर प्रेम-सूत्र का गठबन्धन करती है। लोक-धर्मी परम्परा में कथातत्त्व अत्यन्त विकसित हुआ। जातीय भावनाओं तथा अभिप्रायों का सुन्दर घोल कथाओं के रूप में जन-मानस में परिष्कृत लक्षित होता है। केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं, पाश्चात्य एवं युरोपीय साहित्य में भी लोकवाक्ताओं के माध्यम से धार्मिक भावनाओं का प्रसार हुआ। लोकवाक्ताएँ धार्मिक आख्यानों के रूप में वैदिक काल से प्रतिष्ठित रही हैं। प्राग्वैदिक काल में भी वे श्रुति के रूप में प्रचलित थीं। मिस्र, इजिप्ट, चीन तथा अन्य देशों की अवदान कथाएँ वर्षों तक लोक-जीवन में मौखिक ही सुरक्षित रही हैं।^२ श्रुतियों और स्मृतियों में आख्यानों का यही रूप मिलता है। उन का परवर्ती विकास पौराणिक युग के जीवन का यथार्थ धरातल है, जिस में कल्पना और आदर्श का सुन्दर मेल है।

मिस्र, चीन, भारत आदि देशों में देवी-देवताओं की मान्यता प्राग्-ऐतिहासिक काल से बराबर बनी हुई है। पूजा की विधि और उपासना में ही देश और काल के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं। इस सृष्टि का जन्म प्रायः सभी किसी न किसी देवी या देवता से हुआ मानते हैं। देवत्व की प्रतिष्ठा एवं स्थापना ऋग्वेद में ही हो गयी थी।^३ पुराणों में ऐसी कई रूपक कथाएँ मिलती हैं जिन में आध्यात्मिक तत्त्व बीज रूप में निहित हैं। इसीलिए समाज में आज भी उन का महत्त्व है। भारतीय वाङ्मय में राम और कृष्ण के आख्यान शताब्दियों पश्चात् भी गौरवपूर्ण बने हुए हैं। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि साहित्य की यह विधा लोकवाक्ताओं से विकसित हुई है। भारतीय साहित्य की भाँति अन्य भाषाओं के साहित्य में भी जातीय अभिप्राय

१. एच० एल० हरिप्रसाद 'प्राग्वैदिक लीजेन्ड्स अन्ड एपेज, धूमिका, पृ० १६।

२. राबर्ट ग्रैमर। सारोस, इन्स्टीट्यूटोपोलिटिमा ऑफ़ माइयालॉजी, पृ० १।

३. त्रिवेणीप्रसाद सिंह : हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, प्रथम संस्करण, पृ० ११२।

(National motifs) लोकवार्ताओंसे ग्रहण किये जाते रहे हैं।^१ कालान्तर में आख्यायिकाओं और कथाओं के वे ही अंग-रूप बन कर प्रचलित हो गये।

आचार्य यास्क ने निरुक्त में ऋषि विश्वामित्र, राजा सुदास, कुशिक, देवापि तथा शान्तनु आदि की कथाओं का संक्षिप्त विवरण दिया है।^२ आख्यानों की दृष्टि से व्याख्या करने वालों को 'ऐतिहासिक' कहा गया है।^३ इस से स्पष्ट ही संकेत मिलता है कि लोकप्रचलित आख्यान इतिहास के रूप में माने जाते रहे हैं। साह्यणों में प्राप्त 'आख्यान' शब्द इतिहास का वाचक है। निरुक्त में भी इतिहास और आख्यान शब्द सम्भवतः एक ही अर्थ में प्रयुक्त है। 'आख्यान' शब्द का स्पष्ट उल्लेख उस में मिलता है।^४ 'बृहद्देवता' में विभिन्न वैदिक आख्यानों का सुन्दर संकलन है। भारतीय कथा-साहित्य का यह प्राचीनतम संग्रह है।

मूल रूप में साहित्य आख्यान कहा जा सकता है। पौराणिक, कल्पित तथा निजन्वरी वृत्तों को ले कर परवर्ती काल में भारतीय साहित्य की सृष्टि हुई। साहित्य मात्र में वामिक आख्यान और लोकवृत्त अतिशयोक्ति पूर्ण कल्पनाओं तथा अलंकरणरस-कता से अनुरजित है। और कथन-भेद से साहित्य के विभिन्न अंगों की रचना का विकास सम्भव हो सका है। इसीलिए शैली-भेद से आख्यान, आख्यायिका तथा कथा आदि नाम प्रचलित हुए। वस्तु-भेद बहुत पीछे की वस्तु है। वस्तुतः इन तीनों का विकास एक ही परम्परा में हुआ। इतिहास और पुराण भी इसी श्रेणी के हैं।^५ आख्यानों का वास्तविक विकास पुराण और काव्य-साहित्य में मिलता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा श्रोमद्भागवत आदि में सुन्दर आख्यानों के साथ काव्यसौष्ठव भरपूर है। उन में आख्यान तथा उपाख्यान वर्णनों के बीच चलते हुए लक्षित होते हैं। उन के इस रूप को देख कर सहज में ही निश्चय हो जाता है कि प्रबन्धकाव्यों के पश्चात् ही पुराणों की रचना हुई है। पुराण अठारह कहे जाते हैं।^६ उन का मूल स्रोत वैदिक आख्यानों में निहित माना जाता है। मन्त्रभाग और विहितत्व भी पुराणों के मूल में रक्षित है। यथार्थ में कुछ देवी-देवताओं को मान कर ही उन की प्रतिष्ठा तथा माहात्म्य बनाये रखने के लिए पुराणों की रचना हुई। पुराणों में अग्नि, विष्णु और शिव की उपासना मुख्यतः वर्णित है। लिंग, स्कन्द और अभिपुराण में अग्नि तथा ब्रह्मा, नारद, ब्रह्मवैवर्त,

१. डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का नैकतात्विक अध्ययन, प्रथम संस्करण, पृ० ५२।

२. यास्क निरुक्त, अ० २, पा० ३, सू० १२।

३. "तत्रेतिहासमाचक्षते। यस्मिन्सूक्ते प्रधाना नञ एव तत्र इममितिहासं पुरावृत्तं निदानभूतमाचक्षते आचार्या कथयन्ति।"—निरुक्त, २.७.२४। दुर्गाचार्य की टीका।

४. यास्क निरुक्त, अ० ५, पा० ४, सू० २१।

५. "आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणम्यत्र" इति।—महाभाष्य, पा० ४-२-६०।

६. ब्राह्मं पादम वैष्णवं च शैव लैङ्गं सगारुडम्।

नारदीय भागवतमाग्नेय स्कान्दसंक्षिप्तम्॥

भविष्य ब्रह्मवैवर्त मार्कण्डेयं सवामनम्।

वाराहं भार्गवं कौर्म च ब्रह्माण्डात्ममिति त्रिपरम्॥

—श्रीमद्भागवत, १.७, २३-२४।

बराह और वामनपुराण में विष्णु एवं मार्कण्डेय और शिव पुराण में शिव की प्रधान रूप से भक्ति वर्णित है। अन्य पुराणों में अवतार, परमपुरुष को लीला तथा लोक गाथाओं का सुन्दर संकलन है। यद्यपि पौराणिक आख्यान मानव-जीवन से सम्बन्धित है पर अतिलौकिक घटनाओं का समावेश भी उन में प्राप्त होता है। फिर, उपनिषद् कालिक विचारधारा में आत्मतत्त्व को समझाने के लिए दृष्टान्त शैली का विकास हो गया था। इसलिए पुराणों में कथाओं और उपाख्यानो का सुन्दर मेल दिखाई देता है। विश्व में सम्भवतः महाभारत से बड़ कर कोई कथाकोश नहीं मिलता। एक चौथाई महाभारत उपाख्यानो से भरपूर है। रामायण में भी विविध अवान्तर कथाओं का सुन्दर संयोग है। णयाधम्मकहा में अनेक दृष्टान्त परक रूपक कथाएँ मिलती हैं। इस में वर्णित कथाएँ उपदेशात्मक एवं ललित हैं। जातक कथाएँ लोककथाओं के मूल में विकसित हुई जान पड़ती हैं। पृच्छा रचनाओं में कथा धार्मिक गाथाओं में लिपटी हुई मिलती है। किन्तु निज्जुत्तियों में कथा और उपाख्यान दोनों हो प्राप्त होते हैं। व्याख्या भाग को पृथक् कर देने पर निर्मुक्तियों और वर्णियों में सुन्दर आख्यान दिखाई देते हैं। जैन शास्त्रों एवं पुराणों में लोकाख्यान तथा कथाओं का सुन्दर संकलन है, जिन में व्रत, उपवास, धर्म और ज्ञान का माहात्म्य वर्णित है। डॉ० उपाध्ये ने सोलह कथाकोशों का परिचय दिया है जो धार्मिक कथाओं से भरपूर हैं।^१ जिनेश्वरसूरि का कथाकोषप्रकरण, राजशेखरसूरि का प्रबन्धकोश, मुनि सिंहसूरि का बृहदाराधना कथाकोश, हरिपेण कृत बृहत्कथाकोश, नेमिचन्द्र रचित कथामणिकोश, देवभद्रसूरि विरचित कथारत्नकोश, उत्तमपि कृत कथारत्नाकर, हेमविजयगणि रचित कथारत्नाकर, श्रुतसागर विरचित व्रतकथाकोश, आ० मल्लिपेण, धर्मचन्द्र, सकलकीर्ति आदि कृत व्रतकथाकोश, ब्रह्म नेमिदत्त, प्रभाचन्द्र, सिंहनन्दिन, छत्रसेन, ब्रह्मदेव ब्रह्मचारी, रत्नकीर्ति आदि विरचित आराधनाकथाकोश तथा सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भाषा में लिखित पुण्याश्रवकथाकोश आदि उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार अन्य भारतीय भाषाओं में भी जैनकथाकोशों के लिखे जाने का उल्लेख मिलता है।

गुणाढ्य की पैशाची प्राकृत में लिखित 'बड्ढकहा' लौकिक आख्यानो का मनोहर संकलन है। जनरवि के अनुसार जनभाषा में लिखित यह कथाकोश भारतीय जीवन में अत्यन्त प्रचलित रहा है। कथासरित्सागर उसी का संक्षिप्त संस्करण मात्र है। उस में कथातत्त्व को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए काव्यांश की संयोजना हुई है।^२ क्षेमेन्द्र कृत

१ चतुर्विंशतिमाह्वी चक्रं भारतस हिताम् ।

उपाख्यानानि विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥—महाभारत, आदि पर्व, १, १२० ।

२ डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये बृहत्कथाकोश की भूमिका ।

३ हरि दामोदर वैजण्णकर जिनेश्वरकोश, खण्ड प्रथम, १६४४, पृ० ३२ ।

४ यथाश्रुतं तथैवेत्यन्य मनागप्यतिक्रम ।

ग्रन्थविस्तरसंक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते ।

औचित्यान्वयगत्या च यथाज्ञाति विधीयते ।

कथारसविधातेन काव्यांशस्य च योजना ॥—कथासरित्सागर, १, १०-११ ।

‘बृहत्कथामंजरी’ और बुद्धस्वामी का ‘बृहत्कथावलोकसंग्रह’ बृहत्कथा के ही अन्य संस्करण हैं।^१ इसी प्रकार जातकों तथा अवदानों के जो कई संग्रहों का पता लगता है। चीनी भाषा में भी उन के कई संस्करणों के लिखे जाने के उल्लेख मिलते हैं। इसी परम्परा में आगे चल कर भोजप्रबन्ध, बैताल पंचविंशतिका, विहासन द्वाविंशतिका आदि रचनाएँ लिखी गयीं। हिन्दी में इन को आधार मान कर शुकबहत्तरी, माधवानल-कामकन्दला, सुदामाचरित जैसी लोककथाएँ पिछली तीन-चार शताब्दियों में रची गयीं। किन्तु संस्कृत में पंचतन्त्र की शैली उन सब से भिन्न है। उस में लोकज्ञान का सजीव वर्णन है। यद्यपि दशकुमारचरित की रचना प्रौढ़ है, पर उस में तत्कालीन लोक-जीवन की पूरी झलक मिलती है। सम्भवतः बाणभट्ट और वसुबन्धु की कथाएँ भी इसी परम्परा की हैं। धनपाल की तिलकमंजरी भी बहुत कुछ इस लोक पर चलती हुई जान पड़ती है। इन कथाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कथा का मूल जन-जीवन में सुरक्षित रहा है। किसी विशेष अभिप्राय, उद्देश्य या धार्मिक भावना से प्रेरित हो कर ही पौराणिक कथाएँ समय-समय पर जातीय भावनाओं के अनुसार लिखी जाती रही हैं। अधिकांश जैन कथाएँ आचार्यों, मुनियों या यतियों तथा भट्टारकों के द्वारा लिखी गयी हैं। जैन धर्म, साहित्य और संस्कृति की रक्षा में भट्टारकों का प्रमुख हाथ रहा है। वे कई भाषाओं के जानकार तथा अधिकारी विद्वान् होते थे। तन्त्र, मन्त्र और शास्त्रों की रचना में उन का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। आज भी राजस्थान, सौराष्ट्र—गुजरात, वरार, उत्तर प्रदेश और दक्षिण आदि में जो बड़े-बड़े भण्डार मिलते हैं वे सब यतियों तथा भट्टारकों की देन हैं। जैन समाज में यतियों तथा भट्टारकों की परम्परा प्राचीन मानी जाती है। उन के कई स्थानों का प्रामाणिक परिचय भी मिलता है।^२ इस प्रकार कथा की सृष्टि मूल रूप में जन-वार्त्ताओं से हुई प्रतीत होती है। जहाँ उन में अति-मानवीय घटनाओं का संयोग हो गया है वहाँ से धार्मिक आख्यान बन कर पुराणों में अथवा पौराणिक रचनाओं में निरूढ़ हो गयी है। अतएव उन में कथा का वह शुद्ध स्वरूप नहीं दिखाई देता जो लोककथाओं में मिलता है। वैदिक युग में असुर तथा दानवों से सम्बन्धित कथाएँ जन-जीवन में प्रचलित रही हैं^३ पर वेदों में प्राप्त श्वावाच, पुश्रवा-उर्वशी, तथा संवाद सूक्तों में प्रकृति की अलौकिक सत्ता हो मुख्य है; मनुष्य के भावनात्मक सौन्दर्य और प्रकृतितत्त्व सौन्दर्य से उन का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतीकात्मक देवकथाएँ (Myths) ही मुख्य रूप से मिलती हैं। यद्यपि उपनिषदों में दृष्टान्त और संवाद शैली का जन्म बहुत पूर्व ही हो गया था पर उन का

१ वाचस्पति गेरौला संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० ६१६।

२ अनुपचन्द जैन न्यायतीर्थ ‘आमेर गार्दी के भट्टारकों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सेवा; महानौर अग्रस्ती स्मारिका, अप्रैल ६२, पृ० १२०। विशेष जानकारी के लिए प्रो० पी० जोहरापुरकर की पुस्तक ‘भट्टारक सम्प्रदाय’ (जोलापुर, १९६८) द्रष्टव्य है।

३. ई० वाशबर्न हापकिन्स ‘इपिक माइथासॉजी, प्रथम संस्करण, पृ० ६१।

पूर्ण विकास कथा-साहित्य में देखा जाता है। प्राकृत के प्रबन्ध काव्यों में कथन की यह विशेष शैली रही है, जिस में वार्तालाप एवं संवाद कथा के अंग हैं। उस में कथाएँ गद्य और पद्य दोनों में ही लिखी हुई मिलती हैं। कथाकोषप्रकरण में संग्रहीत कथाएँ प्राकृत गद्य में लिखी गयी हैं। प्रसंगतः कुछ संस्कृत और अपभ्रंश के भी पद्य आ गये हैं। देशी राग में गायी जाने वाली अपभ्रंश चौपाई भी उस में संकलित है।^१ कथा-ग्रन्थों में से कुछ तो पुराणों की पद्धति पर रचे गये हैं और कुछ आख्यायिकाओं की शैली पर। उपलब्ध ग्रन्थों में 'वसुदेव हिण्डो' सब से प्राचीन और सब से बड़ी कथा-रचना है।^२ इस में विभिन्न संक्षिप्त कथाओं का सुन्दर संकलन है। इस के संप्राहक संघदास क्षमाश्रमण कहे जाते हैं। इस की रचना पुराण-पद्धति पर हुई है। श्री हरिमद्रसूरि का धूर्तस्थान अत्यन्त ललित कथा-रचना है। जयसिंहसूरि कृत धर्मोपदेशमाला, महेन्द्रसूरि विरचित नर्मदासुन्दरी और सुमतिगणि रचित जिनदत्तास्थान आदि प्राकृत की मनोहर कथाकृतियाँ हैं। महेस्वरसूरि कृत ज्ञानपंचमीकथा प्राकृत की प्रसिद्ध कथाओं का काव्यात्मक संकलन है। आलंकारिक शैली में लिखी गयी कथाएँ भी देखी जाती हैं, पर अधिकतर लोकास्थान मूलक पद्धति पर उन की रचना हुई है। प्राकृत और अपभ्रंश के कथाकाव्य अधिकतर शास्त्रीय मार्ग से हट कर लोकास्थानक शैली पर रचे गये हैं। कुछ प्राकृत कथाकाव्य इस प्रकार हैं—तरंगवई (पादलिससूरि), समराइच्च कहा (हरिमद्रसूरि), भुवनसुन्दरी (विजयसिंहसूरि) तथा निर्वाण लीलावती (जिनेश्वरसूरि) आदि। प्राकृत में प्रेमास्थानक काव्यों की लम्बी परम्परा दिखाई देती है, जिस में शृंगार की साभिराम योजना हुई है। उन में से कुछ के नाम हैं—रमणसेहरकहा (जिनहर्षगणि), तरंगवई (पादलिससूरि), लीलावई (कोऊहल), सुरसुन्दरीचरित (घनेसरसूरि), भुवनसुन्दरीचरित (विजयसिंह), लीलावई (भूषणभट्टतनय), कथा-सुरसुन्दरी^३ और मलयसुन्दरी कथा आदि। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की भाँति गुजराती तथा दक्षिण की भाषाओं में भी लिखित प्रेमास्थानक कथाकाव्य प्राप्त होते हैं। जान पड़ता है कि आभीरों के प्रबुद्ध होने पर छठी-सातवीं शताब्दी के लगभग कथा-रचना में गीत और शृंगार-भावना का समावेश हो चला था। प्रायः कथाकाव्य लोकास्थान को ले कर लिखे जाते थे। तमिल में सातवीं शताब्दी में शास्त्रीयता से हट कर लोककथाएँ लिखी जाने लगी थी। हिन्दी में तो प्रेमास्थानक काव्यों की रचना लोक कथाओं को ले कर ही हुई है। उन के अतिरिक्त तोता-मैना, बैतालपचबोसी, सिंहासन-वत्तौसी, सुबाबत्तौसी तथा डोलामारू आदि मौलिक कथाएँ भी भारतीय जनता में शताब्दियों से प्रचलित रही हैं। लोककथाओं में पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, जड़-चेतन सभी कथा के विषय मिलते हैं।

१ मुनि जिनविजय . जिनेश्वरसूरि कृत कथाकोषप्रकरण की भूमिका, पृ० ७४।

२ वही, पृ० ६७।

३ बैल्लगकर जिनरत्नकोश, प्रथम खण्ड, पृ० ८४।

कथा और आख्यायिका

प्राकृत में कथा के लिए 'कथ' तथा आख्यायिका के लिए 'आइखिया' शब्द मिलते हैं। ठाणांगसुत्त में स्पष्ट रूप से कथा काव्य का एक भेद कही गयी है।^१ आख्यायिका का अर्थ अंग ग्रन्थों में 'वार्ता' या 'विवरण' प्राप्त होता है।^२ यद्यपि आरभ्यक ग्रन्थों और यास्क के निरुक्त में भी कथा शब्द देखा जाता है, पर वहाँ वह 'कथं' (क्यों, कैसे) का वाचक है।^३ इसी प्रकार 'आख्यान' शब्द कथन अर्थ में प्रयुक्त है। प्रतीत होता है कि पुराण-युग के पूर्व साहित्य में कथा का स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता था। जब से प्रबन्ध काव्यों में रसाभिनिवेश के लिए कथा की संयोजना हुई, संभवतः तभी से कथा का महत्त्व एवं गौरव प्रतिष्ठित हुआ। प्रबन्ध काव्य के रूप में आदि ग्रन्थ वाल्मीकीय रामायण का उल्लेख मिलता है पर उस के पूर्व भी कथाकाव्य लिखे जाते थे। रामायण में कथा कहने की प्राचीन परम्परा का संकेत मिलता है।^४ 'वार्ता' शब्द कथा से समीचीन जान पड़ता है। कालान्तर में वार्ता, विवरण, कथा आदि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया जाने लगा। महाकवि कालिदास ने 'वार्ता' अर्थ में इस का प्रयोग किया है।^५ किन्तु श्रीमद्भागवत में 'वार्ता' और 'कथा' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त हैं।^६ आचार्य चाणक्य के समय (ई० पू० चौथी शताब्दी) तक कथा शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता था। आख्यान और कथा से अभिप्राय तब 'कथन' प्रचलित था।^७ आ० भामह ने आख्यायिका और कथा दोनों का ही प्रयोजन 'अभिनय' माना है।^८ किन्तु रामायण में स्पष्टतः दोनों समान अर्थ के वाचक हैं।^९ वस्तुतः इस विषय में लक्षणग्रन्थकारों में विभिन्न मत हैं। सामान्यतः कथा का अर्थ

१ अउज्जिहे कब्बे गज्जे, पज्जे, करधे, गेये ।—स्थानांगसुत्त, ४, ४, ४३ ।

२ अट्ठाहोउत्ति पसिणाई कारणाई वाकरणाई आइखंति ।—ज्ञाताधर्मकथांगसुत्त, १, १, १३४ ।

३ यथा तु कथा च ऋज्ज्वा ऋज्जन्तं वा ।

ऋयादभ्याशमेव यत्तथा स्यात्, इति ।—ऐतरेयारण्यकम्, ३, १, ३ ।

४ सनत्कुमारो भगवात् पुरा कथितवान्कथाम् ।

भविष्ये चिदुषी मध्ये तत्र पुत्र समुद्भवम् ॥—रामायण, १, ८, ६ ।

५ अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ।—रघुवंश, ८, ४३ ।

६ यत्र भागवतो वार्ता तत्र भक्त्यादिकं ब्रजेत् ।

कथाशब्दं समाकर्ण्य तात्त्विकं तरुणायते ॥—श्रीमद्भागवत, ३, ६ ।

दुर्लभैव कथा शोके श्रीमद्भागवतोद्भवत् ।

कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते ॥—वही, ३, ४४ ।

७ कथानुरूपं प्रतिवचन ।—चाणक्यसूत्र, ३२८ ।

कथितं षष्ठ्युपाख्यानं ब्रह्मपुत्र यथागमम् ।

येनो मङ्गलचण्डो या तदाख्यान निशामयम् ।—महावैवर्तपुराण, अध्याय ४९, प्रकृति खण्ड ।

८ सर्गबन्धोऽभिनयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे ।—काव्यालंकार, १, ९८ ।

९ एतदाख्यानमायुष्यं पठत् रामायणं नरः ।

सपुत्रपौत्रः सगणः प्रेक्ष्य स्वर्गं गृहीयते ॥—वाल्मीकिरामायण, बासकाण्ड, १, ६६ ।

वार्ता तथा दृश्य और श्रव्य काव्य में वह काव्य की मूल निबन्धनी समझी जाती रही है।^१

‘आख्यान’ शब्द का सामान्य अर्थ ‘वृत्त’ या ‘विवरण’ कहा जाता है। किन्तु कथा की भाँति इस का सम्बन्ध इतिहास पुराण से होता है।^२ आ० विश्वनाथ ने पूर्व वृत्त (इतिहास) को ‘आख्यान’ कहा है।^३ वृत्त का अर्थ कथा भी है।^४ काव्यों की रचना विभिन्न आख्यानों में हुई है। यद्यपि आख्यायिकाओं का विकास आख्यान से कहा जा सकता है, पर साहित्यिक विधा में उन में अन्तर है। लोक में वार्ता, जनश्रुति और आख्यायिका का अर्थ समान रूप में प्रचलित रहा है। किसी समय आख्यान, आख्यायिका और कथा तीनों शब्दों का अर्थ एक था, पर आज उन में बहुत अन्तर है। अब ‘आख्यान’ का अर्थ पुराण-कथा तथा ‘आख्यायिका’ का लघुकथा एवं यथार्थ जीवन-वृत्त है। जीवन-वृत्त पहले भी ‘आख्यायिका’ के अन्तर्गत आते थे। छोटे-छोटे ऐतिहासिक वृत्त तथा जीवन-वृत्त भी आख्यायिका कहे जाते थे। बाण का ‘हर्षचरित’ प्रसिद्ध आख्यायिका रचना है, पर कादम्बरी कथा है। परन्तु कथा का प्रयोग अब सीमित नहीं है। उपन्यास, नाटक, कहानी, रूपक, नीति-दन्त-लोकवार्ताओं आदि में कथा प्रधान है और साधारणतः वही उन सब में मुख्य है। आधुनिक युग में ‘परीक्षागुरु’ से ले कर ‘परती : परिकथा’ तक विभिन्न रूपों में कथा-साहित्य की चर्चा की जाती रही है। शैली की दृष्टि से जो सूक्ष्म भेद उन में पहले था वह आज भी है; परन्तु वस्तु और विषय के भेद से युगान्तरकारी परिवर्तन मुख्यतः दिखाई देता है। संभव है कि अभी और परिवर्तन हो और आचलिक कथाओं से आगे लोकभाषाओं में वास्तविक लोक-कथाओं की रचना हो तथा नये-नये नाम-रूपों का प्रत्याख्यान हो।

अपभ्रंश में कथा को ‘कहा’ कहते हैं। प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी कथाओं के तीन प्रकार (Type) दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ कथाएँ प्रबन्ध हैं, जिन में महाकाव्य के गुण मिलते हैं और कुछ चरित्र प्रधान हैं जो प्रबन्धकाव्य की शैली में लिखी गयी हैं तथा कुछ धार्मिक विवरण मात्र हैं। अतएव स्वयम्भू को रामायण चरित्रकाव्य होने पर भी कवि ने उसे रामकथा कहा है।^५ इस से यह भी सूचित होता है कि अपभ्रंश के कवि चरित्र और कथा में अन्तर नहीं मानते थे। हस्तलिखित प्रतियों में भी ‘भविष्य-

१ यक्षकव्यास्तथा नाट्य पिशाच्य सुरयोजित ।

नशमायास्ति सुभगे नरनरोषु का कथा ॥—तन्त्रान्तोक्त, तृतीय आदिक ।

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संधिता ।

रचनाविषयायैश्च तत्तु किंचिद्विभेदवत् ॥—ध्वन्यालोक, ३, ६ ।

२ आख्यानानोतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥—मनुस्मृति, ३, २३२ ।

३ आख्यान पूर्ववृत्तोक्तिः ॥—साहित्यदर्पण, ६, २११ ।

४ नाटक स्यात्तद्वत् स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम् ॥—वही, ६, ७ ।

५ तिहुअजलगणअम्भु गुरु परमेष्ठिणवैष्णव ।

पुणु आरम्भिय रामकह आरिखु जोएप्पिणु ॥—पञ्चमचरित, १, १ ।

दत्तकथा' का नाम भविष्यदत्त चरित्र लिखा मिलता है। किन्तु वस्तु और रचना-भेद से उन में अन्तर मानना समीचीन है। डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन पुराण काव्य और चरित्र काव्य नाम से दो ही भेद मानते हैं।^१ उन का कथन है कि अपभ्रंश लेखक चरित्र और कथाकाव्य में कोई भेद नहीं करते। लेकिन यदि हम अपभ्रंश के कवियों के द्वारा अपने सम्बन्ध में कहे हुए विचारों को लक्षण मान कर चलें तो कई विरोध उपस्थित होते हैं। जैन पौराणिक साहित्य में सत्त्वसणवज्जण कथा स्वात आख्यानक है। अपभ्रंश में पं० भाणिकचन्द्र विरचित 'सत्त्वसणवज्जणकथा' अकेली रचना उपलब्ध हुई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कवि ने उसे 'चरित्र' और 'कथा' लिखा है, परन्तु शेष सभी स्थलों पर उसे कथा कहा है।^२ इस से स्पष्ट है कि वे इस प्रकार का कोई भेद नहीं मानते थे और न भेदमूलक विधा ही उन के सामने थी, पर आकार, रचना-वग्ध, सन्धि-निबन्ध, रीति आदि में कई रचनाएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। छोटी-छोटी कथाएँ नितान्त विवरणात्मक तथा पौराणिक हैं; जब कि बड़ी कथाएँ काव्यतत्त्वों से तथा अभि-प्रायों से भरपूर हैं। फिर, जीवन के छमूचे चरित्र का कीर्तन करना कथाओं का उद्देश्य नहीं है। वे किसी एक या विभिन्न घटनाओं से चमत्कृत हैं जो जनता पर प्रभाव डाल सकती हैं। यदि हम केवल कथा-काव्य को ही मानें तो महापुरुषों के जीवन-चरित्र का वर्णन करने वाली रचनाओं को भी कोई नाम देना होगा। क्योंकि अपभ्रंश कथाकाव्य की यह विशेषता है कि समाज का कोई भी व्यक्ति रचना का नायक हो सकता है। नायक बनने के लिए महापुरुष होने का नियम कथाकाव्य के लिए आवश्यक नहीं था। इसलिए कई लोककथाएँ इस साहित्य में प्रतिष्ठित दिखाई देती हैं।

आ० विश्वनाथ ने आख्यायिका को कथा की भाँति माना है। उस में कवि-वंश आदि का विवरण (स्वयं का तथा अन्य का) गद्य में कहा जाता है। वह आख्याओं में निबद्ध होती है।^३ द्रष्ट के मत में कथा की भाँति आख्यायिका भी गद्य में लिखी जाती है। अन्तर इतना ही है कि आख्यायिका में कवि का वंशवृत्त एवं आत्मचरित्र पद्य में नहीं होता।^४ द्रष्ट के विचारों को स्पष्ट करते हुए अधिकारी विद्वान् नमिसाधु ने लिखा है कि संस्कृत में कथा गद्य में तथा प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में अधिकतर पद्य में

१ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन : अपभ्रंश साहित्य, होलकर कॉलेज मैगजीन, १९४७-४८, पृ० १११।

२. मखें अखिम् जिह हउं लखमि सत्त्वसणवज्जणचरित्र ।—सत्त्वसणवज्जण कथा, १, १।

कहि सत्त्वसणवज्जणकथाणु ।—वही, १, १।

इय सत्त्वसणवज्जणकथाए ।—वही, गद्य।

३ आख्यायिका कथावत् स्वात् कथेशाधिकीर्तनम्।

अस्यामन्यकनीना च वृत्तं पद्यं वनचित् चरितम्।

कथाशानो व्यवच्छेद आवास इति मध्यते।

आयविन्यापकव्याणां छन्दो यो केनचित् ।—साहित्यदर्पण, ६, ३३१-३३६।

४. अथ तेन कथैव यथा रचनीयास्यायिकापि गद्येन।

निजवंशं स्वं आस्यामभिध्यान्न स्वगद्येन ।—काव्यालंकार, १६, २६।

लिखी जानी चाहिए ।^१ आचार्य हेमचन्द्र ने भी आख्यायिका को गद्ययुक्त माना है । वस्तुतः कथा का मूल अन्तर छन्द, कथावस्तु तथा शैली पर निर्भर है । कथा में कथा-वस्तु कल्पित, अधिकतर आश्वासनादि रहित गद्य में लिखित (हेमचन्द्र के अनुसार पद्य में भी) तथा पद्यों में लिखित कविवशवत् से युक्त होती है । किन्तु आख्यायिका में वस्तु ऐतिहासिक, आश्वास आदि में विभक्त तथा गद्य में लिखित कविवृत्त से युक्त होती है ।^२

कथा का स्वरूप

कथा प्रबन्ध की मूल वस्तु है । उस में वस्तु-विवरण मुख्य होता है, किन्तु घटनाओं का विस्तार भी महत्त्वपूर्ण नहीं होता । कथा को गतिशील बनाये रखने के लिए काव्य में घटनाओं को योजना तथा अवान्तर कथाएँ भी सम्बद्ध देखी जाती है । इसी लिए सम्भवतः आलंकारिकों ने कथा को अलग से काव्य का भेद नहीं माना । किन्तु इस देश की लगभग सभी भाषाओं में पौराणिक और आधुनिक कथा-साहित्य वर्तमान है । आ० भामह ने कथा को इतिहासाश्रय कहा है ।^३ इस से यह भी संकेत मिलता है कि पुरावृत्त तथा आख्यान जन-जीवन में शताब्दियों से प्रचलित रहे हैं । यद्यपि संरचना में तथा रूपों में आश्चर्यजनक परिवर्तन होता रहा है, पर कथा अत्यन्त प्राचीन काल से कही जाती रही है और बाद में भी लिखी जाती रही है और लिखी जाती रहेगी—भले ही प्रकारगत रूपों में भेद बना रहे । क्योंकि वह ऐसी वार्ता होती है जिसे कहे बिना मनुष्य अपनी भावनाओं में बैठ कर रह नहीं सकता ।

गद्य प्रबन्ध के दो भेद कहे गये हैं—आख्यायिका और कथा । दण्डी के अनुसार कथा और आख्यायिका में मौलिक भेद नहीं है ।^४ हेमचन्द्र ने कथा और आख्यायिका का भेद नायक के आधार पर किया है । कथा का नायक वीर शान्त और आख्यायिका का क्वात होता है । कथा सभी भाषाओं में तथा गद्य-पद्य में कही जाती है, पर आख्यायिका केवल संस्कृत में तथा गद्य में^५ । कथा में उच्छ्वासो का विभाग तथा वक्त्र, अपरवक्त्र में निबद्ध होने का संस्कृत में नियम नहीं है ।^६ किन्तु प्राकृत, अपभ्रंश में प्रायः कथाएँ सन्धि, परिच्छेद तथा आश्वासो में निबद्ध मिलती हैं । अधिकतर कथाएँ पद्यबद्ध हैं, पर संस्कृत में गद्य में ही लिखी गयी है । आ० आनन्दवर्द्धन के कथन से और भी स्पष्ट हो

१ इत्येव मस्कतेन कथां कुर्यात् । प्रप्रेन प्राकतादिभावान्तरेण स्वगद्येन गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात् ।

—नमिमाधु 'काव्यालंकार' की टीका, १६, २३ ।

२ शब्दशब्दोऽभिधानार्था इतिहासाख्या कथा ।

लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यैर्हर्षमो ॥ —काव्यालंकार १, ६ ।

३ तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयव्यक्तिता । —काव्यादर्श, १, २८ ।

४ नायकमयानस्वकृता भावयर्थशसितकथादि स्तोत्रनासा मस्कृता गद्ययुक्ताख्यायिका । यथा—हर्षचरितादि । धीशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा । गद्यमयी—कादम्बरी, पद्यमयी—नीलावती । —काव्यानुशासन, अध्याय ८ ।

५ आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता । कथा तद्विवरिता ।

—अभिनवगुप्त 'ध्वन्यालोकलोचन', ३, ७

जाता है कि कथा में बिकट बन्ध की प्रचुरता होने पर भी यद्यपि उस से सम्बन्ध तथा औचित्य पूर्ण होना आवश्यक है।^१ इस प्रकार डॉ० जानन्दबर्द्धन काव्य के सम्बन्ध में रचनाविधि की जिस मान्यता को आवश्यक बताते हैं, कथा के सम्बन्ध में भी उसी को दुहराते हैं।

प्रबन्ध और कथाकाव्य

वस्तु रूप से प्रबन्ध और कथाकाव्य में कोई अन्तर नहीं है। यदि कोई भेदक रेखा खींचनी हो पड़े तो वह शैली भेद के अनुसार निर्धारित होगी। संरचना में भी कहीं-कहीं भेद देखा जाता है पर वह बहुत ही सूक्ष्म है और सभी रचनाओं में नहीं मिलता। अतएव यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के प्रबन्ध और कथाकाव्य में कोई अन्तर नहीं है। डॉ० भायाणो तो स्वरूप की दृष्टि से पौराणिक और चरितकाव्य में बहुत अन्तर नहीं मानते। रचना-प्रकार दोनों में समान होता है। दोनों ही सन्धिबद्ध होते हैं। चरितकाव्य में विषय सीमित और सन्धियों की संख्या कम रहती है, पर पौराणिक काव्य में विषय विस्तृत तथा सन्धियों की संख्या पचास से सवा सौ तक होती है।^२ किन्तु दोनों में अन्तर सन्धियों का नहीं है, विषय और शैली का है। उदाहरण के लिए—यश-कीर्ति का पाण्डवपुराण चोतीस सन्धियों की, हरिवंशपुराण तेरह सन्धियों की तथा श्रुतकीर्तिकृत हरिवंशपुराण चवालीस सन्धियों की और बुध विजयसिंह रचित 'अजितपुराण' दस सन्धियों की रचना है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह अपभ्रंश के काव्यों को दो प्रकार की शैलियों में लिखे हुए मानते हैं।^३ वस्तुतः शैलीभेद स्पष्ट देखा जा सकता है और इसी लिए 'पउमचरित', 'हरिवंशपुराण' और 'महापुराण' जिस शैली में और बन्ध-रचना में निबद्ध हैं वह हमें 'णायकुमारचरित' में नहीं दिखाई देती तथा उन से भिन्न 'भविष्यत्तकथा' और 'सिद्धचक्रकथा' में दृष्टिगोचर होती है।

कथाकाव्य का स्वरूप

यद्यपि अपभ्रंश में कथा और चरित काव्यों की प्रचुरता है, पर साहित्य के अन्य अंगों पर लिखी जाने वाली रचनाओं का सकेत उन में मिलता है। अन्तर दर्शाने के लिए हम चरित और कथाकाव्य में वस्तु-विवरण, आकार तथा शैली-भेद मान सकते हैं। चरितकाव्य पुरुष विशेष या त्रैलोक्यालोकपुरुषों के जीवनचरित से सम्बद्ध होते हैं और कथाकाव्य जन सामान्य के जीवन से। महापुराणों में स्पष्ट ही त्रैलोक्यालोक-पुरुषों के समूचे जीवन के साथ ही उन के पूर्व भवो, प्राथमिक विभिन्न घटनाओं, अवान्तर कथाओं तथा जीवन से सम्बद्ध सभी कार्य-व्यापारों का विवरण अतिशयता के

१. कथाया तु बिकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य सम्बन्धात्मकमौचित्यमनुसर्तव्यम्।—ध्वन्यालोक, ३.८।

२. डॉ० हरिवंशभायाणी 'पउमसिरीचरित' की भूमिका, पृ० १५।

३. डॉ० शम्भुनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्यका स्वरूप-विकास, प्रथम संस्करण, पृ० १७३।

साथ वर्णित मिलता है। किन्तु चरित काव्यों में उद्देश्य विशेष से नियोजित पौराणिक कथावस्तु पौराणिक या लोकशैली में वर्णित होती है। पुराण-काव्यों में साहित्यिक सौष्ठव के दर्शन और सैद्धान्तिक विचारों का समन्वय भी मिलता है। प्राकृत से ही कथाकाव्य प्रबन्ध के रूप में मिलने लगते हैं। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में सन्धिनिर्वाह तथा काव्य रुद्धियों का पूर्ण औचित्य दिखाई देता है। उपलब्ध सभी कथाकाव्य सन्धियों में विभक्त है। उन में एक से अधिक रसों का परिपाक है। कथा के विकास में नाटक में प्राप्त होने वाले तत्त्वों की पूर्ण संयोजना देखी जाती है। घटनाओं में भी कार्यकारण योजना समान रूप से व्याप्त है। उन में घासिक प्रभाव वातावरण तथा कथानक से लिपटा रहता है। जिन कथाकाव्यों की वस्तु लोक-जीवन से गृहीत है उन में विस्मयकारी घटनाओं का योग भी मिलता है।

कथाकाव्य प्रबन्ध का ही काव्यात्मक भेद है, जिस में शास्त्रीयता से हट कर काव्य रूप का विकास देखा जा सकता है। उस में लक्षणप्रबन्धकारों द्वारा प्रतिपादित कुछ बातों को छोड़ कर सभी गुणों का पूर्ण समावेश प्राप्त होता है। शैली तथा वर्णन की प्रवृत्ति और शिल्प-संरचना में अन्तर अवश्य है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह के मत में कथा-काव्यों की भाँति प्रबन्धकाव्य में लोकतत्त्वों और कथानक रुद्धियों की अधिकता नहीं होती है, जिस से उस में कथाकाव्यों की तरह की एकरूपता और एकरसता नहीं होती। इस प्रकार सामान्य रूप से अपभ्रंश में प्रबन्ध और कथाकाव्य में कोई भेद नहीं होता। क्योंकि प्रबन्ध का भाँति, प्रकृति का जीवन का अंग बन जाना, साहित्यिक रुद्धियों का पालन, अलंकारों का भावों के पीछे चलना, नाटकीय सन्धियों से समन्वित होना, सन्धिबद्ध होना, सन्धि के अन्त में छन्द में परिवर्तन हो जाना, कथा का विकास मनोवैज्ञानिकता के साथ होना तथा ग्राम नगर, प्रकृति आदि का वर्णन आदि विशेषताएँ कथाकाव्य में भी दिखाई देती हैं। फिर, डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने परम्परागत परिभाषा के अनुसार अपभ्रंश के पुराण, चरित और कथाकाव्य भेदों को निराधार बताया है, पर प्रबन्ध काव्य मानते हैं^१। किन्तु डॉ० नामवर सिंह कल्पित अथवा लोक-कथा के आधार पर लिखे गये आख्यान-काव्य को कथाकाव्य कहते हैं^२। वास्तव में अपभ्रंश में लिखे गये कथाकाव्य चरितकाव्यों से भिन्न हैं, जिन का स्पष्ट अन्तर 'कथाकाव्यानुशीलन' के प्रसंग में विवेचित है।

कथाकाव्य और चरितकाव्य में अन्तर

कई बातों में अपभ्रंश के कथाकाव्य और चरितकाव्य में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। वस्तु की दृष्टि से कथाकाव्य में लोकवार्ताएँ काव्य रूप में निबद्ध हैं, जिन्हें

१ हिन्दी साहित्यकोश, पृ० ४७८।

२. डॉ० शम्भुनाथ सिंह : 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास', प्रथम संस्करण, पृ० १७४-७५।

३. डॉ० नामवर सिंह : 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग', तृतीय परिवर्धित संस्करण, पृ० २१२।

कवि की कल्पना ने जातीय अभिप्रायों तथा कथानक रुढ़ियों में गूँथ दिया है। किन्तु चरितकाव्य को कथावस्तु पुराणों से उद्धृत एवं ऐतिहासिक अनुभूतियों से सम्बद्ध देखा जाता है। सामान्यतः कथा या कथाकाव्य की वस्तु कथित अथवा कल्पनाओं से अनुरंजित होती है। संस्कृत भाषा में लिखित कादम्बरी ऐसी ही रचना है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों को कथाएँ इस देश के विभिन्न-प्रदेशों में प्रचलित लोक-कहानियों के रूप में आज भी जनश्रुतियों से सुनने को मिल सकती हैं। जिन्हें सुन कर यह निश्चय हो जाता है कि कथाकाव्य के रूप में प्रयुक्त कथाएँ जन-मानस को लोककथाएँ हैं, जो उद्देश्य विशेष से काव्य में नियोजित हुई हैं। और इसी लिए कथा एक उद्देश्य या ध्येय ले कर कही जाती है और जहाँ उस की पूर्णता होती है, वही काव्य की समाप्ति हो जाती है। किन्तु चरितकाव्यों में यह बात नहीं मिलती।

चरितकाव्य में नायक के समूचे जीवन की विभिन्न घटनाओं तथा संघर्षों का वर्णन होता है। इस लिए आ० आनन्दवर्द्धन ने इसे सकलकथा कहा है और आ० हेमचन्द्र सकलकथा को ही चरितकाव्य कहते हैं।^१ हरिभद्रसूरि का 'नेमिनाथचरित' (नेमिनाथचरित) चरितकाव्य है। किन्तु उस के अन्तर्गत सनत्कुमार की कथा 'कथा' है, जिसे खण्डकथा कहा जा सकता है।^२ वस्तुतः हेमचन्द्र की परिभाषा के अनुसार अपभ्रंश के कथाकाव्य वस्तु रूप में बृहत्कथाएँ हैं जो चरितकाव्य जैसे जान पड़ते हैं।^३ अतएव किसी रचना के पीछे 'चरित' शब्द जुड़ा होने से हम उसे चरितकाव्य नहीं मान सकते। क्योंकि स्वयम्भू कृत 'रिटुणेमिचरित' निश्चय ही चरितकाव्य न हो कर महाकाव्य है। संस्कृत में भी 'दशकुमारचरित' प्रसिद्ध कथाकाव्य है जो गद्यकाव्य का उत्तम निदर्शन माना जाता है। इसी प्रकार किसी काव्य के पीछे 'कथा' या 'कथा' शब्द जुड़ा होने से वह कथाकाव्य ही नहीं हो सकता। उस का पूरा विचार किये बिना कुछ नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, नरसेन रचित तथा जयमित्रहल विरचित 'वर्द्धमानकथा' कथाकाव्य न हो कर चरितकाव्य है। वस्तुतः काव्य के नाम के पीछे कथा, चरित, विलास, रास, काव्य और विजय आदि शब्द जोड़ देने से वह रचना उस अभिधा की बाधक नहीं हो सकती। यद्यपि कुछ नामों की सार्थकता भी मिलती है, पर उत्तरवर्ती मध्ययुगीन साहित्य में कई रचनाओं के पीछे उक्त नाम जोड़ देने की रुढ़ि ही प्रचलित हो गयी थी। इस लिए उन में से वस्तुपरक रचना का निर्णय करना कठिन-सा प्रतीत होता है। संस्कृत के अधिकांश चरितकाव्य ऐतिहासिक व्यक्ति को ले कर लिखे गये हैं। किन्तु कथाकाव्य की वस्तु लोकप्रचलित या उत्पाद्य होती है।

१. सकलकथेति चरितनिरूप्य । — काव्यानुशासन, ८८ की वृत्ति ।

२. ग्रन्थान्तरप्रसिद्धं मस्यामिति वृत्तमुच्यते विभुषं ।

मध्याहुपान्ततो वा सा खण्डकथा यथेष्टमती । वही ।

३. सम्भाविकताद्भिधुतार्था विशाखभाषायमी महाविषया ।

नरबाहुनदत्तादौचरितनिब बृहत्कथा भवति । वही ।

उत्पाद्य वस्तु हमें तीन रूपों में मिलती है — कवि-कल्पना प्रसूत, लोक-जीवन में प्रचलित तथा जनश्रुतियों से अथवा पुराणों से मुहूर्त लोककथा । अतएव वस्तु के भेद से कथा-काव्य और चरितकाव्य में स्पष्ट अन्तर है ।

यथार्थ में चरित लोक में देखा जाता है, काव्य में तो कथा ही उस को चेतना होती है । कथा तथा कथा काव्य में कहानी के तत्त्वों का समावेश रहता है । इस लिए जन में आदि से अन्त तक निज्ञासा, कुतूहल, गतिशीलता, संयोग, वैबी संयोग, संघर्ष तथा जीवन का कोई तथ्य कथा में परिष्कार रहता है । परन्तु चरितकाव्य में कथा एक-एक कर चलती है । उस में नायक के चरित का ही विस्तार से कीर्तन होता है । और नायक का फल ही काव्य-रचना का फलगम माना जाता है । अतएव कार्यावस्थामें के भेद से भी इन दोनों में अन्तर दर्शाया जा सकता है ।

काव्य में कार्य को मुख्य पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं । इन का सम्बन्ध अर्थ-प्रकृतियों से रहता है । अर्थप्रकृति प्रयोजन की सिद्धि के लिए हेतु रूप है । कथा में अवस्था और अर्थप्रकृति को जोड़ने वाली सन्धि होती है । गर्भ सन्धि से ही दृष्ट प्राप्ति का बीज रूप जाता है । यह बीज प्राप्त्याशा और पताका की मिलन की स्थिति में स्फुट होता है । किन्तु आ० घनंजब के अनुसार पताका का होना आवश्यक नहीं है । बिना पताका के भी प्राप्ति सम्भव है ।^१ अतएव कथा में पताका अनिवार्य रूप से नहीं मिलती । इसी प्रकार पंच सन्धियों का भी पूर्ण समावेश कथा काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होता । किन्तु चरित काव्य में मिलता है । आ० भरत मुनि ने—सहेतुक पंचसन्धियों से हीन रचना भी विहित मानी है ।^२ वस्तुतः पताका और प्रकरी तथा विमर्श सन्धि आदि का पूर्ण निर्वाह कथाकाव्य में लक्षित नहीं होता । यदि हम पाश्चात्य समीक्षकों के अनुसार कथानक की अवस्था का विचार करें तो हमें कथा में एक के बाद एक घटनाओं का उठना, उतार-चढ़ाव, चरम परिणति, निगति तथा क्षमन आदि छोटी अवस्थाएँ दृष्टि-गोचर होती हैं । लेकिन चरितकाव्य में कथा के इन तत्त्वों का निर्वाह नहीं मिलता ।

अपभ्रंश के आलोच्यमान कथाकाव्यों में कथा की सब से बड़ी जो विशेषता दिखाई देती है वह यह कि नायक, प्रतिनायक या अन्य कोई पात्र कथा को संक्षेप में दुहराते हैं । उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त भविष्यानुकथा को घर से चल कर वहीं तक पहुँचने तथा भाई के छल-कपट की घटनाओं को सुनाता है । और जब घर वापस लौट

१. गर्भस्तु दृष्टान्तस्य बीजस्यान्वेषणं सुहुः ।

द्विदशाश्च पताका स्यात् वा स्यात्प्राप्तिर्भवः ॥ —दशरूपक, १, ३६ ।

२. पूर्णसन्धि तु तात्कार्यं हीनसम्बन्धि वा पुनः ।

नियमारपञ्चसन्धि स्याद् हीनसम्बन्ध कारणतः ॥ —नाट्यशास्त्र, १६, १८ ।

रूपकगत चरित-रचना की पृथक् अधिधा ही 'प्रकरण' है । यथा—

निप्रलम्बसन्धिवानां पुरोहितामर्यसाम्यवहानाम् ।

चरितं यत्रैकविधं द्वयं तत्प्रकरणं नाम ॥ —बही, १८, ६६ ।

कर पहुँचता है तब माता को बापस आने तक की समस्त घटनाओं को कह सुनाता है। इसी प्रकार राजा के यहाँ राजसूत्र में फिर से सभी घटनाएँ दुहरायी जाती हैं। चरित-काव्य में कथा का यह गुण नहीं मिलता। कई विद्वान् कथानक के दुहराने को कवि की असमर्थता कह कर दोषोद्भावना कर सकते हैं।^१ क्योंकि संस्कृत के वाल्मीकि रामायण, रघुवंश आदि महाकाव्यों में कवि अपनी कुशलता से कथा को दुहरा नहीं सके हैं। यह सच है कि महाकाव्य में कथा को आवृत्ति दोषमूलक ही है। किन्तु कथा में वस्तु-विवरण के साथ ही स्थान-स्थान पर पात्रों के मुख से पूर्व घटनाओं का आकलन तथा वर्णन करना ही पड़ता है। प्रसंगत। उस में कई कथासूत्रों की भी योजना होती है। यदि कवि ऐसा न करे तो कथा कथा न रह कर घटना मात्र रह जायेगी। अतएव संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तथा अन्य भारतीय भाषाओं की कथाओं में यह गुण विशेष रूप से देखा जाता है। उदाहरण के लिए, जिनदत्त जब राजा की कन्या से विवाह करने के लिए तैयार हो जाता है तब राजा उस का परिचय चाहता है। अब उस का परिचय, वहाँ आने का कारण चाहे जिनदत्त स्वयं बताये अथवा राजा से और कोई वहे, कहना तो पड़ेगा ही। इसी प्रकार जब उस की पत्नी साम-ससुर के सम्बन्ध में, ससुराल के सम्बन्ध में जानकारी चाहे तब जिनदत्त को बताना ही पड़ेगा। अतएव कथा का यह दोष न हो कर गुण ही है। इसी प्रकार घर लौटने पर स्वजनों, माता-पिता से भी बाहर जाने-आने की कथा पृष्ठने पर सुनानी ही पड़ेगी। और फिर, कथा में कहानी कहना ही मुख्य है। इस लिए किसी-किसी कथा में अवान्तर कथाएँ भी ऐसी जुड़ जाती हैं जिन का आधिकारिक कथा से तनिक भी सम्बन्ध नहीं होता। जिनदत्त का सिंहलद्वीप में राजकुमारी को कथा सुनाना ऐसी ही घटना है। परन्तु कथा में—हम इन वस्तुओं को व्यर्थ नहीं मान सकते; क्योंकि कथा धार्मिक या लौकिक हो कर भी किसी न किसी अभिप्राय से कही जाती है। यह बात सभी कथा तथा कथाकाव्यों के सम्बन्ध में चरितार्थ होता है। इसी लिए हिन्दी में 'मधुमालती' एक कथाकाव्य है; किन्तु रामचरित-मानस चरितकाव्य है। चरितकाव्य में जीवन की समूची घटनाओं का तथा नायक के चरित्र का विशेष रूप से वर्णन रहता है। तमिल भाषा का जीवकचिन्तामणि जीवन्धर स्वामी की पौराणिक कथा को ले कर जन्म से निर्वाण तक की सम्पूर्ण घटनाओं एवं जीवन-चरित्र का वर्णन करने वाला चरितकाव्य है।^२ यही दोनों में अन्तर है।

कथा और काव्य के भेद

संस्कृत में कथा गद्यकाव्य के अन्तर्गत परिगणित की गयी है। क्योंकि संस्कृत भाषा में आख्यायिकाएँ और कथाएँ प्रायः गद्य में ही लिखी गयी हैं। किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में पद्यबद्ध मिलती हैं। तरंगवती (पादलिताचार्य), तरंगलोला, मही-

१. सी० एस० मल्लिनाथन् : तमिल-भाषा का जैन साहित्य, पृ० ८, जयपुर, १९६१।

पालकथा (वीरदेवगणि), धनदत्तकथा (अमरचन्द्र), सद्यवत्सकथा (हर्षवर्द्धनगणि), वत्सरीजकथा तथा सर्वांगमुन्दरीकथा प्राकृत के प्रमुख कथाकाव्य हैं ।

जैन आगम में कथा और विकथा के भेद से उन के कई भेदोपभेद मिलते हैं । आ० जिनसेन ने त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की कथन करने वाली कथा कही है ।^१ इस लिए सामान्यतः धर्म, अर्थ और काम के भेद से तीन प्रकार की कथाएँ कही जाती हैं । ये तानों प्रकार की कथाएँ वस्तुतः धर्ममूलक होती हैं । अतएव संयम में बाधक वचन-पद्धति (अश्लोल) विकथा कही गयी है ।^२ धर्मकथा के चार भेद हैं — आश्लेषिणी, विक्षेपिणी, संवेदनी और निर्वेदिनी ।^३ इसी प्रकार विकथा के भी चार भेद हैं — स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और वेशकथा ।^४ धर्मकथा के चारों भेदों में से प्रत्येक के चार-चार उपभेदों का विवरण मिलता है ।^५ इसी प्रकार विकथा के प्रत्येक भेद चार-चार उपभेदों में स्थानांगसूत्र के चतुर्थ अंग में विभाजित दृष्टिगोचर होते हैं । वस्तुतः कथा-विकथाओं का यह भेद एकदम पौराणिक तथा कूट है । क्योंकि कथाओं के मूल में धार्मिक भावनाएँ तथा सामाजिक अभिप्राय ही लक्षित होते हैं ।

अग्निपुराण में गद्यकाव्य के पाँच भेद कहे गये हैं^६ — आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानक । आ० रुद्रट ने प्रबन्ध काव्य के मुख्य दो भेद माने हैं — उत्पद्य (कल्पित) और अनुत्पद्य (पौराणिक या ऐतिहासिक) । आकार में बड़े महाकाव्य, महाकथा आदि कहे जाते हैं तथा छोटे लघु काव्य, लघु कथा इत्यादि ।^७ आ० आनन्दवर्द्धन ने बन्ध की दृष्टि से तथा वस्तु को ध्यान में रख कर परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा तथा आख्यायिका आदि भेदों का उल्लेख किया है ।^८ लेकिन आ० हेमचन्द्र ने कथा के सब से अधिक भेदों की चर्चा की है । उन के मत में आख्यायिका, निदर्शन, प्रवर्तिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा और उपकथा ये नौ कथा के भेद हैं ।^९

१ पुरुषार्थोपयोगिन्वास्त्रिवर्गकथनं कथा ।

तत्रापि सत्कथा धर्म्यामामनन्ति मनीषिणः ॥—महापुराण, प्रथम पर्व, ११८ ।

२ संयमनाधक्येन वचनपद्धतिर्विकथा ।—स्थानांगसूत्र सटीक, पूर्वार्ध ।

३ महापुराण, १. १३७ । स्थानांगसूत्र में संवेदनी और निर्वेदिनी के स्थान पर संवेगिनी और निर्वेगिनी नाम मिलते हैं । देग्विण, बही, सटीक, ४, २, २८२ ।

४ समवायांगसूत्र, १. ४ ।

५ ज्ञानचन्द्र 'जैनगमों में कथा-साहित्य का वर्गीकरण' 'साहित्य' मासिक वर्ष १२, अंक २, पृ० ४७ ।

६ गद्य पद्य च मिथं च काव्यादि त्रिविधं रम्यत्वम् ।

आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा ।

कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्य च पञ्चधा ॥—अग्निपुराण, ३३७.१२ ।

७ सन्ति द्विधा प्रबन्धा काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये ।

उत्पाद्यानुत्पाद्या महन्तपुत्वेन स्रयोऽपि ॥—काव्यालंकार, १६, १ ।

८ पर्यायबन्धः परिकथा खण्डकथा सकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे—इत्येवमादयः । तदाध्येणापि सघटना विशेषवती भवति ।—ध्वन्यालोक, १, ७ ।

९ हेमचन्द्र 'काव्यानुशासन, आठवाँ अध्याय ।

मुख्यरूप से कथा या कथावस्तु दो प्रकार की होती है — उत्पद्य और अनुत्पद्य। उत्पद्यकथा में कवि या लेखक की कल्पना तथा मौलिकता का प्राधान्य रहता है, किन्तु अनुत्पद्य में पौराणिक या ऐतिहासिक कथा को ज्यों-का-त्यों अपना लिया जाता है। उत्पद्य कथा भी दो रूपों में देखी जाती है — लोक कथा और दृष्टान्त कथा। प्रायः लोक कथाएँ मनगढ़न्त होती हैं। आ० हेमचन्द्र के अनुसार सकलकथा और खण्डकथा मे वस्तु का अन्तर विशेष है। सकलकथा ही चरितकाव्य है। सकलकथा तथा खण्डकथा में कोई विरोध नहीं है^१ — शैली की दृष्टि से। कथाकाव्य में भी यही बात लक्षित होती है। अपभ्रंश में पद्यबद्ध सरस कथा से युक्त काव्य ही कथाकाव्य की संज्ञा से अभिहित है। प्राकृत की दीर्घ परम्परा में ही इन का विकास हुआ है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार प्रबन्धकाव्य में मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य होता है जो इन कथाकाव्यों में भलीभाँति प्राप्त होता है। उन में पद्यावत, रामचरितमानस आदि प्रबन्धकाव्यों की भाँति मर्मस्थल, संवाद, प्रकृति-वर्णन, घटनाओं में सम्बद्धता और स्वाभाविक क्रम तथा रसात्मकता का सन्निवेश लक्षित होता है। इस लिए हम सरलता से उन्हें प्रबन्धकाव्य की कोटि का मान सकते हैं। शैली के अनुसार प्रबन्धकाव्य के कथाकाव्य, चरितकाव्य (पुराणकाव्य), प्रेमाख्यानक और ऐतिहासिक काव्य भेद माने जा सकते हैं। क्योंकि 'भविष्यदत्तकथा' जैसे लोकाख्यानक काव्यवस्तु रूप में चरित काव्य न हो कर शुद्ध कथाकाव्य है, जिन में वस्तुव्यंजना के साथ ही लोकजीवन की यथार्थ झलक मिलती है। यदि इन काव्यों में से धार्मिक तत्त्व अलग कर दिया जाय तो लोककथा मान रखी जाती है। इन के लिखने का उद्देश्य भी चरित-कीर्तन न हो कर व्रत का माहात्म्य प्रदर्शित करना है, जो प्रत्येक धार्मिक कथा का अभिप्राय होता है। अपभ्रंश साहित्य में ऐसी कथाएँ पौराणिक न हो कर अनुश्रुतियों पर आधारित रही हैं। गौतम गणधर के संवाद के रूप में ये युग-युगों से प्रचलित परम्परा में कही-सुनी जाती रही हैं। संस्कृत के कवि विबुध श्रोधर ने इस ओर संकेत भी किया है।^३ फिर, त्रैलोक्यशलाकापुराणों के चरित लिखने की प्रथा विशेष रूप से जैन साहित्य में देखी जाती है। यद्यपि परवर्ती काल में धन्यकुमार, चारुदत्त, प्रद्युम्नकुमार आदि से सम्बन्धित चरित काव्य भी लिखे गये, किन्तु वस्तुव्यंजना के साथ ही उन में पौराणिकता विशेष दिखाई देती है। उन में लोककथाओं का बहुरस प्राप्त नहीं होता जो कथाकाव्यों में व्याप्त है। इस के अतिरिक्त सघटना में भी अन्तर मिलता है। अतएव काव्यगत शैली तथा वस्तु के अभिनिवेश को ध्यान में रख कर कथाकाव्य और चरितकाव्य जैसे भेदों को मान लेने में कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता है। जन-जीवन की सामान्य घटनाओं का वर्णन

१. खण्डकथासकलकथावस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्तदीयसमासायामपि न विरोधः ।—ध्वन्यालोक, ३, ७।

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल : पद्यावत (जायसी-ग्रन्थावली) की भूमिका, पृ० ६६।

३. क्लृप्ते ज्ञाता मयाप्यपरसूरिमुखांशुभेभ्यः । भविष्यदत्तचरित्र, १६, ६२।

करने वाली रचनाएँ भारतीय साहित्य की प्राचीन परम्परा में कम ही मिलती हैं इस लिए इन्हे विधा-विशेष में वर्गीकृत किया जाय तो उचित ही होगा । फिर, व्रतमूलक कथाओं को किसी न किसी नाम से अभिहित करना होगा । अतएव निरी उपदेशात्मक कथाओं से प्रबन्धात्मक कथाओं का पृथक् अभिधान 'कथाकान्य' नाम से करना समीचीन होगा ।



तृतीय अध्याय

भविष्यत्कथा : एक अध्ययन

परिचय

भविष्यत्कथा अपभ्रंश के प्रकाशित कथाकाव्यों में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस के रचयिता कवि धनपाल हैं। यह काव्य बाईस सन्धियों में निबद्ध है।^१ इस में श्रुतपंचमी व्रत के फलवर्णन स्वरूप भविष्यदत्त की कथा का वर्णन है। इस लिए इसे श्रुतपंचमी कथा भी कहते हैं। इस का प्रकाशन सब से पहली बार एच० जेकीबी ने सन् १९१८ में मचन (जर्मन) में कराया था। अपभ्रंश भाषा के प्रकाशित होने वाले काव्यों में यह सर्वप्रथम काव्य है। भारतवर्ष में इसे प्रकाशित करने का श्रेय सो० डी० दलाल और पी० डी० गुणे को है। पहली बार यह प्रबन्ध काव्य सन् १९२३ में गायकवाड़ ओरियण्टल सोरिज, बड़ौदा से प्रकाशित हुआ था। पहले भाषा की दृष्टि से इस का महत्त्व आँका जाता था, पर अब काव्य-कला, लोक-तत्त्व, देशी शब्द और भाषा आदि की दृष्टि से यह रचना और भी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। वस्तु और शैली में भी विशेषता दृष्टिगोचर होती है। इसी लिए इस रचना ने विद्वानों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकृष्ट किया है।

यद्यपि कवि धनपाल के सम्बन्ध में विशेष जानकारी अभी तक नहीं मिल सकी है, पर स्वयं ग्रन्थकार ने अपना जो परिचय दिया है वह संक्षिप्त होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। कवि ने धनकड नामक वैश्य वंश में जन्म लिया था। पिता का नाम माएसर (मातेश्वर) और माता का नाम धनश्री था।^२ कहा जाता है कि उन्हें सरस्वती का वर प्राप्त था।^३ अन्य किसी रचना के लिखे जाने का उल्लेख इस काव्य-ग्रन्थ में नहीं मिलता। अतएव कवि के समय का निर्धारण करना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है। अकेली इस रचना के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कवि प्रतिभाशाली विद्वान् रहे होंगे और उन्होंने अन्य रचनाएँ भी लिखी होंगी। किन्तु आज उन को खोज निकालना असम्भव सा प्रतीत होता है। क्योंकि धनपाल नाम के कई विद्वानों का पता लगता है। पं० परमानन्द शास्त्री ने धनपाल नाम के चार विद्वानों का परिचय दिया है।^४ ये चारों ही भिन्न-भिन्न काल के विभिन्न विद्वान् हैं। उन में

१. विरहल एउ चरित धनपालि बिहि खण्डहि बाबीसहि सन्धिहि । २२, ६ ।

२. धनकडनणिर्वसि माएसरहु मधुम्भविणि ।

धनसिरदेवि सुएण विरहल सरसइ मधुम्भविणि । २२, ६ ।

३. चिन्तिय घणबाले बणिबरेण सरसइ बहुनद्ध महाबरेण । १, ४ ।

४. पं० परमानन्द जैन शास्त्री 'धनपाल नाम के चार विद्वान् कवि' अनेकान्त, किरण ७-८, पृ० ८२ ।

से दो संस्कृत भाषा के विद्वान् तथा ग्रन्थ रचयिता थे और दो अपभ्रंश के । संस्कृत के पहले धनपाल राजा भोज के आश्रित थे, जिन्होंने 'तिलकमंजरी' और 'पादयलच्छी' ग्रन्थों की रचना 'दसवीं शती' में की थी । दूसरे धनपाल तेरहवीं सदी के कवि हैं । उन के द्वारा लिखित 'तिलकमंजरीसार' नामक ग्रन्थ का ह्ये अब तक पता लग पाया है । तीसरे धनपाल अपभ्रंश भाषा में लिखित 'बाहुबलिचरित' के रचयिता हैं, जिन का समय पन्द्रहवीं शताब्दी है । ये गुजराज के पुरवाड वंश के तिलक स्वरूप थे । इन की माता का नाम सुहृदा देवी और पिता का नाम सेठ सुहृदप्रभ था ।^१ चौथे धनपाल आलोच्यमान प्रमुख कथाकाव्य के लेखक धक्कड़ वंश में उत्पन्न हुए थे । धर्मपरीक्षा के कर्ता कवि हरिपेण भी इसी वंश के थे । धर्मपरीक्षा का रचना-काल वि० सं० १०४४ है । महाकवि वीर कृत 'जम्बूद्वामी चरित' में भी मालव देश में धक्कड़ वंश के तिलक महामूदन के पुत्र तक्कड़ु श्रेष्ठी का उल्लेख मिलता है ।^२ देलवाड़ा के वि० सं० १२८७ के तेजपाल वाले शिलालेख में भी धक्कड़ जाति का उल्लेख है । इस से पता लगता है कि दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक यह वंश अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है । अतएव 'भविस्यत्तकहा' के लेखक धनपाल का होना इसी समय सम्भावित है ।

काल-निर्णय

अत्यन्त आश्चर्य और खेद है कि दसवीं सदी से ले कर सोलहवीं शताब्दी तक के जिन कवियों की रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं, और जिन्होंने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख किया है, उन में धनपाल का नाम नहीं मिलता । कारण जो भी हो, इस से यह अनुमानित है कि कवि की प्रसिद्धि लोक में अधिक दिनों तक नहीं रही । भ० क० की उपलब्ध प्रतियों में सब से प्राचीन संवत् १४८० की प्रति मिलती है, जो लेखक को आगरा के भण्डार से प्राप्त हुई है ।^३ इसी प्रति में काव्य की, प्रशस्ति में इसे शास्त्र तथा विक्रम संवत् १३९३ में लिखा हुआ कहा गया है । उल्लिखित पंक्ति इस प्रकार है—

“सुसंबच्छरे अकिरा विक्रमेण अहोएहि तेणवदितेरहस्येण ।

बरिस्सेय पूसेण सेयम्मि पक्खे तिही वारसी सोमिरोहिणिहिरिक्खे ।

सुहज्जोदमयरंगओ बुद्ध पत्तो इओ सुन्दरो सत्पु सुहदिणि समतो ।”

अर्थात् सुसंबत्सर विक्रम तेरह सौ तेरानवे में पौष मास शुक्ल पक्ष बारस सोमवार रोहिणी नक्षत्र में यह सुन्दर शास्त्र शुभ घड़ी तथा शुभ दिन में लिख कर समाप्त हुआ ।

१ गुजरापुरवाडसंतिनउ मिरि सुहृदसेरिठ गुणगणगिलउ ।

तहो मणहर वायागेहणिय सुहृदाएवी नामे भणिय ।

तहो उक्कि जाउ नहु विणयज्जुओ धणवालु वि सुउ नामेण हुओ ।

सहो विणि तणुभव विउल्लगुण संतोसु तह य हरिराउ पुण ।

—बाहुबलिचरित, अन्य प्रशस्ति, 'अनेकान्त' से उद्धृत

२. पं० परमानन्द जैन शास्त्री—'अपभ्रंश भाषा का जम्बूद्वामिचरित और वीर' अनेकान्त वर्ष १३, किरण ६, पृ० १५५ ।

३. वही, पृ० १५५

उक्त 'अकिरा' शब्द अर्कराज (विक्रम) का वाचक है। अर्कराज का अर्थ विक्रमादित्य या विक्रमार्क है। अतएव विक्रम संवत् १३९३ चौथ शताब्दी की यह कथाकाव्य लिख कर पूर्ण हुआ था। आधुनिक काल-गणना के अनुसार निदिष्ट तिथि १६ दिसम्बर, १३३६ ई० है। इस से स्पष्ट है कि काव्य का रचना-काल चौदहवीं शताब्दी है। अभी तक जिन विद्वानों ने 'भविष्यत्कथा' के रचनाकाल पर विचार किया है उन में डॉ० हर्न जेकोबी का मत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उन्होंने हरिभद्रसूरि के 'नेमिनाहचरित' से 'भविष्यत्कथा' की भाषा की तुलना करते हुए यह अनुमान किया था कि धनपाल कम से कम दसवीं शती में रहे होंगे। उन के अनुसार हरिभद्रसूरि नवम शती के उत्तरार्द्ध के कवि हैं; किन्तु मुनि जिनविजय जी आ० हरिभद्रसूरि को आठवीं शताब्दी का मानते हैं। वस्तुतः दोनों की भाषा-शैली में बहुत अन्तर है। श्री दलाल और गुणे के अनुसार आलोच्यमान कथाकाव्य की भाषा आ० हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त भाषा की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। धनपाल के समय में अपभ्रंश बोली जाती रही होगी; जब कि हेमचन्द्र के समय में वह मृतभाषा हो गयी थी।^१ यदि हम 'भविष्यत्कथा' का प्रारम्भिक भाग यह मान कर विचारणीय न मानें कि पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्य की परम्परा में इस कथाकाव्य की भी रचना हुई और इसी लिए महाकवि स्वयम्भू के 'पउमचरित' तथा प्रस्तुत काव्य की साहित्यिक कड़ियों में समानता मिलती है, तो उचित हो है। किन्तु काव्य के सम्पूर्ण रूप को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि धनपाल ने 'पउमचरित' को आदर्श मान कर कुछ बातें प्रभाव रूप में और कुछ उद्यो-की-र्यों अपने काव्य में अपना लीं। उदाहरण के लिए—जैसे केतुमती पुत्र के वियोग में 'हा पुत्त पुत्त' कह कर विलाप करती है, वैसे ही कमलश्री भविष्यदत्त के शोक में 'हा हा पुत्त पुत्त' कहती हुई कवण विलाप करती है। डॉ० भायाणी ने शब्द, भाषा और भाव-साम्य की दृष्टि से दोनों के कुछ अंशों की तुलना करते हुए लिखा है कि धनपाल के सामने प्रारम्भिक कड़ियों को लिखते समय स्वयम्भू का 'पउमचरित' विद्यमान रहा होगा।^२ रचना-प्रकार की दृष्टि से उन का यह कथन उचित ही है। इस से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि धनपाल स्वयम्भू के पश्चात् हुए। और कुछ समय बाद नही शताब्दियों के अन्तराल से हुए। वस्तुतः कथानक और वर्णन की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य पर विबुध श्रीधर के 'भविष्यदत्तचरित्र' का अत्यन्त प्रभाव है, जो बारहवीं शताब्दी की रचना है। अतएव धनपाल का चौदहवीं शताब्दी में विद्यमान होना उचित जान पड़ता है।

ऐतिहासिक तथ्य

ग्रन्थ में वर्णित युद्ध-वर्णन से ज्ञात होता है कि कवि का युग अशान्तिपूर्ण था

१. सं० सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे : धनपाल की भविष्यत्कथा, १६३३, परिचय, पृ० ४।

२. सं० डॉ० हरिवंशभ चूनीताल भायाणी : पउमचरित, १९६३, परिचय, पृ० ३६-३७।

और स्वयं उस ने युद्ध का सजीव दृश्य आँखों से देखा था या किसी योद्धा से सुना था। परिशिष्ट में लिखित प्रशस्ति से विदित है कि यह काव्य दिल्ली नगर से पूर्व दिशा में साठ कोस की दूरी पर स्थित रम्मु^१ (रामनगर) नगर में बसने वाले—अग्रवाल वंश में उत्पन्न रतनपाल के पोते के पुत्र यानी पन्ती बाधू के लिए लिखा गया था। रतनपाल के चार पुत्र थे। बड़ा पुत्र दुर्लभ अत्यन्त गुणो था। उस के हिमपाल, देवपाल, और लुहपाल नाम के तीन पुत्र हुए। धर्मात्मा हिमपाल दिल्ली में रहता था। उस के बाधू नाम का पुत्र हुआ। इसी बीच लोग अकाल से वैभव और सम्पत्तिहीन हो गये। सभी हाथ मलने लगे। चारों ही विवादमग्न हो गये। लोगो ने अपना धर्म छोड़ दिया। अपने निवास-स्थान को त्याग कर लोग अत्यन्त दुर्गम दूर देश में पहुँच गये। प्रचण्ड मुहम्मदशाह उस समय शासन कर रहा था। सागरप्रमाण उस का राज्य था। शत्रुओं का मान मर्दन कर तथा लोगों का उपकार करते हुए उस ने एकछत्र राज्य किया। विप्लव काल के प्रवृत्त होने पर बाधू जफराबाद^२ (दफरायबाद) पहुँचा और उस के लिए यह शास्त्र लिखा गया^३। इतिहास के आलोक में हमे जो तथ्य प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार हैं—

कवि ने उस समय दिल्ली के सिंहासन पर मुहम्मदशाह का शासन करना लिखा है। इतिहास में राजा का नाम मुहम्मद बिन तुगलक मिलता है। किन्तु उस के अन्य नामों में मुहम्मद तुगलक और मुहम्मद शाह का भी उल्लेख मिलता है।^४ मुहम्मद बिन तुगलक का शासन-काल १३२५-५१ ई० माना जाता है। आलोच्यमान रचना का पाल १६ दिसम्बर १३३६ ई० है। अतएव इतिहास से उस का पूरा मेल बैठता है। पुष्पिका में जिस विद्रोह का संकेत है वह दिल्ली सल्तनत से सम्बन्धित था, जो लगभग १३३५ ई० के लगभग हुआ था। इसी प्रकार अकाल का भी उल्लेख मिलता है। सन् १३३५ ई० में सुल्तान मुहम्मद शाह मदुरा के लिए कूच करता है पर वारंगल से ही वह लौट आता है। जब सुल्तान दिल्ली—बापस लौट कर आता है तब देखता है कि चारो ओर अकाल पड़ रहा है। सहस्रों मनुष्य और पशु मर गये। इसलिए वह अपनी राजधानी दिल्ली से हटा कर गंगा के पास शमसाबाद में ले गया।^५ इस से अकाल की

१. इत्यत्रि अञ्च रमणोउ रम्मु, वामेण गयळ आमी-पवण्णु। अतिम प्रशस्ति।

२. इतिहास में भी जफराबाद का उल्लेख मिलता है। प्रशस्ति में निर्दिष्ट बाधू के जफराबाद में पहुँचने से यही प्रतीत होता है कि कवि धनपाल जोनपुर के निकट—(लगभग चौदह-पन्द्रह मील दूर) जफराबाद में रहते थे। सन् १३४६ में फ़ीरोजशाह भी बगान की युद्ध-यात्रा के समय मार्ग में जफराबाद में ठहरा था। वही, पृ० १८६।

३. मुहम्मदशाही बिगाओ पयडा निओ तेण मायरपमाणेहि वण्डो।
उसनिर्काट्ट निहतिवि मलिजौवि माणो किजो रज्जु इकरुखनि उभयतमाओ।
पयटटे बिहूसम्मि काले रउधे पदुनौ सुवहधूउ दफरायबादे।
इहत्ते परसं सुहायारहेउ तिणे लिहिय सुअपचमी गियहं हेउ। वही।

४. आर० सी० मजूमदार : दिल्ली सल्तनत, भारतीय विद्याभवन, प्रथम संस्करण, पृ० ६१।

५. वही, पृ० ७७।

भयंकरता का पता लगता है, जिस से यह स्वाभाविक ही था कि हिमपाल जैसे साहूकार भी दरिद्र हो गये थे। मुहम्मदशाह अत्यन्त प्रतापी राजा था। उस ने अपने जीवन में कई युद्ध किये। उस का शासन बहुत विस्तृत था। वह हिमालय से लेकर दक्षिण भारत तक का शासन-सूत्र सम्हालता था। सन् १३२८ ई० तक मुहम्मद तुगलक दक्षिण में इण्डियन पेनिनसुला तक सीमा स्थापित करने में सफल हो गया था।^१ समय-समय पर गुजरात और दक्षिण भारत के बलवों को भी उस ने दबाया। उस ने दिल्ली सल्तनत का बहुत बड़ा सीमा तक विस्तृत कर शासन स्थापित कर लिया था, किन्तु मृत्यु के पूर्व ही बिन्ध्य के दक्षिण का भाग उस के अधिकार से निकल गया था।^२ कहा जाता है कि मुहम्मदशाह अपने युग का सुशिक्षित और विद्वान् बादशाह था। वह कई विषयों का जानकार था।^३ उस की प्रसिद्धि का यह भी एक कारण था कि उस के राज्याश्रय में विद्वानों का सम्मान था। सन् १३२८ ई० में आचार्य जिनप्रभसूरि का मुहम्मदशाह को धर्म-श्रवण कराना एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। वह सभी धर्मों के साधु-सन्तों और फकीरों का आदर करता था। सम्भवत इसी लिए मुसलमान उसे काफिर कहते हैं।^४ इस प्रकार ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर कवि धनपाल का चौदहवीं शताब्दी में भविष्यदत्तकथा की रचना करना सुनिश्चित प्रतीत होता है।

धनपाल का सम्प्रदाय

धनपाल जैनधर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि कवि अपनी रचना में अपनी मान्यता के अनुसार वर्णन करता। भविष्यत्कथा के 'जेण मंजिवि दियम्बरि लायउ' के अतिरिक्त कतिपय वर्णनों तथा सैद्धान्तिक विवेचन के अनुसार भी उन का दिगम्बरमतानुयायी होना निर्विवाद सिद्ध होता है। कवि ने अष्टमूलगुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि मधु, मद्य, मांस और पाँच उदुम्बर फलों को किसी भी जन्म में नहीं खाना चाहिए।^५ कवि का यह कथन भावसंग्रह के कर्त्ता देवसेन के अनुसार है।^६ आ० सोमदेवसूरि तथा पं० आशाधर की भी यही मान्यता है।^७ आ० अमृतचन्द्र ने भी अहिंसाव्रत के अन्तर्गत इन्हीं आठ वस्तुओं का त्याग

१. वही, पृ० ७७।

२. वही, पृ० ८०।

३. वही, पृ० ८१।

४. वही, पृ० ८६।

५. मधु मज्जु मधु पंबुसराड' खज्जति णु जम्मंतर सबाह'। (१६, ८)

६. मधुमज्जमंसनिर्द्धं आओ पुण उंमराण पं'बण्ह।

अट्ठेदे मूलगुणा हंति फुट्ट वेदविरयम्मि। भावसंग्रह, गाथा ३५६।

७. मयमासमधुत्वाय सहोदुम्बरपञ्चकः।

अष्टावैते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा' श्रुतौ। उपासकाध्ययन, कण्ठ २१, श्लोक २७०।

उपासी अष्टधज्जेनीमाक्षा हिसामपासितुयु।

मयमासमधुन्वुज्जेत् पञ्चशोरिफलानि च। सागारधर्मामृत, २, २।

जावश्यक बताया है।^१ रत्नकरण्डभावकाचार तथा अन्य ग्रन्थों में यह उल्लेख किञ्चित् भिन्न मिलता है।^२ यह उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द की मान्यता के अनुसार है। कवि का उल्लेखना का धतुर्य शिस्तवत के रूप में वर्णन करना इसी मान्यता का द्योतक है।^३ इसी प्रकार सोलह स्वर्गों का वर्णन भी दिगम्बर-परम्परा के अनुसार है।^४ क्योंकि स्वैताम्बर-परम्परा में चौदह स्वर्गों का ही उल्लेख मिलता है। इन सैद्धान्तिक मान्यताओं का उल्लेख होने से स्पष्ट हो जाता है कि धनपाल दिगम्बर सम्प्रदाय के थे। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कवि ने अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर से भी बहुत कुछ ग्रहण किया था। क्योंकि आ० जिनसेन तथा समन्तभद्र ने अष्टमूलगुणों में तीन मकारों और पाँच अणुवर्तों को गिनाया है। परन्तु विबुध श्रीधर ने मध, मसि, मधु और पञ्च उदुम्बरफलों के त्याग को आठ मूलगुण कहा है।^५

कथावस्तु

भरतक्षेत्र के कुरुजागल (वर्तमान रोहतक हिसार) नामक प्रदेश में गजपुर (हस्तिनापुर) नाम का एक सुन्दर तथा अत्यन्त समृद्ध नगर था, जिस में भूपाल नामक राजा राज्य करता था। उसी नगर में धनवह (धनपति) नाम का नगरसेठ रहता था, जो अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध था। उस का विवाह नगर के धनी-मानी हरिबल नाम के सेठ की पुत्री कमलश्री से हुआ था जो अत्यन्त रूपवती और गुणवती थी। बहुत समय तक उन दोनों के कोई सन्तान न होने से कमलश्री विशेष रूप से चिन्तित रहने लगी और एक दिन मुनिवर के पास जाकर उस ने निवेदन किया—भगवन् ! मैं इस प्रकार कब तक दुःख भोगती रहूँगी ? उन्होंने उत्तर में कहा—तुम्हारे नय, बिनय, पराक्रम और गुणों से युक्त चिरंजीवी पुत्र होगा। कुछ दिनों के पश्चात् भविष्यदत्त उत्पन्न हुआ। महीने भर बाद कमलश्री बस्त्राभूषणों से सज्जित पुत्र को गोद में लिये हुए जिनवर की पूजा सुनने तथा दर्शन करने के लिए जिनमन्दिर गयी। सभी लोगों ने बड़ा उत्सव मनाया।

इधर भविष्यदत्त पढ़-लिख कर विविध कलाओं में पारंगत होता है और

१. मध' मासं क्षौद्र चण्डादुम्बरफलानि यत्नेन ।

हिमाव्युपरलिकामेर्मौक्त्यानि प्रथममेव । पुरुषार्थसिद्धध्याय, ३, ६१ ।

२. 'अथमाममधुर्याग्' महाशुवतपञ्चकम् ।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां भ्रमणोत्तमाः । रत्नकरण्डभावकाचार ४, ६६ ।

३. चतुर्थं पुणु सन्नेहण भावः सो परलोह सुरक्षणु पावह ।

अहो इह परलोहो परमसिन्धव इय भारहिहि सावयह विषयः । (१६, १२)

४. अप्पुणु पुणु तवचरण चरेप्पिणु अण्णणि पंडिबमरणि मरेप्पिणु ।

दिदि सोलहमहं पुण्णायामि हुउ सुरवह विज्जुप्पहु णामि । (२०, ६)

५. मज्जु मंसु महु णउ भक्किज्जह पंचुबरफल निमरु मुहज्जह ।

अट्ठमूलगुण ए पात्तिज्जहि सहु संधाण एहि ण गसिज्जहि ।—भविष्यत्कथारिय, १, २८ ।

६. विविधतीर्थकण, पृ० २७ हस्तिनापुरकण्य ।

उधर कमलश्री के वास्तव्य, प्रियवचन और कोमलता आदि गुणों से खीस कर पूर्व जन्म के अनिष्ट के कारण सेठ घनवइ का मन कमलश्री की ओर से फिरे जाता है। कमलश्री पति के रूखे व्यवहार को देख कर क्षमा माँगती है और सब कुछ करने के लिए कहती है, पर इस से वह और भी उपेक्षा भाव प्रकट कर कहता है कि मैं तुम्हें आधे क्षण भी नहीं देख सकता हूँ। पति के व्यवहार से खेद-खिन्न हो कमलश्री माता के घर चली जाती है, और माँ के गले लग कर बहुत रोती है। इतने में ही घनपति (घनवइ) का भेजा हुआ चतुर व्यक्ति हरिबल के पास पहुँचता है और कहता है कि कमलश्री कुल की जान-बान का पालन करने वाली पतिव्रता नारी है इस लिए उसे अपने घर में शरण दे दो। उस के प्रिय गुणों से घनवइ का मन फिर गया है। घनवइ का दूसरा विवाह सेठ घनदत्त की कन्या सरूपा के साथ बहुत धूम-धाम से होता है। नगर के सभी लोग उछाह मनाते हैं। राजा भी विवाह में सम्मिलित होता है। हरिदत्त (हरिबल) और परिजनो को कमलश्री पर सन्देह होने लगता है किन्तु वह पतिव्रता के साथ धार्मिक जीवन बिताती है। सरूपा सुन्दरी होने के साथ ही अभिमानवती भी थी। वह ललित-कलाओं में निपुण थी। कुछ समय के बाद उस के बन्धुदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। बड़ा होने पर बन्धुदत्त बहुत उत्पात मचाने लगा। जब पूरा नगर बन्धुदत्त में तंग आ गया तब सब सेठों ने मिल कर विचार किया कि यह युवतियों के साथ बहुत छेड़खानी करता है इस लिए बन्धुजनों के साथ कंबनपुर चलने के लिए उसे तैयार कर भेज देना चाहिए। मन्त्रीजन व्यवसाय के निमित्त बन्धुदत्त को भेजने में सहमत हो गये। बन्धुदत्त के साथ पाँच सौ वणिक् भी चलने को तैयार हो गये। बन्धुदत्त को साथियों के साथ कंचनद्वीप जाते देख कर भविष्यदत्त भी माता के बार-बार रोके जाने पर भी उन सब के साथ हो लिया। जब सरूपा को पता चलता है कि भविष्यदत्त भी साथ में जा रहा है तो वह बन्धुदत्त को भलीभाँति सिखा-बुझा कर कहती है कि किसी भी प्रकार भविष्यदत्त को समुद्र में छोड़ देना, जिस से बन्धु-बान्धवों से उस का समागम न हो सके। किन्तु भविष्यदत्त को माता उसे उपदेश देती हुई 'पराया घन तथा स्त्री को न छूने की' शिक्षा देती है। पाँच सौ वणिक् जनों के साथ दोनो भाई जहाज में बैठ कर सम्मान के साथ चल पड़े। कई द्वीपान्तरो को पार कर उन का पोत मदनाग द्वीप के समुद्री तट पर जा लगा। प्रमुख लोग उतर कर मदनाग पर्वत की शोभा निरखने लगे, जो सामने ही दुर्गम और दुर्लभ स्थित था। बन्धुदत्त भविष्यदत्त को वहाँ के भयावने वन में फूल चुनता हुआ छोट कर पोत में सवार हो कर सब के साथ आगे की ओर चल पड़ता है। जब भविष्यदत्त जहाज को जाता हुआ देखता है तब वह हाथ मलता है और सिर धुनने लगता है। चिन्ताओं में डूबता-उतराता हुआ भविष्यदत्त जंगली जानवरों से व्याप्त उस वन में प्रवेश करता है। दिन भर के घूमने-फिरने से थक कर वह एक स्वच्छ बड़ी शिला को देख कर उस पर बैठ जाता है और हाथ-पैर धो कर पुष्पों से जिनदेव की अर्चना करता है। फिर वृक्षों से फलों को

तोड़ कर भोजन करता है। इतने में ही सन्ध्या हो जाती है। चारों ओर घना अन्धकार फैल जाता है। भविष्यदत्त परमात्मा का ध्यान करता हुआ वहीं स्थित रहता है। सबेरा होने पर जिनदेव का स्मरण करता हुआ फिर वन में भटक जाता है। अन्त में उसे कुछ-कुछ रास्ता दिखाई देता है और मुफा में से हो कर वह एक उजाड़ नगर में पहुँच जाता है। तिलकद्वीप की उस कंबननगरी को देख कर भविष्यदत्त आश्चर्यविमूग्ध हो जाता है। घूमता-फिरता वह चन्द्रप्रभ के जिनमन्दिर में पहुँचता है। अत्यन्त भक्ति के साथ वह चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र की विधिपूर्वक कई पंटों तक पूजा करता है।

इसी बीच पूर्व विदेह क्षेत्र में यशोधर नाम के मुनि से अच्युत स्वर्ग का देवेन्द्र अपने पूर्व जन्म के मित्र धनमित्र के सम्बन्ध में पूछता है कि वह किस गति को प्राप्त हुआ है। शुक्लध्यान के धारक मुनिराज भविष्यदत्त का पूरा वृत्तान्त सुनाते हैं और कहते हैं कि तुम्हारा वह मित्र इस समय तिलकद्वीप के महान् पुर में चन्द्रप्रभ के जिन-भवन में आसनपट्ट पर बैठा हुआ है। उस नगर की सुन्दरी से उस का पाणिग्रहण होगा तथा दोनों सुखोपभोग करेंगे। मुनि के इन वचनों को सुन कर सुरपति उस नगर में गया। उस मन्दिर की परिक्रमा कर मित्र को सुख से सोता हुआ देख कर भीत पर अन्ध-पंक्तियों की लिल कर तथा मानभद्र नामक यशेश्वर से अपने मित्र का ध्यान रखने के लिए कह कर वह अपने स्थान को लौट गया। भविष्यदत्त जब सो कर उठता है तब कौतुक से वह भीत पर लिखे हुए वाक्यों को पढ़ता है कि मन्दिर से पूर्व दिशा में पाँचवें घर में सुन्दर कुमारी है, जो तुम्हारी स्त्री है और यह पूरा नगर तुम्हारा है इसलिए उठो, वहाँ जाओ, देर मत करो। भविष्यदत्त स्वप्न देखता हुआ-सा वहाँ से निकला और पाँचवें घर पर जा पहुँचा। सुन्दरी से वह नगरी के उजड़ने का कारण तथा राजा के सम्बन्ध में पूछता है। वह भलीभाँति जतिथि का सम्मान कर भोजन-पान करा कर कहती है कि इस तिलकपुर का राजा यशोधन था। मेरे पिता भवदत्त नगरसेठ थे। माता का नाम मदनवेगा था। उस की बड़ी बेटा का नाम नागश्री था और मैं छोटी भविष्यानुरूपा हूँ। रोती हुई वह कहती है कि यहाँ पर एक बलवान् असुर आया है, जिस ने पूरा नगर उजाड़ दिया है। न जाने क्यों उस दुष्ट पापी ने मुझे छोड़ दिया है। कदाचित् तुम्हें भी वह कष्ट न दे। भविष्यदत्त भी अपनी सकट-कथा कह सुनाता है। इतने में ही वह दैत्य आ पहुँचता है। भविष्यदत्त उस से तनिक भी नहीं डरता और उस का सामना करने के लिए तैयार हो जाता है। उस के अदम्य तथा अपूर्व साहस को देख कर असुर प्रसन्न हो जाता है। वह कहता है कि मैं पूर्व जन्म में कौशिक (कोसिउ) नाम की नगरी में तापस था। वहाँ के मन्त्री वज्रोदर (वज्रोघर) ने मेरा अपमान किया था जिस से मन में बैर बाँध कर मैं असुर हुआ और वह मन्त्री इस तिलकद्वीप का राजा हुआ। इस लिए राजा से बैर होने के कारण मैं ने सपरिवार नागरिक जनों के साथ उस का संहार कर दिया है। वह असुर सविधि भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा का विवाह कर वापस चला जाता है। इधर भविष्यदत्त दाम्पत्य

जीवन सुख से बिताता है और उधर कमलश्री के मन में पुत्र के न आने की चिन्ता व्याप्त हो जाती है ।

एक दिन कमलश्री सुत्रता नाम की अजिका के पास जा कर कहती है कि मेरे ऊपर न जाने किस अशुभ कर्म का कोप है कि मैं पुत्र के सुख से वियुक्त हो गयी हूँ । साध्वी उसे श्रुतपंचमी व्रत के पालन का उपदेश देती हुई कहती है कि असाढ़ सुयो पंचमी को प्रथम बार इस व्रत को ग्रहण कर नन्दीश्वर के पर्व-दिनों में पालना चाहिए । इस की विधि यह है कि कातिक, फागुन या असाढ़ की पहली शुक्ल पंचमी को व्रत का प्रारम्भ कर पाँच वर्ष और पाँच महीनों तक पंचमी के दिन उपवास और छट्टी के दिन एक बार भोजन करना चाहिए । तथा इन दिनों में विषय-कषायों से दूर रह कर धर्म-ध्यान में समय बिताना चाहिए । कुल मिला कर सरसठ उपवास करना चाहिए । तदनन्तर उद्यापन विधि से यह व्रत समाप्त होता है । इस दीर्घ तप से क्या मेरा पुत्र मुझ से आ कर मिलेगा ? कमलश्री के यह पूछने पर वह मुनिराज के पास उसे ले जाती है । मुनिवर उस से कहते हैं कि तुम्हारा पुत्र अभी जीवित है । वह द्वीपान्तर में सुख भोग रहा है । यहाँ आ कर वह आषाढा राज्य प्राप्त करेगा और शासन करेगा । इन वचनों से कमलश्री समाश्वस्त हो जाती है । इस बीच भविष्यदत्त को तिलकपुर में बारह वर्ष बीत जाते हैं । एक दिन भविष्यानुरूपा समुराल के सम्बन्ध में पूछती है । भविष्यदत्त को माता के दुःखों का स्मरण हो आता है और वे दोनों गजपुर को प्रस्थान करते हैं । बहुत-सा धन, मणि, रत्न आदि ले कर वे उसी गुफा में से हो कर समुद्र तट पर पहुँचते हैं । कुछ दिनों में बन्धुदत्त का जहाज भी उसी तट पर आ लगता है । बन्धुदत्त अपने किये की क्षमा माँगता है । भविष्यदत्त सब का यथोचित सम्मान कर भोजन-पान कराता है । फिर सभी जहाज पर बैठ कर चलने की सोचते ही हैं कि भविष्यानुरूपा को नागमुद्रिका का स्मरण हो आता है । भविष्यदत्त इधर नागमुँदरी लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त जहाज चला देता है । भविष्यदत्त फिर अकेला उस द्वीप में रह जाता है ।

बन्धुदत्त भविष्यानुरूपा के समक्ष अपनी वासनात्मक भावना प्रकट करता है । भविष्यानुरूपा अपने शील पर दृढ़ हो कर परमार्थ का उपदेश देती है । देवता स्वप्न देता है—पुन्दरि, चिन्ता मत कर । एक मास में प्रिय मिलेगा । जहाज डगमगाता है । भविष्यानुरूपा से जो सब प्रार्थना करते हैं तब तूफान शान्त होता है । बन्धुदत्त को नगर में आया हुआ जान कर कमलश्री सब से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछती है पर कोई भी ठीक से नहीं बताता है । तब वह दौड़ी-दौड़ी मुनिराज के पास जाती है । वे कहते हैं कि तीस दिन में तुम्हारा पुत्र आ जायगा ।

भविष्यदत्त फिर तिलकद्वीप पहुँचता है । वहाँ से मानभद्र की सहायता से विमान में बैठ कर अपने घर वापस आता है । कमलश्री फूली नहीं समाती है । वह माता को तिलकपुर का पूरा वृत्तान्त सुनाता है । माता से यह जान कर कि भविष्या-

नुरूपा का तैल चढ़ने वाला है वह राजा के पास जाता है और कई प्रकार के रत्न, मणि आदि उपहार में देता है। वह माता को नागमुद्रिका दे कर उसे भविष्यानुरूपा के पास भेजता है। भविष्यदत्त राजा को सब वृत्त सुनाता है। परिजनों के साथ वह राजसभा में जाता है और बन्धुदत्त के विवाह पर आपत्ति प्रकट करता है। राजा घनवद् को बुलाता है। बन्धुदत्त का रहस्य खुलने पर राजा क्रोध से जल उठता है। घनवद् और बन्धुदत्त को कारावास का दण्ड दिया जाता है। किन्तु भविष्यदत्त कहता है कि जनता की माँग पर घनवद् को छोड़ दीजिए। राजा घनवद् को मृत कर देता है। नगर के प्रमुखजन तथा सेठ लोग राजा से निवेदन करते हैं कि बन्धुदत्त को देश निकाला दे दिया जाय। परन्तु भविष्यदत्त विरोध करता है। वह राजा से अपनी पत्नी को परीक्षा के लिए विनय करता है। राजा जयलक्ष्मी और चन्द्रलेखा नाम की दो दासियों को भेजता है। वे जा कर भविष्यानुरूपा से कहती हैं कि राजा ने भविष्यदत्त को देश निकाले का आदेश दिया है और बन्धुदत्त को सम्मान प्रदान किया है इस लिए अब तुम बन्धुदत्त के साथ रहो। किन्तु वह भविष्यदत्त में अपनी अनुरक्ति प्रकट करती है। घनवद् नव दम्पति को ले कर घर आता है। कमलश्री व्रत का उद्यापन करती है। पूरे जैनसंघ को जेवनार दी जाते हैं। वह पिता के घर जाने को तैयार होती है, पर कंचनमाला दासी के कहने से सेठ कमलश्री से क्षमा माँगता है। एक दिन राजा सपरिवार भविष्यदत्त को बुलाता है। वह घनवद् से सुमित्रा के विवाह का प्रस्ताव भविष्यदत्त के साथ रखता है। कुछ समय के बाद पाचाल नरेश चित्राग का दूत भूपाल नरेश के पास आता है और कर तथा अपनी कन्या (सुमित्रा) को देने का प्रस्ताव रखता है। राजा बड़े असमंजस में पड़ जाता है। भविष्यदत्त युद्ध के लिए तैयार होता है। भविष्यानुरूपा युद्ध के लिए भविष्यदत्त का शृंगार करती है। साहस तथा धैर्य का परिचय देता हुआ वह पाचाल नरेश को बन्दी बना लेता है। राजा सुमित्रा के साथ ही अपना राज्य भी भविष्यदत्त को सौंप देता है।

कुछ समय बाद भविष्यानुरूपा के दोहला होता है। वह तिलकद्वीप जाने की इच्छा व्यक्त करती है। इसी समय विजयाद्वीप पर्वत पर रहने वाला मनोवेग नाम का विद्याधर मुनिवर के वचनों के आदेश से वहाँ आ पहुँचता है और हरिदत्त के साथ सपरिवार भविष्यदत्त को विमान में बैठा कर तिलकद्वीप पहुँचा देता है। वहाँ अत्यन्त उछाह से सब चन्द्रप्रभ जिनदेव का पूजन करते हैं। वही चारण मुनि के दर्शन कर श्रावक धर्म को भलीभाँति सुनते और समझते हैं। तदनन्तर मनोवेग के मित्र होने की पूर्व भव की कथा पूछते और सुनते हैं। फिर सभी लौट कर गजपुर आ जाते हैं। मनोवेग अपने घर जाता है। भविष्यदत्त को राज्य करते हुए बहुत समय बीत जाता है। भविष्यानुरूपा के चार पुत्र उत्पन्न होते हैं—सुप्रभ, कनकप्रभ, सूर्यप्रभ और सोमप्रभ। तथा तार (तारा) और—सुतार (सुतारा) नाम की दो पुत्रियाँ हुईं। सुमित्रा से भी धरणेन्द्र नाम का एक पुत्र और तारा नाम की पुत्री हुई।

बहुत समय के बाद गजपुर में विमलबुद्धि नाम के महामुनि आते हैं। भविष्यदत्त सपरिवार उन की वन्दना के लिए गया। राजा अपने पूर्व भवान्तर मुनिराज से सुन कर विरक्त हो जाता है। उस के साथ घनवइ, हरिदत्त और रानी प्रियसुन्दरी आदि दीक्षा ग्रहण करते हैं। उन सब को दीक्षित देख कर अन्य सेठ लोग भी दीक्षा लेते हैं। पीछे से भविष्यदत्त जिन-पूजन-उत्सव समारोह के पश्चात् केशलोंच कर पाँच महाव्रतों को धारण कर मुनि हो जाता है। सुप्रभ को राजगद्दी मिलती है। नागरिक जन और कमलश्री, लच्छी, सुमित्रा, भविष्यानुरूपा आदि शोक में विह्वल हो आसू बहाते हैं। भविष्यदत्त चिरकाल तक महा तप कर वैमानिक जाति का देव उत्पन्न होता है। अन्त में वह चौथे भव में शिवलोक में गमन करता है।

चरित्रचित्रण

मनुष्य जीवन में चरित्र का अत्यन्त महत्व है। प्रबन्ध काव्यों में विशेष रूप से चरित्र-चित्रण की सृष्टि होती है। घटनाओं की भाँति भावों में संघर्ष और जीवन पर उन का प्रभाव स्पष्ट रूप से अपभ्रंश के कथाकाव्यों में दिखाई देता है। यद्यपि भविष्यदत्त सामान्य व्यक्ति हैं पर विनय, शालीनता और उदात्त गुणों से संयुक्त होने के कारण वह धीरोदात्त नायक की भाँति चित्रित किया गया है। वह धीर, वीर ही नहीं साहसी और क्षमाशील भी है। पिता की अनौति में भलीभाँति परिचित होने पर भी राजा के द्वारा बन्दी बनाये जाने पर वह विरोध करता है और राजा से कह कर पिता को मुक्त कराता है। यहाँ उस की महत्ता का पता चलता है। भविष्यदत्त न तो किसी पर अन्याय करता हुआ दिखाया गया है और न किसी अन्याय को वह सहन हो करता है। अतएव सिन्धुनरेश के अन्यायपूर्ण प्रस्ताव से असहमत हो कर वह सब से आगे बढ़ कर युद्ध लड़ता है और निर्भोक्ता के साथ अपनी वीरता का परिचय देता है। सामान्य वर्णिकृपुत्र हो कर भी भविष्यदत्त राजोचित प्रवृत्तियों एवं गुणों को प्रदर्शित कर अन्त में राजा बनता है और सफलता से राज्य-शासन करता है। लेखक ने जहाँ दैवी संयोग, आकस्मिकता और आश्चर्यजनक वृत्तों की संयोजना धार्मिक प्रभाव स्पष्ट करने के हेतु की है, वही नायक के चारित्रिक गुणों पर भी प्रकाश डाला है। 'भविसयत्तकहा' में मुख्य रूप से विरोधी प्रवृत्तियों वाले बर्गगत चरित्र दृष्टिगोचर होते हैं। एक का प्रतिनिधित्व भविष्यदत्त और कमलश्री करते हैं तो दूसरे का बन्धुदत्त और सरूपा। राजा भूपाल और घनवइ में कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलती हैं जो उन के स्वाभाविक चरित्र को स्पष्ट कर देती हैं। राजा जहाँ न्यायी है, हित और अहित का विवेक रखता है वही अन्याय का प्रतिकार करने के लिए भी तत्पर हो जाता है। मन्त्रियों के विरोध करने पर भी वह सिन्धुनरेश से युद्ध मोल ले कर स्वयं सामना करने के लिए तैयार होता ही है कि भविष्यदत्त अपने साहस और पराक्रम का परिचय दे कर उसे बन्दी बना लेता है। घनवइ लोकनौति और रीति का

अनुसरण करता हुआ भी बिना किसी अपवाद के दुसरा विवाह करने के लिए कमलश्री जैसी गुणवती स्त्री का परित्याग कर देता है। ये ही कुछ विशेषताएँ हैं जिन में भविष्य-दत्त जैसे आदर्श तथा वर्गगत चरित्र और अन्य वैयक्तिक चरित्र स्वाभाविक रूप में अपना विशेष स्थान रखते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चरित्र का विधान चार रूपों में लिखते हुए निर्दिष्ट किया है कि तुलसीदास जी के समान किसी सर्वांगपूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयत्न जायसी ने नहीं किया। रत्नसेन प्रेम का आदर्श है, गोरा-बादल बीरता के आदर्श हैं, पर एक साथ ही शक्ति, बीरता, दया, क्षमा, शील, सौन्दर्य और विनय इत्यादि सब का कोई एक आदर्श जायसी के पात्रों में नहीं है।^१ किन्तु भविष्यदत्त के चरित्र में सभी आदर्श रूपों की प्रतिष्ठा स्वाभाविक रूप में अभिव्यंजित हुई है। वह बन्धुदत्त के दुष्कृत्य के लिए उसे क्षमा प्रदान ही नहीं करता है वरन् उस का यथोचित सम्मान भी करता है। भाई का भाई के प्रति, बेटे का बाप के प्रति, माँ के प्रति और राज्य के प्रति वह कर्तव्य-विधान का परिचय देता हुआ विनय और शील को प्रकट करता है। वस्तुतः भविष्यदत्त का चरित्र आदर्श गुणोपेत है जिस में शक्ति, शील और सौन्दर्य का स्वाभाविक साहचर्य लक्षित होता है। यद्यपि वह असाधारण बनिये का बेटा है पर अपने आदर्श गुणों के कारण महान् पुरुष के पद को प्राप्त कर लेता है। और इसी लिए धनपाल ने लोक में प्रसिद्ध महापुरुष की कथा काव्यात्मक रूप में निबद्ध कर उन के आदर्श गुणों को अभिव्यक्त किया है।^२

पौराणिक दृष्टि से भविष्यदत्त के चरित्र में आदर्श की ही प्रधानता है। किन्तु वह आदर्श जातिगत स्वभाव के रूप में स्फुट न हो कर वैयक्तिक रूप में प्रकाशित हुआ है। काल और परिस्थितियों के अनुसार नायक की मनोवृत्तियों तथा कर्तव्य भावना ने उस के सुपुत्र शौर्य और शक्ति को जाग्रत् कर सच्चे स्वरूप का परिचय दिया है। कवि ने नायक के सद्गुणों का विकास प्रेमजन्य या भक्तिजन्य रूप में न दिखला कर उस की कर्म भावना में प्रदर्शित किया है। यद्यपि यह कर्म भावना पूर्व जन्म से सम्बन्धित है पर अदम्य साहस और धैर्य के बीच जिन अद्भुत घटनाओं का संयोग हुआ है वे निमित्त मात्र है।

भविष्यदत्त के व्यक्तिगत स्वभाव को प्रधानता दे कर भी धनपाल ने उस के जातिगत स्वभाव की उपेक्षा नहीं की है। अतएव वह तिलकद्वीप से लौटने पर सब से पहले राजा के पास जा कर उपहार भेंट करता है, पर भविष्यानुरूपा के सम्बन्ध में उस समय कुछ भी नहीं कहता है। इस प्रकार वह पहले राजा को प्रसन्न कर उसे अपने पक्ष में ले लेना चाहता है जो बणिकों की जातिगत विशेषता है। उधर अपनी माँ की भविष्यानुरूपा के पास नागमुद्रिका के साथ भेज कर अपनी बुद्धिमत्ता का परि-

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ११७।

२. सो हियह धरेवि पबरमहारासिकुनहरहो।

विरधारमि लाह किंसपु भविसमहायरहो। १, १।

चय देता है। सिन्धुनरेश के प्रस्ताव से असहमत हो कर भविष्यदत्त अपनी जातीय स्वामिमानिता और दूरदर्शिता को ही प्रदर्शित कर अन्त में बोरता का सचचा निदर्शन प्रस्तुत करता है।

इस काव्य में भी खण्ड है, जिन में दो वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए पात्र दृष्टिगोचर होते हैं। भविष्यदत्त का चरित्र आदि से अन्त तक व्याप्त होने पर भी मुख्य रूप से उत्तरार्द्ध में विकसित हुआ है। पूर्वार्द्ध में धनवद्, कमलश्री और सरूपा के चरित्र मुख्य हैं।

धनवद्: धनपति नगरसेठ होने के कारण मिलनसारता, उदारता, दाक्षिण्य, मधुर वक्तृत्व आदि गुणों से भूषित है, किन्तु रूप और धन-न्यौवन सम्पन्न होने से वह दूसरा विवाह कर लेता है तथा पूर्वपत्नी का सर्वगुणोपेत होने पर भी त्याग कर देता है। वह जातीयता के रंग में पूरी तरह रंगा हुआ दिखाई देता है। धनवद् व्यवहार-चतुर और सयाना है। इस लिए विवाह के अवसर पर राजा को बुलाना नहीं भूलता है और समय से आगे चल कर पूरा लाभ उठाता है। नगर में उस का बड़ा मान-सम्मान है। जनता उसे मन्त्रीभाति चाहती है, क्योंकि वह व्यवहार और चरित्र में मधुर है। और इसी लिए बन्धुदत्त के साथ उस के बन्धो बनाये जाने पर जनता विरोध करती है तथा भविष्यदत्त के कहने पर कि जनता की माँग का सम्मान होना चाहिए, राजा उसे मुक्त कर देता है। उस के बाद भविष्यदत्त के कारण उस का पहले से अधिक मान बढ़ जाता है। यद्यपि धनवद् में गर्व है, पर स्वभाव से वह शान्त प्रकृति का है। परिस्थिति और घटनाओं के अनुसार वह सहज कर्म छोड़ कर युद्ध के लिए सज्जित होता है। इस प्रकार धनवद् के चरित्र में लेखक ने गुण और अवगुण दोनों का सुन्दर सामंजस्य चित्रित किया है।

स्त्री-चरित्रों में भविष्यान्तरूपा का और कमलश्री का चरित्र मुख्य है, जो सद्गुणों का प्रतिनिधित्व करती है; पर बन्धुदत्त और सरूपा दुर्जन-चरित्र के रूप हैं जो भ्रातृत्व और मातृत्व के विपरीत आचरण करते हुए दिखाई देते हैं।

बन्धुदत्त: बन्धुदत्त का चरित्र आरम्भ से ही भविष्यदत्त से प्रतिकूल दृष्टाया गया है। युवावस्था के पदार्पण करते ही वह युवतियों के साथ छेड़खानी करने लगता है। माँ के समक्षाने पर कि भविष्यदत्त तुम्हारा जेठा भाई है इस लिए धन-सम्पत्ति में उस का विशेष अधिकार होगा, वह आश्वस्त हो जान-बूझ कर भविष्यदत्त को मैनागद्दोप में छोड़ देता है। यही नहीं, बापस लौटने पर जब फिर से भविष्यदत्त से उस का मिलन होता है तब क्षमा किये जाने पर भी वह भाई को धोखे से छोड़ कर सारी सम्पत्ति को और उस की पत्नी को अपनी कह कर छल-कपट को प्रकट करता है। यहाँ तक कि वह माता-पिता को भी भविष्यान्तरूपा के सम्बन्ध में पूछे जाने पर सच नहीं बतलाता है। इस प्रकार उस का चरित्र छल-कपट, विश्वासघाती और लम्पट का चरित्र है जो मर्यादाओं से परे है।

भविष्यानुरूपा : सुन्दरी होने पर भी उसे अपने रूप का गर्व नहीं है जो नारी जाति का सामान्य स्वभाव समझा जाता है। सपत्नी के प्रति ईर्ष्या की भावना अवश्य व्यक्त करती है, पर पति के समझाने पर वह मान जाती है। इस प्रकार पतिपरायणा होने पर भी सच्चे पातिव्रत्य को कठिन परिस्थितियों में भी बनाये रखती है, यही उस की सब से बड़ी विशेषता है।

कमलश्री : कमलश्री रूप और शील दोनों में उत्कृष्ट नारी चित्रित है। पति के द्वारा परित्यक्त हो जाने पर वह धर्म-ध्यान में अधिक समय बिताती है। परिवार में और समाज में सभी के साथ उस का इतना अच्छा व्यवहार है कि सब उस के साथ सहानु-भूति रखते हैं। पुत्र के प्रति उस का अत्यन्त स्नेह और वात्सल्य है कि वह उस को देख-देख कर ही पूरा जीवन बिता लेना चाहती है। पुत्र के न लौटने पर उसका वियोग उसे असह्य हो जाता है। धर्म पर उस की धृढा अगाध है। पुत्र के लिए वह श्रुत-पंचमी व्रत का पालन करती है। किन्तु वह स्वाभिमानिनी है और इसी लिए पति के पास अन्त में बिना बुलाये नहीं जाती है।

सरूपा सरूपा का चरित्र कमलश्री का विरोधी है। अपने रूप पर उसे बहुत गर्व है। सपत्नी तथा उस के पुत्र से अत्यधिक ईर्ष्या है। इसलिए वह बन्धुदत्त को सम-झाती है कि जैसे भी बने भविष्यदत्त को अवश्य मार देना। स्त्री-स्वभाव की भाँति वह घन-कंचन और वैभव की बड़ी शान दिखाती है। पुत्र के लौटने पर और मन के अनुकूल उस के आचरण से वह फूली नहीं समाती है। यद्यपि वह पर उसे सन्देह होता है पर पुत्र जो कुछ कहता है उसे सच मान कर उस से वह कुछ भी नहीं पूछती है। यहाँ पर उस की अदूरदर्शिता का पता चलता है। इसी प्रकार सरूपा संगीत, कला आदि में शिक्षित होने पर भी नारी जाति के विशेष और सामान्य दुर्गुणों से व्याप्त है। वह अपनी सीत से वैसे ही जलती-भुनती और कुदती है जैसे कि कोई दुष्ट स्वभाव की स्त्री होती है।

प्रबन्ध-संघटना

यद्यपि कथा-बन्ध की दृष्टि से भविष्यद्वक्त्रकथा प्रबन्ध-काव्य है किन्तु उस में मुख्य कथा ही है। कथा के विकास के साथ ही घटनाओं को कार्य-कारण योजना समान रूप से मिलती है, पर काव्य का कार्य पूर्णतः धार्मिक भावना से ओतप्रोत है। इस लिए कथा का अन्तिम और कुछ-कुछ मध्य भाग अवान्तर कथाओं के सन्निवेश से गतिहीन और प्रभावहीन जान पड़ता है। वस्तुतः प्रबन्ध का पूर्वार्द्ध भाग जैसा कसा हुआ और प्रभावोत्पादक है वैसा उत्तरार्द्ध नहीं। कहीं-कहीं शैथिल्य भी दृष्टिगोचर होता है। परन्तु पुराण-कथाओं से इन प्रबन्ध काव्यों में कथा के विकास और काव्यात्मक संवेदना में पूर्ण साहचर्य लक्षित होता है। प्रस्तुत काव्य में मुख्य कथा के प्रवाह के साथ ही प्रासंगिक वृत्तों का संचार दिखाई देता है। किन्तु उन का सम्बन्ध आधिकारिक कथा-

वस्तु से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होने से औचित्य का पूर्ण निर्वाह देला जाता है। अवान्तर कथाओं की नियोजना कर्म-विपाक की दृष्टि से ही हुई है, जिस में व्यक्ति के विकास-क्रम की ओर तथा धार्मिक व्रत-माहात्म्य की ओर ध्यान आकर्षित कर रचना को प्रभावपूर्ण बनाया गया है। सम्प्रदायविशेष से सम्बन्धित होने के कारण भी ऐसा करना आवश्यक था। फिर, इस से यह भी सूचित होता है कि चौदहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों पर पौराणिक प्रभाव बना हुआ था।

समालोचको ने प्रबन्धकाव्य में कार्यान्वय को आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह के मत में रोमांचक कथाकाव्यों में कार्यान्वित नहीं होती और न नाटकीय तत्त्व ही अधिक होते हैं। उन का कथानक प्रवाहमय और वैविध्यपूर्ण अधिक होता है पर उस में कसावट और घोंठे में अधिक कहने का गुण, जो महाकाव्य का प्रधान लक्षण है, नहीं होता।^१ किन्तु विण्टरनिट्ज ने 'भविस्यत्तकहा' को रोमांचक महाकाव्य माना है।^२ जो भी हो, इतना निश्चित है कि प्रस्तुत काव्य में कथानक गतिशील और कसा हुआ है। केवल पूर्व जन्म की अवान्तर कथाओं में कुछ शैथिल्य प्रतीत होता है। परन्तु कथा और घटनाओं का आदि से अन्त तक पूर्ण सामं-जस्य तथा कार्यान्वित स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसलिए प्रबन्धकाव्य के मौलिक गुणों की दृष्टि से यह एक सफल रचना कही जा सकती है। क्योंकि इस में कथानक का विस्तार कथातत्त्व के लिए न हो कर चरित्र-चित्रण के लिए हुआ है, जो महाकाव्य का प्रधान गुण माना जाता है। चरित्र-चित्रण में मनोबैज्ञानिकता का सन्निवेश इस काव्य की विशेषता है। फिर, कथानक में नाटकीय तत्त्वों का भी पूर्ण समावेश है। वस्तुतः इस काव्य का महत्त्व तीन बातों में है—पौराणिकता से हट कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण करना, काव्य-रूढ़ियों का समाहार कर कथा को प्रबन्धकाव्य का रूप देना और उसे सवेदनीय बनाना।

काव्य-रूढ़ियाँ

यद्यपि पुराण-काल में ही काव्य की रूढ़ियों की परम्परा चल निकली थी, पर सम्यक् रूप से उस का प्रचलन अपभ्रंश-काव्यों में देखा जाता है। उपन्ध काव्यों में सर्व प्राचीन स्वयम्भू के 'पउमचरित' में भी इन का सन्निवेश हुआ है। प्रस्तुत काव्य में इन काव्य-रूढ़ियों का पालन दिखाई देता है—१. मंगलाचरण, २. विनय-प्रदर्शन, ३. काव्य-रचना का प्रयोजन, ४. सज्जन-दुर्जन-वर्णन, ५. वन्दना (प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ में स्तुति या वन्दना), ६. श्रोता-वक्ता शैली, ७. अन्त में आत्म-परिचय। इन में से मंगलाचरण की पद्धति अत्यन्त प्राचीन है। श्रोता-वक्ता शैली वाल्मीकि

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ८८।

२. एम० विण्टरनिट्ज ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, १६३३, खण्ड २, पृ० ६३२।

रामायण और विमलसूरि के 'पद्मचरित्यं' में भी मिलती है।^१ इस के मूल में कथानक की प्राचीनता को द्योतित करने वाली प्रवृत्ति ही मुख्य जान पड़ती है। परवर्ती काल में प्रबन्धकाव्य की शिल्प-रचना में ये रूढ़ियाँ ज्यों की त्यों अपना ली गयी। हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में इन की सुन्दर संयोजना मिलती है।

काव्य के प्रथम कडवक में जिन-बन्धना है। जिन को अरहंत, अनन्त, महन्त, सन्त, शिव, शंकर और अनादिबन्त विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। फिर, कवि कुलधर का स्मरण कर महापुरुष भविष्यदत्त की कीर्ति का विस्तार करने के लिए प्रवृत्त होता है। किन्तु वह अपनी अयोग्यता का विचार कर कह उठता है कि हे विद्वज्जनो, मैं तुम्हारा स्मरण करता हूँ, क्योंकि मैं मन्दबुद्धि, गुणहीन और अर्थ के विचार से शून्य हूँ। मैं मोहकुरी अन्धकार से व्यामोहित मूर्ख इस दुर्धर व्यापार में प्रवृत्त हुआ हूँ।^२ कवि अपनी असमर्थता प्रकट करने के अनन्तर सज्जनो के सम्बन्ध में कहता है कि जिस प्रकार वैभवहीन हो जाने पर मनुष्य शोभित नहीं होता उसी प्रकार काव्य के गुणों से होन कवि की सहायता सज्जन नहीं करते अथवा कोई भी निर्वन जन शोभा प्राप्त नहीं करता। और फिर बिना धन-सम्पत्ति के पुण्य भी नहीं होता।^३ किन्तु असमर्थ होने पर भी मैं काव्य-रचना कर रहा हूँ। जिस की बुद्धि का जितना विकास होता है वह मनुष्य लोक में उतनी ही प्रकट करता है। क्या ऐरावत हाथी के चिंघाड़ते रहने पर अन्य हाथी अपना चिंघाड़ना छोड़ देते हैं? क्या गगन-मण्डल में चन्द्रमा के उदित होने पर तारागण चमकना छोड़ देते हैं? यदि नहीं, तो मैं भी इस महाकाव्य को निश्चय ही कह रहा हूँ।^४ दुर्जनो के सम्बन्ध में लिखता हुआ कवि कहता है कि उन का काम दोषों

१ आदिकविभोवागमोकेनरिह प्रति धरन । तस्मोत्तररूपेण मध्येतो नारदकृतं रामचरितवर्णनं,
तच्छ्रवणफलकथनं च ।

तप स्वाध्यायमनिरत तपस्वी वाग्निदावरम् ।

नारद परिप्रच्छ वाक्मीकिर्मुनिपुंगवम् ॥

—वाक्मीकिरामायण, मानकाण्ड १.१ ।

- | | |
|---------------------------------|-----------------------------------|
| २. बुधयण मभ्रानमि तुम्ह तिन्धु | हउं मंयबुद्धि निरगुणु निरगुणु । |
| मोक्षधराबामोहमुहु | दुग्धवावाग्गकारिहृद् । १.२ । |
| ३. किं करमि खोणविह्वल्पहाय | णउ लहमि मोह सज्जनसहाय । |
| अह गिह्णु जणु सोहह ण कोउ | धणुसंयय विणु पुण्हि ण होइ ॥ १.२ ॥ |
| ४. जसु जित्तिउ बुद्धिवियासु होह | सो तित्तउ पयइइ मच्चलोइ । |
| पिण्णिवि अइरावउ गुलुगुनंतु | किं इयरएत्थि मा मउ करंतु । |

महाकव्यकर्तृह ताहं तणिय किं ववण कह ।

किं उइय मयकि जोइंगणउ म करउ पइ ॥ १.२ ॥

सुलन।

अहना ण इत्थ दोसो जइ उइयं ससहरेण णिसिसमए ।

ता किं णहु जोहउजइ भुअणे रयणीसु जोहकथं ॥ संवैसारानक, १.८ ।

जइ मयगणु मउ करए कम्मदलव्वहल्लगंधदुप्पिच्छो ।

जइ अइरावइ सतो ता सेसगया मा मच्चंतु ॥ वही, १.१ ।

जा जत्थ कम्मसत्थी सा तेय अलज्जिरेण मणियव्वा । वही, १.१७ ।

को ढूँढ़ निकालना ही होता है। इसलिए मैं तो उन्हें गुणवन्त ही कहता हूँ। उन पर क्रोध क्यों करना चाहिए? श्रेष्ठ कवि भी अपशब्द को ढूँढ़ता है। उस को सैकड़ों दोष उद्भासित होते हैं।^१ कवि कथा के सम्बन्ध में प्रकाश डालता हुआ कहता है कि सेठ श्रेणिक के पूछने पर गौतम गणवर ने यह श्रुतपंचमी विधान कहा, जिस से यह कथा प्रचलित हुई।^२ आत्म-परिचय के आरम्भ में कवि इतना ही कहता है कि वर्णिग्वर धनपाल ने बिन्तन कर इस दुःखमय काल में श्रेष्ठ आचार्यों से प्राप्त कर इस कथा को अभिव्यक्त किया है।^३

उक्त काव्य-रूढ़ियाँ सन्देशरासक, पद्यावत और रामचरितमानस आदि में कुछ परिवर्तन के साथ लगभग सभी दिखाई देती हैं। इस से यह पता चलता है कि भारतीय प्रबन्धकाव्य के मध्य युग में प्रबन्ध-संघटना के लिए काव्य-रूढ़ियाँ आवश्यक मानी जाने लगी थी। वाल्मीकि रामायण और संस्कृत के प्रबन्धकाव्यों में मंगलाचरण को छोड़ कर अन्य काव्य-रूढ़ियों के दर्शन नहीं होते। वस्तुतः यह अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की अपनी परम्परा है, जो लोकधारा से प्रवाहित रही है। सम्भवतः प्राकृत के काव्यों से इस प्रबन्धात्मक संघटना का विकास हुआ। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में इन में क्या-कैसा विकास हुआ—इस का विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

वस्तु-वर्णन

आलोच्य ग्रन्थ में वस्तु-वर्णन कई रूपों में मिलता है। कवि ने जहाँ परम्पराभूक्त वस्तु-परिगणन, इतिवृत्तात्मक शैली को अपनाया है, वही लोकप्रचलित शैली में भी जन-जीवन का स्वाभाविक चित्रण कर लोकप्रवृत्ति का परिचय दिया है। परम्परागत वर्णनों में नगर-वर्णन, नखशिख-वर्णन, वन-वर्णन और प्रकृति-वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें कोई नवीनता लक्षित नहीं होगी। किन्तु कहीं-कहीं संविलष्ट योजना द्वारा सजीवता सहज रूप में प्रतिबिम्बित है। कई मामिक स्थलों की यथोचित संयोजना काव्य में रसात्मकता में अतिप्रोत है। यद्यपि कुछ स्थलों पर काव्य विवरण प्रधान हो गया है, पर वस्तु-वर्णनों में मुख्य रूप से रसात्मकता की पूरी समरसता देखी जाती है। घटना-वर्णनों के बीच अनेक मामिक स्थलों की नियोजना स्वाभाविक रूप से हुई है, जिन में कवि की प्रतिभा अत्यन्त स्फुट है। मुख्य वर्णन इस प्रकार है—

नगर-वर्णन

इसमें बगीचों, धन-धान्य, सरोवरो, सरिताओ, पक्षियों और नगर की समृद्धि का वर्णन है। कवि ने संक्षेप में वर्णन कर वहाँ की सघन और शीतल अमराइयों को

१ परिग्रहसङ्ग्रहि वावाक जासु

अवसङ्ग गवैसङ्ग बर कईहु

२ तहो गणहरु गोयमु गुणवरिट्टु

पुच्छंतह सुअपचमिबिहाणु

३ चितिय धनवाले बणिवरेण

गुणबंतु कहिमि कि कोवि तासु।

दोसङ्ग अम्भासङ्ग महसईहु। १,३।

ति तइयहं जं सेणियहु सिट्टु।

तहि आयउ एहु कहाणिहाणु। १,४।

सरसङ्ग बहुलद महावरेण। १,४।

और संकेत करते हुए कहा है कि उस गजपुर नाम के नगर में पबिकजन पेड़ों की छाया में घूमते हुए, रात में दल के दल बिहार करते हुए, हास-परिहास करते हुए, गन्ने का रस-पान करते हैं। वह इतना वैभवपूर्ण और सुखी नगर है मानो आकाश से खिसक कर स्वर्ग का एक खण्ड ही पृथ्वी पर अबतीर्ण हुआ हो। (१, ५)

एक अन्य स्थल पर उजाड नगरी का वर्णन करते हुए कवि ने मार्मिक दृश्यों की इतनी सुन्दर संयोजना की है कि आँखों के सामने चित्रपट की भाँति विविध चित्र मालाओं के रूप में एक के बाद एक घूमने लगते हैं। चित्रण जहाँ यथार्थ है वहीं कल्पना-गत बिम्बों की सजीवता भी दर्शनीय है। ऐसे स्थलों पर कवि की रागात्मिका वृत्ति वर्णनों में विशेष रूप से रमी है और कल्पना करते-करते वह थकती नहीं है; वरन् सुन्दर से सुन्दर कल्पना-प्रसूत वास्तविक चित्र अंकित करती जाती है। चित्र है—भविष्यदत्त उस तिलकद्वीप की सुन्दर नगरी में, जो चारों ओर से गोपुर और परिखाओं से घिरी हुई थी तथा श्वेत कमल के समान जिसमें स्वच्छ घर थे और जो मणि तथा रत्नों की कान्ति से जगमगा रहे थे, ऐसी बोधित हो रही थी मानो बिना जल का सरोवर छबि बिखेर रहा हो, ऐसी उस नगरी में घूमता हुआ अत्यन्त आश्चर्य से एक-एक वस्तु को देखता हुआ कहता है—भवनों की लिङ्कियाँ अघखुली क्या दिख रही हैं मानो किसी नयी बहू की ही अघखुली तिरछी आँखें हों, अथवा फलकों के बीच का भाग क्या दिखालाई दे रहा है मानो कुछ-कुछ काम से अन्धों हुई युवती ही अपनी अघखुली जाँघों का प्रदर्शन कर रही हो। धन-सम्पत्ति से भरे हुए भाँडे-बरतन क्या दिख रहे हैं मानो कोई नागिन हों अपने मुकुट के चित्र-विचित्र रेखा-चिह्नों को ही प्रकट कर रही हो। छेदों में से दिखाई देने वाला प्रकाश ऐसा जान पड़ रहा है मानो धन की अभिलाषा में किसी एक पुरुष ने एकान्त में दीप जलाया हो। इतना ही नहीं, खम्भे अविचल योगियों की भाँति ऐसे दिखाई दे रहे थे मानो सूरति-क्रीडा आरम्भ करने के पहले युवक और युवती वसनहीन हो गये हों। गोपुर के मार्ग भी अब गायों की धूल से रहित हो गये हैं। बगल में से पवन से उड़ायी हुई ध्वजा-पताकाएँ चंचल दिखाई दे रही हैं। जो बड़े-बड़े भवन चिर-काल से लोगों से व्याप्त थे वे अब रति-क्रीडा समाप्त कर लेने वाले दम्पति युगल की भाँति निःशब्द हैं। जहाँ पर निरन्तर पनिहारियों के आने-जाने से बहुत समय तक पनघट शब्दायमान होते रहते थे वे भी अब भाग्यवश मूक हो गये हैं। (४, ८)

कंचनद्वीप-यात्रा-वर्णन

वस्तु-वर्णन में कवि ने जिस रीति को अपनाया है, उस में वर्णन विस्तार या चित्रण न हो कर समास शैली में विवरण और वर्णन दोनों का सामंजस्य दिखाई देता है। मुख्य रूप से कवि की प्रवृत्ति प्रकृति से मेल-मिलाप न कर मानवीय भावनाओं से प्रभावित तथा सब ओर उस की ही आन्तरिक और बाह्य छबि निरखती प्रतीत होती है। यद्यपि मार्ग में विभिन्न पदार्थों के, जलजन्तुओं के और पर्वत आदि के मनोहर

दृश्यों का सुन्दर वर्णन किया जा सकता था, पर कवि ने चार पंक्तियों में ही गजपुर से मैनाग द्वीप की दूरी नाप कर अत्यन्त संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है—

लघंतइ दीवंतरघलाई पिकलंति विविह कोऊहलाई ।
इय लीलइ वच्चंताहं ताहं उच्छाहसतिविक्रमपराहं ।
दुप्पवणिं घणतरुवर समोवि वहणइ लग्गइ मयणाविदीवि । (३, २३)

इस से ऊपर के कड़वक में कवि ने वर्णन करते हुए कहा है कि वे सुन्दर कुँवर रंग-बिरंगे घोड़ों पर चढ़ कर कुरुजंगल की घरती से दूर मलकते हुए चले जा रहे थे। बड़े-बड़े जंगलों, पुर, ग्राम, खेडों और थोड़ी थोपड़ियों वाले गाँव-गंवइयों को लाँघते हुए, जमुना नदी तथा दुर्गम नदियों और स्वानों को पार कर, अन्यान्य मावा-भाषियों से देखे जाते हुए समुद्र के तट पर पहुँच गये। इस वर्णन में भी उक्त प्रवृत्ति स्पष्ट है—

चडुलगतुरंगिहि आरुहिबि संचल्लिय सुंदर कुमर ॥ (३, २१)
अगोयदिसई मल्लंति जंति कुरुजंगल महिमंडलु मुयंति ।
लघंति वियणकाणण पलंब पुरगामखेडकवडमडंब ।
जउणाणइ सल्लु समुत्तरेवि जलदुग्गइ थलदुग्गइ सरंवि ।
अण्णण देसभासइ णियंत रयणावरे बेला उलइ पत्त । (३, २२)

समुद्र-वर्णन

समुद्र का वर्णन पौराणिक न हो कर कवि का मूल प्रवृत्ति का परिचायक है। वह समुद्र को धीर-गम्भीर महापुरुष की भाँति चित्रित कर उस की गहनता, शालीनता और मर्यादाशीलत्व का चित्र एक ही पंक्ति में अंकित कर देता है—

लक्खित समुदु जललवगहीर सप्पुरिसु व पिरु गंभीर धीर । (३, २२)

‘जललवगहीर’ कह कर उस की पूर्णता की ओर संकेत किया गया है। जब मनुष्य विचारों और अनुभवों में उथला होता है तब वह चंचल तथा उछल-कूद मचाने वाला होता है, पर भरा-पूरा व्यक्ति गंभीर और संयमो होता है। मनुष्य में इच्छा और महत्वाकांक्षाओं का होना स्वाभाविक है। समुद्र में भी सौं के बिष की भाँति बिष से व्याप्त बिषम लहरें बड़े-बड़े तटों पर किलोल-क्रीड़ाएँ कर रही थीं। और उस समय वह समुद्र-तट लहरों के टकराने से ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो खरीदने और बेचने वाले मनुष्यों का कलकल कोलाहलमय बचनालाप हो रहा हो।

आसोविसोव्व विसविसमसीलु बेलामहल्लकल्लिललीलु ।

दिट्ठई विउलइ वेलाउलाई कयविकयरयवयणाउलाई । (३, २२)

यहाँ पर ‘आसोविसोव्व’ कह कर कवि ने सौं की भाँति लहराती हुई तथा बार-बार समुद्र के किनारे को चूमती हुई लहरों का कितना सुन्दर चित्र बिम्बार्थ के माध्यम से चित्रित किया है। नीचे की पंक्ति में भारत की किसी हाट से समुद्र के तट की कितनी सुन्दर समता दर्शायी है। थोड़े में ही कवि ने बहुत कुछ कह दिया है।

विवाह-वर्णन

इस वर्णन में हमें परम्पराभूत पद्धति का दर्शन न हो कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण दिखाई देता है। सेठ धनवद के विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं। मण्डप तान दिये गये हैं। घर-घर तोरण बाँध दिये गये हैं। वह परम छवि सभी का मन हर रही है। सैकड़ों वितान (चंदोबे) जनता का मन चुरा रहे हैं। घरती पर मँडवा गड़ा हुआ है। कई रंगों के सुगन्धित चन्दन छिड़के जा रहे हैं। अगुरु चन्दन से सैकड़ों घर सुगन्धित और शोभित हो रहे हैं। मुख देने वाले सज्जनों की तरह सरस कमल अविरल विकीर्ण किये जा रहे हैं। निज योत्र एवं कुल के जनों से साँथरी तथा मोतियों से भरी जाने वाली रंगावली के रचे जाने पर विशिष्ट स्वजनों के साथ बैठ कर वार्तालाप किया जाने लगा। राजा को पीठा पर बैठाया गया। फिर, हास-परिहास को छोड़ कर भोजन के लिए सुन्दर वस्त्रों को उतार कर लोग अन्तःपुर में पहुँचे। घर के प्रधान न अनेक भक्ष्य तथा सुन्दर पदार्थों का भोजन कराया। फिर, पान, वस्त्र ले कर जो जिस के योग्य था उसे प्रदान किया। भेरी, बाँल, मादल आदि मागलिक वाजों से दसो दिशाएँ भर गयीं। कवि की कल्पना है कि उस समय ऐसा लग रहा था मानो अच्छे मुहूर्त और तक्षत्र को देख कर प्रत्यक्ष स्वर्ग ही भूतल पर उतर आया हो।

क्रिय मंडवसोह घरि घरि	बढ़इ तोरणइ ।
उल्लाख सयाई रहइइ	जणमण चोरणइ ॥ (१,८)
खंचिय मेहणि तंडविय वण्ण	वहु परिमलचंदणछडय दिण्ण ।
अविरल पइण्ण सरसारविन्द	पूरिवि णिविट्ठ सुहिसयणविद ।
कालागुरु खण्डइ बोहियाइ	वरभवण सयई उवसोहियाइ ।
णिय गोत्तमाई मंगलवलीउ	पूरिवि मोत्तियरंगावलीउ ।
संभासिउ सयणु विसिट्ठु इट्ठु	णरणाहु चउक्कासणि बइट्ठु ।
पुणु किउ परिचित्ति संपहाइ	वरभोयण वत्थाहरणसाइ । (१,९)

इस काव्य में विवाह का वर्णन तीन स्थलों पर हुआ है। चौथे स्थान पर तेल चढ़ाने का वर्णन है। इन वर्णनों को ध्यान से पढ़ने पर पता चलता है कि उस युग में वैवाहिक रीति-रिवाज आज की ही भाँति समाज में प्रचलित थे। विवाह के लिए मण्डप, गाडे जाते थे। रंगावली पूरी जाती थी। मंगल-कलश और वन्दनवार सजाये जाते थे। मंगल वाद्यों के साथ भाँवरें पड़ती थी और लोगों को भोज दिया जाता था। कन्या महावर से चरणों को रजित करती थी तथा आँखों में कज्जल और माथे पर तिलक लगाती और वस्त्राभूषणों से सज्जित होती थी। विवाह में विशेष रूप से श्वेत वस्त्र को छोड़ कर रंगीन परिधान धारण करती थी। दहेज की भी प्रथा थी। धनवद ने स्वर्ण, मणि और रत्नों का लोभ छोड़ कर सज्जन लोगों के कहने से धनवत्त की पुत्री सरूपा को व्याहा था—

अवगणिवि सुहिसउज्जवयणई मोकल्लिवि सुवणमणिरयणई ।
णियणयविणयायारिपइत्तहो मगिगवि लइय धीय धणयत्तहो । (३,१)

युद्धयात्रा-वर्णन

युद्ध के लिए जाती हुई अपने नगर को पूरी सेना को देख कर लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्रलय काल हो सेना के रूप में प्रकट हो गया हो । यथा—

..... अवलोइय णियमडबलु असेसु ।
दरिसहु कुरुजंगलि पलयकालु, कुरुवइ उखिणहु समूलडालु ।
गयउरिपायारपओलिअंगु दरमलहुलुहिबि बलु चाउ रंगु ।
हयभेरिपयाणउं णवर दिणु घरदरमलंतु संवल्लिउ सिणु । (१३,१३)

उक्त पक्तियों में युद्धयात्रा का कितना सजीव वर्णन है ! पढ़ते ही सेना द्वारा धरती रौंदने का चित्र आँखों के सामने घूमने लगता है ।

युद्ध-वर्णन

युद्ध का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ कवि ने किया है । घनघोर युद्ध का सजीव वर्णन नीचे की पक्तियों में अत्यन्त सजल है—

हरिखरखुररणखोणो खणंतु गयपायपहारि घरदरमलंतु ।
हणु मारि मारि करयलु करालु सण्णद्वबद्धभइयडवमालु ।
तं णिइविसधण अहिमुहु चलंतु धाइउ कुरुसहणु पडिखलंतु । (१४,१३)

पद-योजना भी विकट बन्ध के अनुकूल है । आगे का वर्णन बिम्ब-योजना से पूर्ण होने के कारण काव्यात्मक तथा यथार्थ चित्रण से समन्वित है । रणस्थली में घोड़ों के तेज खुरों से उठती हुई सधन धूलि को देख कर कवि कल्पना करता है कि वह धूलि क्या थी मानो योद्धाओं की परसन्तापाम्नि से उत्पन्न होने वाला धुँआ ही सब ओर व्याप्त हो रहा था । धूलि आकाश तक फैल रही थी, जिस से जग में चारों ओर अन्धकार छा रहा था । इतना अधिक अँधेरा छा गया था कि योद्धाओं को अपनी और दूसरों की तलवार तक नहीं दिखाई दे रही थी—

तो हरिखरखुरगसंघटिटं छाइउरणअतोरणे ।
णं भडमच्छरग्गि संघुक्कण धूमतमंघयारणे ॥
धूलोरउगयणंगणु भरंतु उट्ठिउ जगु अंधारउ करंतु ।
णउ दीसइ अप्पणपरु सखम्पु ण गइंदु ण तुरउ ण गयण मम्पु । (१४,१४)

तैल चढ़ाने का वर्णन

विवाह होने के पूर्व भविष्यानुकूपा को घनवह के घर तैल चढ़ाया जाता है । यह एक सामाजिक प्रथा है । आज भी तैल चढ़ाने की प्रथा भारतवर्ष के विभिन्न भागों में

वर्तमान है। कमलश्री वहाँ पहुँचती है। इतने में ही तैल चढ़ाने का भी शुभ मुहूर्त आ पहुँचा। किसी एक स्त्री ने वधू के पास जा कर उसे सब लोगों के बीच समाश्रित किया। पहले सोचा कि यह अत्यन्त व्याकुल है, इसलिए ब्या करे; पर प्रावरण के भीतर ही हँस कर मन ही मन तैल लगाना आरम्भ कर दिया। किसी अन्य स्त्री ने उसे आबरणरहित कर दिया और बहुत देर तक वह उस के हाथ के नाखूनों को देखती रही। कोई निरन्तर कटाक्षपात से अनुरंजन करती रही। कोई परस्पर हास-परिहास करने लगी। किसी अन्य स्त्री ने भविष्यान्तरूप के अंगों की भलीभाँति देख कर कहा कि इमे तो बहुत पहले ही तैल लग चुका है। चतुर युवतियाँ मुँह पर धोती का पल्ला रख कर हँसने लगी। फिर ब्या था, स्त्रियाँ आपस में कई तरह की बातें करने लगी—

.....	आयह तिल्लि करहु सुमुहूर्ति ।
अण्हि सुमुहु समासिउ मुद्धई	किं किज्जइ विग्गोवउ मुद्धई ।
ताइवि पंगुरणहु अब्भंतति	लाइउ तिल्लु हसिबि चिस्तति ।
अण्हं तहि पंगुरणहु बिबत्तिउ	दिट्ठउ चिर करुहवणपत्तिउ ।
अण्हं अहरउ णयणकडक्खिउ	अण्णिबि हसिबि अण्हि अक्खिउ ।
अण्हं वुत्तु णिहालिबि अंगउ	आयहिं कहिंमि तिल्लु चिर लगउ ।
मुहि अंचलु देवि हंसइ	समुब्भट्ट तरुणियणु ।
लइ लायहु तैल्लु	वालहिउब्भंवरिउ तणु ॥ (९, २१)

इस प्रकार हास-परिहास के बीच तैल चढ़ाने का वर्णन लोक-जीवन के सामाजिक महत्त्व को हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

वसन्त-वर्णन

कवि ने वसन्त-वर्णन में जहाँ सामान्य इतिवृत्तात्मक वर्णन किया है वही उस में लोक-जीवन की भी झलक दिखाई देती है। यथा—

घरि घरि चच्चरि कोऊह्लाड	घरि घरि अंदोलय सोह्लाई ।
घरि घरि तोरणइ पसाहियाइं	घरि घरि सयणइं अण्पाहियाइं
घरि घरि बहु चंदण छडय दिण्ण	मच्चकुंदवणय दवणय पडण्ण ।
घरि घरि जयमंगलकलसं किय	घरि घरि घर देवय अवयरिय ।
घरि घरि सिंगारवेसु घरिवि	णच्चिउ वरजुवइहि उत्परिवि । (८, ९)

अर्थात् घर-घर कुतूहल से चौंकर खेती जाने लगी। घर-घर हिडोले शोभायमान होने लगे। घर-घर तोरण बाँधे जाने लगे। घर-घर में स्वजन अपने हृदय को अर्पित करने लगे यानी कि बहुत चाद से एक दूसरे से प्रेम करने लगे। घर-घर में चन्दन छिड़का हुआ है। मुचकुन्द के वन के वन फूल उठे हैं। घर-घर पर जयमंगल कलश शोभित हो रहे हैं मानो किसी देवता ने ही अवतार लिया हो। घर-घर में अच्छे वेश में सुसज्जित हो स्त्री-पुरुष नाच-गान में रत हो रहे हैं।

अपभ्रंश की कई रचनाओं में चर्चरी, तालरासक, डाडारास और रासनृत्य आदि का उल्लेख मिलता है, जिस से पता चलता है कि लोक-जीवन में उस समय उन का विशेष प्रचार था ।

बाल-वर्णन

वसन्त-वर्णन की भाँति बाल-वर्णन भी स्वाभाविक रूप में हुआ है । शिशु भविष्य-दत्त का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि माता कमलश्री के उठे हुए पीन स्तनों से सट कर और गले के हार को धकेल कर बालक स्तनपान करता है । वह लोगो के हाथो-हाथ धूमता है । अपने अच्छे चरित्र से सभी को मुहाता है । स्त्रो-पुरुष सभी उसे गोद में लेते हैं । श्रेष्ठ बिलासिनी स्त्रियाँ भी उसे चूमती हैं ।

कमलसिरिहि पीणुण्यसट्टइं	पेल्लिवि हारु पियइ थणवट्टइं ।
हण्हिहत्थु भमइं जणविदहो	चरिय सुहावउ सुट्टु णरिदहो ।
णरणाहिं सइं अंकि लड्डज्जइ	चामरगाहिणीहिं विज्जिज्जइ ।
पवरविलासिणीहिं चुविज्जइ	अण्णहिं पासिउ अण्णडं लिज्जइ ।
सीहासण सिंहरोवरि मुच्चइ	वरविलयहं सिरि कुहलवि लुच्चइ । (२, १)

बालक की इन स्वाभाविक चेष्टाओं का वर्णन करता हुआ कवि आगे कहता है— जब कोई भविष्यदत्त का चुंबन लेता है तो उस के कपोलों से छूने वाले वस्त्र को वह स्तन समझ कर दूध पीने के लिए उस के गले लग जाता है । अपने कोमल पगों से स्तन पर पड़े हुए हार को दलता है और जड़े हुए श्वेत हार को तोड़ता है ।

चुविज्जंतु कवोलइं चीरइं	गलि लमंतु थणहिं अहिं खीरइ ।
कोमलपर्याहिं दलइ थणहारइं	आखंछिवि तोडइ सियहारइं । (२, १)

इन वर्णनों में कवि की प्रतिभा का प्रदर्शन न हो कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण है । इन को पढ़ने से सहज में ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने लोककथा के साथ ही जन-जीवन का भी पूर्ण सामंजस्य पौराणिक तथा लोक शैली में अभिव्यंजित किया है ।

राजद्वार-वर्णन

भविष्यदत्त राजद्वार पर पहुँच कर देखता है कि योद्धाओं के ठट्ठ के ठट्ठ संघार कर रहे हैं । विस्तृत मैदान में हाथी किलों कर रहे हैं । तुर्की देश के घोड़े हिनहिना रहे हैं । राजद्वार सशक्त सामन्तो से संकुल है । उस द्वार के भीतर प्रवेश करने वाला कनकदण्ड से ही रोक लिया जाता है । वहाँ कोई मनमानी नहीं कर सकता, स्वच्छन्द विहार नहीं कर सकता । सभी का मान वहाँ पर गल जाता है । उस राज-द्वार की भोट, जाट, जालन्धर, मारवाड, टक्क, कोर, खस, बर्बर, मरु, अंग,

कलिंग, बैराटक, गुजरात, बंगाल, लाट और कर्नाटक देश के लोग प्रतिहारी के रूप में रक्षा करते हैं ।

णिग्गड षणिवरिंदु पट्टवारहो	भडधडणिवहविसमसंवारहो ।
जहि गय गुलुगुलंति पिहू जंगम	हिलिहिलंति तुक्खारतुरंगम ।
जहि मंडलिय सक्कसामंतहं	णिवडइ कणयदंडु पइसंतहं ।
गलइ भाणु अहिमाणु ण पुज्जइ	णियसच्छंदलील णउ जुज्जइ ।
जहि अब्भोट्टजट्टबालंघर	मारुअटक्ककीरखसवब्बर ।
मरुवेयंगकुंगवेराडवि	गुज्जरगोडलाडकण्णाडवि ।
इप एमाइ मुक्क सबसुंघर	अवसरु पडिबालंति महाणर । (१०, १)

इन देशों की नामावली से पता चलता है कि राजा भूपाल का राज्य कितना विस्तृत था । दूसरे, उस युग में कई छोटे-छोटे राज्य थे । तीसरे, तुर्क आदि देशों से भारत के अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध थे । वहाँ के घोड़े युद्ध में अच्छा काम देते थे । क्योंकि तुर्की घोड़े सब से अच्छी जाति के माने गये हैं ।

शकुन-वर्णन

भविष्यदत्त उस गहन वन में जिन का स्मरण करता हुआ रोमांचित हो कर इधर-उधर घूमने लगा । इतने में ही शुभ शकुन उत्पन्न करने वाली बातें दृष्टिगत होने लगी । एक ओर श्याम चिरैया उड़ती हुई दिखाई दी और दूसरी ओर बायी ओर से मधुर वायु बहती हुई लक्षित हुई । प्रिय से मिलाप करने वाले मधुर शब्दों में कौआ कुलकुलाने लगा । बायी ओर मधुर मूसकान के साथ लावा पक्षी दिखाई दिया—और दाहिनी ओर मैना दिखाई दी । दाहिनी ओर और बाहु फटक कर यह सूचित करने लगे मानो यह कह रहे हों कि इसी मार्ग से जाओ ।

जिणु समरंतु संबलित धीरु	वणि हिडइ रोमंचिय सरीरु ।
सुणिमसई जायई तासु ताम	गयपयहिणंति उड्ढेवि साम ।
वामंग सुत्ति रुहरुहइ बाउ	पिय मेलावउ कुलुकुलइ काउ ।
वामउ किलिंकचिउ लावएण	दाहिणउ अंगु दरिखिउ मएण ।
दाहिणु लोयणु कंदइ सवाहु	णं भणइ एण मग्गेण जाहु । (४, ५) ।

वन-वर्णन

यद्यपि मैनाग द्वीप के वर्णन में कवि ने कुछ वृक्षों के नाम गिनाये हैं, पर कवि की प्रणाली परिगणनात्मक न हो कर उस द्वीप में मुख्यता से पाये जाने वाले पेड़ों की दर्शना है । वन-वर्णन में भी प्रमुख पशु-पक्षियों के नाम कहे गये हैं, पर कवि वन की भयंकरता और उस में भविष्यदत्त का इधर-उधर भटकना बताना चाहता है । भविष्यदत्त मरण के भय को छोड़ कर उस वन में घुस गया, जहाँ सिंह प्रवर्तमान था और जहाँ

दिशा मण्डल नहीं दिखाई देता था । जहाँ पर दुःख का प्रभाव स्पष्ट था, उस भीषण वन में घूमता हुआ वह बड़ी कठिनाई से क्रोध से भरे हुए मृगेन्द्र को देख सका । किसी स्थान पर हाथियों के झुण्ड के झुण्ड थे और कहीं पर काले-काले गेंदे किलोले कर रहे थे । भविष्यदत्त ने देखा कि कहीं दर्प से भरे हुए हाथी चले जा रहे हैं, जो न तो किसी से नष्ट किये जा सकते हैं और न जिन्हें कोई रोक हो सकता है । कहीं पर गाढ़े काजल की तरह काले-काले सुअर भरती पर लोटते हुए और जलाशयों से निकलते हुए दिखाई दे रहे थे । कहीं पर नाचते हुए मोर अपने आप को भूल रहे थे । कहीं पर भयंकर शब्द हो रहा था और किसी स्थान पर बाँसों की पंक्ति में दावानल सुलग रहा था ।

पड़टो वर्णिदो बणे तम्मि काले
दिसामंडलं जत्थे णाउं अलक्खं
भमंतो सुभीसावणं तं वर्णं सो
कहिचिप्पएसे सज्जुहं गइंदं
कहिचिप्पएसे णिएउं णरिंदं
कहिचिप्पएसे घणं कज्जलहं
कहिचिप्पएसे मऊरं पमतं
कहिचिप्पएसे समुण्णोणघोसो

पड़टो तहि दुण्णिक्खे खयाले ।
पहायं पि जाणिज्जए जम्मि दुक्खं ।
णियच्छेइ दुप्पेच्छराइ सरोसो ।
महाणीलकल्लोल गण्ड सणिहं ।
ण णट्ठं ण रुद्धं सदप्पं मइंदं ।
गयं भुंदि णीसावराहं बराहं ।
णइतं पि अप्पाणयं विण्णइतं ।
हुओ पायडो वंसयाले हुयासो । (४, ३)

रूप-वर्णन

आलोच्य ग्रन्थ में रूप-वर्णन कई स्थलों पर हुआ है । कमलध्री के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह गोल, सुन्दर कटिवाली तथा सुन्दर एवं विकसित स्थूल स्तनों से युक्त थी । उस का मुख पूनम के चन्द्रमा जैसा गोल और सुन्दर था । बड़ी-बड़ी आँखें नये कमल के पत्ते के समान थीं । वह स्थिर थी और कलहंस के समान चाल रखती थी । यह तो उस के बाह्य सौन्दर्य का वर्णन हुआ । अन्तरंग में वह इतनी उज्ज्वल, पतिव्रता और भक्ति से ओतप्रोत थी कि कवि ने उसे "अल्लिय जिणवर-सासणिभत्ती" कह कर उस की पूर्ण विशेषताओं को सरसता से अभिव्यक्त कर दिया है ।

सा कमलसिरो णाउं तहु पत्ती
समचक्कल कडियल सुमणोहर
छणससिबिबसमुज्जलवयणी

अल्लिय जिणवरसासणिभत्ती ।
विजडरमणघणपीणपओहर ।
णवकुवलयदलदीहरणयणी । (१, १२)

सरूपा के रूप का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह पूनम के चन्द्रमा के समान सुन्दर और भौरे की भाँति मधुर वचनालाप करने वाली थी । दाँतों की पंक्ति की प्रभा से उस का मुख प्रहसित था । सकल कला-कलापों से पूर्ण वह अभिनव लक्ष्मी के समान अवतीर्ण जान पड़ती थी ।

पुण्णिममइंदं रुंदससिवयणी
सयलकालाकलावसंपुण्णी

दंतपंतिपह प्हसिय वयणी ।
अहिणवलच्छि णाई अवइण्णी । (३, २)

यद्यपि आलोच्य ग्रन्थ में वर्णनों में आवृत्ति नहीं दिखाई देती है, पर कुछ नये उपमानों को छोड़ कर प्राचीनता का ही अधिक आश्रय लिया गया है। अतएव नल-शिल्प-वर्णन की भी प्रवृत्ति मिलती है। काम-क्रीड़ा का वर्णन, मान धारण करता और प्रणयरोष आदि का यथास्थान उल्लेख हुआ है। कवि ने नल से ले कर शिल्प तक का पूरा वर्णन किया है। वर्णन-शैली पुरानी होने पर भी काव्यगत उपमान नये हैं। उदाहरण के लिए भविष्यानुरूपा के अग पर रोमावलि (त्रिवलि) ऐसी शोभित होती थी जैसे कोई चीटी की कतार हो।

रोमावलि वलि अंगि विहावइ धिय पिपोलिरछोलि व णावइ । (५, ९)

इसी प्रकार उस की चारों ओर से गोल और पतली कमर बीचोंबीच में हतनी पतली थी कि करतल की मुट्ठी में समा जाती थी।

समचक्रकल कडियलु किमु मज्झउ णज्जइ करयलु मुट्ठिहि गिज्झउ । (५, ९)

तथा रत्नाभरण से विभूषित उस का कण्ठ ऐसा शोभित हो रहा था जैसे कि समुद्र के उपकण्ठ में तटवर्ती श्री भूषित होती है।

रयणाहरण बिहूसिय कंठि बेलासिरि व उवहि उवकंठि । (५, ९)

संक्षेप में कवि ने, गुण और क्रिया के योग से सम्पूर्ण चित्र को अभिव्यजित करने की अद्भुत क्षमता है। मुक्तक काव्य की यह स्वतन्त्र विशेषता मानी जाती है^१। वस्तुतः अप्रस्तुत-योजना जाति, गुण, क्रिया, शक्ति एवं स्वभाव के आधार पर की जाती है। कवि किसी एक का अवलम्बन ले कर दोनों पक्षों का आधारभूत चित्र स्पष्ट कर देता है। यह विशेषता खंडो बोली की कविता में ही नहीं अपभ्रंश की कविता में भी पूर्ण रूप से विद्यमान है। छायावादी कविता में अवश्य नवीन अप्रस्तुत योजना दिखाई देती है, जिस में प्रस्तुत अप्रस्तुत में ही अन्तर्निहित नहीं होता वरन् प्रस्तुत ही अप्रस्तुत बन जाता है।^२

प्रस्तुत काव्य में अप्रस्तुत-विधान, क्रिया-व्यापार और सादृश्य दोनों ही रूपों में हुआ है। नीचे की पंक्तियों में भविष्यानुरूपा के गुण और उस के सौन्दर्य को दर्शाने के लिए कवि ने क्रियागत साम्य की ओर संकेत किया है—

णं वम्महभल्लि विवणसोलजुवाणजणि ।

तहि पिक्खवि कंति विभिउ ज्जति कुमार मणि ॥ (५, ८)

अर्थात् मुक्तकों के हृदय को घीघने के लिए कामदेव के भाले के समान उस सुन्दरी को देख कर कुमार भविष्यदत्त का मन तुरन्त ही आश्चर्य से चकित हो गया।

यहाँ 'कुमारमणि' कितना सार्थक प्रयोग है।

१ मुक्तकेषु हि प्रबन्धविशेष रसबन्धाभिनिवेशिन कवयो दृश्यन्ते, यथा ह्यमरकस्य कवेर्मुक्तक शृङ्गाररसस्यन्दिन. पद्म-भायमाना प्रसिद्धा एव । ध्वन्यालोक, तृतीय उच्यते ।

२ डॉ० माहन अवस्थी 'खड़ीबोली काव्य की अप्रस्तुत-योजना', हिन्दुस्तानी, भाग २३, अंक १, पृ० ८ ।

मैनागद्वीप का वर्णन

यह वर्णन वास्तविक और लोक-जीवन से भरपूर है। गजपुर से चल कर सब लोग समुद्र-तट पर पहुँचते हैं और वहाँ से पोत में बैठ कर मैनागद्वीप के तट पर पहुँचते हैं। सभी प्रमुख लोग उतर पड़ते हैं। देखते हैं—सामने आँखों की सुहावना लगने वाला, दुर्लभ, दुर्गम और बड़ी कठिनाई से भ्रमण करने पर भी अत्यन्त प्यारा मैनाग नामक पर्वत स्थित है। उसी के घने पेड़ों के पास मैनागद्वीप है। वे सब लोग वही पर घूमने लगे। कुछ लोग आलस्य को छोड़ कर पानी लाने लगे। कुछ घड़े भरने लगे और कुछ जो घड़े भर कर ला रहे थे उनको हाथों में सँभालने लगे। उस वन में चंचल तमाल, ताल, मालूर, माल और सलाई आदि के सुन्दर वृक्ष थे। कहीं पर कमलों से भरित सरो-वर शोभित हो रहे थे। किसी ओर पानी के झरने प्रतिष्ठित हो रहे थे। हाथों के झुण्ड घूम रहे थे। सुन्दर वृक्षों के प्रसून मकरन्द से भरित सुगन्ध बिखेर रहे थे। किसी ओर मनोहर किशलय और पत्ते थे तो किसी ओर रस से भरे हुए फल।

तरलतमालतालमालूरमालसल्लहदुमरवण्णु ।

विकल्लइ कहिमि ताई पकयसर्राई सयवत्तसोहियाई ।

कत्थइ पाणियाई अवमाणियाइ करिजुहू डोहियाई ।

कत्थइ णिज्जर्राई पडिरवकर्राई जलरेणु भूसियाई ।

वरतरुकुमुमगधपरिमलसुयधमयर्दमोसियाई ।

कत्थइ मणहर्राई किसलयहर्राई दलवहउत्तलाइ । (३, २४)

यह पूरा वर्णन व्यावहारिक जीवन की भाँति जाना-माना और पहचाना-सा लगता है। यही इम की विशेषता है। घरेलू बातों का समावेश कर कवि ने लोक-जीवन को ही अभिव्यक्त कर दिया है। कवि को यह प्रवृत्ति स्वाभाविक जान पड़ती है। क्योंकि तैल चदाने के वर्णन में तो अत्यन्त स्पष्ट है ही, पर वसन्त-वर्णन में भी हमें उस युग के लोक-जीवन की साँकी सहज रूप में दिखाई पड़ती है।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति का काव्य में अत्यन्त महत्त्व है। जीवन की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों में कवि की भावनाओं का प्रकृति से साहचर्य स्थापित करना स्वाभाविक ही है, क्योंकि वह उस से प्रेरणा, उत्साह और आनन्द हो नही वरन् अपनी मन-स्थिति का साम्य भी प्राप्त करता है। यथार्थ में मनुष्य हृदय की विविध भावात्मक अनुभूतियाँ प्रकृति से प्रभावित हो कर काव्यात्मक रूप में निबद्ध देखी जाती हैं। प्रकृति मानव की अन्तः-प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों को अतिशय अनुरजित एवं प्रभावित करती है। संस्कृत-काव्यों में प्रकृति-चित्रण शुद्ध परिस्थिति योजना के लिए आलम्बन रूप में दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकि रामायण में प्रकृति का यही स्वरूप देखने को मिलता है। परवर्ती

काल में जब दृश्यकाव्यों की रचना होने लगी और दोनों काव्य-धाराएँ एक बिन्दु पर (रस की दृष्टि से) केन्द्रित हो गयीं, सम्भवतः तभी रस के उद्दीपन के लिए उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण भी आवश्यक हो गया। वस्तुतः भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति किसी भी रूप-विधान में हो सकती है। वह शैली या विषय के अनुसार न हो कर मनःस्थिति और घटनाओं के प्रभाव के अनुकूल होती है। इसलिए सम्भवतः आलम्बन पक्ष का सर्वप्रथम सन्निवेश हुआ। उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण संस्कृत के नाटकों में या मुक्तक रूप में मिलता है। प्रबन्धकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों का विधान संस्कृत में आचार्य दण्डी, राजशेखर और विश्वनाथ ने किया है और हिन्दी में इस का विचार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। मुख्य रूप से उस की चार विधाएँ मानी जा सकती हैं— १. आलम्बन रूप में, २. उद्दीपन रूप में, ३. अलंकृत शैली में और ४. अप्रस्तुत रूप में।

प्रस्तुत काव्य में आलम्बन रूप में तथा लोकशैली में मुख्यतः प्रकृति-चित्रण वर्णित है। वन-वर्णन और वसन्त-वर्णनों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने स्वाभाविक-रीति से कितना सुन्दर वर्णन आलम्बन रूप में किया है।^१ अलंकृत रूप में सन्ध्या का एक दृश्य देखिए—

थिउ बीसवंतु खणु इक्कु जाम	विणमणि अत्यवणहु दुक्कु ताम ।
हुअ संझ तेय तविरसराय	रत्तवह णं पंगुरिवि आय ।
पहिपहिय थक्क विहुडिय रहंग	णिय णिय आवासहो गय विहग ।
मउलियरविद वम्महु वितट्ट	उप्पण्णु वालमिहुणह मरट्ट ।
परिगलिय संझ तं णिइवि राइ	असइ व सकेयहु चुक्क णाई ।
हुअ कसण सवत्तिव मच्छरेण	सिरि पहय णाई मसि खप्परेण ।
हुअ रयणि वहलकज्जलसमोल	जगु गिलिवि णाई थिय विसमसोल ।
अवरोप्पव पयडं तेहि गुज्जु	मिहुणहि पारंभिउ सुरय जुज्जु ।
एहइ पडिवाणि करालि कालि	गहभूयजक्खरक्खसवमालि ।
वणि विसम विएसि विच्चित्त पत्तु	तह वि हुअ कपु कमलसिरिपत्तु । (४,४)

अर्थात् भविष्यदत्त के उस शिला पर बैठने के एक याम के पश्चात् ही सूर्यदेव अस्ताचलगामी हो गये। तब सझा हो गयी। रक्तिम वर्ण का सूर्य घूँघट में मुख छिपाने लगा। पथिकजन मार्ग में ही रुक गये। चक्रवे अपने जोडे से बिछुड़ गये। पक्षी अपने घोंसलों में चले गये। कमल संकुचित हो गये। कामदेव मानो गर्व से भरे हुए बाल मिथुन के रूप में उत्पन्न हो गया हो। खिसकती हुई उस सन्ध्या को देख कर ऐसा जान पड़ता था—मानो उलटे रखे हुए हस्ततल की भाँति रजनी किसी के संकेत से फिसल पड़ी हो। अन्धकार क्या फैल गया था मानो सौत की डाह से कालापन छा गया था। ऐसा लगता था मानो स्याही ही खप्पर में भर कर सिर पर पोत दी गयी हो।

१. वन-वर्णन के लिए द्रष्टव्य है—४,३, मैनागद्वीप-वर्णन ३,२४, तथा—वसन्त-वर्णन-८,८-९।

रात काजल-सी बहुत अँधेरी क्या थी मानो जग को लोलने के लिए कोई विषमशीला (नायिका) हो । उस रात के आ जाने से मिथुनों ने परस्पर गुहा सुरतकालीन युद्ध प्रारम्भ कर दिया था । काल के समान अत्यन्त भयंकर प्राप्त ग्रह, भूत, यक्ष और राक्षसों का संचार हो गया था । इस प्रकार वन में विषमता से भरी हुई विचित्र वस्तुओं को देख कर भविष्यदत्त काँप गया ।

इस प्रकार वर्णन-शैली लोक-साहित्य के अधिक निकट है । इस में कवि-समय की जो दो-चार बातें दिखाई पड़ती हैं वे शास्त्रीय परम्परा का पालन न हो कर प्रसिद्धि के रूप में प्रयुक्त जान पड़ती हैं । उदाहरण के लिए, प्रिया से बिछुड़ जाने के बाद भविष्यदत्त अत्यन्त दुखी होता है और समुद्र तट से फिर वन की ओर चल पड़ता है । वहाँ वह मूर्च्छित हो जाता है और उसे वन की शीतल बयार थपकी देती है ।

दूसह पियविओय संतत्तउ मुच्छइ पत्तउ ।

सीयलमारुण वणि बाहउ तणु अप्पाइउ । (७,८)

यहाँ भविष्यदत्त का मूर्च्छित होना न तो कामावस्था से सम्बन्धित है और न प्रकृति के उद्दीपन से । वह पत्नी के बिछोह में इतना दुखी है कि आत्मविस्मृत हो कर अपने दुःख को न सह सकने का भाव प्रदर्शित करता है । इस लिए इस समय की मूर्च्छा विरह का अंग बन कर उस की मन स्थिति को चोतित कर रही है । और इस लिए हम उसे भले ही काम की दशा कह लें, पर उद्दीपन रूप में शीतल पवन का बहना और भविष्यदत्त का मूर्च्छित होना नहीं कहा जा सकता । क्योंकि उस के आगे ही कवि कहता है कि बार-बार भविष्यदत्त उस नागमुत्रिका को देख कर प्रिया की स्मृति में सन्नत हो रहा था ।

करयलि णायमुद् संजोइवि पुण पुणु जोडवि । (७,८)

संक्षेप में, यहाँ प्रकृति विरह का अंग न बन कर स्वतन्त्र रूप में इस काव्य में लक्षित होती है, जिस में मनुष्य की भावनाएँ संबोधित हो कर प्रकृति का मृगार करती है । अलंकृत-वर्णन में कवि की कल्पना ही मुख्य होती है । वह शास्त्रीयता से न बंध कर लोक-जीवन के स्वतन्त्र वातावरण में चित्रित करता है और यही उस की विशेषता है ।

भाव-व्यंजना

प्रबन्ध में परिस्थितियों और घटनाओं के अनुकूल मार्मिक स्थलों की संयोजना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि कवि की प्रतिभा और भावुकता का सच्चा परिचय उन्हीं स्थलों पर मिलता है, जिन में मनुष्य हृदय की वृत्तियाँ सहज रूप में प्रसंग को हृदयंगम करते ही भावनाओं में तन्मय हो जाती हैं । भावों के उत्तार-चढ़ाव में घटनाओं का बहुत कुछ योग रहता है । कवि की दृष्टि में उन का विशेष महत्त्व स्वाभाविक रूप में आकलित हो जाता है । इसी को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि प्रबन्ध-

कार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से चलता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। भविष्यदत्तकथा में निम्नलिखित स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी कहे जा सकते हैं—बन्धुदत्त का भविष्यदत्त को अकेला मैनागद्दीप में छोड़ देना और साथ के लोगों का सन्तप्त होना, माता कमलश्री को भविष्यदत्त के न लौटने का समाचार मिलना, बन्धुदत्त का लौट कर आगमन, कमलश्री का विलाप और भविष्यदत्त का मिलन आदि।

एक भाई का अपने भाई को निर्जन बौहूड द्वीप में नितान्त अकेला छोड़ देने से बड़ कर मार्मिक करुण दृश्य अन्य क्या हो सकता है ? भविष्यदत्त की उस समय वही दशा होती है जो किसी सामान्य जन की हो सकती है। वह धरती पर हाथ पटकता है, छाती कूटता है और अत्यन्त दुखी हो कर कहता है कि माता ने पहले ही कहा था, पर मैं नहीं माना। मेरा कार्य ही नष्ट हो गया। इस घायल अवस्था में मेरा कहाँ उद्धार होगा ? मृत्यु ही मेरे सामने आ गयी है। इस प्रकार विविध भावों में डूबता-उतराता भविष्यदत्त अपने भाग्य को कोसता हुआ कह उठता है कि मेरा भाग्य ही उलटा है, किसी को क्या दोष ? अच्छा हुआ कि जिस अकार्य के करने से मुझे पाप कर्म का बन्धन हुआ था वह आज दूर हो गया। मुझे बिना किसी निमित्त कारण के इतना दुःख बढ़ा हुआ था सो मिल गया, पर कुल को कलंक लग हो गया। और अब अधिक विषाद नहीं करना चाहिए। जो कुछ होना होगा सो होगा। इन भावों को भाता हुआ वह सामने फैले हुए वन में प्रविष्ट हो गया।

करु महियलि हृणैवि उरि कंपित	ण चलिउ जं चिरु जणणिहू जंपिउं ।
णट्ठु कज्जु कंठि अब्भुद्धरणउं वणि	असमाहिइ आयउ मरणउ ।
अण्णण्णइं चित्तिज्जंति मणि	खल्लविहि अण्णण्णइं सरइ ।
मुट्ठु वि वियइदु गुणसय भरिउ	दइवि परम्मुहु कि करइ । (४।१)

उक्त प्रसंग में कवि ने भविष्यदत्त की विविध मानसिक दशाओं की विस्तार से अभिव्यंजना की है, जिस में मनुष्य की अनुभूतियों का तादात्म्य सहृदय में अपने आप हो जाता है। बन्धुदत्त के डाँटने-फटकारने पर पोत चला दिया जाता है और भविष्यदत्त अकेला छोड़ दिया जाता है। किन्तु उस के उन वचनों को सुन कर नागरिक जनो के सिर पर मानो वज्रदण्ड ही गिर पड़ता है। सभी लोग कहते हैं कि यह अच्छा नहीं हुआ। हम सब का सब वाणिज्य निष्फल गया। यह तो हमारे साधुपन की लज्जा का व्यापार हुआ है। न केवल यात्रा, न धन, न मित्र, न घर, न धर्म, न कर्म, न जीव, न शरीर, न पुत्र, न पत्नी वरन् इष्टजन भी बहुत दूर गजपुर (हस्तिनापुर) देश में स्थित है। यहाँ तो निदबय से ही अधर्म ने धर्म को लील लिया है। और धर्म के नाश

हो जाने से सभी कर्म अब अकर्म हो गये हैं। सभी लोग जल्यन्त सन्तत हो कर कहने लगे कि भविष्यदत्त को मार कर बड़ा भारी दुष्कृत्य किया गया।

गयं णिष्फलं ताम सव्वं वणिज्जं हुअं अम्ह गुत्तम्मि लज्जावणिज्जं ।
 ण जत्ता ण वित्तं ण मित्तं ण गेहं ण धम्मं ण कम्मं ण जीयं ण देहं ।
 ण पुत्तं कलत्तं ण इट्ठं पि दिट्ठं गयं गयउरो दूरदेसे पट्ठुं ।
 खयं जाइ णूणं अधम्मेण धम्मं विणट्ठेण धम्मेण सव्वं अकम्मं ।
 कयं दुक्कियं दोहएणं हएणं सुहायारभट्ठेण दट्ठेण एणं । (३, २६)

बन्धुदत्त को कंचनद्वीप की यात्रा से घर लौट कर आने पर जितनी अधिक प्रसन्नता है उस से कहीं अधिक नगर के लोगों को हर्ष होता है। यह समाचार मिलते ही कि लोग व्यापार कर नदी-तीर पर आ पहुँचे हैं, नगर के सभी लोग हर्ष से भर कर दौड़ पड़ते हैं। वे इतने अधिक हर्ष में उल्लसित हैं कि किसी ने सिर का कपड़ा कहीं पहन लिया है, किसी ने शीघ्रता में हाथों के कगल कहीं के कहीं पहन लिये हैं, कोई पुरुष किसी स्त्री से ही आलिंगन करने लगा, किसी के अंग का प्रतिबिम्ब कहीं और पड़ने लगा, किसी ने किसी दूसरे का ही मिर चूम लिया। इस प्रकार संभ्रम और पुलक में भरे हुए लोग अपने सभी कामों को छोड़ कर प्रिय की कुशल-अकुशल की वार्ता करते हुए नदी-तट पर पहुँचे। धनवड ने आँखों में प्रेम के आँसू भर कर गद्गद वाणी में बेटे की कुशल-क्षेम पृछी।

धाडउ सयलु लोउ विहुइप्फहु केणवि कहुवि लयउ मिरकप्पडु ।
 केणवि कहुवि छुइडु करिककणु केणवि कहुवि दिण्णु आल्लगणु ।
 केणवि कहुवि अगु पडिविवउ केणवि कोवि लेवि सिगु बुविउ ।
 गय वडयहि कम्मइ मेल्लियड णयणडं हरिसमुज्जलोल्लियड ।
 पियकुमलाकुसलु करतियइ चित्तइ संदेहविडवियइ ।
 धणवड अंमुजलोल्लियणयणउ पुच्छड पुणुवि सगगिरवयणउ । (८, १-२)

इन स्थलों पर कवि की सूझ-बूझ का और सामाजिक अनुभूतियों का पता लगता है कि कवि उन परिस्थितियों और घटनाओं से कितना प्रभावित है और उस के मन पर उन की क्या मानसिक प्रतिक्रिया होती है। विचार करने पर स्पष्ट ही धनपाल की भावुकता का परिचय मिल जाता है। दोनों वर्णनों में कवि ने जहाँ मानवीय सबेद-नात्मक भावानुभूतियों का प्रकाशन किया है वही भविष्यदत्त के साथियों की मनोभावनाओंमें ग्लानि व्यक्त कर मनोविज्ञान का भी समावेश किया है।

इधर वसन्त का आगमन होता है और उधर बन्धुदत्त अपने घर लौटता है। नगर में प्रतिदिन मंगलकलश सजाये जाते हैं, उत्सव मनाये जाते हैं। इसी समय कमलश्री किसी से मुनती है कि सब लौट कर आ गये, पर भविष्यदत्त नहीं आया। उस के मन की जो वृत्ति होती है उसे कवि के शब्दों में मुनिए—

तं गिसुणिवि सहसत्ति चमक्किय उट्ठिय सोय दवग्गि दमक्किय ।
 गुज्झावरण गूढ सुणित्तहं धरि धरि भमिय णयरि वणित्तह ।
 कारण किपि कोवि णउं माहइ पर पियवयणु चवइ मुहु चाहइ । (८,११)

अर्थात् उस बात को सुन कर वह बिजली की भाँति सहसा ही चमक गयी । जैसे ही उठ कर लड़ी हुई वैसे ही मानो समूचे शरीर में दावान्न दमक गयी । किन्तु फिर भी वह बड़ा-सा घूँघट डाल कर नगर के बड़े-बड़े वणिक्पुत्रों के घर-घर घूमी । कारण कोई भी कुछ नहीं सुनाता है, पर मोठे वचन कह कर सभी अभिलाषा और चाह प्रकट करते हैं । और फिर बन्धुदत्त से यह सुन कर कि भविष्यदत्त किसी द्वीप में एक गया है, कुछ दिनों में आ जायगा, उस की जो स्वाभाविक चेष्टाएँ होती हैं उस का वर्णन देखिए—

तहु जपंतहु वयणु पलोइवि धिय कवोलि करयलु संजोइवि ।
 णउ सुंवरइ चवंतहु वयणइ धोरमुवहि णिरुद्धइ णयणइ । (८,१२)

अर्थात् कहते हुए बन्धुदत्त के मुँह को देख कर कमलश्री हथेली पर कपोल को रख कर स्थित हो गयी । वह भाव-मुद्रा में पूरी तरह लीन हो गयी । अब कुछ भी नहीं बोलती है । बड़ी-बड़ी आँसू की बूँदें बहने लगी, जिस से आँखें निरुद्ध हो गयी । कमलश्री विलाप करती है कि हा हा पुत्र ! मैं तुम्हारे दर्शन के लिए कब से उत्कण्ठित हूँ । चिर काल से आशा लगाये बैठी हूँ । कौन आँखों से यह सब देख कर अब समाप्त रह सकता है ? हे धरती ! मुझे स्थान दे, मैं तेरे भीतर समा जाऊँ । पूर्व जन्म में मैंने ऐसा कौन-सा कार्य किया था, जिस से पुत्र के दर्शन नहीं हो रहे हैं । इस प्रकार के वचनों के साथ विलाप करते हुए उसे एक मुहूर्त बीत गया ।

हा हा पुत्त पुत्त उक्कठियइ धोरंतरिकालिपरिट्ठियइ ।
 को पिक्खिवि मणु अट्ठुद्धरमि महि विवरु देहि जि पइसरमि ।
 हा पुव्वजम्मि किउ काइ मइ णिहि दंसणि जं णयणइ हयइ । (८,१२)

अन्त में वह कहती है कि मेरे हृदय का आधार एक ही पुत्र है और वह भी अब सन्देह में है ।

एक्कु पुत्तु हियवइ साहारणु तासुवि गउ सदेहहु कारणु । (८,१६)

माँ की कितनी मार्मिक वेदना ऊपर की पक्तियों में निहित है । कमलश्री को इस समय उतना ही दुःख होता है जितना कि श्री रामचन्द्र जी के द्वारा सीता के परि-त्याग पर सीता जी को होता है । वस्तुतः इन मानवीय भावनाओं का यथार्थ चित्रण करना ही सच्चा कवि-कर्म है । भविष्यदत्त अन्त में एक दिन लौट कर घर आ हो जाता है । विमान को धर के आँगन में उतरा हुआ देख कर कमलश्री भगवान् का स्मरण करती हुई दौडती आती है । भविष्यदत्त माता से कहता है कि हे कमले ! क्यों दौड रही हो ? किन्तु वह पुत्र के वचनों पर ध्यान न दे कर बड़ी तेजी से भागती हुई हर्ष से

फूली नहीं समाती तथा वेग से पुत्र के शरीर से लिपट जाती है। कमलश्री के आँखों से आँसू बह रहे हैं। उसे कुछ भी नहीं सूझ रहा है, किन्तु नयनों से वह मुख-दर्शन का सुख प्राप्त कर रही है।

घरपंगणि पंकयसिरि धावड	अजिजयजिणवयणइं परिभावइ ।
भविसयत्तु धणु घरि संपेसड	माणिमददु पियवयणइं भासइ ।
सुव्वयविहिमि जाम णवकारिय	तो सबिलक्खइं सण्ण समारिय ।
हल्लि हल्लि कमल्लि कमल्लि कि धावहि	पुत्तहो वयणु काइं ण विहावहि ।
तं णिसुणिनि रहसेण पघाडय	हरिसि णियय सरीरि ण माडय ।
सरहमु दिण्णु सण्हालिगणु	णिवडिनि कमकमल्लु थिय णंदणु ।
मुहदंमणु अलहंतइं णयणइं	असु मुआवियाइं जह रयणइं । (९,७)

कितना मार्मिक दृश्य है ! पढ़ने के साथ ही आनन्द के अश्रु छलछला आते हैं। इतना ही नहीं, कवि आगे वर्णन करता है कि उसी क्षण कमलश्री का मातृत्व उमड़ आता है और चौबीसो सोती से दूध झरने लगता है। वह पुत्र के आगमन का उत्सव मनाने लगती है। शुभ मंगलकलङ सजाये जाते हैं। दधि, दूर्वा और अक्षत से पूजन कर पुत्र की न्योछावर फेरी जाती है।

णिम्मच्छणउं करिवि णियपुनहि	वहइ त्वां चउवीसहि सोत्तहि ।
सुहमंगलजलकलससमारिय	दहिदुव्वक्खय सिरि मंचारिय । (९,७)

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि कवि की भाव-व्यञ्जना वैयक्तिक न हो कर सामाजिक अधिक है। और इसलिए हम कह सकते हैं कि आलोच्यमान रचना लोकमंगल की भावनाओं से अनुप्राणित है। सामाजिक शिष्टाचार, मर्यादा, व्रत, कर्तव्य-विधान आदि से समूची रचना परिब्याप्त है। समाज और लोक-जीवन का स्थान-स्थान पर चित्रण है, जो इस काव्य की अपनी विशेषता है। उन में केवल भावों की ही अभिव्यक्ति नहीं है, वरन् उन का उत्कर्ष भी अभिव्यजित है। इस प्रकार नाना भावों में हम कवि की रसात्मकता और भावुकता से ओतप्रोत हो काव्य की मार्मिकता से सहज में प्रभावित होते हैं। प्रभावाब्धिति और रस-व्यञ्जना की दृष्टि से भविष्यदस्तकथा उत्कृष्ट कोटि की रचना है। मुख्य रूप से शृंगार, वीर और शान्त रस का परिपाक इस में हुआ है। परन्तु इस का अंगी रस कौन है, यह एक जटिल प्रश्न है। यदि आधिकारिक कथा का विवेचन करे तो स्पष्ट ही वीर रस को प्रधान मानना होगा, क्योंकि भविष्यदस्त को, सिन्धु राजा को पराजित कर दिये जाने पर ही वास्तविक रूप से राज्य की प्राप्ति होती है, और सुमित्रा के साथ उस का विवाह होता है। युद्ध में उसे शौर्य-वीर्य का परिचय देना पड़ता है। नायक की महत्ता का पता हमें इसी स्थल पर लगता है। फिर, भविष्यदस्त का जीवन साहसिक कार्यों से भरपूर रहा है। अतएव सरलता से नायक की फल-प्राप्ति के अनुसार वीर रस प्रधान माना जा सकता है। भविष्यदस्त

युद्धवीर ही नहीं धर्मवीर, कर्मवीर और दानवीर भी हैं। उदारता, धीर-वीरता और साहस आदि गुण उस के जीवन में कूट-कूट कर भरे हैं। और इसीलिए लेखक ने उसे साधारण पुरुष न कह कर महापुरुष कहा है।

यद्यपि मुख्य कथा से वीर रस का धनिष्ठ सम्बन्ध है, पर वह परिणति में शृंगार से सम्बन्धित है, क्योंकि युद्ध-वर्णन के मूल में राज्य-प्राप्ति न हो कर स्त्री की संरक्षा थी। इसलिए फलागम में अन्तर आने से यहाँ वीर रस प्रधान न हो कर शृंगाररस मुख्य माना जायेगा। किन्तु ग्रन्थ का पर्यवसान शान्त रस में हुआ है, और इसलिए शान्त मुख्य कहा जाना चाहिए। कथाकाव्य का पूर्वार्द्ध निश्चय ही शृंगार रस की मधुर व्यञ्जना से अभिव्यजित है। विवाह, कामक्रीड़ा, वियोग और मिलन आदि ही इस की मुख्य विषय-वस्तु हैं। जीवन के उदात्त प्रेम का चित्रण करना ही कवि के काव्य-व्यापार का मुख्य प्रयोजन है। इसलिए शृंगार की व्यञ्जना मुख्य मानी जा सकती है। परन्तु कथा की नियोजना मोहेय्य हुई है। इस में धृतपंचमी व्रत का माहात्म्य मुख्य रूप से वर्णित है। भविष्यदत्त का उद्देश्य धर्म, अर्थ या काम की प्राप्ति नहीं है। वह किन् प्रकार भवान्तरो का उच्छेद कर मोक्ष प्राप्त करता है, यही ग्रन्थ-कार का मुख्य प्रयोजन है। और यही कारण है कि भविष्यानुरूपा के वियोग का वर्णन कवि ने विस्तार से नहीं किया। यद्यपि काव्य में उपदेशात्मक अंश सरस है, पर उस का कई स्थानों पर समावेश है। नायक भी संकट-काल में धर्म का आश्रय लेता हुआ दिखाई पड़ता है। कमलश्री तो धर्म की प्रतिमूर्ति ही चित्रित है। मुख्य कथानक से निर्वेद मूलक भावों का पूरा लगाव है, इसलिए शान्त रस ही प्रधान है। और फिर यह तो जैन काव्यों की विशेषता ही मानी जानी है कि विभिन्न रसों की अभिव्यञ्जना होने पर भी उन का पर्यवसान शान्त रस में होता है। इस प्रकार समग्र प्रभाव में भी शान्त रस मुख्य लक्षित होता है।

वात्सल्य का वर्णन दो स्थलों पर विशेष रूप से अभिव्यजित है। पहले स्थान पर उस की व्यञ्जना माता के मुख से न हो कर पुत्र के वचनों से हुई है और दूसरे स्थल पर माता का वियोग-वात्सल्य अभिव्यक्त हुआ है। दोनों ही प्रसंग मार्मिक हैं। यथा—

अच्छइ जणहि कहिहि दुखल्लिय बहु दुज्जण दुव्वयणहि सल्लिय ।

जाइ सुइ चितविउ मुआसइ पुत्तजम्मि दोहल्लयपियासइ ।

णवमासइ णिय कुन्निहि धरियउ पुणु रउरवकालहु उत्तरियउ ।

णिय सरीर मीरि परिपालउ अणुदिणु पियवयणिहि दुल्लालउ ।

ताहि कयावि ण किउ मइ चंगउ आयउ दुक्खे पूरिवि अगउ । (६, १२)

अर्थात्, भविष्यदत्त से जब भविष्यानुरूपा सास-ससुर के सम्बन्ध में पूछती है तो उस की आँखों के सामने ममतामयी माता का सजीव चित्र घूमने लगता है। वह कहता है कि मेरी माता दुर्जनो के छिदने वाले वचनों से अत्यन्त दुखी है। पुत्र-जन्म की

आशा में उस ने बहुत दुःख पाया। मुझे नौ महीने तक कूँख में धारण किया। पिता के त्यागने के रौरव काल को बिताया। अपने शरीर के दुग्ध से मेरा पालन-पोषण किया। प्रिय बचनो से वह सदा दुलार करती रही। पर मैं ऐसा अभाग हूँ कि मैं ने उस माता के लिए तनिक भी मुखदायक काम नहीं किया। वह दुःख से अंगों को धूर कर समय बिता रही है।

ऊपर की इन पंक्तियों में वात्सल्य 'शोक का अंग बन कर' अभिव्यक्त हो रहा है, और विषाद सचारी भाव है। परिस्थितियों के अनुसार मानव-मन की भावनाएँ विविध मानसिक अनुभूतियों से संवलित होती प्रायः देखी जाती हैं। इसलिए जहाँ भविष्यदन्त में विभिन्न भावों और अनुभावों का संचार दिखाई देता है वही माता कमलश्री में शोक स्थायी भाव प्रतीत होता है। वह दुःख में इतनी जड़ हो जाती है कि वात्सल्य अन्त में पुत्र के चिर वियोग की आशंका से 'शोक' में परिणत हो जाता है और कर्ण रम की अभिव्यक्ति होने लगती है। वह पुत्र के जीने की आशा छोड़ देती है और कहती है कि घरनी पट जा, मैं तुझ में समा जाऊँ। गीत शैली में वर्णित भयानक रस का उन्मृष्ट निदर्शन है—

तअओ आगओ मो अराइणराओ	महाभीमु भाभासुरो भिण्णकाओ।
असतो विमतो मुपच्छण्णमित्तो	कुले मुप्पहयाण भूयाणमित्तो।
अखोणीवल्लमो असामणभासो	घणधार घोगा कयट्टट्टहासो।
सिरे उड्ढकेमो जलनत्तरिक्खो	सच्चमट्टिसेसं। भिसं दुण्णिरिक्खो।
मयाभूलयाभंगुगवत्तगत्तो	दुरालोयणी दुम्महो रत्तणित्तो।
फुरताहट्टो समीर गिलत्तो	ललत्तन्नीहो हम्मि उगिलत्तो।
महापावकम्मो गुसघट्ट गाढो	कयतुव्व कुड्डो करालुग्गदाओ। (५, १७)

अर्थात् जब भविष्यदन्त उस सुन्दरी में वार्तालाप कर रहा था तभी उस अरण्य का राजा अन्यन्त भीमकाय चमचमाता हुआ वह राक्षस आ पहुँचा। कुल में जो भी अच्छे-बुरे थे वे सब इसी पिशाच के द्वारा भेदे जा चुके थे। अघपर में ही उस ने घने अँधेरे में असामान्य भाषा में घोष तथा अट्टहास किया। उस के सिर के ऊपर के केश प्रकाशमान अन्नरिक्ष की भाँति थे। उस के शरीर में चमड़ा और हड्डी ही शेष रह गये थे। बड़ी कठिनता से वह उस समय देखा जा सकता था। उस की विकराल आँखें, भयानक मुँह और लाल-लाल आँखें सैकड़ों अस्थिर भूवल्लय के आवर्त के गर्त जान पड़ रहे थे। वह महान् पापकर्मी अधरों को फड़काता हुआ, पवन को लीलता हुआ, लपलपाती जीभ को निकाले हुए हर्म्य को उठाता हुआ उस भवन में प्रविष्ट हो गया।

उक्त वर्णन में भय स्थायी भाव विस्मय और आवेग से पुष्ट हो भयानक रस की सृष्टि कर रहा है। ऐसे दृश्य किसी भी आश्रय में अनुभावों को सहज में ही अभिव्यक्त कर देते हैं। यही इस की विशेषता है। आलम्बनगत विभाव की अभिव्यंजना तो यहाँ अत्यन्त स्पष्ट है।

रीडरस की व्यंजना केवल एक ही स्थान पर हुई है, जहाँ सिन्धुनरेश की स्वत्व-छेदक बातों को सुन कर भविष्यदत्त को क्रोध आता है और उस का मुँह तमतमा जाता है। क्रोध का पूरा आवेश यहाँ भविष्यदत्त में दिखाई देता है। चित्र है—

तं वयणु सुणविणु भविसयत्तु गियकुल बिवाय परिहवण तत्तु ।
 आवेसवेस विप्फुरिय णयणु जंपिउ सरोसु गिदुदुरिय वयणु ।
 अह्णु दिट्ठु तुम्हि आयह्णु अगण्णु वाणियउ वुत्तु पुणु काइ अण्णु ।
 कुलकस्तिविणासणु मइल्लियसासणु कि वुल्लाविउ एह्णु खलु ।

णीसारिब घल्लह्णु लइ गलधल्लह्णु पावउ गिय दुव्वयणफलु । (१३,८)

अर्थात् उस के वचनों को सुन कर भविष्यदत्त ने जातिगत विपाक के पराभव से सन्तप्त हो कर क्रोध के आवेश से भर कर क्रोधपूर्वक मर्मभेदक वचनों को कहा। तुम ने देखा कि यह नगण्य (बेचारा बनिया का बेटा) है। पर ऐसा मत समझना। तुम ने यह बनिया से कहा सो ठीक, पर अन्य किसी से मत कहना। अपनी कुल-कीर्ति का विनाश करने के लिए, शासन को मँला करने के लिए इस दुष्ट को कल क्या बुलाया है? उसे अभी गरदनियाँ दे निकाल कर बाहर फेंको। वह अपने दुर्वचनों का फल भोगे।

वात्सल्य रस की अभिव्यंजना तो इस काव्य में स्वाभाविक रीति से हुई है। माता कमलश्री कई स्थानों पर पुत्र के प्रति ममतामयी भावनाओं का अभिव्यक्त करती हैं—विद्योग-काल में और मयोग में भी। यथा—

तं सुणिवि जणेरि सिरि करपल्लव धरिवि धिय ।

समसज्जसि हूअ णाइ विणिम्मिय कट्ठमिय ॥ (९, १४)

दुक्खु दुक्खु गियमणि मजोइउ पुणु पुणु पुत्तह्णु वयणु पलोइउ ।

हा तहि कालि पुत्त मइ वुत्तउ गमणु विएण सभाण् ण जुत्तउ ।

हा पर वन्धुवत्तु मह्णु सज्जणु जेण पुत्त तउ ण किउ विमह्णु ।

णम करेवि सुइह कूवारउ पुणु पुणु सिह चुब्बिउ सयवारउ (९, १५)

माता केवल पुत्र के प्रति वत्सल-भाव ही प्रकट नहीं करती, वरन् उसे आत्मतोष है कि बन्धुदत्त सचमुच सज्जन है, उस ने कम से कम पुत्र का विमर्दन तो नहीं किया। इस से जहाँ कमलश्री के उदात्त चरित्र पर प्रकाश पड़ता है वही माँ की बेटे के प्रति सच्चे स्नेह की झलक लक्षित होती है। पुत्र के मिलने पर वह इतनी हर्षित होती है कि बहुत देर तक विलाप करती हुई बार-बार, सैकड़ों बार पुत्र का सिर चूमती रही। इस से बढ़ कर वात्सल्य का अन्य क्या दृष्टान्त हो सकता है?

यद्यपि अन्तिम सन्धि में शोक का प्रसंग आया है, पर उस में कर्ण रस का न तो विस्तृत संचार है और न पूरा परिपाक ही। धनवह और भविष्यदत्त के मुनि बन जाने पर—उन की धर्मपत्नी सरूपा, सुमित्रा और भविष्यानुरूपा विलाप करती हुई कहती हैं—

हा चंचल पट्ट ववगय सणेह	कहु मेल्लिय हउं कंटइय देह ।
हा पंकयसिरि घम्माणुराइ	पहसहु एत्तिउ दंसणु सुमाइ ।
घणवइ विणु पत्तिए तं जि गेहु	पिक्खइ पजलंतु दहंतु देहु ।
णिदइ अप्पाणउं काउ दीणु	तउ करिवि ण सक्कमि हउं णिहीणु ।
धण्णाइं ताइं तिण्णिवि जणाइ	छड्डेवि लग्गरं तव चरणि जाइं । (२२, ३)

अर्थात् हाय ! प्रभु का चपल स्नेह बीत गया । रोमांचित शरीर वाली मुझे क्यों छोड़ गये ? हाय, कमलश्री धर्मानुरागिनी दीक्षा-ग्रहण कर अजिका बन गयी । वह—मुमाता हो गयी । बिना पति के घर देखने से शरीर जलता है, प्रण्वलित होता है । इस प्रकार अपने-आप को कोसती हुई वे कहती हैं कि हम लोग तो इतने दीन-हीन हैं कि तप करने में भी असमर्थ हैं । उन लोगों को घन्य हैं जो सब कुछ छोड़ कर आप के चरणों में जा लगे ।

यहाँ पर तथा अगली पक्तियों में नागरिक जनो की वेदना एवं व्यथा का अनुमान कर जो कण्ठा जग रही है वही शोक का अभिव्यक्त कर रही है । भाग्यनिन्दा और उच्छ्वास अनुभाव है, जो आवेग दैन्य और स्मृति में पुष्ट हो रहे हैं ।

इसी प्रकार हास्य रस का एक उदाहरण देखिए—

अण्णइ वुत्तु णिहालिवि अगउ आयहिं कट्ठिवि तिल्लु चिरु लग्गउ ।

महि अंचलु देवि हसइ समुब्बडु तरुणियणु ।

लइ लायहु तिल्लु बालहिउब्भंखरिउ तणु ॥

अण्ण भणइं म हसहु बराई म कुण मंचड सुत्तबराई ।

अण्ण भण्णइं णियकज्जवहुल्ली विण मुत्ति किय गलि कटुल्ली । (१, २१-२२)

अर्थात् भविष्यानुरूपा तैल के लिए मज्जित है । तैल लगाया जाने वाला है । किन्तु कोई सयानी स्त्री उस के अंगों को भली भाँति देख कर कहती है कि तैल तो बहुत पहले ही लग चुका है । चतुर तरुणियाँ उस की बात समझ कर मुँह में आँचल दे कर हँसती हैं । लो, तैल लाओ । बाला की देह क्लान्त हो रही है । सुभगे, हँसो मत—इस प्रकार हास-परिहास के बीच नगर की स्त्रियाँ ऐसी बातों का कथन करती हैं कि पाठक के हृदय में आश्रयगत अनुभूति विस्फुरित हो रमात्मकता का संचार कर देती है । स्पष्ट ही यहाँ हास्य प्रसन्नता से अभिव्यक्त न हो कर औत्सुक्य से तथा चपलता से अनुभूयमान प्रतीत हो रहा है ।

उक्त भावनात्मक प्रसंगों को देखने से पता चलता है कि भविष्यदत्तकथा में विभाव, भाव और अनुभावों की सुन्दर अभिव्यजना हुई है । लगभग सभी संचारी भाव विविध स्थलों पर संचरणशील लक्षित होते हैं । यही नहीं, उन की मूल स्थिति का अनुभवन चेष्टाओं द्वारा अभिव्यक्त हुआ है । इसी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि साहित्य के ग्रन्थों में संचारियों के बाह्य चिह्न भी बताये गये हैं, जो वास्तव में

उन के अनुभाव ही हैं। जैसे, गर्व में तन कर खड़ा होना, अवज्ञा करना, अंगूठा आदि दिखाना,—अवहित्या में अनभीष्ट कार्य की ओर प्रवृत्ति दिखाना, दूसरी ओर देखना, चिन्ता में दीर्घ निःश्वास लेना, सिर झुकाना, हाथ पर गाल रखना, माथा-मिकोडना—इत्यादि।^१ इस प्रकार भाव-विधान में काव्य विविध विशेषताओं से समन्वित और पुष्ट है।

वियोग-वर्णन

संयोगकालीन वास्तविक सुख का अनुभव करने के लिए वियोग एक अनिवार्य भूमिका है, जिस में मनुष्य का प्रेम संचित हो कर रागानुराग को रग-रग में व्याप्त कर देता है। अतएव वियोग के बिना संयोग का महत्त्व न तो लोक में है और न काव्य में। वाल्मीकि में ले कर आज तक जितने प्रबन्ध काव्य लिखे गये हैं उन में थोड़ा-बहुत वियोग-वर्णन अवश्य मिलता है। किन्तु गौलीगत भिन्नता में उन में कुछ न कुछ भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं यह वर्णन श्लिष्ट होता है और कहीं-कहीं वैयक्तिक अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यञ्जना से ओत-प्रोत। लेकिन कहीं-कहीं इन दोनों रूपों में भिन्न लोकगत सुनी हुई बातों के आधार पर कवि तथ्यपरक वर्णन कर उस मन स्थिति को अभिव्यक्त करता है। आलोच्यमान कथाकाव्य में संयोग और वियोग दोनों के वर्णन इसी रूप में वर्णित है।

प्रकृति में सहानुभूति की कल्पना कर या मानसिक वृत्तियों को प्रकृति सुन्दरी के मनोरम क्रियाकलापों में निबद्ध कर जो तादात्म्य स्थापित हो जाता है—उस में यही प्रतीति होने लगती है कि प्रकृति हमारे सुख-दुःख में साथ दे कर भावानुभावों के प्रदर्शन में सहानुभूति प्रकट कर रही है। और उद्दीपन रूप में वही प्रकृति जब सुखद चेष्टाओं से हम में मयुरतम भावों की भरती हुई ललित होती है तब वही वियोग काल में वेदना और व्यथा को नाना क्रिया-कलापों में प्रकट करती हुई जान पड़ती है। प्रकृति के इस उद्दीपन रूप का भ० क० में वर्णन नहीं मिलना। छल में भविष्यानुकूपा के बन्धुदत्त के साथ पोत में बैठ कर चली जाने पर भविष्यदत्त बहुत दुःखी होता है। विरह से वह अत्यन्त सन्तप्त हो जाता है। बार-बार प्रिया के मुख का स्मरण एवं उस का चिन्तन करता है। किन्तु गृहतर वियोग के वेग को सह न सकने में वह मुच्छित हो जाता है। इस समय शीतल पवन आ कर उसे जगानी है, तब कहीं चेतना लौटती है।

दूसरे पियविओय मतत्तउ मुच्छइ पत्तउ, सीयलमारुण वणिवाइउ तणु अण्णइउ।

(७,८)

इस प्रकार यह वर्णन उद्दीपन रूप से बिल्कुल विपरीत है।

विप्रलम्भ शृंगार के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण में से पूर्वराग को छोड़ कर तीनों भेद इस में मिलते हैं। कमलश्री पति धनवद्ध के मान धारण कर लेने पर घर में ही अत्यन्त दुःखी हो कर वियोग में छटपटाती है। कवि उस का वर्णन करता है—

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'रस-मीमांसा, तृतीय संस्करण, पृ० १८८।

तं पणइणिहि पणउ ण सम्पइ पेम्मुम्माए मणु संत्पइ ।

अंगइ विरहदाहु ण सहति णयणइं जित्थु णाहु तहि जंति । (२,७)

तथा— पिय वयणि मयणि आसणि सयणि रइवासरि वि णा मिलइ । (२,६)

धनवइ के प्रणय से हीन उस का मन अत्यन्त संतप्त रहने लगा । उस के अंग विरहाग्नि सहन करने में असमर्थ हो गये । उस की आँखें जाते हुए पति की ओर लग गयी । इतना ही नहीं, प्रिय के वचन, मदन, आसन और शयन में भी उसे कभी सुनने को नहीं मिल पाते । यह सामन्तयुगीन भारतीय समाज की संभवतः एक विशेष प्रवृत्ति हो बन गयी थी । भविष्यदत्त के मेनागद्वीप में छूट जाने पर भविष्यानुरूपा बहुत दुःखी होती है । वह तरह-तरह से अपने मन को समझाती है और विचार करती है कि मैं गजपुर में हूँ और पतिदेव द्वीपान्तर में है, जो सैकड़ों योजन दूर है । किस प्रकार से मिलना हो ? जिस द्वीप की भूमि में मनुष्य संचार नहीं करते वहाँ कैसे पहुँचें ? मुझे जितना दुःख भोगना था—उतना भोग लिया । बिना आशा में कब तक प्राण धारण करूँ ? इतने में ही वह किसी से सुनती है कि कमलश्री ने यह निश्चय किया है कि एक महीने में यदि मेरा पुत्र आकर नहीं मिला तो मैं प्राणों का त्याग कर दूँगी ।

तो भविषाणुरूब विसमद्विय
गयउरि हउं पिययमु दीवंतरि
संभउ कवणु एत्थु किर संगमि
जेत्तिउ दुक्खु मज्झु तणु भुंजइ
अच्छइ समसमंतु दुहसायरि
विणु आसइं किम मणु साहारमि

चित्तइ तुंगतवंगि परिद्विय ।
जोयण सयइं अणयइं अंतरि ।
जहि संचरवि णाहि महि जंगमि ।
तेत्तिउ सोवि कहिमि अणुहुंजइ ।
किं मुउ झंप देउ रयणायरि ।
लइ घल्लिवि घग्गिसहरहु मारमि । (८,२०)

यहाँ पर कवि ने आकाश-वाणी का प्रयोग न कर अस्वाभाविकता से कथानक को बचा लिया है । उसके औचित्य का यह सबसे बड़ा प्रमाण है । किन्तु भविष्यानुरूपा का करुण विलाप न होना खटकता है । करुण वास्तव्य का अवश्य सुन्दर वर्णन कमलश्री के मुख से हुआ है, जो अत्यन्त मार्मिक है । (दे० ८, १३)

इस वियोग-वर्णन में रीति-परम्परा से प्रस्त मानवीय भावनाओं का प्रदर्शन न हो कर मनुष्य जीवन की वास्तविक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है । कमलश्री और भविष्यानुरूपा का प्रेम नायक तथा नायिका का प्रेम न हो कर आदर्श भारतीय नारी का प्रेम है, जो प्राणों के रहते हुए अपने हृदय में किसी दूसरी मूर्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए किसी भी प्रकार तत्पर नहीं है । यद्यपि वियोग के सन्दर्भ में काम की दस दशाएँ कही गयी हैं और अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में विशेष रूप से स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' (२१,९) में मिलती हैं, किन्तु यहाँ उन में से अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति या उद्वेग तथा मूर्छा आदि का स्वाभाविक रूप से सन्निवेश मिलता है । परन्तु उनमें वह आवेग और तृष्णा नहीं है, जो प्रेम-गर्भित टेक की अतिशयता में लक्षित होती है इसका

एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि यह काव्य शास्त्रीय शैली में न रचा जाकर लोक-शैली में लिखा गया है, जिसमें जन-जीवन की अनुभूतियों को स्वाभाविक रूप में वाणी प्रदान की गयी है। अन्य रसों में रौद्र, हास्य, वात्सल्य और भयानक की प्रसंगतः मधुर अभिव्यंजना हुई हैं; बोधन्त रस अवश्य नहीं मिलता। शोक नाममात्र के लिए कहा जा सकता है। यही नहीं, अनुभाव और संचारी भावों की भी उचित संयोजना प्रस्तुत काव्य में हुई है। उदाहरण के लिए—भविष्यदत्त उस तिलकपुर में चन्द्रप्रभ के मन्दिर में पूजन करने के बाद वही बाहर आ कर सो जाता है। जब जागता है और दीवाल पर लिखे अक्षरों को पढ़ता है तो विस्मय से भर जाता है। उसके मन में तरह-तरह की संकाएँ उठती हैं कि प्रच्छन्न रूप में कपट से मुझे कोई मन्दिर से बाहर तो नहीं निकालना चाहता है अथवा इन विकल्पों से क्या, बिना मरे कोई अपने मनोरथ पूरे नहीं कर सकता है। एक साथ कई संचारी भावों को कवि ने इन पंक्तियों में व्यंजित किया है—

मुहि करयलु देवि परिचित्ति विभयभरित ।

इउ काड विहाणु असउ वा असंभउ अच्छरित ॥

अहिणउ लिहउ एउ विणु भतिए दोसइ पडिउ चुणु तलि भतिए ।

कि पच्छणु कोवि बेयारइ कबडि जिणभवणहु णोमारइ ।

अहवइ एण काई सुवियंदि मरणु विणाहि अपूरि मयि । (५, ६-७)

भविष्यदत्त के मन में यहाँ एक साथ क्रम से चिन्ता, विस्मय, संका, तर्क, भय और आवेग संवरण करते हुए लक्षित होते हैं। साथ ही शोक को सूचित करने वाला अनुभाव (मुख पर हथेली रख कर चिन्ता में डूबना) का चित्र भी कवि ने अभिव्यंजित किया है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर क्रमशः कई संचारी भावों की अभिव्यंजना हुई है। एक चित्र देखिए—

तं णिययकुडुवु सुमरिवि अंगइ हल्लियइ ।

हुअ गग्गिरवाय णयणइ अंसुजलुल्लियइ ॥ (५, १२)

अर्थात् सुन्दरी भविष्यानुरूपा भविष्यदत्त को अपने परिवार के सम्बन्ध में कहती हुई अपने कुटुम्ब का स्मरण कर काँपने लगी। उसकी वाणी गद्गद हो गयी और आँखों में आँसू छलछला आये। इन पंक्तियों में स्मृति और स्नेह के साथ ही कम्प, स्वरभंग, अश्रु और स्तम्भ आदि अनुभाव भी स्वाभाविक रूप में अभिव्यंजित हैं। यद्यपि शृंगार के दोनों पक्षों का चित्रण काव्य में किया गया है, पर जायसो तथा सूर की भाँति वियोग-वर्णन की अतिशयता एवं गम्भीरता नहीं मिलती। कम-से-कम शब्दों में कवि ने मामिक भावनाओं की व्यंजना की है। इसी प्रकार संभोग-वर्णन में स्तम्भ, रोमांच, स्वेद आदि अनुभाव नहीं मिलते। यद्यपि रचना में काम-क्रोडा का वर्णन है, पर हाव-विधान भी लक्षित नहीं होता। इस का कारण यहो प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य काव्यशृंगार प्रधान न बना कर शान्त रस को अंगो मान कर रचना करना था।

संवाद-योजना—

आलोच्यमान कथाकाव्य में संवादपूर्ण कई स्थल दृष्टिगोचर होते हैं, जिन से काव्य का चमत्कार बढ़ गया है और कथानक में स्वाभाविक रूप से गतिशीलता आ गयी है। मुख्य रूप से निम्नलिखित संवाद इस कथाकाव्य में द्रष्टव्य हैं— प्रवास करते समय पुत्र भविष्यदत्त और माता कमलश्री का वार्तालाप, भविष्यदत्त-भविष्यानुरूपा का संवाद, भविष्यानुरूपा-भविष्यदत्त-संवाद, राक्षस-भविष्यदत्त-संवाद, भविष्यदत्त-बन्धुदत्त-संवाद, कमलश्री-भविष्यदत्त-संवाद, राजा भूपाल-भविष्यदत्त-संवाद, भविष्यदत्त-भविष्यानुरूपा-संवाद, कमलश्री-मुनि-संवाद, कमलश्री-घनवइ-संवाद, बन्धुदत्त-सरूपा-संवाद और मनोबेग विद्याधर-भविष्यदत्त तथा मुनिवर-संवाद आदि।

इस प्रकार प्रबन्धकाव्य की भाँति इस रचना में संवादों की प्रचुरता है। छोटे-छोटे कई संवाद यथास्थान नियोजित हैं। इन संवादों में नाटकीयता, अभिनेयता, वाक्चातुर्य, कसावट, मधुरता तथा हाव-भावों का प्रदर्शन एवं यथास्थान व्यंग्य का समावेश हुआ है। अतएव जहाँ संवादों के सहारे कथानक आगे बढ़ता हुआ जान पड़ता है वही वातावरण तथा दृश्य का पूर्ण चित्र आँखों के सामने घूमने लगता है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त को जब पता लगता है कि बन्धुदत्त वाणिज्य के लिए विदेश जा रहा है तब वह भी हर्ष से भर कर माता के पास जाता है और भाई के साथ जाने के लिए आज्ञा चाहता है। किन्तु भविष्यदत्त के वचनों को सुन कर माता की आँखें मोली हो जाती हैं, वाणी अटपटाने लगती है। वह कहती है—

हा हउ पुत्त काई तई जंपिउ	सिविणंतरि वि णाहि महु जंपिउ ।
एक्कु अकारणि कुवियवियप्पिं	दिण्णु अणंतु दाहु तउ वप्पिं । (३,१०)
.....
विहि पडिक्कुलु अम्ह पडिसक्कइ	अत्थह छेउ सहिवि को सक्कइ ।
एक्क दव्विअहिलासि विचित्तइं	को जाणइं दाइयइं चरित्तइं ।
जइ सरूव दुटुत्तणु भासइ	बन्धुअत्तु खलवयणहिं बासइ ।
तो तउ करइ अमंगलु जतहो	मूलु वि जाइ लाहु चित्तंतहो । (३,११)

भविष्यदत्त कहता है—

भविसयत्तु विनसेविणु जंपइ	तुम्हहं भोरत्तणि ण समप्पइ ।
अइयारि वामोहु ण किज्जइ	समवयजणि पोढत्तणु हिज्जइ । (३,१२)

इस प्रकार उक्त संवादों को भली भाँति देखने पर कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो, ये संवाद बहुत बड़े-बड़े हैं। किन्तु यह ध्यान में रखने योग्य है कि माता कमलश्री और पुत्र भविष्यदत्त के बीच होने वाले वार्तालाप ही अधिक बड़े हैं; अन्य नहीं। दूसरे, माता कमलश्री इन संवादों में पुत्र को समझाती हुई सोख देती हैं। तीसरे, पात्र-

यत् मनोवैज्ञानिक चरित्रों का पता हमें संवादों में मिलता है। चौथे, ये नाटकीयता से पूर्ण हैं। संवादों में प्रवाह एवं शिप्रता है। पुत्र विनयपूर्वक माता को प्रणाम कर निवेदन करता है। इसी प्रकार माता अपनी ममता को उँडेल कर हाव-भावों का प्रदर्शन करती है। अतएव वातावरण और दृश्यों के बीच संयम एवं शिष्टाचार का पालन दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं संवादों में माधुर्य स्पष्ट रूप से लक्षित है। यथा—

तं गिसुणिवि गिसायरु झक्किउ परिचितइ मणेण आसंकिउ ।
 गउ सामणु कोवि गरु दोसइ जो महु समुहुं भटत्तणु दरिसइ ।
 इउ विरसु रसंतु मई संचारिउ सयलु पुर ।
 पडिबयणसमत्थु एहउ कोवि ण दिट्ठु गरु ॥ (५, १८)

इस प्रकार संवादों में कसावट, सरसता तथा मधुरता परिलक्षित होती है।

वस्तुतः संवादों की सब से बड़ी विशेषता सरलता, स्वाभाविकता और सजीवता कही जा सकती है। आलोच्यमान कथाकाव्य में उक्त गुणों का उचित सन्निवेश हुआ है। संवादों में वातावरण के बीच चित्रों का अभिनिवेश वस्तु को सौन्दर्य से जगमगा देता है। और यही कारण है कि पात्रों की मनोवैज्ञानिकता एवं सजीवता संवादों के बीच में से झौंकती हुई जान पड़ती है। उदाहरण के लिए—

गाहु तइउ मई गउ परियच्छिउ इत्तिउ कालु कहिमि गउ पुच्छिउ ।
 थिय चितंति सुरउ वंछेअइ अवसरु कहिमि ण हुउ पुच्छेअइ ।
 कवणु देसु अहि तुहु उप्पणउं कवणु गयरु सुरसिरि संपुणउं ।
 राणउ कवणु तित्थु दिहिगारउ कवणु जणणि पिउ कवणु तुहारउ ।
 तं गिसुणिवि तेण गियसहएसुथि संभरिउ ।
 जलु गयणिहिं मुक्कु हियवउ कलुणसरहो भरिउ ॥
 सो गिय जम्मभूमि सुमरंतउ गिय जणेरि वच्छल्लु सरंतउ ।
 परिचितइ परिवट्ठिय सोई काई एण महु तणइं विहोई । (६, ११-१२)

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अधिकतर संवाद बड़े-बड़े हैं। अतएव अभिनेय की दृष्टि से उन्हें महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। हाँ, संवादों के माध्यम से पात्रों के चरित्रों-पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है। उक्त उदाहरण में भविष्यदत्त अपनी पत्नी की बातों को सुन कर जन्म-भूमि और माता का स्मरण करता हुआ माँ के वात्सल्य को तथा अस्थ चारित्रिक गुणों को प्रकाशित करता है। भविष्यदत्त कहता है—

घणवइ गाउं जणणु अम्हारउ गरवरिद परिवारपियारउ ।
 मायिरि कमल सुअण दिहिगारी हरिवल्लुहिय ससु तुम्हारी ।
 सइ चारित्तसोल संपुण्णी लच्छिहि तणइं अगि उप्पण्णी ।
 अण्णु वि बंधुअत्तु महु दाइउ तेण समाणु वणिज्जिं आइउ । (६, १३)

स्पष्ट ही भविसयत्तकहा में संवाद सजीव, सरल और स्वाभाविक है। भाषा भी संवादों के अनुकूल प्रसाद एवं मधुर है। अतएव रंगमंच की उपयोगिता को छोड़ कर सभी बातों में—उक्त काव्य के संवाद सफल हैं। और इस बात का सब से बड़ा प्रमाण यही जान पड़ता है कि उन में भाषा की चुस्ती तथा संवाद की स्वाभाविकता है। संवाद में स्वाभाविकता का होना उस का प्रथम तथा अनिवार्य गुण है। इस प्रकार भविसयत्तकहा के संवाद काव्यगत सौन्दर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट बन पड़े हैं।

शैली—अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की भाँति इस कथाकाव्य में 'कड़वकबन्ध' है, जो सामान्यतः दस से सोलह पंक्तियों का है। कम-से-कम दस और अधिक से अधिक तीस पंक्तियाँ एक कड़वक में प्रयुक्त हैं। कड़वक पञ्चट्टिका, अडिल्ला या वस्तु से समन्वित होते हैं। कहीं-कहीं दुबई का प्रयोग भी मिलता है। इस भिन्नता का कारण यही प्रतीत होता है कि यह रचना की एक शैली थी, जिस में प्रबन्ध और विषय की दृष्टि से अन्यान्यप्रसमय छन्दोयोजना नियत पंक्तियों में होती थी। साधारणतः एक कड़वक में कम से कम कुल आठ यमक या सोलह पंक्तियाँ देखी जाती हैं। इसी प्रकार सोलह मात्राओं का एक पद कहा जाता है। किन्तु इस के सम्बन्ध में बिल्कुल निश्चित मत नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि एक तो समूचे साहित्य का अनुशीलन नहीं हुआ है और दूसरे नियमों में भी भेद दिखाई देता है। कविवर्णन में स्पष्ट कहा गया है कि सन्धि कड़वकबद्ध होती है, और कड़वक पद्धतियाँ आदि चार प्रकार के छन्दों में रचा जाता है^१। सन्धि के प्रारम्भ में तथा कड़वक के अन्त में ध्रुवा, ध्रुवक या घत्ता छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। ध्रुवा षट्पदी, चतुष्पदी, और द्विपदी के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। अतएव घत्ता एक सामान्य शब्द है, जो रचना-विशेष का बोधक है। यद्यपि घत्ता नाम का एक छन्द भी है, किन्तु सामान्यतः किसी भी छन्द को 'घत्ता' कहा जा सकता है। सामान्यतया कड़वक के अन्त में दो पंक्तियों के ही छन्द देखे जाते हैं। दोहा भी इस का अपवाद नहीं है। दोहा का प्रयोग अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों में कम दिखाई देता है। इस से यही जान पड़ता है कि प्रयोग शैली के विभिन्न रूप पहले से ही प्रचलित थे। महाकवि स्वयम्भू के "चतुर्मुह्येण समप्पिय पद्धडिय" से भी इसी बात का संकेत मिलता है कि उन के पूर्व ही अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की रचना पद्धतियाँबन्ध में होती थी। परवर्ती कवियों में यशःकीर्ति ने 'हरिवंशपुराण', वीरकवि ने 'वरागचरित', नयनन्दी ने 'सुदर्शनचरित', देवसेनगणि ने 'सुलोचनाचरित', हरिषेण ने 'धर्मपरीक्षा', अमरकीर्ति ने 'यशोधरचरित' और पुष्पदन्त ने 'महापुराण' पद्धतियाँबन्ध में लिख कर अपभ्रंश की परम्परागत साहित्यिक

१ कड़वकनिबन्धो सन्धो पद्धडियाईहिं चउहिं पुण कडव ।

सन्धिमुळे कडवन्ते ध्रुवा च ध्रुवय च घत्ता वा ।

'मयजपराजयचरित' की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ० ६७

बन्धरचना का पालन किया है^१। भगवतीदास ने 'भृगाकलेखाचरित्र' में गाथाओं का प्रयोग प्राकृत में, पद्मडिया का अपभ्रंश में और दोहा, सोरठा का हिन्दी में किया है^२। इस से अपभ्रंश के साथ पद्मडिया छन्द के विशेष सम्बन्ध का पता लगता है। वस्तुतः प्रयोग-शैली के भेद से तीन रूप दिखाई देते हैं—पद्मडियाबन्ध, छद्मगणिया या रासाबन्ध और दोहाबन्ध। पद्मडिया के कई भेदों का पता मिलता है। नयनन्दी ने 'सुदर्शन-चरित्र' में रमणमाल, चित्तलेह, चंदलेह, पारंदिया, रयडा आदि पद्मडिया के भेदों का प्रयोग किया है^३। अधिकतर दोहा छन्द मुक्तकबन्ध में प्रयुक्त है। यद्यपि पद्मकीर्ति, रयधू आदि ने अपने प्रबन्धकाव्यों में दोहा का प्रयोग किया है, पर वह परवर्ती विकास है। प्रारम्भिक युग के प्रबन्धकाव्यों में दोहा नहीं मिलता। फिर, मुक्तकबन्ध के लिए दोहा अत्यन्त उपयुक्त छन्द है। प्राकृत में गाथा, संस्कृत में दोषक और हिन्दी में दोहा मुख्य रूप से मुक्तक काव्य में प्रयुक्त हुए हैं।

आलोच्यमान काव्य में मुख्य रूप से पद्मडिया छन्द प्रयुक्त है। निश्चय ही यह कथाकाव्य पद्मडिया शैली में लिखा गया है, जो प्रबन्धकाव्य की सर्वाधिक प्रचलित शैली रही है। साधारणतया एक सन्धि में पन्द्रह से लेकर तीस कड़क तक देखे जाते हैं। किन्तु इस में ग्यारह से लेकर छब्बीस कड़क तक एक सन्धि में निबद्ध है। कड़क के अन्त में घत्ता देने का नियम व्यापक था। घत्ता में प्रायः दोहे के आकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। क्योंकि यह एक शैली थी कि पहले दोहे का आकार का कोई छन्द हो फिर उस से बड़ा या भिन्न छन्द-रचना हो और कड़क के अन्त में पहले जैसा या वही छन्द हो। इससे बन्ध-रचना में सुन्दरता तो आ ही जाती है, पर विषय और भावों की अभिव्यक्ति में भी तारतम्य का निर्वाह करने वाली शैली बंध-सी जाती है। कड़क के अन्त में जिस छन्द का प्रयोग किया गया है—(दोहे के या भिन्न आकार के) उस की सामान्य संज्ञा 'घत्ता' है। किन्तु कड़क के प्रारम्भ में प्रयुक्त होने वाले छन्द की कोई सामान्य जाति नहीं कही गयी है। सम्भव है कि यह परवर्ती विकास हो और पहले के लिखे हुए प्रबन्ध काव्यों में उस का प्रयोग न हुआ हो। इस कथाकाव्य में सन्धि के आरम्भ में ही प्रायः कड़क के पूर्व दोहा के आकार का छन्द देखा जाता है, जिन में या तो जिन-वन्दना है अथवा सन्धि में वर्णित कथा का सार है। (५, १)

१. पद्मडिया छन्दे सुमगाहक भविष्य जणमण मखण सहकक । हरिवंशपुराण, १२, १६।

बहु भानन्ति जे वरगचरित, पद्मडियाबन्धे उद्धरित । जम्बुन्धामोचरित, १, ४।

गियमालए त पिरणमि कन्नु, पद्मडियाबन्धे ज अडन्नु । सुदर्शनचरित, १, २।

जं गाहाबन्धे आगिजन्नु, मित्रिकुन्दकुन्दगणिना निरुत्त ।

तं एमहि पद्मडियाह कश्मि, वन्नि किणि ॥ पुडव अणु वेमि । सुलोचनाचरित्र, १, ६।

जा जयरोमि आमि, विरडय गाहपबन्धे ।

माहमि धम्मपरिचय, सा पद्मडियाबन्धे । धर्मपरीक्षा, १, १।

हायड चरित्तु जमहरजिबामु, पद्मडियाबन्धे किड पयावु । षट्कर्मोपदेश, १, ७।

२. डॉ० हरिवंश कोसड अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २४१।

३. वही, पृ० १७४।

प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की वन्दना से यह भी स्पष्ट है कि ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य और अन्त के विधान को कवि ने मान्यता दी है। (७, १) अतएव अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों में प्रयुक्त बन्ध-शैली सार्ववती है, जो विविध प्रयोजनों से भरित तथा कथानुबन्ध से समन्वित है। शैली का यही रूप आलोच्यमान कृति में द्रष्टव्य है।

भाषा

यद्यपि धनपाल की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है, पर उस में लोकभाषा का पूरा पुट है। इस लिए जहाँ एक ओर साहित्यिक वर्णन तथा शिष्ट प्रयोग है वही लोक-जीवन की सामान्य बातों का विवरण घरेलू वातावरण में वर्णित है। उदाहरण के लिए—सजातीय लोगो की जेबनार में घट्ट रसो वाले विभिन्न व्यंजनो के नामों का उल्लेख है, जिन में घेवर, लड्डू, खाजा, कसार, मंडा, भात, कचरिया, पापड आदि मुख्य हैं।

गणाधारिया लड्डुवा खीरखज्जा कसारं सुसारं सुहाली मणोज्जा ।

पुणो कञ्चरा पप्पडा दिण्ण भेया जयंताण को वण्णए दिव्व तेया । (१२, ३)

डॉ० एच० जेकोबी के अनुसार धनपाल की भाषा बोली है, जो उत्तर प्रदेश की है ।^१ यद्यपि शास्त्रीय भाषा में 'भविष्यद्गत कथा' की गणना नहीं की जा सकती, पर उस पर शास्त्रीय प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । धनपाल की भाषा साहित्यिक भाषा है । केवल लोक-बोली का पुट या उस के शब्द-रूपों की प्रचुरता होने से हम उसे उस युग की बोली जाने वाली भाषा नहीं मान सकते । क्योंकि प्रत्येक रचना में बोल-चाल के कुछ शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है । इस का विचार भाषा की बनावट को ध्यान में रख कर किया जा सकता है कि वह बोली है या भाषा ? धनपाल की भाषा में जैसी कसावट और संस्कृत के शब्दों के प्रति झुकाव है उस से यही सिद्ध होता है कि उन की भाषा बोलचाल की न हो कर साहित्य की है । इस का एक कारण यह भी है कि धनपाल की रचना से मिलती-जुलती भाषा परवर्ती रचनाओं में हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देती है । यही नहीं, अपभ्रंश के कवि विन्नुष श्रीधर की रचना धनपाल से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की है, जिस की भाषा धनपाल की रचना से सरल एवं स्वाभाविक है । उसे हम बोलचाल की भाषा कह सकते हैं—यद्यपि उस की भाषा भी सहज रूप में बोलचाल की नहीं है; किन्तु धनपाल की भाषा बोलचाल की नहीं है । उदाहरण के लिए—

किउ अवभत्थाण णराहिबेण

अहिणउ पाहुहु अल्लविउ तेण । (१३,२)

(कृत अभ्युत्थान नराधिपेन

अभिनेतुः प्रामाण्यं दर्शितं तेन)

१. डॉ० एच० जैकबो फ्रॉम द इण्ट्रोडक्शन टु द भविसयत्तकहा, अनु० प्रो० एस० एन० घोसान,
जर्नल आव द ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बङ्गोदा, द्वितीय खण्ड, अंक सन्ख्या ३, मार्च १९६३,
पृ० २३६।

इन पंक्तियों पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। भाषा को साहित्यिक बनाने का प्रयत्न कई स्थलों पर लक्षित होता है। यथा—

पुणु बि अक्खकहुमिण पसाहिउ तिलउ । (प्रसाधित) (९, १६)

परिगलिय रयणि पयडिय विहाणु । (प्रकटित) (४, ५)

(अत्रान्तरे) एत्थंतरि कुमारु कीलतउ लोलइ णियमंदिरि संपत्तउ । (सम्प्राप्त)

(२, ११)

रयणाहरण विहूसिय कौंठि बेलासिरिव उयहि उवकौंठि । (५, ९)

(रत्नाभरणविभूषितकण्ठं बेलाश्वीरिव उद्गतं उपकण्ठं) ।

भविष्यत्तकहा की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश है, जो प्रायः एक सहस्र वर्ष तक साहित्य की भाषा रही है और जिस में उत्तर, पश्चिम तथा मध्यदेश का एक चौथाई साहित्य लिखा मिलता है। डॉ० तगारे ने पश्चिमी अपभ्रंश की जिन विशेषताओं का निर्देश किया है वे भविष्यत्तकहा में भली भाँति दृष्टिगोचर होती हैं।^१ आलोच्यमान काव्य की भाषा भले ही आदर्श भाषा न हो, पर परिनिष्ठित अपभ्रंश अवश्य है; जिस के लक्षण हमें आ० हेमचन्द्र के व्याकरण में मिलते हैं। इस से स्पष्ट हो जाता है कि कवि घनपाल की प्रयुक्त भाषा साहित्यिक है; किन्तु बोलचाल की भाषा का पुट दिया हुआ है। डॉ० जेकोबी ने आ० हेमचन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट जिस ग्राम्य अपभ्रंश का कथन किया है वह साहित्यिक एवं शास्त्रीय-अपभ्रंश से कुछ बातों में समानता रखती है। इसलिए जिस पुल्लिङ्ग 'हो' एकवचन प्रत्यय के कारण भविष्यत्तकहा की भाषा को ग्राम्य कहा गया है वह उचित नहीं है। क्योंकि उसी में 'हु' के प्रयोग विरल नहीं है। किन्तु डॉ० जेकोबी का कथन है कि 'हु' और 'हि' 'हो' के बदले लिखे जाते थे^२। परन्तु तथ्य यह है कि—दोनों ही रूप अन्य साहित्यिक रचनाओं में मिलते हैं। लावू कृत 'जिनदत्त-चरित्र' शुद्ध साहित्यिक रचना है, किन्तु उस में भी दोनों रूप देखे जाते हैं। फिर, प्राकृत के वैयाकरणों ने शौरसेनी प्राकृत के अन्तर्गत जिस अपभ्रंश का निर्देश किया है वे लक्षण भविष्यत्तकहा में मिलते हैं। उदाहरण के लिए—'प' को 'ब' हो जाना (कमलवावि < कमलवापिका); 'स' को 'ह' (दह, णियसह < निदवास) 'य' को 'ज' (जसोहण < यशोधन); श और ष को 'स' (कसण, विसाउ), 'म' को 'ह' (अलोहु, अहिमाणु, अहिंसिचिय); 'ख' को 'ह' (सुह, साहा), 'थ' को 'ह' (णाह) हो जाना इत्यादि।

वस्तुतः भाषागत प्रवृत्तियों के विभिन्न शब्द-रूप भविष्यत्तकहा में दिखाई देते हैं, पर काव्य-रचना का झुकाव परिनिष्ठित अपभ्रंश की ओर ही है, जिस का विधान हमें आ० हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' में प्राप्त होता है। इस से यह भी स्पष्ट है कि घनपाल

१ डॉ० गजानन बासुदेव तगारे 'हिस्टारिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश, पूना, १९४८, पृ० २६०।

२ डॉ० एच० जेकोबी 'इन्ट्रोडक्शन टु द भविष्यत्तकहा, जर्मन जाव द ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, खण्ड २, ३, पृ० २४०।

की भाषा उत्तरकालिक अपभ्रंश है, जिस में भाषागत परिवर्तन के रूप स्पष्ट हो चले थे। इसीलिए हमें 'हु' और 'हो' दोनों रूप मिलते हैं। किन्तु प्राधान्य 'हु' का है। यथा—

मामहु मंदिर जणु संभासिवि पणविवि किउ संकेउ समासिवि ॥ (९, १०)
तथा— रुक्खहु णामि फलु संवज्झइ कि अंबइ जामनउ णिवज्झइ ॥ (२, ३)
एवं— तुहु परिपुणु अहिट्ठिय दब्बि पहु सम्माण दाण गुण गग्गि । (३, १४)

इस प्रकार जहाँ 'हु' दिखाई देता है वह या तो भाषा की उकारान्त प्रवृत्ति के कारण है अथवा विभक्ति के विनिमय या विकल्प से। और जहाँ 'हो' है वह विभक्ति के कारण। उदाहरण के लिए—

एहु महंनु पुत्तु तउ बप्पहो सामिउं धणहो पउर माहुप्पहो ।
सहु जणणिय गेहुहु णीसारिउ अच्छइ कडकडंनु मणि खारिउ । (३, १५)

यहाँ पर 'बप्पहो', 'धणहो', 'माहुप्पहो' शब्द स्पष्टतः षष्ठी विभक्ति के एकवचन के रूप हैं। 'गेहुहु' शब्द पंचमी का एकवचन है। तथा एहु, सहु प्रथमा विभक्ति एकवचन के तद्भव होने में भाषा की उकारान्त प्रवृत्ति के सूचक हैं। अतएव 'हु' और 'हो' को भाषा का निर्णायक मान लेना उचित नहीं जान पड़ता।

अलंकार-योजना

प्रबन्ध काव्य में अलंकार-योजना का भी विशेष स्थान है। भावों की स्फुट अभिव्यक्ति और वस्तु के उत्कर्ष एवं प्रतीयमान चित्र या बिम्ब को अभिव्यजित करने के लिए अलंकार-योजना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी प्रतीत होती है। यदि कल्पना भावों को जगाती है तो अलंकार उसे सँचा या रूप प्रदान करता है। इसलिए प्राचीन आचार्यों ने प्रबन्ध काव्य में अलंकार-विधान की अनिवार्यता का निर्देश किया है। किन्तु अलंकारों के चमत्कार के पीछे काव्य को चमत्कृत बनाने का प्रयोजन उचित नहीं है। क्योंकि अलंकार भावों के पीछे वैसे ही चलते दिखाई देते हैं जैसे कि दिये के पीछे अँधेरा। वास्तव में सीधी-सादी बात में आकर्षण कम दिखाई पड़ता है। अलंकार-योजना से उस का चमत्कार बढ़ जाता है। इसीलिए काव्य में उस का महत्त्व है। अलंकारों की कई कोटियाँ हैं। सामान्यतः मुख्य दो कोटियाँ कही जाती हैं—साधर्म्य या औपम्यमूलक और विरोधमूलक। साधर्म्यमूलक अलंकार है—उपमा, परिणाम, सन्देह, रूपक, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, स्मरण, अपह्लाव, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, निदर्शना, श्लेष और सहोक्ति। इन में से उपमा को छोड़ कर शेष अलंकारों में औपम्य गम्यमान होता है, इसलिए उन्हें औपम्यमूलक भी कहते हैं। आलोच्यमान काव्य में साधर्म्यमूलक अलंकारों की ही मुख्यता है। यदि सच पूछा जाय तो अलंकारों की कोई इयत्ता नहीं। बात कहने के जितने ढंग हो सकते हैं उतने ही अलंकार। फिर भी सादृश्य, साधर्म्य, वैधर्म्य, विरोध, हेतु, लोक-व्यवहार,

वाक्यरचना, तर्क आदि के भेद से अलंकारों को अनेक श्रेणियाँ मानी जाती हैं। परन्तु यह कहा जा सकता है कि उपमा सब से प्रधान अलंकार है, और कदाचित् अलंकारों के विकास के मूल में यही अलंकार रहा होगा। वस्तुतः विद्वानों के चित्त को अनुरंजन करने वाली स्फुट प्रतीयमान कोई वस्तु नहीं होती, किन्तु अन्वय के द्वारा प्रतीयमान होने पर हम उसी रूप में उसे ग्रहण करते हैं। और इसलिए औपम्य के तीन रूप देखे जाते हैं—भेद, अभेद और उभयनिष्ठ।

भारतीय साहित्य में ऐसा कोई काव्य न होगा जिस में उपमा अलंकार का प्रयोग न हुआ हो। इस से जहाँ उपमा की व्यापकता का पता चलता है वही उस की प्राचीनता का बोध होता है। ऐसे अलंकार के प्रयोग में कवि का कौशल और औचित्य द्रष्टव्य होता है। महाकवि कालिदास की उपमाओं की सुघरता इसी में है कि वे साधर्म्य-योजना की सटीकता के साथ स्फीत बिम्ब प्रदान करती हैं—अभिव्यंजित करती हैं। साधर्म्य-योजना जाति, गुण, क्रिया और स्वभाव के आधार पर की जाती है। वह कहीं पर गम्यमान होती है और कहीं पर प्रतीयमान।

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा और उत्प्रेक्षा का प्रयोग मुख्यता से इस काव्य में देखा जाता है। उपमा के कई रूप दृष्टिगोचर होते हैं। वह केवल सादृश्य योजक समान धर्म की प्रकाशिका न हो कर वस्तु के मूर्त और अमूर्त भाव में भी साम्य प्रदर्शिका है। यथा—

तेण वि दिट्ठु कुमारु अकायर वडवाणलिण णाई रयणायरु । (५, १८)

अर्थात् उस राक्षस ने भविष्यदत्त को वैसा ही अकायर देखा जैसे समुद्र के भीतर रहने वाली अग्नि (वडवानल) होती है। यहाँ केवल धर्म साम्य ही नहीं है, अपितु वस्तु, स्वभाव, गुण और क्रिया-साम्य भी है। ऐसी उपमा बहुत कम मिलती है। अब प्रकृति-वर्णन में मानवीय रूपों तथा भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति का चित्र देखिए—

लक्खिउ समुद्धु जललगहोरु सप्पुरिसु व थिरु गभोरु धोरु ।

आसो विसोव्व विसविममसीलु बेलामहल्लकल्लोललीलु ।

दिट्ठुं विउल्लड वेलालाई कयविककयरयवयणाउलाई । (३, २२)

अर्थात् उन्हो ने जल से भरे हुए गहरे समुद्र को स्थिर, गम्भीर और घोर पुरुष की भाँति देखा। उस विशाल तट पर किलोल करने वाली लहरें साँप के समान थीं। शब्दायमान समुद्र-तट उस हाट की भाँति था, जो रत्नों की खरीद और बेच करने वालों से शब्द-संकुल होता है।

उक्त पंक्तियों में मूर्त की उपमा अमूर्त में होने के साथ साँप और समुद्र की लहरों की क्रिया में अत्यन्त साम्य लक्षित होता है। ऐसी उपमाओं से भरित कई स्थल आलोच्यमान कथाकाव्य में हैं, जिन में कवि की प्रतिभा परिलक्षित होती है। किन्तु उपमाओं से अधिक उत्प्रेक्षाएँ काव्य में प्रयुक्त हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि धनपाल उत्प्रेक्षा के कवि है। वस्तुतः उत्प्रेक्षा में कवि की कल्पना को अधिक स्वातन्त्र्य और

विकसितरूप से स्फुट भाव-भूमि मिलती है, जिस में कोई रोक-टोक नहीं होती। जहाँ वह कल्पना को जगाने में सहायक होती है वही भावों की उन्मुक्त अभिव्यञ्जना के लिए स्पष्ट एवं स्फोट बिम्ब सामने लाती है। यही उत्प्रेक्षा का माहात्म्य है। और फिर जिस प्रकार भाषा में स्वाधिक प्रत्यय नये शब्दों को गढ़ने और अन्य भाषाओं से ग्रहण करने के लिए प्रवेश-द्वार के समान है वैसे ही उत्प्रेक्षा नये-नये उपमानों को साहित्य में पुरस्कृत करने के लिए खिड़की की भाँति है। वाच्यमान और प्रतीयमान के भेद से कई प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ देखी जाती हैं। प्रस्तुत काव्य में भी उस की मूल विशेषता निहित है। प्रायः सभी प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ इस में दिखाई देती हैं। उन के विस्तार में न जा कर केवल दो-चार उदाहरणों के नमूने प्रस्तुत करना पर्याप्त है।

कवि की कल्पना है कि रात काली इसलिए हो गयी कि सौत-की डाह से मानो श्री ने पथिकों के ऊपर खप्पर में भर कर स्याही उड़ेल दी हो। (४, ५) यहाँ असिद्धविषया हेतुत्प्रेक्षा है। क्योंकि सन्ध्या के बाद रात का आ जाना और कालिमा का फैल जाना स्वाभाविक है; पर सौत की डाह से स्याही का उड़ेलना कारण बता कर उत्प्रेक्षा की गयी है, जो वस्तुतः कारण नहीं है। कवि की कल्पना स्वाभाविक और नवीन जान पड़ती है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण हैं—

पारिगलिय रयणि पयडिउ बिहाणु णं पुणु बि गवेसिउ जाठ भाणु (४, ५)

रात बीत गयी। सवेरा हो गया। कवि कहता है कि यह सूरज आज फिर इस-लिए निकल आया है कि कल इसका कुछ खो गया था, जिसे ढूँढने के लिए आया है। कुछ परम्परित उत्प्रेक्षाएँ भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए—गजपुर का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह सब को आश्चर्य में डालने वाला गजपुर नाम का नगर क्या था, मानो धरती पर आकाश से उतर कर आया हुआ स्वर्ग का एक खण्ड था।

तहि गयउर णाउं पट्टणु जणजणियच्छरिउ ।

ण गयणु मुएवि सग्गखण्डु महि अवयरिउ ॥ (१, ५)

यह कल्पना वाल्मीकिरामायण, स्वयम्भू के हरिवंश पुराण, पुरुषदन्त के महापुराण, यशोधरचरित, कालिदास के मेघदूत, धाहिल के पद्मसिरीवरित, नरसेन के सिद्धचक्रकथा आदि छोटे-बड़े कई काव्यों में मिलती है। वास्तव में धनपाल की कुछ कल्पनाएँ निराली हैं। कवि कहता है कि थोड़ा दूर पर भविष्यदन्त ने एक पुरानी पगडंडी देखी, जो जैनधर्म की पुरानी पुस्तक हो जान पड़ती थी।

धोवंतरि विट्ठु पुराण पंथु भविण्ण वि ण जिणसमयगंथु । (४, ५)

इसी प्रकार भविष्यदन्त उस नगरी के भवनों के अघखुले गवाक्षों को देखता हुआ कहता है कि वे मानो नयी बहू के आधी आँखों की कोरी से देखे जाते हुए नव-न-कटाक्ष हो।

पिक्खइ मंदिराई फलअद्धग्घाडिय जालगवक्खइ ।

अद्धपलोइ राइ णं णववहुणयणकडक्खयं ॥ (४, ८)

सचमुच कवि की कल्पना यहाँ अत्यन्त उर्वर और अनुभूतिपूर्ण प्रतीत होती है। समूचा काव्य ऐसी कल्पनाओं से भरा हुआ है, जो लोक-जीवन के उपमानों की सजीवता सहजे हुए हैं। इनमें अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति दोनों में ही नवीनता लक्षित होती है। उदाहरण के लिए उसने स्वच्छ बापी जल से तथा कमलों से लबालब भरी हुई देखी। इस बात को कवि अपने ढंग से इस प्रकार कहता है कि आगे चल कर उसे कमलों से भरी हुई बापी ऐसी दिखाई दी मानो किसी कामिनी के छाया युक्त पयोधर हो।

अगइ कमला बाबि सुमणोहर ण कामिणि सच्छाय पओहर । (४, १२)

यहाँ कितना सुन्दर बिम्ब प्रस्तुत हुआ है। 'पयोधर' में श्लेष भी है। स्वरूपोत्प्रेक्षा इन पंक्तियों में स्पष्ट हो गम्यमान है। कवि ने एक-एक वस्तु की सुन्दर से सुन्दर उत्प्रेक्षा कर भावों का बिम्बार्थ ग्रहण कराया है। ये उक्तियाँ निश्चय ही काव्य की शोभा विधायक तथा भावों की बिम्ब-योजना में शक्ति समन्वित हैं। अन्य अलंकारों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

- (१) हट्टमग्गु कुलसोल णित्तहि सोह ण देइ रहिउ वणिउत्तहि^१ । (विनोक्ति)
- (२) रुक्खहु णामि फलु खवज्जइ कि अबइ आमलउ णिवज्जइ^२ । (वैधर्म्य दृष्टान्त)
- (३) जो भक्खइ मंसु तासु कहिमि कि होइ दय^३ । (काव्यालिंग)
- (४) जिम-जिम ताहि आस णउ पूरइ तिम-तिम पणइणि हियइ बिसूरइ^४ । (विशेषोक्ति)
- (५) असिरिब सिरिबत्त सजल वरंग वरंगणवि ।

मुद्धवि सवियार रंजणसोह निरंजणवि^५ ॥ (विरोधाभास)

- (६) तो तउ करइ अमगलु जंतहो मूलु वि जाइ लाहु वितंतहो^६ । (लोकोक्ति)
- (७) कलि-तखरहो मूलु छिदिज्जइ^७ । (रूपक)
- (८) किउ अपमाणु णित्तु मुहुल्लउ अहरउ णावइ दाडिमहुल्लउ^८ । (व्यतिरेक)
- (९) जोवणवियाररसवसपसरि सो सूरउ सो पंडियउ ।

चलमम्मणवयणुल्लावएहि जो परतियहि ण खंडियउ^९ ॥ (अर्चान्तरन्यास)

१ कुल-शाल में नियुक्त होने पर भी बिना वणिक्पुत्रों के बहों के हाट-मार्ग शोभित नहीं हो रहे थे।

२ वृक्ष के नाम के अनुसार फल लगते हैं। क्या आम का फल आमले के पेड़ में लगता है ?

३ जो मांस खाता है उसके दया कहीं से हो सकती है !

४ वह प्रणयिनो जैसे-जैसे प्रियतम की आशाओं, अभिलाषाओं को पूर्ण करती थी वैसे ही उसे सन्तान उत्पन्न होता था, हृदय विमुरता था।

५ वह निर्धन होने पर भी भोमती थी। कल्याणपूर्ण भेष खो होकर भी वरांगना (वेश्या) नहीं थी। मुग्धा नायिका होने पर भी विचारशील थी। आँखों में बिना अजन लगाये आकर्षक एवं मोहने वाली थी।

६ बिम्बों के रहते हुए जो तप करता है वह लाभ को आशा में मूल भी धोड़ता है।

७ कलह रूपी वृक्ष की जड़ भी नष्ट कर देना चाहिए।

८ मुख से सलग्न अधर (निचले आँठ) ने अनाह को मोचा दिया कर उसका अपमान किया।

९ यौवनकालीन विकार रस के प्रसरित होने पर तथा चंचल मार्मिक वचनों के आलाप होने पर जो बिधत्ते नहीं वे ही बिडाय तथा पण्डित हैं।

छन्द

भाषा, षोली और अलंकारों की भाँति अपभ्रंशों के छन्दों में भी देशीयन स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। अपभ्रंश के काव्यों में मुख्यतः मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। मात्रिक-रचना परवर्ती प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की निजी विशेषता है। क्योंकि वैदिक वृत्त वर्णमय है। पद में वर्ण और स्वर मुख्य होते हैं। यदि हम पद को अक्षरमय मानें तो वैदिक वृत्त वर्णमय है। मुख्य वैदिक छन्द है—गायत्री अनुष्टुभ्, जगती, त्रिष्टुभ्, पंक्ति, बृहती और उष्णिक्। इन वैदिक वृत्तों की विशेषता अक्षरपरिमाण में निहित है। मात्रिक छन्दों का प्रयोग परवर्ती विकास है। जिसमें नियत वर्णों का समावेश होता है उसे वृत्त कहते हैं। किन्तु नियत मात्रा वाला पद्य जाति कहा जाता है। प्राचीनों के अनुसार पद्य के दो भेद हैं—वृत्त और जाति^१। काव्य-परम्परा के उत्तरवर्ती काल में मात्रा तथा अक्षरों की नियत संख्या से सामान्य रूप का ही बोध होने लगा था इसलिए उसे छन्द नाम से अभिहित किया जाने लगा। छन्द वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्द-रूपों का वाचक है। प्रारम्भिक काव्यों में गणवृत्त नहीं थे। उनमें मात्रिक और अक्षर वृत्त ही प्रयुक्त होते थे। किन्तु परवर्ती संस्कृत-साहित्य में पाद-रचना गण के आधार पर की जाने लगी थी। गण तीन वर्णों से बनता है। संस्कृत के काव्यों में गण-वृत्तों का भलीभाँति प्रचलन होने पर प्राकृत-काव्यों में भी उनका समावेश होने लगा। अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति साहित्यिक रूढ़ियों के साथ ही प्राकृत से आयी जान पड़ती है।

अल्सडोर्फ ने वृत्तों के दो भेदों का निरूपण किया है—गणवृत्त और मात्रिक^२। किन्तु स्पष्ट रूप से हमें छन्दों के तीन भेद दिखाई देते हैं—अक्षरवृत्त, गणवृत्त और मात्रिकवृत्त, लौकिक छन्दों के भी ये तीन भेद कहे गये हैं^३। कहा जाता है कि लौकिक छन्दों की उत्पत्ति वैदिक वृत्तों से हुई है, परन्तु अध्ययन करने से पता लगता है कि वृत्त तथा जाति-बन्धों से हट कर समय-समय पर नवीन बन्ध एवं छन्दों की रचना साहित्य में होती रही है। कुछ ऐसे छन्दों का पता चला है जो लय तथा राग-रागिनियों के अनुकूल ढल कर लोक-बोलियों में संगीत और भावों की सृष्टि करते हैं^४। इस दृष्टि से मध्यकालीन भारतीय साहित्य का विशेष महत्त्व है।

इस कथाकाव्य में निम्न-लिखित छन्द विशेष रूप से प्रयुक्त है—

१. पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा।

वृत्तमक्षरमन्त्र्यात् जातिमत्रिकता भवेत् ॥ नारायण।

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति त्रिधा। —अग्निपुराण, ३३७।

२. अपभ्रंश स्टडियन, १६३७, पृ० ४६।

३. आशी तावद् गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्तत् परम्।

वृत्तीयमक्षरछन्दश्छन्दश्चेष्टा तु लौकिकम् ॥—छन्दःशास्त्र पृ० ४६।

४. देवेन्द्र कुमार जैन "प्राकृतछन्दकोश" हिन्दुस्तानी, भाग २२, अंक ३-४, पृ० ४०-४६।

५. भी वनाल और गुणे "भक्सियत्तकहा" की भूमिका, पृ० २८-३६।

पञ्चाटिका, अडिल्ला, दुवई, मरहटा, सिहावलोकन, काव्य, प्लवंगम, कलहंस, गाथा, घत्ता, उल्लाला, अभिसारिका, बिभ्रमविलासबदन, किन्नरमिथुनविलास, मकटिका, चामर, भुजंगप्रयात, शंखनारी, लक्ष्मीधर और मन्दार ।

पञ्चाटिका या पट्टड़ी

यद्यपि दोहा अपभ्रंश का औरस छन्द कहा जाता है, किन्तु अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में स्वतन्त्र रूप में इस के दर्शन नहीं होते । पट्टड़िया छन्द अवश्य प्रायः सभी काव्यों में बन्ध रूप में मिलता है । इस की प्राचीनता का उल्लेख भी है । स्वयं स्वयम्भू ने स्वीकार किया है कि उन्होंने पट्टड़िया छन्द चतुर्मुख से ग्रहण किया, जो छड्डणिया, दुवई और ध्रुवक से जड़ा हुआ है ।^१ 'स्वयम्भूछन्द' में इन का विस्तृत विवेचन मिलता है । वस्तुतः पट्टड़िया और घत्ता प्रयोग-शैली के छन्द हैं, जो बन्ध-रचना के अनुरूप प्राकृत और अपभ्रंश-काव्यों में प्रयुक्त हुए हैं । पट्टड़िया में चतुर्मात्र गण तथा चारों पद समान होते हैं । कुल चौसठ मात्राएँ होती हैं । पूर्वार्द्ध में या उत्तरार्द्ध में यमक होता है ।^२ किन्तु प्राकृतपैगलम् यमक का उल्लेख न हो कर प्रत्येक चरण के अन्त में जगण की रचना आवश्यक कही गयी है । इस का उदाहरण है—

कि करमि खीणबिहवप्पहाइ णउ लहमि सोह सज्जण तहाइ ।

अह णिडणु णिण सोहइ ण कोइ धणु संपय विणु पुण्हि ण होइ । (१, २)

यह पट्टड़िया छन्द है । इस में चार चरण हैं । चारों में समान रूप से सोलह-सोलह मात्राएँ हैं । अन्त में जगण (मध्य गुरु) है ।

अडिल्ला

आ० स्वयम्भू ने स्पष्ट रूप में उल्लेख किया है कि प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से कडवको की बहुविध रचना होती है, जिन में पट्टड़िया, छट्टणि, घत्ता आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है । उदाहरण के लिए, जिस कडवक में पट्टड़ी छन्द का प्रयोग होता है वह कडवक सामान्यतः सोलह पंक्तियों का होता है ।^३ किन्तु आलोच्यमान ग्रन्थ में इस नियम का पालन नहीं हुआ है । चार पट्टड़िया और एक घत्ता के क्रम से आठ से सोलह तथा चौदास पंक्तियों तक की कडवक-रचना हुई है । अडिल्ला में भी सोलह मात्राएँ होती हैं । दोनों में अन्तर यह है कि अडिल्ला में कही भी जगण का प्रयोग नहीं होता है और दो पादों के अन्त में यमक तथा चरण के अन्त में दो लघु मात्राएँ होती हैं^४,

१ छड्डणिया दुवई ध्रुवकीह अडिय चउमुहण ममन्थिय पट्टडिय ।—हरिवंशपुराण, (१, २) ।

२ चत्ताणि पादा पाडामाया आण्ड उत्तरार्द्धे च यमक । मन्देदारसक अवचूर्णिका । प्राकृतपैगलम् १, १२४ । स्वयम्भूछन्द, ८, २० ।

३ पट्टडिआ पुण अह करेन्ति ते माइ मत्तउ पाउ धरेन्ति ।

बिहि पअहि जमउ ते विम्मज्जन्ति कडवअ अट्टहि जम अहिरज्जन्ति ॥ वही (८, ११)

४ सोलह मत्ता पाउ अन्धिल्लह वे वि जमक्का मेउ अडिल्लह ।

हो ण पओहर किप्पि अडिल्लह अन्त मुप्पिअ भण सन्नु अडिल्लह । प्राकृतपैगलम्, (१, १२०)

किन्तु पढ़ाईया में यमक आवश्यक नहीं है; पर प्रत्येक चरण के अन्त में अगण-रचना अनिवार्य है। इस का उदाहरण है—

अल्लिउ सालंकार सणेउरु

पसरिउ पिडवासु अंतेउरु ।

सोहवार सोहासणछन्दई

एवमाइ अण्णई मि बिदसई । (१३, १०)

इस प्रकार अपभ्रंश के छन्दों में हमें दो बातें विशेष रूप से दिखाई देती हैं। एक तो यह कि बन्ध-रचना के निमित्त उन का प्रयोग होता है और दूसरे अलंकार-रचना छन्दों में गर्भित रहती है। यद्यपि सभी छन्दों में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती है, किन्तु यह भी एक प्रवृत्ति है। सामान्यतः जैसा कि पीछे कहा है कि एक कड़वक में आठ यमक या सोलह पंक्तियाँ होती हैं। सोलह पंक्तियों में पढ़ड़ी या अडिल्ला के चार छन्द होते हैं। किन्तु यह नियम व्यापक नहीं है। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि पहले घत्ता देने का नियम नहीं रहा होगा। महाकवि स्वयम्भू के समय से ही इस का कदाचित् प्रचलन हुआ है। क्योंकि बन्ध-रचना में किसी छन्द को घत्ता नाम दिया जा सकता है। जिस प्रकार सन्धि के प्रारम्भ में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न छन्दों को ध्रुवक कहते हैं वैसे ही कड़वक के आदि या अन्त में प्रयुक्त स्वतन्त्र छन्द की कोई अभिधा नहीं थी। कोई भी छन्द आदि या अन्त में प्रयुक्त हो सकता था और जो छन्द प्रयुक्त होता था उस का वही नाम होता था। 'स्वयम्भूछन्द' में कहा गया है कि सन्धिवद्ध रचनाओं में घत्ता, दुवई, गाथा, अडिल्ला कड़वक के अन्त में और पढ़डिया तथा छड्डणि प्रारम्भ में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार बन्ध-रचना तथा तद्रूप छन्दों का विधान-अपभ्रंश-प्रबन्ध काव्यों में आठवीं शताब्दी में ही हो चुका था। परवर्ती विकास-क्रम में अन्य कई महत्त्वपूर्ण बातें मिलती हैं।

घत्ता

इस छन्द में बासठ मात्राएँ होती हैं। इस के आधे भाग में दसवी, अठारहवी और इकतीसवी मात्रा पर विराम होता है। दोनों चरणों में चतुर्मात्रिक सात गण तथा अन्त में तीन-तीन लघुमात्राएँ होती हैं।^१

घत्ता का उदाहरण है—

विहृणिय सिह भरडकिख्य लोयणु

पइ पइ त्रिभइ अणिमिसलोयणु ।

णवतरुपलवदल सोमालउ

हिडइ तित्थु महापुरि वालउ ॥ (४, ७)

भविष्यदक्तकथा में घत्ता के कई प्रकार देखने को मिलते हैं। किसी में यदि तेईस मात्राएँ हैं तो किसी में सत्ताईस, किसी में उनतीस, तीस, इकतीस और बत्तीस

^१ सन्धिहि आर्हहि घत्ता दुवई गाहाडिल्ला ।

मत्ता पढ़डिआण ऋडुणि आवि पडिन्ना ॥ स्वयम्भूछन्द, (८, ३४) ।

^२ बिगल कह रिट्टउ छन्द डकिट्टउ घत्त मत्त बासट्टि करि ।

चउ मत्त मत्त गण वे वि पाअ भण तिण्णि तिण्णि लहु अन्त धरि ॥ प्राकृतपिंगलम्, (१, ६६) ।

पदन दह भोगामा भोग मत्ताई अट्टाए, तीए तेगु विगई घत्ता मत्ताई बासट्टि ॥ वही (१, १००)

मात्राएँ एक पंक्ति अर्थात् पादयुगल में हैं। परन्तु कवि ने जिस छन्द का प्रयोग किया है उस के नियमों का पूरा पालन हुआ है। मने ही मात्रा के पीछे शब्दों में हेर-फेर करना पड़े, पर छन्दोभंग दृष्टिगोचर नहीं होता।

दुवई

संस्कृत में इसे द्विपदी कहते हैं। द्विपदी का अर्थ दो पद है। वस्तुतः इस में पाद चार प्रतीत होते हुए भी दो ही होते हैं। केवल दो पदों में पूरी बात कह दी जाती है। इस के भी कई रूप या प्रकार मिलते हैं। प्रस्तुत काव्य में सन्धि के प्रारम्भ में ही नहीं मध्य में भी तथा कड़वक के अन्त में दुवई का प्रयोग हुआ है।

दुवई के एक पद में अट्ठाईस और दोनों में मिला कर छप्पन मात्राएँ होती हैं। इस में एक षट्कल, पाच चतुष्कल और अन्त में एक गुरु होता है।^१ इस का उदाहरण है—

पाणिगृहिण जाह जामायहु अहियमणाणुराइणा ।

अं चित्तिउ मणेण णीसेसु वि तं तहु दिण्णु राइणा ॥ (१५, २)

मरहट्टा

इस में चार पंक्तियाँ होती हैं। प्रत्येक पंक्ति में उनतीस मात्राएँ होती हैं। आठ मात्रा और फिर ग्यारह के स्थान पर चिराम होता है। प्रारम्भ में षट्कल, फिर पंचकल तथा चतुष्कल और अन्त में क्रमशः गुरु, लघु तथा कुल एक सौ सोलह मात्राएँ होती हैं।^२

चामर

इस छन्द के प्रत्येक चरण में तेईस मात्राएँ होती हैं। आठवीं मात्रा गुरु आर सातवीं लघु होती है। इस के आदि और अन्त में क्रमशः गुरु और लघु तथा लघु और गुरु मात्रा होती है। इस में पन्द्रह वर्ण और तेईस मात्राएँ एक पाद में कही गयी हैं।^३

१ श्रवकलु मुह संठायि कः चवकलु पच ठवेहु ।

अतहि एवकह हार दइ वोअइ अंद कहेहु ॥ प्राकृतपैगलम्, (१, १५४)

पहम गणे कलशकम् चउककला पंचहुंति कमलता ।

गुरुमञ्जल मञ्ज लहुआ दुवईए वोअ षट्ठसा ॥ मन्देशरामक-अवचूर्णिका, (२, ११६)

२ एहु अंद सुलसवण भणइ विअसखण जंगइ पिगल पाउ,

विसमइ वह अन्वर पुणु अट्ठकन्वर पुणु एगारह ठाउ ।

गण आहिह खनकलु पंच चउककलु अन्त गुरु लहु वेहु,

साउ सोलह अगल मत्त ममगल भण मरहट्टा एहु ॥ प्राकृतपैगलम्, (१, २०८)

३ चामरस्स बोस मत्त तीणि मत्त अगला,

अट्ठ हार सात सार ठाह ठाह गिममला ।

आइ अत हार सार कामिणी मुणिज्जए,

अन्वर दहाइ पंच पिगले भणिज्जए ॥ प्राकृतपैगलम्, (२, १५८)

इस का उदाहरण है—

आधुट्टईं ताईं सत्त परमसिद्धक्खरईं ।

सम्मत्ति जाइ कयकल्लाणपरंपरईं ॥ (५, १६)

इस के दोनों पादों में पन्द्रह-पन्द्रह वर्ण और तेईस-तेईस मात्राएँ हैं । यद्यपि पहले पाद में सोलह वर्ण हैं, पर दोनों बातों में सर्वथा निर्दोष उदाहरण मिलना कठिन है ।

भुजंगप्रयात

इस छन्द के प्रत्येक पाद में बारह वर्ण तथा बीस मात्राएँ होती हैं । इस में चार यगण होते हैं ।^१ उदाहरण है—

पयट्टो वणिदो वणे तम्मि काले,

पइट्टो तहिं दुण्णिगरिक्खे खयाले ।

दिसामण्डलं जत्थ पाउं वलक्खं,

पहायं पि जाणिज्जए जम्मि दुक्खं ॥ (४, ३)

शंखनारी

इस छन्द की रचना भुजंगप्रयात के आधे पाद को लेकर की जाती है । इस के प्रत्येक चरण में छह वर्ण अर्थात् दो यगण होते हैं । समूचे छन्द में चार चरण तथा चौबीस वर्ण होते हैं^२ । उदाहरण इस प्रकार है—

रणे णीसरंते भयं बीसरंते ।

महावाणि वग्गे पुरे हट्ठ मग्गे ॥ (१४, ८)

मरहट्टा

इस में प्रत्येक पंक्ति में उनतीस मात्राएँ तथा कुल एक सौ सोलह मात्राएँ होती हैं । उदाहरण इस प्रकार है—

तहिं घणतरु समोवि मयणायदीवि हिंडंति ते वणिद ।

दूरज्झिय पमाय परिमुक्क वाय चक्कलिय गोढंदिद ।

केवि जलु आहरंति कुंभईं भरंति आबंति तं जि लेवि ।

तरुफल चुणंति गेयइ कुणंति कुसुमईं खुडन्ति । (३, २४)

श्री बलाल और गुणे ने ४० क० की भूमिका में यही उदाहरण दिया है । किन्तु विचार करने पर यह खरा नहीं उतरता है । इस की प्रत्येक पंक्ति की मात्राएँ भिन्न हैं । कल-रचना की दृष्टि से आरम्भ की दो पंक्तियों में मरहट्टा छन्द मान सकते हैं । अन्त में क्रमशः गुरु और लघु भी है । परन्तु अन्य पंक्तियों में उक्त लक्षण खरा नहीं उतरता । फिर, छन्द पूरे कड़वक में प्रायः एक ही देखा जाता है । केवल आरम्भ में तथा अन्त में कही-कही छन्द में भेद मिलता है ।

१. अहिगण चारि पसिद्धा सोलहचरणेण पिगली भणइ ।

तीणि सया बीसगल मत्तसंखा समग्गाइ । वही, (२, १२१) ।

२. खड्गवणवज्जो भुजंगापज्जो ।

पआ पाउ चारी कही संखनारी । वही, (२, १२) ।

सिंहावलोकन

इस छन्द में चार चरण और प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। इस में चतुष्कल तथा सर्वलघु की रचना की जाती है, और किसी भी चरण में जगण, भगण या द्विगुरु चतुष्कल न आने पावे—इस का ध्यान रखना आवश्यक होता है।^१ उदाहरण है—

घरि घरि तोरणइं पसाहियाइं
घरि घरि सयणइं अप्पाहियाइं ।
घरि घरि बहु चंदण छडय दिण
मचकुंद वणय दवणय पइण ॥ (८, ९)

काव्य

इस छन्द के प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं। प्रत्येक पाद के आदि और अन्त में दो षट्कल तथा मध्य में तीन चतुष्कल होते हैं। द्वितीय चतुष्कल में जगण या विप्रगण (चार लघु) होना चाहिए।^२ इस का प्रयोग छप्पय के प्रथम चार चरणों में वस्तु के रूप में तथा कहीं-कहीं स्वतन्त्र रूप से भी देखा जाता है। स्वतन्त्र रूप में—वस्तुरूप में इस के उदाहरण मिलते हैं। यथा—

पियविरहाणलेण संतत्तउ सो हिंडंतउ ।
पइसइ चंदकंति चैतालइ सव्व सुहालइ ॥ (७, ८)

तथा—

दूसह पियविओय संतत्तउ मुच्छइं पत्तउ ।
सोयलमारुएण वणिवाइउ तणु अप्पाइउ ॥ (वही)

प्लवंगम

यह इक्कीस मात्राओं का छन्द है। इस में तीन षट्कल, चरण के आदि में गुरु तथा अन्त में लघु एवं गुरु होता है। किसी में आरम्भ में गुरु देखा जाता है और किसी में अन्त में। तीन षट्कल (अठारह मात्राएँ) के साथ एक गुरु और एक लघु होता है^३। उदाहरण है—

- १ गण विप्प सगण धरि पअह पअं
भण मिहअणोअण छन्द वणं ।
गुणि गण मण वुन्महु णाज भणा,
णहि जगणु ण भगणु ण कण गणा ॥ प्राकृतपैगलम्, (१, १८३)
- २ आह अन्तं दुहु लक्कलउ तिणिणं तुरंगम मज्झं ।
तीए जगणु कि विप्पगणु कज्जह लक्खणं वुन्मं । वही, (१, १८६)
- ३ पअ पअ आहि गुरुआ पिगल भणेइ सअल निअभिंति ।
अन्तं पवंगम दिट्ठो मत्ताणं एकओमंखी ॥ प्राकृतपैगलम्, (१, १८८)
तिक्कनु अउकल पंचकल तिज गण दूर करेहु ।
एक्कनु तिणिणं पवंत जेहि लहु गुरु अत मुण्णहु ॥ (वही, १, १८८)

सा वरसिञ्ज समारिवि दिण्ण पढिगह्म ।
 धूववत्तिउद्दीविय दीविय कणयमय ।
 पण्णु फुल्लु हरियंढणु पुसिणु समाहरिवि ॥
 सजलंतरि भिगारहं सम्बट्टञ्ज करिवि ॥ (१२, १२)

अन्तिम पंक्ति सदोष है ।

कलहंस

इस छन्द में तेईस मात्राएँ एक चरण में कही गयी हैं । इस में चार चरण होते हैं । चरण में प्रति बसवो मात्रा पर यति होती है ।^१ इस का उदाहरण है—

पिक्खइ आवणाइं भरियंतर भण्डसमिद्धइं,
 पयडिय पण्णयाइं णं णाडिण मड्डहं बिचइं ।
 एक्क षणाहिलास पुरुसाइबलं रंघिपलित्तइं,
 वरहत्तइजुवाइं णं बड्डु कुमारिहुं चित्तइं ॥ (४, ८)

गाथा

गाथा के सब से अधिक भेदों का उल्लेख हमें प्राकृत के छन्दकोशों में मिलता है । प्राकृतपेगलम् मे इस के सत्ताईस भेदों का कथन है ।^२ किन्तु छन्दोनुशासन मे इस के सहस्रो विकल्पो का उल्लेख है । उस मे कहा गया है कि गाथा आर्या की भाँति ही संस्कृत से भिन्न भाषाओं मे प्रयुक्त होता है ।^३ वस्तुतः आर्या आर्य जाति की साहित्यिक बन्ध-रचना का सूचक है । अतएव प्राचीनता के साथ-साथ शिष्टता एवं पूज्यता का भाव भी लिपे हुए है । परन्तु गाथा लोकगाथाओं में प्रयुक्त होने वाला छन्द है, जो सर्वथा स्वतन्त्र रूप मे विकसित हुआ है । अतएव आ० हेमचन्द्र ने समझने के लिए उसे आर्या की भाँति कहा है । सब बात तो यह है कि प्राकृत और अपभ्रंश का व्याकरण बहुत बाद मे लिखा गया । क्योंकि बोलचाल की भाषा के व्याकरण नहीं लिखे जाते । जब तक भाषा स्थिर नहीं हो जाती उस के नियमों का अभिधान करना सुसम्मत नहीं होता । इसी प्रकार सम्मत लक्षणों के जाने बिना शास्त्रीय साहित्य भी नहीं लिखा मिलता । और जब तक साहित्य नहीं होता तब तक विविध छन्दों की शैली और परम्परा का विकास नहीं हो पाता । अतएव संभव है कि लोकयुगीन गाथा को देख कर उस की समता पर आर्या छन्द की रचना हुई हो । अपभ्रंश-काल में तो विभिन्न मानिक छन्द वर्णवृत्तों मे ढाले गये, जो इसी प्रवृत्ति के सूचक है कि पहले निमित्त लोक मे होती है और बाद मे उस की रचना साहित्य मे की जाती है । आलोक्यमान कथाकाव्य मे गाथा का उदाहरण है :—

१. समे नव आजे चतुर्दश कलहस । छन्दोऽनुशासन. (६, २०, २४)

२. लच्छो रिद्धो बुद्धो लज्जा सल माज देहीआ । प्रा० पे० (१, ६०-६१)

३. आर्यैः संस्कृतेतरभाषासु गाथासञ्ज्ञेति गाथाग्रहणम् । अत्र पूर्वार्धे प्रथमे च विकल्पाश्चत्वारः । अन्योऽन्यसाधनायां द्वावशसहस्राण्यष्टौ शतानि । एवमपराधेऽपि—छन्दोऽनुशासन. (४, १)

तहि वणगहणि वहल तरुतंडवि गमिय रयणि अइ मुतामंडवि ।

पसरि पइट्ठु गहिरि गिरिकंदरु, तं लंघिवि दिट्ठु वरपुरवरु । (९, १२)

श्री दलाल और गुणे ने गाथा का यह उदाहरण दिया है, किन्तु सभी प्रकार की गाथाओं में पूर्वार्द्ध में तीस और उत्तरार्द्ध में सत्ताईस मात्राएँ कही गयी हैं, जो उक्त उदाहरण में नहीं हैं। वस्तुतः यह संकीर्णस्कन्धक है, जिसे छन्दकोश में गाथिनी कहा गया है। इस के पूर्वार्द्ध में तीस मात्राएँ तथा उत्तरार्द्ध में बत्तीस होती हैं।^१ भ० क० में इस के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं।

भविष्यत्कहा में समाज और संस्कृति

आलोच्यमान काव्य में राजपूतकालीन समाज और संस्कृति की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है। भविष्यदत्त केवल सकल कलाएँ, ज्ञान-विज्ञान, ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्रादिक ही नहीं सोखता है, वरन् विविध जायुषों का विविध प्रकार से संचालन, संग्राम में विभिन्न चातुरियों से बचाव, मल्लयुद्ध तथा हाथी-घोड़े की खचारी आदि की भी शिक्षा प्राप्त करता है, जो उस युग की विशेष कलाएँ थी—

जोइसतंतमंतवहुभेयई	बहुविण्णाजगणुणछेयई ।
बिबिहाउहइ बिबिहसंचरणई	रणि हत्यापहृत्यवावरणई ।
दिण्ण पहर पडिपहर पमुक्कई	खलणवलणवंचण लाहुक्कई ।
मल्लजुज्झ आवगण संचइ	ढोक्काकत्तरिकरणपवंचइ ।
गयतुरंग परिवाहण सण्णई	सारासार परिक्खण गण्णई । (२।२)

उस युग में स्त्रियाँ विभिन्न कलाओं में तथा विशेषकर संगीत और बीणालापन में निपुण होती थी। सरूपा इन कलाओं से युक्त थी—

बीणालावणिगेयपरिक्खणु कुडिलबियारि सरोसणिरिक्खणु । (३, ३)

सामाजिक वातावरण और लोकरूढ़ियों से भरित यह काव्य लोकयुगीन विशेषताओं की छाप से अंकित है, जिस में भविष्यदत्त का रण-कौशल प्रकट करना, धनवद्का युद्ध के लिए तैयार होना, व्यापार छोड़ना आदि ऐसी बातें हैं, जो राजपूत काल की निजी विशेषताएँ रही हैं।

लोकजीवन और लोकरूढ़ियाँ

लोकजीवन में परिध्याप्त सामान्य मान्यताओं का समावेश भलीभाँति इस काव्य में हुआ है। बन्धुदत्त के द्वारा छल से छोड़े जाने पर भविष्यदत्त उस भयानक जंगल में रात बिताता है। सबेरा होने पर फिर से वह वन में भटकता है कि इतने में ही उसे शुभसूचक चिह्न दिखाई देने लगते हैं। अच्छी बघार बहने लगती है। बाँयो और मधुर ध्वनि करता हुआ लावा पक्षी और दाहिनी ओर मेना दृष्टिगत होती है। दाहिनी

१. गीतिसंस्कन्धके संकीर्णयु। वही (४, १७)

आँख और भुजा फड़कने लगती है—मानो ये बता रही हों कि यह मार्ग है, इस से चले जाओ । (४,५) । इसी प्रकार पुत्र के वियोग में संतप्त कमलम्बी भोजन-पान, शयन, वचन सब कुछ छोड़ देती है । उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता । केवल खिसकते हुए कंगन वाले हाथों से कौओं को उड़ाती है । यदि कहीं चतुरता से कौआ बोलता है तो वह समझती है कि मेरा भविसयत्त मार्ग में आ रहा है । अतः वह कहती है कि मेरे भविष्यदत्त को घर के आँगन में ले आओ—

आसणु सयणु वयणु णउ भावइ सिद्धिलवलय बायसु उड्डावइ ।

रडि बायस जइ किपि वियाणहि भविसयत्तु महु पंगणि आणहि । (६,१)

स्पष्ट ही उस युग में प्रिय-वियोग में भारतीय ललनाएँ कौओं को उड़ाती थी और उन के माध्यम से पति तक सन्देश पहुँचाती थी—

बायसु उड्डावन्ति पितु दिट्ठउ सहससि ।

अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥ (हे० प्रा० ८,४,३५२)

पुत्र के परदेश-गमन के अवसर पर माताएँ चन्दन का तिलक बेटे को लगा कर दही, दूरा और अक्षत उस के सिर पर डाल कर पूजा-बन्दना करती थी । यह मांगलिक कामना लोकाचार है, जो प्राचीन काल से इस देश में प्रचलित है । भविष्यदत्त की यात्रा के अवसर पर कमलम्बी भी उस की पूजा करती है और बाद में उपदेश देती है—

सावि सिप्पि चंदणहु भरेविणु अहिणवकंचणपत्ति करेविणु ।

चंदणु करिबि वयणु अवलोइबि दहिदुब्बस्सय सिरि संजोइबि । (३,१७)

इसी प्रकार जल-देवता का पूजन भी एक लोक-रूढ़ि थी । जन सामान्य का विश्वास था कि यदि वरुण देवता की अर्चना नहीं की गयी तो कोई न कोई अनिष्ट हो सकता है । बन्धुदत्त जब मैनागद्वीप से लौटता हुआ घर के लिए प्रस्थान करता है तो वही समुद्र-तट पर शुभ मुहूर्त में चन्दन का चौक पूर कर पुष्प और अक्षतों से जल-देवता की पूजा करता है तथा दीपक बाल कर आरती उतारता है—

इत्थंतरि सुमुहुत्तु समारिउ किउ चउक्कु चंदणु वडारिउ ।

पुजिज्ज जलदेवय वित्थारि पुप्फस्सय वलिदीवंगारि । (७,३)

इसी प्रकार जलदेवता का प्रत्यक्ष होना और पीत का विपरीत दिशा में बहना आदि लोक-विश्वास है, जिनमें भारतीय जनता की आस्था दृढ़ एवं अत्यन्त सबल है—

हुअ पच्चक्ख महाजलदेवय हल्लोहल्लिउ लोउ वहणट्ठिउ ।

चलिउ पवणु विवरीउ परिट्ठिउ । (७,११)

कवि धनपाल के समय में बहु विवाह की प्रथा थी । अतएव धनवह और भविष्य-दत्त दोनों के दो-दो विवाह होते हैं । समाज में वैश्यों का अच्छा स्थान था । राजा उन का आदर-सम्मान करता था । नगरसेठ अत्यन्त प्रभावशाली होता था । व्यापार ही

राज्य की आय बढ़ाने का प्रमुख साधन था। इस लिए जो लोग धन कमाने के लिए द्रौपदी की यात्रा करते थे, राजा उन्हें सभी प्रकार की सुविधा राज्य की ओर से प्रदान करता था। समाज में यदि किसी प्रकार की अनुशासनहीनता या अव्यवस्था हो तो राजा उसे दूर करना अपना कर्तव्य समझता था। राजा लोग विशेष रूप से कानों में सोने के बने हुए कुण्डल, हाथों में कड़े और माथे पर मुकुट धारण करते थे—

भविस्तुणरिदु कडयमउडकुंडलघरहि । (२०, ९)

विवाह एवं मांगलिक कार्यों में बहुत अधिक द्रव्य व्यय किया जाता था। नागरिक जनों को भोजन-पान, विलेपन के अतिरिक्त यथायोग्य वस्त्र भी भेंट में दिये जाते थे—

तंबोलु बिलेवणु वत्थु लेवि जं जासु जोग्गु तं तासु देवि । (१, ९)

बड़े लोगों के विवाह में राजा भी सम्मिलित होता था। राजा के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता था। लोग घर-घर उत्सव मनाते थे। मांगलिक कार्यों में मुख्य रूप से दमामा, घोंछ, तुरहो और मादल बजाये जाते थे। किन्तु युद्ध के समय विशेषतः नगाड़ा बजाते थे। जय-मंगल की घोषणा की जाती थी। बालकों को भीति कन्याएँ भी विविध कलाओं की शिक्षा प्राप्त करती थी। वे गेंद से खेलती थी—

क्षिदुअहि रमंतिहि णयणइट्टु पंगुरणविवरियणकलसु इट्टु । (१, ८)

वर कन्या को देखे बिना विवाह नहीं करता था। किन्तु समाज में पर्दा-प्रथा भी लोभीति प्रचलित थी। वयस्क कन्याएँ तक पर्दा करती थी—

तो इक्क वयकण्ण पंगुरणहि सुहर्द्धि णारसोहहि । (१४, १५)

शृंगार-प्रसाधन में महिलाएँ अत्यन्त रुचि रखती थी। बड़ी घर की ललनाएँ शब्दन से उबटन करती थी। सुवासित पदार्थों का लेपन करती थी। विविध प्रकार के आभूषणों को धारण करती थी। भविष्यदत्त के सकुलल घर लौट आने पर तथा भविष्यानुकूला को पति का सन्देश देने के लिए जाते समय कमलश्री विभिन्न आभूषणों का शृंगार करती हैं—

कमलई पुत्तपयाव फुरंतिए	लइठ दिव्वु आहरणु तुरंतिए ।
वड्डु कडिल्लि अलक्खिय णामउ	उप्परि पीड्डिउ रसणावामउ ।
मुक्कउ किकिणीउ णउ संकिउ	भरिवि रयणकंचुवउ तडक्किउ ।
मुद्धमरालजुमल किउ छण्णउं	कम्बु कण्ठ कदलिइ रवण्णउ ।
पीणघण्णयणमण्डलहारि	सिरुघम्मिलकुसुमपण्णारि ।
कण्णहि कुंडलाइ आवद्धइं	उप्परिवेडिवाइं पहिबिधइं ।
पूरिउ रयणचूडमणिवलयहि	दिण्णइं केऊरइं बाहुल्लयहि । (९, १७)

जान पड़ता है कि करवन्ती, हार, कुण्डल और केशकलाप में कुसुमों का प्रसाधन सामान्य वनिताएँ भी करती थी। इसी प्रकार अंगूठी, भुजबन्द, कंगन, बिछुए, कटिसूत्र, मणिसूत्र आदि का भी सामान्य जनता में प्रचलन था। ये आभूषण तरह-तरह की शिल्प-

रचना से मुद्रित होते थे। स्त्रियाँ गहनों से हाथ-पैर की अँगुलियाँ और प्रकोष्ठ भर लिया करती थीं—

अंगुलीउ मणिमुज्जावत्तउ	बोसहि अंगुलीहि पक्खित्तउ ।
पयमणिवद्धहि गेउरज्जुलउ	सुहसंजविय महररवमुहलउ ।
जंघाज्जुलि रयणि पज्जत्तउ	कडियलि रमणि कणयकडिसुत्तउ ।
मुहमणिचूहहु कंकणज्जुलउ	सोहिउ अट्टहारि वच्छयलउ । (९, १७) ।

मांगलिक कार्यों के लिए चौक पूरना, मंगल कलस सजाना, देवताओं का आह्वान करना आदि लोकलक्ष्मियाँ प्रचलित थीं।

उस काल में युद्ध किसी सुन्दरी या राज्य-विस्तार के निमित्त होते थे। आलोच्यमान काव्य में पोदनपुर का राजा चित्राग अपने सन्देश में दो ही बातें राजा भूपाल के सामने रखता है—मेरी अधोनता स्वीकार करो और भविष्यदत्त की दोनों पत्नियों को स्वेच्छा से भेंट कर दो—

अहु कण्हि कारणि काई महारणि जाय तुम्ह विवरीयमई ।

अज्जवि पियवत्तइ इक्कि सुमित्तइ हउं परिओसउं पुहइवइ ॥ (१३, ११)

उस समय कई छोटे-छोटे राज्य थे। चित्राग सिन्धुपति कन्वर का पुत्र था। अनन्तपाल चम्पा का राजा था। मच्छ, कच्छ और कम्भार देश के राजा भी इस संग्राम में सम्मिलित थे। ये सब पाञ्चाल्येश के राजा की ओर थे। चित्राग उन सबका नायक था। इस से पता लगता है कि इस प्रकार के युद्ध उस युग में सामान्यतः प्रचलित थे। राज्य के छोटे होने पर कोई भी चार राजा मिल कर सरलता से धावा बोल देते थे। राजा भूपाल तथा उस के मन्त्री जनों के पैरों के नीचे से धरती इसी लिए खिसक गयी थी। किन्तु भविष्यदत्त ने सच्चे उत्साह, साहस एवं पराक्रम का परिचय दे कर देश की तथा अपनी लाज रक्ष ली। धर्म के मूल में सत्य और ग्यास की रक्षा मुख्य है, जिसे चरितार्थ कर कवि ने व्यावहारिक नय का रहस्य खोल कर रख दिया है।

विबुध श्रीधर और भविसयत्तचरिय

जैन-साहित्य में श्रीधर और विबुध श्रीधर नाम के कई विद्वानों का पता लगता है। ५० परमानन्द शास्त्री ने श्रीधर नामक सात विद्वानों का परिचय दिया है^१ संस्कृत भाषा में लिखित विश्वलोचनकोश के रचयिता आचार्य श्रीधरसेन और श्रुतावतार की रचना करने वाले धरसेन या श्रीधरसेन निश्चित ही अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर से भिन्न थे। अपभ्रंशकाव्य पादर्वनाथचरित के कर्ता श्रीधर थे; विबुध श्रीधर नहीं।^२

१ पं० परमानन्द जैन शास्त्री 'श्रीधर या विबुध श्रीधर नाम के विद्वान्', अनेकान्त, वर्ष ८ किरण १२, पृ० ४६२ ।

२ हय सिरिपाम्चरित रत्नं बुहसिरिहरेण गुणभरियं । पार्वनाथचरित, १, १ । ..

विबुध कवि की उपाधि जान पड़ती है, पर बुध शब्द पंडित या विद्वान् अर्थ का वाचक है। अतएव वे अन्य कवियों से भिन्न हैं। चौथे विबुध श्रीधर संस्कृत के भविष्यदस्त-चरित के लेखक हैं, जो अपभ्रंश के विबुध श्रीधर के समकालिक प्रतीत होते हैं। पाँचवें विबुध श्रीधर सुकुमालचरित के रचयिता हैं, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा के पढ़ाईया छन्द में तथा छह सन्धियों में काव्य-रचना की है।^१ कवि श्रीधर वर्द्धमान चरित के भी लेखक थे। यह काव्य दस सन्धियों में निबद्ध है।^२ इनके सम्बन्ध में कुछ कहना बहुत ही कठिन है। कवि के उल्लेख से यही पता लगता है कि इन्होंने चन्द्रप्रभचरित और शान्तिनाथचरित काव्यों की भी रचना की थी।^३ वर्द्धमानचरित की एक अपूर्ण प्रति दूनी भण्डार, जयपुर में मिलती है। कवि अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे और हरियाना के निवासी थे।

परिचय

अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर ने भविस्यत्तचरित की रचना चन्द्रबाड़ नगर में स्थित माधुरवंशीय नारायण के पुत्र सुपट्टसाहू की प्रेरणा से की थी।^४ समूचा काव्य नारायणसाहू की भार्या रूपिणी के निमित्त लिखा गया है।^५ यह काव्य छह परिच्छेदों में निबद्ध है। इस में भविष्यदस्त की कथा काव्य रूप में वर्णित है। सुपट्टसाहू नारायण के पुत्र थे। उन के ज्येष्ठ भ्राता का नाम वासुदेव था।^६ कवि ने अपने सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। ग्रन्थ-रचना का उल्लेख अवश्य मिलता है। इस काव्य की रचना कवि के अनुसार वि० सं० १२३० में फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष में दशमी तिथि रविवार को सम्पूर्ण हुई।^७ ग्रन्थ के अन्त में कवि ने सुपट्ट साहू और रूपिणी की प्रशंसा करते हुए पूरा विवरण दिया है। वह साहू पूर्व समय में इस पृथ्वी तल पर अपने गुणों से अत्यन्त प्रसिद्ध था। उस के सीता नाम की गृहिणी थी, जो विनय तथा निर्मल गुणों से भूषित थी। उन के हाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन दोनों के जगद्विख्यात देवचन्द्र

१. प० परमानन्द शास्त्री - अनेकांस्त, वर्ष ८, किरण १२, पृ० ४६४।

२. वही, पृ० ४६६।

३. वही, पृ० ४६६।

४. भित्तिचन्द्रावलीपरिच्छेद

माहुर कुलगणतमीहरेण

मङ्गलर सुपट्ट नामालेण विनयेण

५. इयं सिद्धि भविस्यत्तचरित विबुधसिद्धि
नामकिए। वही।

६. नारायणदेहसमुद्भवेण

भिरिवाप्तुएव गुरुभावेण

७. विश्वमाह्वकाले पञ्चमस्तए

वारहमयवसिष्ठ परिणएहि

फल्गुनामासिम्न जनकवपस्व

रविनारिसमाणिजं एउ सत्थु

जिणधम्मकरण उक्कटिएण।

विबुधयणसुखयामणधनहरेण।

भणिजं जोडेवि पाणि। भविष्यदस्त चरित, १.२।

सुकव सिद्धिर विरहए साहू नारायणपञ्जा रुपिणि

मणवयणकायिनिदियभवेण।

भवजलणिहिणिबडणकायरेण ॥ (१.२)।

सुहयारएविसाले।

दुगुणियपमरह वच्चरजुएहि।

दसमिहिदिणे तिमिरुकरविबवसे।

जिह मठं गइयाणिजं सुप्पसत्थु ॥ (६.३०)।

नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह माधुरकुल का भूषण, गुचरलों की खान था। जैनधर्म में उस की प्रगाढ़ श्रद्धा थी। लक्ष्मी के समान उस की माँ को नामक धर्मपत्नी थी। उस के गर्भ से कनक वर्ण के समान साधारण नाम के पुत्र ने जन्म लिया। उस के दो पुत्र हुए। दूसरे का नाम नारायण था। इसी नारायण की भार्या रुष्णिणी थी, जिसने इस ग्रन्थ को लिखवाया था। कामदेव के समान उन दोनों के पट्ट नाम का पुत्र था। दूसरे पुत्र का नाम वासुदेव था। तीसरा यशदेव कहा गया है। उन के कुल पाँच पुत्र थे। सभी धर्म का पालन करने वाले अच्छे गुणों से विभूषित थे।

यह काव्य १५३० श्लोक ग्रन्थ प्रमाण है।^१ इस ग्रन्थ के लेखक कवि श्रीचर मुनि थे। सुपट्ट साहू उन की अनन्य भक्ति से दान, पूजा, त्त आदि धार्मिक अनुष्ठानों में अनुरक्त रहता था।^२ कवि ने उसे सम्यक्त्व से अलंकृत, सच्चा धार्मिक होने से अभिनन्दन योग्य कहा है। इस काव्य में भविष्यदत्त के उत्पन्न होने से लेकर उस के निर्वाणगमन तक की सम्पूर्ण कथा का वर्णन है।

कथानक

तीर्थंकरों की वन्दना के पश्चात् कवि यथाशक्ति एवं बुद्धि के अनुसार इस श्रेष्ठ काव्य को रचने का प्रयोजन बतलाता हुआ कहता है कि चन्द्रबाह नगर में रहने वाले माधुर कुल में उत्पन्न सुपट्ट नामक साहू ने हाथ जोड़ कर अपनी माता के लिए मुम से भविष्यदत्तचरित्र एवं पंचमी उपवास के पवित्र फल के वर्णन स्वरूप ग्रन्थ रचने को कहा। कवि ने उत्तर में कहा—भो सुपट्ट, मैं अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो कुछ मेरी बुद्धि में आता है उसे ज्यों का त्यों वर्णित कर कहता हूँ।

इस जम्बूद्वीप के अत्यन्त रम्य सुमेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में शोभायमान एक कुरुजंगल नामक देश है। वह देश गोघन, नाना पशु-पक्षी, विविध कुसुम तथा सरोवर, सरिताओं आदि से अत्यन्त समृद्ध है। उस देश में हस्तिनागपुर है, जहाँ के लोग दान-पूजा आदि धार्मिक कृत्यों में सदा दत्तचित्त रहते हैं। वहाँ सब प्रकार के सुख हैं। जनता धन-धान्य से समृद्ध है। यह वही नगर है जिस में बहुत पहले ऋषभ जिनेंद्र कुशवंश को अलंकृत करने वाले उत्पन्न हुए थे। यही सोमप्रभ राजा ने जन्म लिया था, जो इन्द्र के समान प्रभावशाली था। सोमप्रभ के मेघेश्वर नामक पुत्र हुआ, जो इसी नगर का चक्रवर्ती था। उस के पश्चात् सनत्कुमार चक्रवर्ती हुआ। तदनन्तर शान्ति, कुन्धु और अरह नामक तीनों चक्रवर्ती यहाँ हुए। और भी अन्य श्रेष्ठ तथा प्रतापशाली राजा इस नगरी में उत्पन्न हुए। जिनवर चन्द्रप्रभ के समय में यहाँ भूपाल (भूबालु) नाम का राजा राज्य करता था। वह विविध भूषाओं से अलंकृत ऐसा जान

१. एमहो सत्पहो संखपसाहिय

२. सम्मत्तालंकिट धम्मि अस्किट

सुपट्टु अहिण्णदज जिणपयबंदज

पंचदहजिसयकुड्ढतीयसाहिय । (६, ३३) ।

दागविहाणविससज ।

सवधिरिहरमुणिमसज । (६, ३३) ।

पड़ता था मानो जनता के अनुराग से स्वर्ग को छोड़ कर स्वयं इन्द्र ही पृथ्वी पर उतर आया हो। उस का यश गुफाओं और पर्वतों तक में लोगों के द्वारा गाया जाता था। इसी नगर में अत्यन्त रूपवान् धनपति नामक सेठ रहता था। वह नाना कलाओं से अलंकृत, गुणों से विभूषित और वैभव से सम्पन्न था। राजा ने अत्यन्त सम्मान पूर्वक उसे नगरसेठ के पट्ट पर समाधीन किया। इसी अवसर पर सेठ धनेश्वर ने अत्यन्त रूपवती कमलश्री नाम की पुत्री का विवाह गाजे-बाजे के साथ धनपति से कर दिया। सेठ धनपति और कमलश्री बहुत समय तक काम-सुख का अनुभव करते हुए विभिन्न क्रियाओं में समय बिताते रहे, किन्तु कोई सन्तान-प्राप्ति नहीं हुई। एक दिन उस नगर में सुगुप्ति नाम के मुनि का आगमन हुआ। कमलश्री ने दोनों हाथों को जोड़ कर भक्ति पूर्वक उन मुनि की पूजा-वन्दना की और पूछा कि हे स्वामिन् ! मुझ मन्दभागिनी के कोई पुत्र होगा या नहीं। यह सुन कर मुनिदेव ने मधुर वाणी में समाश्वस्त करते हुए कहा—हे कमलश्री, कमल के समान ही तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होगा। इन वचनों को विश्वासपूर्वक गाँठ में बाँध कर वह निश्चिन्त हुई। उस ने मुनि को आहार-दान दिया और सुख पूर्वक रहने लगी। कुछ समय बाद उस के गर्भ रह गया, और उत्तम दिन में अत्यन्त सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। इस अवसर पर राजा और रानी बधाई देने आये तथा वस्त्राभूषणों से सुशोभित किया। बड़ा उत्सव मनाया गया। बालक धीरे-धीरे चन्द्रमा की भाँति वृद्धि को प्राप्त हुआ। पाँच वर्ष का समय घर में ही खेलते-कूदते बीत गया। दोनों हाथों में चूरा (कड़े) पहने हुए, नूपुरों को पैरों में बाँधे हुए बाहर से जब उन्हें शब्दायमान करता हुआ वह घर में आता था तब जननी को अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता था। इस प्रकार खेल-कूद में बालक भविष्यदत्त आठ वर्ष का हो गया। तब समारोह के साथ माता-पिता ने उसे उपाध्याय के घर पढ़ने को बिठा दिया। भविष्य-दत्त अल्प समय में ही लक्षण, अलंकार, छन्द, काव्य, आगम, नाटक आदि का अध्ययन कर शास्त्रों के अर्थ तथा विचारों से संयुक्त हो गया।

द्वितीय परिच्छेद में कवि ने धनपति और कमलश्री के अनुरागहीनता के कारण को बतलाते हुए लिखा कि पहले कमलश्री ने मुनिराज की निन्दा की थी इसलिए वह दुर्भाग्य को प्राप्त हुई, और एक दिन उस के पति ने उस से यहाँ तक कह दिया कि तुम में कोई दोष नहीं है, पर भूखे तुम भुजंगिनी के समान प्राण लेने वाली जान पड़ती हो। बेचारी कमलश्री रोती हुई अपने पिता के घर पहुँचती है। उसे अकेली रोती हुई देख कर पिता के मन में शंका उत्पन्न हुई। इसी समय धनपति का भेजा हुआ एक गुणवान् पुरुष कमलश्री को संबोधने और वृत्तान्त सुनाने आता है, और कहता है कि आप की पुत्री में कोई दोष नहीं है, इस लिए इसे घर में रख लीजिए। कमलश्री वियोग में किसी प्रकार पिता के घर अपना समय बिताने लगी। इसर कमलश्री धर्म पूर्वक अपना समय बिता रही थी और भविष्यदत्त की शिक्षा-विधि चला रही थी, उधर नगर में सेठ धनपति धनदत्त की सरूपा (सुख्वा) नामक पुत्री से ब्याह कर

भोग ऐश्वर्य के आनन्द को लुट रहा था। उस के बन्धुदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह साक्षात् कामदेव के समान था। सरूपा और बन्धुदत्त को प्राप्त कर सेठ घनपति कमलश्री को बिलकुल भूल गया। बन्धुदत्त धीरे-धीरे बढ़ कर युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन मित्रों के साथ वह उद्यान में गया। वहाँ मित्रों की सम्मति से स्वर्णद्वीप जाकर व्यापार कर द्रव्य कमाने की योजना प्रस्तावित हुई। घनपति ने राजा भूपाल से निवेदन किया। उन्होंने दुग्धी पिटवा कर पूरे नगर में इस की सूचना पहुँचा दी। यह समाचार पा कर पाँच सौ मित्र बन्धुदत्त के साथ चलने को तैयार हो गये। भविष्यदत्त ने माता के सामने बन्धुदत्त के साथ जाने की इच्छा व्यक्त की। किन्तु कमलश्री ने यह कह कर बहुत रोका कि वह सौतेला भाई है और इस लिए जहाँ भी अवसर पायेगा वहाँ तुम्हें निश्चित मार डालेगा; पर भविष्यदत्त अपनी इच्छा पर दृढ़ रहा तथा जाने के लिए तैयार हो गया। वह बन्धुदत्त से मिला। सरूपा ने यह सुन कर कि भविष्यदत्त साथ में जाने को तैयार है, बन्धुदत्त को बहुत सिलाया-पढ़ाया और कहा कि जब भी अवसर हाथ लगे उसे जीता मत छोड़ना। अच्छे दिन में सभी पोत में बैठ कर दक्षिण दिशा के पूर्व कोण के अन्तर की ओर चल पड़े। मार्ग में तूफान आ गया, सभी बहुत घबराये। जिनदेव का स्मरण करने से संकट टल गया। आगे बढ़ने पर दूसरे दिन पवन उन के अनुकूल हो गया। और आगे चल कर मदन (मणय) द्वीप के किनारे लग गये। द्वीप अत्यन्त मनोहर था। सुपारी, लौंग, अनार, जंबीर आदि फलों की विपुलता थी। नारियलों की तो भरमार थी। सब वहाँ उतरे। पोत में ईंधन आदि चढ़ा कर, सभी को नुला कर और भविष्यदत्त को छोड़ कर बन्धुदत्त ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। उस के बाद उस ने सब को बताया कि उस से मेरा बैर है, इस लिए किसी ने कुछ भी नहीं कहा। किन्तु मन ही मन सब ने उस की निर्दयता को धिक्कारा। जब भविष्यदत्त ने पोत को जाते हुए देखा तब नाना प्रकार के फलों को सम्हालता हुआ शीघ्रता से दौड़ा और चिल्लाया कि मुझे चढ़ाओ, जहाज चला। किन्तु उस का भाग कर जहाज पकड़ना निरर्थक रहा। भविष्यदत्त मन में विचार करता है कि मैं ने बार-बार कितना रोका था, पर मैं नहीं माना। बिना पुण्य के मनुष्य की चाहना पूरी नहीं होती। अपनी पुण्यहीनता का विचार कर भविष्यदत्त प्रलाप करता हुआ संताप से बार-बार झरने लगा। भोषण वन में भटकता हुआ वह अन्त में समतल भूमि में पहुँचा, जहाँ एक अत्यन्त स्वच्छ शिला बिछी हुई थी। पास में ही झरना झर रहा था। मुख का आचमन कर उस ने वहीं जिनदेव की भावपूजा की और फलों का भोजन किया। इतने में ही साँस हो गयी, चारों ओर अन्धकार फैल गया। भविष्यदत्त वहीं शिला पर सो गया।

तीसरे परिच्छेद में भविष्यदत्त जिनदेव का स्मरण करता हुआ प्रभात में जागन से उठता है और बार-बार चिन्ता करता हुआ चल पड़ता है। चलते-चलते वह थक कर चूर हो जाता है और अन्त में तिलकपुर पहुँचता है। नगर परित्या और कोट से घिरा

हुआ था। गोपुर तथा घर भलीभाँति सजे हुए थे। किन्तु वहाँ पर एक भी मनुष्य नहीं दिखाई दिया। भविष्यदत्त उस पुर की शोभा को देख कर ठगा-सा रह गया। वही उसे चन्द्रप्रभ जिन का मन्दिर दिखाई दिया। उस के भीतर प्रवेश कर उस ने भक्तिभाव से पूजन किया। यही से कवि एक अन्य कथानक को ऊपर से जोड़ देता है, जो इस प्रकार है—इसी बीच पूर्व विदेह क्षेत्र में यशोधर नाम के मुमुराज की केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। वहाँ जा कर विद्युत्प्रभ ने उन से अपना पूर्व वृत्तान्त पूछा। केवलज्ञानी मुनि ने उत्तर में कहा कि हस्तिनागपुर में बणिक् सेठ घनपति और कमलश्री से उत्पन्न भविष्यदत्त पूर्व जन्म में तुम्हारा मित्र था, जो इस समय भाई से छोला खा कर तिलकपुर में भटक कर पहुँच गया है। वह बारह वर्ष तक उस नगर में भविष्यानुरूपा के साथ पाणिग्रहण पूर्वक सुखों का उपभोग करने के बाद बन्धु-बान्धवों से आ कर मिलेगा। मुनि के इन वचनों को सुन कर उन्हें प्रणाम कर वह भविष्यदत्त को देखने के लिए चल पड़ा। उस नगर में पहुँच कर वह देखता है कि मेरा मित्र सो रहा है। उसे जगाना उचित न समझ कर उस ने खड़िया से दीवाल पर अक्षरों की कुछ पंक्तियाँ लिख दीं। फिर, क्षण भर में मानभद्र को बुला कर कहा कि तुम इसे माता-पिता के पास हस्तिनागपुर सुख से भेज देना। सो कर उठने पर भविष्यदत्त ने देखा कि दीवाल पर कुछ लिखा है। बार-बार ध्यान से देख कर उस ने उन अक्षरों को पढ़ा और लिखे अनुसार वह उत्तर दिशा में स्थित पाँचवें घर पर जा पहुँचा। वहाँ भविष्यानुरूपा (भविषानुरूप) नाम की सुन्दरी रहती थी। उस ने जब भविष्यदत्त को देखा तब अत्यन्त हर्षित हुई। उस ने ललित वचनों में भविष्यदत्त का परिचय पूछा। उस ने आने का सब वृत्तान्त बताया। इसी समय एक विकराल असुर वहाँ आया और भविष्यदत्त को मारने के लिए दौड़ा। किन्तु भविष्यदत्त ने दृढ़तापूर्वक उसे रोक दिया। जब वह अत्यन्त निकट आ गया तब उस का कोप शान्त हो गया और वह चला गया। असुर जाते-जाते उस कुमारी को भविष्यदत्त के लिए सोप गया और कह गया कि तुम्हारे लिए ही मैंने इसे बचा कर रखा है। भविष्यदत्त भविष्यानुरूपा के साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं तथा मनोविनोदों में काल यापन करता हुआ सुख से रहने लगा।

उधर कमलश्री अत्यन्त सन्तापित हो कर पुत्र के वियोग में छोड़ने लगी। पुत्र के दर्शन के लिए वह अधिकांश समय जिनमन्दिर में बिताने लगी। इसी समय सुव्रता नाम की अजिका से कमलश्री ने सब वृत्तान्त कहा। उन्होंने सित पंचमी के दिन उपवास तथा श्रुत-पंचमी व्रत पालन करने का उपदेश दिया। रत्नत्रय की भाँति यह व्रत असाढ़, कातिक और फागुन की सित पंचमी को विधान-पूजन और उपवास के साथ पाला जाता है। इस क्रम से इकसठ महीने तक व्रत को साध कर फिर उद्यापन विधि से समाप्त करना चाहिए। कमलश्री भूखी-भ्यासी रह कर मलिन मुख से पुत्र का ध्यान करती हुई व्रत-उपवास पूर्वक रहने लगी। उसे अत्यन्त दुःखी जान कर अजिका ने कमलश्री को

साथ में ले जा कर ज़ुबन नामक मुनि से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि बारह बरस के बाद वैशाख सुदी पंचमी के दिन वह स्त्री-रत्न, स्वर्ण, रत्न आदि से सम्पन्न हो कर घर वापस आयेगा। मेरे इन वचनों को निश्चित मानो। कमलश्री भी उन पर विश्वास रख निश्चिन्त हो कर व्रतों का पालन करती रही।

चतुर्थ परिच्छेद का आरम्भ भविष्यदत्त और भविष्यानुकूपा के मधुर आख्यान से होता है। भविष्यानुकूपा पति से अपनी ससुराल के सम्बन्ध में पूछती है। भविष्यदत्त सब वर्णन कर सुनाता है। फिर दोनों ही एक मत हो उस नगर से घन, कंचन, रत्न, मणि आदि साथ में ले कर हास्तिनागपुर के लिए प्रस्थान करते हैं। वे दोनों समुद्र के तट पर पहुँचते हैं। इतने में बहुत समय के बाद वणिक्दल के साथ बन्धुदत्त उसी मार्ग से जहाज में लौटा हुआ कुतूहल के साथ उन को देख कर वहाँ पर उतर पड़ता है और सब के साथ भविष्यदत्त से मिलता है। वह भाई से अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा माँगता है। भविष्यदत्त उन सब का वस्त्राभूषणों से स्वागत कर उन्हें पहरस-व्यंजनो का भोजन चाँदी के थालों में कराता है। बन्धुदत्त इस समय भी अपना कपट-पूर्ण व्यवहार नहीं छोड़ता। वह भाई से उल्लास के साथ कहता है कि ऐसा करो जिस से हम सब धन-कन-कंचन से युक्त एक साथ बन्धु-बान्धवों से जा कर मिल सकें। भविष्यदत्त अपना सब सामान और घन, रत्न आदि जहाज पर चढ़वा देता है और भविष्यानुकूपा भी उस पर बैठ जाती है। इतन में उस स्मरण हो आता है कि मेरी नागमुद्रा तिलकपुर में सज पर छूट गयी है। वह पतिदेव से लाने के लिए निवेदन करती है। उधर भविष्यदत्त मुँदरा लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त जहाज चलावा देता है। भविष्यदत्त जहाज का जाता हुआ देख कर घृण्य मन हो जाता है। उसे बहुत अधिक सन्ताप होता है और कई तरह से प्रलाप करने लगता है। वन के पक्षी उसे समझाते हैं और वह चन्द्रप्रभ के जिनमन्दिर में पहुँचता है। भगवान् का पूजन करने से उस का चित्त शान्त होता है। उधर भविष्यानुकूपा पाँव का स्मरण करती हुई बहुत दुःखी होती है। बन्धुदत्त कामभाव से उस के पास जाता है और कण्ठ याचना करता है। वह समुद्र में डूब कर प्राणों का छोड़ने का विचार करती है। किन्तु वनदेवी स्वप्न में उसे सम्भाषती है और कहती है कि एक महोत्सव के भीतर तुम्हारे स्वामी बहुत द्रव्य से युक्त तुम से आ कर मिलेंगे इस लिए मरने का विचार छोड़ कर कुछ दिन और प्रतीक्षा करो। उस ने यह भी कहा कि तुम्हारे शील के प्रभाव से ही जहाज किनारे लग सका है। सब लोग अपने घर पहुँच जाते हैं। बड़ा आनन्द मनाते हैं। कमलश्री सरूपा से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछती है, पर वह कुछ भी नहीं कहती। तब बन्धुदत्त से पूछती है। वह उत्तर में कहता है कि वह वहीं रह गया है। तब चिन्तित हो कर अजिका तथा मुनि से पूछती है। वे बतलाते हैं कि बीसवें दिन तुम्हारा पुत्र घर आयेगा। बन्धुदत्त राजा के पास जाता है। वह उपाजित द्रव्य उसे सोपता है। भविष्यानुकूपा के साथ विधिवत् पाणिग्रहण की तैयारी होने लगती है। इसी बीच

अभ्युत् स्वर्ग के इन्द्र के आदेश से मणिभद्र तिलकपुर पहुँचता है, जहाँ भविष्यदत्त पूजा-विधि सम्पन्न कर रहा था। वह विद्याधर उस से आने का समस्त वृत्त कहता है और समझाता है। उस ने तुरत ही सोने का रत्नजटित एक विमान तैयार कर उसे रत्नों से भर दिया। भविष्यदत्त आवश्यकीय वस्तुओं को ले कर विमान में बैठ कर घर के आँगन में आ उतरा। उस समय कमलश्री अजिका के पास थी। उन्होंने उस से कहा—लो उठो, तुम्हारा बेटा आ गया। माँ को देखते ही भविष्यदत्त उस के पैरों लगा और माँ ने उसे छाती से लगा लिया। उस ने उसे बहुत असीसों दी और फिर अजिका के पास ले गयी। वहाँ से आ कर माँ ने बेटे को बन्धुदत्त और भविष्यानुरूपा के विवाह का सब वृत्तान्त सुनाया। बेटे ने भी आदि से ले कर अन्त तक का सब वृत्त कह सुनाया। सबेरे भविष्यदत्त राजा को धन-द्रव्य देने गया। राजा ने उस से बहुत कुछ पूछा, पर वह चुप रहा। दूसरे दिन राजा के पास भविष्यदत्त के मामा ने जा कर कहा कि हमारे भानजे के साथ बन्धुदत्त का झगड़ा है। राजा ने धनपति सेठ को बुला कर उत्तर माँगा, पर सेठ ने घर में विवाह होने से इस प्रसंग को टालना चाहा। तब राजा ने उसे बलात् बुलवाया। कमलश्री ने जा कर राजा के सामने मुँदरी तथा वस्त्राभूषण उपस्थित किये। सेठ ने यह झगड़ा जान कर बन्धुदत्त से बहुत कुछ पूछा, पर उस ने सब नहीं बताया। दूसरे दिन राज-मन्दिर में सभा हुई। बन्धुदत्त बोला मेरा कोई झगड़ा नहीं है। किन्तु भविष्यदत्त को देख कर उस का मन काँप गया। सब रहस्य प्रत्यक्ष हो गया। राजा को जब बन्धुदत्त की करतूतों का पता लगा तो तुरन्त तलवार हाथ में ले कर उसे मारने के लिए तैयार हो गया। किन्तु भविष्यदत्त ने राजा को रोका और दण्ड देने से बचाया। राजा ने भविष्यदत्त को आधा सिंहासन दिया और अपनी पुत्री को देने का वचन दिया। कमलश्री को इस से अत्यन्त सन्तोष हुआ। धनपति ने कमलश्री के प्रति किये गये व्यवहार के लिए राजा के समक्ष क्षमा माँगी। बन्धुदत्त से उस के पैरों में पड़ कर प्रणाम करवाया। भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा की ठाट-बाट से पाणिग्रहण-विधि सम्पन्न हुई। राजा ने आधा राज्य और अपनी पुत्री सुमित्रा को भी विधि पूर्वक भविष्यदत्त को सौंप दी।

पाँचवें परिच्छेद का 'भविष्यदत्त के राज्य करने से' आरम्भ होता है। गृहिणी और राज्य सुख का भोग करते हुए भविष्यदत्त का बहुत समय बीत गया। इस बीच भविष्यानुरूपा के सोहला उत्पन्न हुआ और पति के पूछने पर उस ने तिलकद्वीप जाने की इच्छा व्यक्त की। इतने में मनोवैद्य नाम का एक विद्याधर राजा के पास आया और फिर उस ने भविष्यदत्त से कहा कि मेरी माता तुम्हारे घर में प्रिया के गर्भ में जायी है, ऐसा मुझ से मुनिराज ने कहा है। इस लिए आप मुझे कुछ करने की आज्ञा प्रदान करें। भविष्यदत्त प्रिया के साथ विमान में बैठ कर विद्याधर के साथ तिलकद्वीप के लिए चल पड़ा। मार्ग में उसे वही शिला, शरना आदि मिले। वहाँ पहुँच कर भक्तिपूर्वक जिनपूजन किया और आनन्द पूर्वक विहार किया। वहाँ उन्हें

चारण मुनि युगल दृष्टिगोचर हुए। उन से पूर्व भब का वृत्तान्त सुन कर विमान से वापस घर लौट आये।

कुछ समय के बाद भविष्यानुष्ठा के सोवप्रभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस के कुछ वर्षों के पश्चात् एक दूसरा कंचनप्रभ नाम का पुत्र हुआ। फिर, दो पुत्रियाँ हुईं, जिन का नाम तारा और सुतारा था। सुमित्रा के भी वरणीपति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। दूसरी उस के चारिणो नाम की पुत्री हुई। ये सभी सुन्दर और रूपवंत थे। निष्कण्टक राज्य करते हुए भविष्यदत्त को बहुत समय बीत गया। इस बीच मणिमद्र की सहायता से सिंहलद्वीप तक अपनी कीर्ति को फैला कर अनेक राजाओं को अपने अधीन कर लिया। एक दिन चारण ऋद्धिचारी मुनिवर के आगमन को सुन कर घनपति और कमलश्री के साथ भविष्यदत्त परिवार सहित मुनि-वन्दना के लिए गया और उन से श्रावक का धर्म पूछा। मुनिराज ने अष्ट मूल गुण पालन करने का उपदेश किया।

छठे परिच्छेद में भविष्यदत्त के निर्वाण का विवरण देते हुए कवि ने ग्रन्थ को समाप्त किया। सेठ घनपति मुनिराज से अपने पूर्व भवों को पूछता है। मुनि पहले भवों की कथा कह कर तीन भवों के पश्चात् भविष्यदत्त के मोक्ष जाने की बात कहते हैं, जिसे सुन सभी हर्षित होते हैं। कमलश्री सुव्रता के साथ अजिका हो जाती है और घनपति एक वस्त्र चारण कर ऐलक की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। घनपति कठोर तप को तप कर दसवें स्वर्ग में जा कर सुरपति होते हैं और कमलश्री स्त्रीलिंग का छेद कर रत्नचूल नाम का देव होती है। भविष्यानुष्ठा भी स्वर्ग में जा कर देव हुई और वहाँ से पृथ्वीतल पर आ कर पुत्र हुई। कमलश्री नन्दिवर्द्धन नामक नृप हुई। भविष्यदत्त पन्द्रह हजार राजाओं के साथ मुनिव्रत चारण कर क्रम से भवों का छेदन कर मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

भविष्यदत्तकथा और उस की परम्परा

घनपाल की भविष्यदत्त कथा काव्य के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं थी। क्योंकि इस के पूर्व महेश्वरसूरि प्राकृत में 'ज्ञानपंचमीकथा' लिख चुके थे। किन्तु दोनों कथाओं में अन्तर है। महेश्वरसूरि की ज्ञानपंचमीकथा में दस आख्यान हैं। उस में भविष्यदत्त की कथा श्वेताम्बर-परम्परा में वर्णित है। इस परम्परा में इस कथा के अन्य नाम हैं—सौभाग्यपंचमीकथा, श्रुतपंचमी वर्णनरूप ज्ञानपंचमी कथा और वरदत्तगुणमंजरीकथा। मुख्य रूप से ज्ञानपंचमीकथा में वरदत्त और गुणमंजरी की कथा वर्णित मिलती है। परन्तु महेश्वरसूरि की ज्ञानपंचमी में कुछ अन्तर है। इस में कथा इस प्रकार है—'दक्षिण भारत में गजपुर नाम के नगर में भूपाल नामक राजा राज्य करता था। उसी नगर में घणवह सेठ रहता था, जिस के कमलश्री नाम की सुन्दर पत्नी थी। उन दोनों के भविष्यदत्त पुत्र उत्पन्न हुआ। आठ वर्ष की अवस्था में ही वह सर्व विद्याओं में पारंगत हो गया। सहसा सेठ का मन कमलश्री से उषट गया और उस ने वरदत्त सेठ तथा

मनोरमा की पुत्री नागसरूपा से विवाह कर लिया। उस से बन्धुदत्त पुत्र उत्पन्न हुआ। पाँच सौ सावियों के साथ दोनों स्वर्ण द्वीप में गये। मार्ग में भयनागद्वीप में छल से बन्धुदत्त भविष्यदत्त को छोड़ देता है। भविष्यदत्त कंचन से परिपूर्ण नगरी में गुफा में से हो कर पहुँचता है। पूर्व विदेह में जसोधर मुनि से पूर्व भव का वृत्तान्त सुन कर अन्धुतकल्प का महेन्द्र मित्र भविष्यदत्त के पास जाता है और दोवाल पर अक्षर लिख कर लौट आता है। भविष्यदत्त उन अक्षरों को पढ़ कर पाँचवें घर पर पहुँचता है। सुन्दरी से उस का विवाह हो जाता है। कमलश्री समाविगुप्त नामक मुनिराज से पुत्र-प्राप्ति के निमित्त नागपंचमी का व्रत ग्रहण करती है। अन्त में भविष्यदत्त घर लौट कर आता है। जब राजा को बन्धुदत्त के दुष्कृत्य का पता लगता है तब वह बन्धुदत्त को दण्ड देता है और भविष्यदत्त के साथ अपनी कन्या का विवाहकृत्य पूरा कर आषा राज्य प्रदान करता है। भविष्यदत्त की पत्नी भविष्यदत्ता के दोहला होता है। दोनों ही तिलकद्वीप में जाते हैं। वहाँ युगल मुनिवर के दर्शन होते हैं। बहुत समय तक सुख भोग करने के उपरान्त एक दिन नगर में मुनिराज का आगमन सुन कर भविष्यदत्त दर्शन करने जाता है और दोला ग्रहण कर लेता है।^१ इस प्रकार युद्ध-विवरण को छोड़ कर कथानक लगभग दोनों में समान है। किन्तु धनपाल की भविष्यदत्तकथा की वस्तु स्पष्टतः विबुध श्रीधर रचित 'भविष्यदत्तचरित्र' से ली गयी है। कथानक-बन्ध तथा शैली में भी दोनों में साम्य लक्षित होता है। केवल विबुध श्रीधर ने धनेश्वर और लच्छी के पुत्री कमलश्री का होना कहा है और धनपाल ने उसे हरिबल तथा लच्छी की पुत्री कहा है। शेष बातें दोनों में समान हैं।

जैन-साहित्य में भविष्यदत्त की कथा ख्यातवृत्त रही है। अतएव प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में इस के लिखे जाने के उल्लेख मिलते हैं। जिनरत्नकोश में दस ज्ञानपंचमी कथाओं का उल्लेख है।^२ इसी प्रकार मंजुश्री विरचित 'कार्तिकसीभाग्यपंचमीमाहात्म्य' कथा संस्कृत में तथा पद्मसुन्दर कृत भविष्यदत्तचरित्र (नाटक) का उल्लेख मिलता है।^३ इन के अतिरिक्त अपभ्रंश में विबुध श्रीधर रचित भविष्यदत्तचरित्र तथा संस्कृत में पं० श्रीधर कृत भविष्यदत्तचरित्र का उल्लेख ही नहीं रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। हिन्दी में डॉ० रायमल्ल विरचित भविष्यदत्तचौपई मिलती है, जिसे पंचमीकथा या पंचमीरास भी कहते हैं। बनवारी कृत भविसदत्तचरित्र संवत् १९६६ की रचना है, जो चौपाई बन्ध में निबद्ध है। इसी प्रकार भविष्यदत्त तथा पंचमीव्रतकथा को ले कर कई अज्ञात लेखकों की भी रचनाएँ मिलती हैं। गुजराती में वणारसी कृत ज्ञानपंचमी शैत्यवन्दन, ज्ञानपंचमी उद्यापनविधि स्वाध्याय, विजयलक्ष्मीसूरि रचित ज्ञानपंचमीदेववन्दन, ज्ञानपंचमीस्वाध्याय और गुणविजय

१. एच० डी० वेल्थकर : जिनरत्नकोश, पृ० १४८।

२. वही, पृ० ८१।

कृत ज्ञानपंचमीस्तवन आदि रचनाएँ मिलती हैं।^१ संस्कृत में मेघविजय विरचित पंचमी-कथा और क्षमाकल्याण कृत सौभाग्यपंचमीकथा काव्यों का उल्लेख मिलता है।^२ हिन्दी में जिनउदय गुरु के शिष्य और ठक्कर मास्हे के पुत्र विद्वणू की ज्ञानपंचमीचउपई का भी उल्लेख है।^३ मुक्तिविमल कृत ज्ञानपंचमी तो बहुत पहले प्रकाशित (१९१६ ई०) हो चुकी है। हिन्दी में तो छोटी-बड़ी प्रकाशित-अप्रकाशित कई रचनाएँ मिलती हैं। बनवारीलाल विरचित भविष्यदस्तचरित्र तो धनपाल की भविष्यदस्तकथा का हिन्दी पद्यानुवाद ही जान पड़ता है। इसी प्रकार साधु रत्नपाल भण्डारी लिखित दोहा-चोपाई छन्दोबद्ध भविष्यदस्तचरित्रपंचमी की कथा भी धनपाल के कथाकाव्य का पद्यानुवाद है। यह संवत् सतरह सौ सत्तावन की रचना है। परन्तु अविकल अनुवाद दोनों में से एक भी नहीं है। हाँ, सिन्धुनरेश के युद्ध का विवरण दोनों में मिलता है। इस प्रकार महेश्वरसूरि से ले कर (नवमी शताब्दी से पूर्व) पन्नालाल चौधरी (उन्नीसवीं शताब्दी) तक भविष्यदस्तकथा निरन्तर भारतीय भाषाओं में लिखी जाती रही है। इस से कथा के महत्त्व का पता लगता है।

संस्कृत के कवि विबुध श्रीधर

संस्कृत के कवि विबुध श्रीधर कृत भविष्यदस्तचरित्र पन्द्रह सर्गों की रचना है। इस की ग्रन्थ-संख्या पन्द्रह सौ बत्तीस है। अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर और इन की रचना कथावस्तु में बिल्कुल समान है। भाषा सरल एवं प्रसाद गुण से युक्त है। कही-कही महाकवि कालिदास की शैली तथा भावों का प्रभाव दिखाई देता है। यथास्थान सूक्ति तथा नीतिमूलक वाक्यों के प्रयोग से काव्य सजीव बन गया है। कवि ने इस कथा को गुरु-परम्परा से प्राप्त कर श्रुति रूप में ज्यों की त्यों अपना कर लेखबद्ध कर अपने आप को अभिव्यक्त किया है। इस की एक प्रतिलिपि प्रति आमेरशास्त्र-भण्डार, जयपुर में है, जो विक्रम संवत् १५५५ की लिखी हुई है। निश्चय ही यह काव्य अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर के भविष्यदस्तचरित्र के पश्चात् लिखा गया है।

अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर

कई बातों में अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर और उन के काव्य का सहृदय है। पहली तो यह कि धनवद् कमलश्री को इस लिए नहीं छोड़ता है कि बालक भविष्यदस्त रतिगृह में था और उसे देख कर सेठ के मन में अन्यथा भाव उत्पन्न हुए और उस ने पत्नी को मायके जाने के लिए कह दिया; किन्तु वह किसी बात पर रुष्ट हो जाता है जिस से उस का हृदय उस से निकल जाता है और वह छोड़ देता है। महेश्वरसूरि की कथा में इस का संकेतमात्र है कि बिना किसी दोष के सहसा ही वह उसे छोड़

१. महेश्वरसूरि कृत ज्ञानपंचमीकथा की प्रस्तावना, पृ० ७।

२. मोहनलाल दुनीचन्द देसाई—अनसाहित्यिकी संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३, पृ० ६३३।

३. नेमिचन्द्र शास्त्री : जैनसाहित्य परीक्षीतन, पृ० २०६।

देता है। संस्कृत की कथा में विबुध श्रीधर की कमलश्री विनय के साथ पति से पूछती है कि आप किस कारण से मुझ से कुपित हो गये हैं, क्योंकि बिना कारण तो वधु पर भी कोई कुपित नहीं होता। किन्तु সেठ कहता है कि नहीं, तुम से कुछ भी दुःख नहीं है; किन्तु तुम्हें देखते ही हृदय में आग लग जाती है। परन्तु अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर की कमलश्री पति से तर्क-वितर्क न कर प्रेम से पूछती है कि क्या आप मुझ पर खट है? मुझे इस प्रकार अकेली क्यों कर दिया? यदि मुझ में कोई दोष हो तो बता-इए। वह अकारण ही अपने क्रोध को प्रकट करता हुआ कहता है कि तुम में कोई दोष नहीं है। धनपाल ने बातावरण उत्पन्न कर उस में स्वभाविकता ला दी है, पर पाठक के मन में यह प्रश्नवाचक चिह्न लगा-हो रह जाता है कि अकारण पति ने कमल-श्री को क्यों छोड़ दिया? धनपाल ने इस का समाधान यही दिया है कि पूर्व कर्मों के अनिष्ट से ही धनवद ने पत्नी के साथ ऐसा व्यवहार किया। इस लिए ज्यों-ज्यों कमल-श्री उस की आशाओं को पूरा करते हैं त्यों-त्यों उस का हृदय बिसूरता है। अन्त में जब वह घर में ही वियोगिनी की भाँति दुःखों की झेलने लगी तब किसी प्रकार माता-पिता के घर चली गयी। यहाँ कवि ने कर्मों की अदृष्ट कारण बता कर कथा की अस्वाभाविकता को बचा लिया है।

विबुध श्रीधर की भविष्यदत्तकथा

अपभ्रंश में लिखा हुआ यह कथाकाव्य धनपाल की भविष्यदत्तकथा से पहले की रचना है। काव्य का प्रारम्भ जिन-वन्दना से हुआ है। फिर, कवि ने अपना संक्षिप्त परिचय दे कर भविष्यदत्त के चरित्र के वर्णन का उपक्रम किया है। इस काव्य में छह परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेद कठवर्कों में निबद्ध है। बन्ध-रचना में यद्यपि कवि ने साहित्यिक परम्परा का पालन किया है, पर साहित्यिक रूढ़ियों का परिपालन नहीं हुआ है।

भाव-पक्ष

प्रत्येक काव्य की गुण-दोष की विवेचना के लिए उस के भाव और कला-पक्ष दोनों का सम्यक् विवेचन और अभिव्यञ्जना के अनुरूप उस की परख आवश्यक है। काव्य का सौन्दर्य इन्हीं दो कूलों के मध्य तरंगित देखा जाता है। भाव-पक्ष में मर्मस्पर्शी भावनाओं और रसान्विति की मुख्यता निहित होती है। कला-पक्ष में रस, अलंकार, छन्द, भाषा और शैली मुख्य हैं।

यद्यपि इस काव्य में कई मार्मिक स्थल हैं, पर घरेलू बातावरण से ओतप्रोत कमलश्री का वह दृश्य दर्शनीय है जब वह धीरे-धीरे माता के घर पहुँचती है। माता उसे अपनी आँखों से क्षीण शरीर से मुक्त देख कर कहती है कि क्या तुम्हारा प्रेम चुक गया है? कमलश्री माता को दुखी देख कर कहती है कि माता दुःख क्षणिक है, इस लिए दुःख मत करो, मन स्थिर करो (२,५)। धनपाल के काव्य में कमलश्री

माता को उपदेश देती हुई नहीं दिखाई देती। वह माता के गले से लिपट जाती है और रोती है। माता उसे समझाती है। कमलम्बी रोती हुई तो यहाँ भी दिखाई देती है, पर उस का विवेक जाग्रत है। उस में गलदम्ब भावुकता नहीं है। गीतशैली में भावों की अभिव्यक्ति होने से उस में भावात्मक चित्र सजीव हो उठा है।

बन्धुदत्त भविष्यदत्त को छल से मैनागद्दीप में छोड़ जाने के पश्चात् जब लौट कर उसी मार्ग से आता है तब भविष्यदत्त को सामने देख कर लज्जा से उस का मुख नीचा हो जाता है। वह कहता है—हे भाई, घुस पर लमा करो। मैं कृतघ्नी निश्चय ही कोयल को भाँति हूँ। मैं ने तुम्हारे विरह में वैसे ही दुःख पाया है जैसे कि गरमो के दिनों में बिना पानी के वृक्ष संतप्त होते हैं।

तं मज्जुप्परि खम करहि भाय हउं णिण्णिणु खलु कोइल णिणाय ।
हउं तुह विरहे संपत्तु दुक्खु जिह पाणिण्ण विणु गिम्हे रुक्खु ॥ (४,५)

यहाँ कवि ने भाई के मन की होने वाली स्वाभाविक मनःस्थिति का वर्णन कर लज्जा और श्लानि के भावों को तिरोहित कर बन्धुदत्त के कष्टपूर्ण हृदय का संकेत कर दिया है। इसी लिए वह भविष्यदत्त से कहता है कि अब ऐसा करो कि हम सब एक साथ बन्धु-बान्धवों से जा कर मिलें। भविष्यदत्त उस की चाल को न समझ कर उस के साथ जावे को तैयार हो जाता है। कथावस्तु की दूसरी विशेषता का हमें यहाँ पता लगता है जब भविष्यानुरूपा पति से कहती है कि मैं सेब पर नागमुद्रिका भूल आयी हूँ, इस लिए उसे ले आइए। धर भविष्यदत्त मुँदरी लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त अवसर पा कर पोट चलावा देता है। कई कथाओं में भविष्यदत्त का नागमुँदरी लेने जाने का कारण प्रदर्शित नहीं है। यह विबुध श्रीधर की अपनी विशेषता है। यदि कालिदास ने शाप की कल्पना कर शाकुन्तल की वस्तु की अस्वाभाविकता बचा ली तो विबुध श्रीधर ने नागमुँदरी की कल्पना कर स्वाभाविकता की रक्षा की है। क्योंकि यह कह देने से कि छल से बन्धुदत्त फिर से भविष्यदत्त को छोड़ कर चला दिया पाठकों को सन्तोष नहीं होता। फिर, पहले का कारण तो स्वाभाविक था कि भविष्यदत्त पहली बार उस वन में, द्वीप में आया था और पुण्यप्रिय था इस लिए दूर तक वनराजि को देखता निकल गया और इसी बीच बन्धुदत्त ने अवसर पा कर उसे वहीं छोड़ दिया। किन्तु यहाँ ऐसी क्या बात थी? नागमुँदरी भविष्यानुरूपा को बहुत प्रिय थी, इस लिए भविष्यदत्त उसे लेने चला गया। कथा की यह स्वाभाविकता विबुध श्रीधर और धनपाल दोनों में है।

भामिकता की दृष्टि से वह स्थल अत्यन्त सरस है, जहाँ बन्धुदत्त से दूसरी बार छले जाने पर भविष्यदत्त बहुत दुखी होता है और कई प्रकार से विलाप करता है। इस समय उस की वही दशा होती है जो सीता के हरण किये जाने पर श्रीरामचन्द्र की हुई थी। वन के पक्षी भविष्यदत्त को सम्बोधित हुए कहते हैं—

ते भणहि णाह भो भविसयत्त पियविरह जाय महदयसयत्त ।
 मा करहि सोउ णियमणि मइल्ल जिणधम्मकम्म विरयण छइल्ल ।
 संजोय विओयइ हुंति जाणु सम्बहं जणाहं मा भंति आणु ।

अर्थात् वे पथी कहते हैं कि हे भविष्यदत्त ! प्रिय के वियोग में बहुत दुःख होता है, पर शोक कर अपना मन मिला न करो। क्योंकि तुम जिनधम्म के कार्यों को करने में चतुर हो और इस लिए जानते ही हो कि कर्मों के विपाक से संयोग और वियोग होता है। सभी लोगों को ये सुख-दुःख देते हैं। इस में किसी प्रकार की भ्रान्ति न करो।

इसी प्रकार पुत्र के वियोग में कमलध्वी अत्यन्त दुखी होती है। वह नहाना-धोना और बोलना तक छोड़ देती है। उस की माँ समझाती है, पर उस का मन नहीं मानता। जैसे-तैसे उस के दिन बीतते हैं। वस्तुतः वियोग जीवन में अनिवार्य है। बिना उस के प्रेम आँच में तप कर खरा नहीं होता, किन्तु संसारी जीवों की परिणति आकुलता-व्याकुलतामय अधिक होती है, इस लिए वे वियोग का मूल्य नहीं आँक पाते।

गीतिशैली में वन एवं प्रकृति का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि भविष्य-दत्त ने उस भयानक वन में मदजल से भरे हुए श्रेष्ठ हाथियों को देखा। कहीं पर शाखामृग (बन्दर) निर्भय हो कर डालियों से चिपके हुए थे, कहीं पर छोटे और कहीं पर आकाश को छूने वाले वृक्षों की शाखाओं पर लोटते हुए, हरे फलों को तोड़ते हुए बन्दर दिखाई दे रहे थे। कहीं पर पुष्ट देह वाले सुअर घूम रहे थे और कहीं रोष से से भर कर किसी को भग्न कर महाबाध पेड़ों से आ लगे थे। कहीं-कहीं पर विकराल काल के समान पशु दिखाई पड़ रहे थे और कहीं पर मोटे-ताजे खियार परस्पर जूझ रहे थे। उन्हीं के पास में झरना बह रहा था, जो पहाड़ की गुफाओं को अपने कलकल शब्द से भर रहा था—

तें बाहुडंडेण	कमलसिरिपुत्तेण
विट्ठाइं तिरियाइं	बहुदुल्लभरियाइं
गयवरहो जंतासु	मयजलविलित्तासु
कित्थुवि मयाहीसु	अणुलग्गु णिरभीसु
कित्थुवि महीयाहं	गयणयलवि गयाहं
साहासु लोडंतु	हरिफलइं तोडंतु
केत्थुवि बराहाहं	वल्लवतदेहाहं
महवग्गु आलग्गु	रोसेण परिभग्गु
केत्थुवि विरालाहं	विट्ठाइं करालाहं
केत्थुवि सियालाहं	जुज्झंति थूलाहं
तहे पासे णिज्झरइ सरंतहं	गिरिकन्दरविबराइं भरंतइं ।

इस प्रकार वर्णन स्वाभाविक है। इस में अलंकरण या चमत्कार बिल्कुल नहीं है। देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों वर्णन है। प्रकृति का यह वर्णन आलम्बन रूप

में हुआ है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों की यह विशेषता है कि उन में प्रकृति का आलम्बनात्मक वर्णन ही मुख्य है। नायक की वियोग को अवस्था में प्रकृति की वस्तुएँ न तो भाँसू ही बहती हैं और न प्रिय के वियोग में स्मृतियों को उद्दीप्त कर सहानुभूति ही प्रकट करती है। इस में कवि की निवृत्ति भावना ही मुख्य जान पड़ती है, जो पूर्व पक्ष में संयोग शृंगार तथा विप्रलम्भ का चित्रण कर अन्त में उस की यथार्थता का रहस्योद्घाटन करती है। परन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि जनसुलभ अनुभूतियों और मानवीय संवेदनाओं की करुण अभिव्यक्ति का अभाव है। यथार्थतः राग-विराग की कोमलतम अनुभूतियों से काव्यात्मक अभिव्यंजना समन्वित है, जिस में जीवन का परिवेश धार्मिक भावनाओं से मण्डित है। इस लिए प्रसंगतः वियोगजन्य अनुभूतियों की मामिकता भी लक्षित होती है। पुत्र के वियोग में कमलश्री अत्यन्त संतप्त है। उस का मन किसी भी काम में नहीं लगता है। वह पुत्र का स्मरण करती हुई कहती है कि मन, मेरा हृदय क्यों नहीं फूट जाता ? कमलश्री रात-दिन रोती है। उस की आँखों से टपकते हुए भाँसू जलधारा की बतियाँ (बतिकाएँ) ही बन जाते हैं। भूखी-प्यासी और क्षीण शरीर वाली होने से अपने मँले शरीर पर ध्यान ही नहीं दे पाती।

ता भणइं किसोयरि कमलसिरि
पर सुमरंति हे सुउ होइ महु
रोवइ धुवइ णयण चुव अंसुव
भुक्खइं खीण देह तप्पाइय

ण करमि कमल मुहुल्लउ ।
फुट्टु ण मण हियउल्लउ । (३, १६)
जलधारहि बत्तओ ।
ण मुणइं मलिन गत्तओ । (४, ५)

जिस प्रकार महाकवि कालिदास ने पुष्पक विमान में लंका से लौटते समय रामचन्द्र के मुख से मार्ग में मिलने वाले वन, पर्वत, आश्रम आदि का सीता को निदिष्ट कर उल्लेख किया है उसी प्रकार भविष्यदत्त भी विबुध श्रीधर के कथाकाव्य में दोहला युक्त भविष्यानुकूपा को मार्ग में शिला, झरमा, पर्वत, वृक्ष आदि का स्मरण कराता हुआ विमान से तिलकद्वीप पहुँचता है, जिस का कवि ने सटीक वर्णन किया है। (५, ३) किन्तु एक-एक वस्तु का जैसा काव्यात्मक एवं यथार्थ चित्रण कवि धनपाल ने किया है वैसा विबुध श्रीधर के काव्य में नहीं मिलता। समूची कथा लोक शैली में वर्णित प्रतीत होती है। रूप-वर्णन का एक चित्र देखिए—

बालहरिणि चंचलयर णयणी
रायहंसगामिणि ललियंगी

पुणिम इंदविबसम वयणी ।
अवयवेहिं सव्वेहिंवि चंगी ॥

अर्थात् बाल हिरनी के समान स्वरूपा के नयन थे। पूनम के चंदा जैसा उस का मुख था। राजहंस के समान मन्द गति थी। ललित अंगों वाली थी। उस के सभी अंग निरवद्य थे। इसी प्रकार बाल भविष्यदत्त का वर्णन देखिए—

कालेण गलिय तहो पंचवरिस

कीलंतहो परि संजणिय हरिस ।

सो कविल केस जड कलिय सीसु

धूली उद्धलिय तणु विहीसु ।

करजुवल कहुल्ला सोहमाणु
बाहिर हो भावइ नेहु जाम

पायहि जेउर रंखोलमाण ।
वड्ढइ जणणिहें आणंदु ताम ।

अर्थात् जब बालक पाँच बरस का हो गया तब घर में खेलता हुआ जननी को हर्ष बढ़ाने लगा । उस के सिर के बाल भूरे थे । शरीर को घूलि से घूसरित कर वह सोहने लगा । उस के दोनों हाथों में धूरा (कड़े) सोभायमान थे । पैरों में धुँवरू शब्दायमान थे । जिस समय वह बाहर से भीतर घर में आता था तब जननी उसे देख कर आनन्द से फूल उठती थी ।

इन वर्णनों को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि काव्य कवित्व शक्ति से भरपूर है, पर कल्पनात्मक वैभव, विम्बार्थ-योजना और अलंकरणता तथा सौन्दर्यानुभूति की जो झलक हमें धनपाल की भविष्यदत्तकथा में लक्षित होती है वह इस काव्य में नहीं है ।

भाषा

भाषा की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण रचना है । सीधी-सादी एवं सरल भाषा में यह पूरा काव्य निबद्ध है । इस में धनपाल के काव्य की भाँति लोक तथा शास्त्र एवं साहित्य की भाषा का मेल न हो कर जन-बोलीका रूप दिखाई पड़ता है । काव्य के वर्णनों से भी इस बात की पुष्टि होती है । यथा—

कहिबि तूर वज्जंति णिम्भरं
कहिबि लोय जोयहि परोप्परं
जिणमन्दिरे घण्टा टणटणाले..... ।

लोकशैली में वर्णित गीतों से भी यही धारणा बनती है । फिर, कवि की रागात्मिका बुद्धि घरेलू वातावरण को चित्रित करने में जैसी रमी है, वैसी प्रकृति-वर्णन-रूप तथा अन्य घटनाओं की प्रभावान्विति एवं रस-व्यंजना में उस का चमत्कार नहीं दिखाई पड़ता । फिर भी, कुल मिला कर रचना का प्रभाव ठीक ही है ।

विदुष श्रीधर के भविष्यदत्तकथा की भाषा चलती हुई और प्रसाद गुण युक्त है । तेरहवीं शताब्दी की जनसामान्य में प्रचलित भाषा के शब्द-रूप इस रचना में स्पष्टतः मिलते हैं । जैसे—जावहि (ज्यों ही), तावहि (त्यों ही), बारबार, णिरारिउ (निनारी, पद्मावत), फोफल (सुपारी), करीर, तिदु, विल्ल (बेल), करबंद (करोंदा), सत्ति (झट से), सपत्तउ (सपाटे से, अमरवत् त्वरता), करंती, हरंती इत्यादि । भाषा भावों के अनुकूल और मधुर है । यथा—

पर एक्कु वि दीसइ णउ मणुउ एंनु जंतु सुहुयारउ ।
पर दीसइ पट्टणु मणहरणु मडवैवलहि पियारउ ॥

रचना में कृदन्त शब्द-रूपों की प्रचुरता है । क्रिया में लिंग भी इस में स्पष्ट रूप मिलता है । उदाहरण के लिए—

गय मंदिर सज्जनसुह अणणहो ।

जा परिवारें सहं आचंती गिय सहोहि परियरिय रुचंति ।

इसी प्रकार एकली, चंगी, भुक्खइ, संचल्ली आदि रूपों में स्त्रीलिंग का प्रयोग स्पष्ट है । कहा जा सकता है कि ऐसे प्रयोग कृदन्त क्रियाओं में देखे जाते हैं । यह सच है कि मुख्य रूप से कृदन्त क्रियाओं में स्त्रीलिंग का आभास होता है और वे शब्द-रूप स्पष्टतः समझ में आ जाते हैं । किन्तु नाम-रूपों में तथा वर्तमानकालिक क्रियाओं में भी क्रिया में लिंग दिखाई देता है । जैसे कि—

पर सुमरंति हे सुउ होइ मह फुट्टु ण मण हियउल्लउ ।

यहाँ पर 'सुमरंति' का अर्थ स्मरण करती है; न कि याद करती हुई । ऐसे कई प्रयोग इस काव्य में हैं । भाषा में मुहावरे और लोकोक्तियों तथा सूक्तियों का भी प्रयोग हुआ है । बोलचाल में प्रायः प्रयोग करते हैं कि ले-दे कर अर्थात् बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार काम हुआ । उसी के लिए कवि ने "सो किंतु दिंतु सहि दिण गमई" का प्रयोग किया है जो जनसामान्य की बोली का स्मरण दिलाता है । इसी प्रकार सूक्तियों भी लोक सामान्य में प्रचलित मिलते हैं । यथा—

विणु उज्जमेण णउ किपि होइ ।

अर्थात् बिना उद्यम के कोई काम नहीं बनता ।

जो पुण्णेण गहिउ सिरि चाहइ सो घणेण विणु सत्तु पसाहइ । (२, १९)

अर्थात् जो बिना पुण्य के लक्ष्मी की अभिलाषा करता है वह वैसे ही है जैसे कि बिना धन के शत्रु को प्रसन्न करना ।

जहि रुचइ तहि फिरि फिरि रमई । (३, १६)

अर्थात् जहाँ अच्छा लगता है वहाँ मनुष्य बार-बार जाता है ।

इस प्रकार विबुध श्रीधर की भाषा को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि भ० क० में प्रयुक्त भाषा बोलचाल की है । यथा—

अवसर पावेवि मारइ णिच्छउ पइ एत्थुवि पुरवरि एहु अछउ ।

अहवा ठाई ण केम वि बारिउ पइसिहं सरहसु जाइ णिरारिउ ।

अर्थात् सत्पुत्र बन्धुदत्त को समझाती हुई कहती है कि तुम अवसर पा कर उस को (भविष्यदत्त को) निश्चय से मार डालना । किन्तु वहाँ पुर के लोग भी होंगे । वे यदि रोकें तो वेग से अलग कर देना ।

वहु दिवस काई तुह पुत्त हुआ ।

पर एक्कु वि दीसइ णउ मणुउ एंतु जंतु सुहयारउ ।

पर दीसइ पट्टणु मणहरणु मढवेवलहि पियारउ ॥

अर्थात् किन्तु उस पढ़न में एक भी जाता-जाता मनुज सुखकारक नहीं दिखाई दिया । परन्तु मनोहर मठ और प्यारे देवालय दिखाई दिये ।

शैली

यह काव्य कड़वकवद्ध शैली में रचित है। इस में कुल तीन सौ सैंतीस कड़वक हैं। कड़वक-रचना में कड़वक के आरम्भ में अधिकतर दुवई और अन्त में दुवई का प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं आरम्भ में बोहा या चौपाई और अन्त में दुवई तथा घत्ता-प्रयुक्त है। दुवई की भाँति घत्ता भी कड़वक के अन्त में अधिकतर जुड़ा हुआ दिखाई पड़ता है। इस में एक परिच्छेद में पन्द्रह से ले कर सैंतीस कड़वक तक प्रयुक्त है। एक कड़वक में दस पंक्तियों से ले कर तेरह पंक्तियों तक में पढ़ा दिया छन्द का प्रयोग हुआ है।

छन्द की दृष्टि से यह कथाकाव्य पढ़ा दिया शैली में लिखा गया है, जो अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्य की प्रचलित शैली रहो है। समूचा काव्य पढ़ा दिया छन्द में मुख्य रूप से तथा कड़वकशैली में निबद्ध है। अपभ्रंश में घत्ता की सामान्य संज्ञा रही है, पर छन्द के रूप में भी उस का प्रयोग देखा जाता है। कड़वक के अन्त में जिस भिन्न छन्द को छोड़ कर कड़वक की समाप्ति की जाती है उसे घत्ता कहते हैं। किन्तु इस कड़वक-रचना के अन्त में घत्ता के रूप में प्रायः छन्द का प्रयोग देखा जाता है। सम्भवतः इसीलिए उस कड़वक का नाम घत्ता पड़ गया प्रतीत होता है।

साहित्यिक रचना का विचार करते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आलोच्यमान काव्य की शैली प्रसाद एवं सरल होने पर भी सरस तथा माधुर्य गुणों से युक्त है। कवि की शैली संक्षिप्त तथा काव्य-सौष्टव से भरित है। उदाहरण के लिए, निम्न-लिखित दो पंक्तियों में कमलश्री की वियोग-दशा का कितना सजीव चित्र अंकित कर दिया है—

रोवइ धुवइ जयण चुव अंसुव जलधाराहि बत्तओ ।

भुक्खइ खीण देह तण्हाइय ण मुणइ मल्लिण गत्तओ ॥ (४, ५)

संक्षेप में, कवि की शैली भाव, भाषा तथा रचना के सर्वथा उपयुक्त एवं संक्षिप्त है।

संवाद

प्रस्तुत काव्य में संवाद अत्यन्त मधुर एवं ललित है। विरुद्ध चरित्र वाले पात्रों के मुख से भी कवि ने मधुर शब्दों में बड़िया वार्तालाप अभिव्यक्त किया है। उदाहरण के लिए, सरूपा भविष्यदत्त के सम्बन्ध में कहती हुई बन्धुदत्त से कहती है—

एह पुत्तु जेट्टउ घणसामिउ महू भत्तारहो गयवरगामिउ ।

जइ एयहो मिलंतिए बणिवर दणिणवंत रुवें जिय रइवर ।

उक्त पंक्तियों में जहाँ सरूपा मनोमालिन्य एवं ईर्ष्या की प्रकट करती है वही नायक के वारिजिक गुणों पर भी प्रकाश पड़ता है। आगे की पंक्तियों में और भी स्पष्ट है। इस प्रकार संवादों के माध्यम से कवि ने पात्रों की वैयक्तिक अनुभूतियों के साथ ही उन के चरित्रों पर भी प्रकाश डाला है।

भाषा की दृष्टि से इस रचना के संवाद अत्यन्त स्पष्ट एवं सरल हैं। उन में स्वाभाविकता और बोल-चाल की भाषा का प्रयोग सर्वथा उचित तथा मधुर है। जैसे कि—

बहु दिवस काई तुह पुत्त हुआ।

मई वारिओसि णवणलिण मुहुं जुत्तउ ण होइ फुडु गमणु तुहुं।

कमलध्री अभी प्रसूति से उठी है। पुर की वनिताएँ आ कर उस से पूछती हैं—क्यों बहुत दिनों में तुम्हारे पुत्र हुआ? मैं इस नये कमल-मुख पर बलिहारी हूँ। अब तुम्हें चलना-फिरना युक्त नहीं है।

इस प्रकार संवादों में माधुर्य छलकता हुआ लक्षित होता है। घरेलूपन तथा बोलचाल की स्वाभाविकता से संवादों में सजीवता सर्वत्र दिखाई पड़ती है (४, ५)।

प्रबन्ध-रचना

प्रबन्ध-रचना में वर्ण्य विषय की स्वाभाविकता तथा काव्य-रुद्धियों का पालन प्रस्तुत काव्य में भी देखा जाता है। किन्तु अपभ्रंश के अन्य प्रबन्धकाव्यों से इस में काव्य-रुद्धियाँ कम मिलती हैं। काव्य-रुद्धियों में वे बातें इस कथाकाव्य में हैं—मगलाचरण, स्ववंश-कीर्तन, आत्मपरिचय और ग्रन्थ-रचना का प्रयोजन। यद्यपि कथा के स्वाभाविक विकास से तथा घटनाओं की गतिशीलता से प्रबन्ध-रचना स्वाभाविक बन पड़ी है, किन्तु अवान्तर कथाओं के उल्लेख से कहीं-कहीं कथानक दब-सा गया जान पड़ता है। कुल मिला कर रचना स्फीत एवं प्रेरक है।

अलंकार

काव्य में साधर्म्य मूलक अलंकारों की ही मुख्यता है। भाषा के सामान्य व्यवहार में जिन अलंकारों का स्वाभाविक रूप से प्रयोग होता है लगभग वे ही अलंकार इस रचना में प्रयुक्त हैं। इस रचना को भलीभाँति देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश के कवियों ने अधिकतर लोक भाषा, शैली, अलंकार और छन्दों का प्रयोग किया है। वे शास्त्रीयता से हट कर लोक-रचना-शैली में प्रवृत्त हुए हैं। यही उन की सब से बड़ी विशेषता है। अलंकारों में भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। कुछ अलंकार इस प्रकार हैं—

तहि सिद्धि सुरुवउ घणवइ हूवउ सयलकलालकरिय मणु।

जणवइ मण्णिज्जइ गिरु पुज्जिज्जउ णं अषयरिउ सिरिरमणु ॥१, ७

(स्वरूपोत्प्रेक्षा)

एउ जाणेविणु सोउ ण किज्जइ मई वइणा गरलुव वज्जिज्जइ।

(उपमा)

बालहरिणि बंचलयर णयणी	पुण्णिम इंदबिब सम वयणी । (उपमा)
जो पुण्णेण रहिउ सिरि चाहुइ	सो घणेण बिणु सत्तु पसाहुइ । (दृष्टान्त)
बिणु उज्जमेण णउ किपि होइ	एहुउ आहासइ परम जोइ । (लोकोक्ति)
तं देखेबिणु सो संकियउ एरिसउ	मग्गु एहु कि कियउ ।
णरु एककु वि दोसइ एत्थु णउ	विणु मणुयहि भय संजाइउ । (विनोक्ति)

अन्य अलंकारों में रूपक, अर्थान्तरन्यास तथा काव्यालिंग आदि इस काव्य में मिलते हैं, जो स्वाभाविक रूप में निहित हैं। बोलचाल के रूप में प्रयुक्त होने के कारण इन अलंकारों को ढूँढ निकालने में कठिनाई का अनुभव होता है। क्योंकि अलंकारों का प्रयोग चमत्कार के लिए न हो कर भाषागत प्रयोगों में हुआ है, जिन का हम रात-दिन प्रयोग करते रहते हैं और इसी लिए साहित्यिक भाषा और अलंकारों के प्रयोगों में जो स्पष्ट भेद दिखाई पड़ता है उन का इनमें सरलता से पता नहीं लगता। वस्तुतः कवि की यह सब से बड़ी सिद्धि है कि वह जैसा अनुभव करता है और उस की अनुभूति में जो रस अनुस्यूत होता है उसे वह विविध कल्पनाओं एवं चित्रों के द्विभार्य के माध्यम से वैसी ही रस-सृष्टि कर अभिव्यंजित कर दे। हमारी दृष्टि में धनपाल और विबुध श्रीधर दोनों को इस में सफलता मिली है।

छन्द

इस कथाकाव्य में मुख्य रूप से पदद्विधा छन्द का प्रयोग हुआ है। कड़वक रूप में प्रयुक्त अन्य छन्द हैं—दुवई, चौपाई, घत्ता और दोहा। संस्कृत के प्रबन्धकाव्यों की भाँति सन्धि या परिच्छेद के अन्त में छन्द परिवर्तन का नियम इस काव्य में नहीं मिलता। सामान्यतः कड़वक के अन्त में दुवई या उस की जाति के किसी छन्द का प्रयोग देखा जाता है, किन्तु इस में कड़वक के आरम्भ में दुवई, मध्य में पदद्विधा और अन्त में घत्ता या दुवई का प्रयोग मिलता है। दुवई, चौपाई और दोहा छन्दों में कोई नवीनता नहीं मिलती, पर घत्ता के कई रूप मिलते हैं। उदाहरण के लिए—

पर एककु वि दोसइ णउ मणुअ एंतु जंतु सुहयारउ ।

पर दोसइ पट्टणु मणहरणु मठ देवउहि पियारउ ॥

उक्त घत्ता छन्द में १५, १२ के क्रम से एक पंक्ति में सत्ताईस और कुल चौवन मात्राएँ हैं। श्री वेलणकर ने घत्ता के नौ भेदों का सूची में उल्लेख किया है^१ किन्तु उन नौ भेदों से उपर्युक्त लक्षण भिन्न है। “छन्दोऽनुशासन” में इस से मिलता-जुलता चन्द्र-लेखिका छन्द है।^२ दूसरा उदाहरण है—

१. एच० डी० वेलणकर : छन्दोऽनुशासन, पृ० ३६४।

२. वही, पृ० ३६४। कविदर्पण के अनुसार—८, ८, ११ के क्रम से; पर उक्त छन्द में यह क्रम नहीं है। चन्द्रलेखिका छन्द का लक्षण है—

समे द्वादश ओजे पंचदश चन्द्रलेखिका ।—छन्दोऽनुशासन, ६, २०, ४४।

देखालइ गरणाहु तहुण इह अइ मुत्तउ तरवर वुच्चइ ।

एह सिलाए गिज्झरण देखतहो मणु कासु ण रुच्चइ ॥ (५, ३)

इस की दोनों पंक्तियों में उनतीस-उनतीस मात्राएँ हैं । यह षड्पदी छन्द है । इस में १०, ८, ११ के क्रम से उनतीस मात्राएँ होती हैं ।^१ इसी प्रकार १६-१६ प्रथम और तृतीय-चरण में तथा १२-१२ द्वितीय और चतुर्थ चरण के क्रम से अट्ठाईस मात्राओं का घत्ता भी मिलता है—

ता मणई किसोयरि कमलसिरि, ण करमि कमल म्हुल्लउ ।

पर सुमरंति हे सुउ होइ महु, फुट्टु ण मण हियउल्लउ ॥ (३, १६)

इसी प्रकार इकतीस और बत्तीस मात्राओं के पद वाले घत्ता छन्द भी इस काव्य में प्रयुक्त है । इस प्रकार घत्ता के कई भेद अकेली इस रचना में मिलते हैं ।



चतुर्थ अध्याय

अपभ्रंश के प्रमुख कथाकाव्य

विलासवईकहा

कवि का परिचय

विलासवईकहा के लेखक श्वेताम्बर जैन मुनि सिद्धसेनसूरि हैं, जिन का उपनाम साधारण है। कवि का गृहस्थ दशा का नाम साधारण है और मुनि अवस्था का सिद्ध-सेनसूरि। साधारण सिद्धसेन का जन्म वाणिज्य नामक मूलकुल में कौटिक गण को वज्र शाखा के अन्तर्गत चन्द्र वंश में हुआ था^१। कवि का जन्मस्थान धंधुका नगर है, जो आज भी गुजरात में इसी नाम से प्रसिद्ध है। यह वही नगर है जिस में सुपासनाहचरिअ के लेखक लक्ष्मणगणि और आ० हेमचन्द्र ने जन्म लिया था। कवि के गुरु का नाम यशोदेवसूरि था। गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए कवि ने स्वयं कहा है कि मैं जडमति मयुरा देश में यशोभद्रसूरि के गच्छ में उत्पन्न श्री बप्पभट्ट सूरि शिष्य के श्री शान्तिसूरि तथा उन के शिष्य यशोदेवसूरि का शिष्य हूँ। आलोच्यमान ग्रन्थ की रचना गोपगिरि शिखर पर रहने वाले भिल्लमाल कुल के सर्वप्रधान लक्ष्मीधर शाह के कहने से हुई।^२ कवि के वंश में परम्परा से साहित्यानुराग बना था। इस लिए उस ने अपने को कवियों की संतान कहा है।

जैन साहित्य में सिद्धसेन नाम के कई विद्वानों का उल्लेख मिलता है। पहले सिद्धसेन दिगम्बर आचार्य थे। उन का उपनाम दिवाकर था। सिद्धसेन दिवाकर का समय लगभग ५७५-६०० ई० कहा जाता है।^३ क्योंकि आ० अकलंकदेव सिद्धसेन

१. साधारणो जि नाम सुपसिद्धो जलिय पुब्बनामेण १,४।

२. ठाक्षिज्जे (वाणिज्जे) मूलकुले कौटिक्य गणि विउल वइरसाहाए।
विमल्लाम्मय च दकुले बसम्मिय कज्जकत्राण (सज्जकल्लाण) सताणे ॥ १,१ ॥

३. रायसहा सेहिरि सिरि बप्पभट्टसूरिस्स।
जसभट्टसूरिगच्छे महुरादेशे सिरिहाए ॥ १,२ ॥
आसि सिरिसत्तमूरो तस्स थय आसि सूरिजसदेवो।
सिरि सिद्धसेनसूरो तस्स वि सोसो जडमई सो ॥ १,३ ॥

४. सिरि भिल्लमालकुलगयणचद गोवइरि सिहरनिसयस्स।
बयणेण साहुलच्छोहरस्स रइया कहा सेण ॥ १,५ ॥

५. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन 'अकलंकदेव और उन का समय' जैनसन्देश, शोधांक २, १८ दिसम्बर, १९६८, पृ० ४८।

दिवाकर के सम्मतितर्क से भलीभाँति परिचित थे। और आठवीं शताब्दी के आ० हरिभद्रसूरि ने 'अकलंकन्याय' का स्पष्ट उल्लेख किया है। फिर, सम्मतितर्क के टीकाकार मल्लवादी का समय लगभग छठी शताब्दी कृता जाता है। अतएव दिवाकर का समय छठी शताब्दी के बाद का तो निश्चित रूप से नहीं है। वे पाँचवी-छठी शताब्दी के बीच किसी समय में हुए थे। सम्मतितर्क के अतिरिक्त कल्याण-मन्दिर स्तोत्र तथा शक्रस्तवन के रचयिता भी सिद्धसेन दिवाकर कहे जाते हैं।^१ इन के अतिरिक्त उन के लिखे हुए द्वात्रिंशद्त्रिंशिका तथा वेदवादद्वात्रिंशिका नामक ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है।^२ जिनरत्नकोश में द्वात्रिंशद्त्रिंशिका के साथ ही द्वात्रिंशिकाएकविंशति के उपलब्ध होने का विवरण संकलित है।^३ इसी प्रकार 'बृहत्पददर्शनसमुच्चय' के लेखक सिद्धसेन दिवाकर माने जाते हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही उन्हें अपना-अपना आचार्य मानते हैं।^४ इस से पता चलता है कि सिद्धसेन दिवाकर अपने युग के प्रसिद्ध आचार्य हुए, जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के लोग मानते आ रहे हैं। उन की प्रसिद्धि का इस से बड़ा प्रमाण अन्य क्या मिल सकता है ?

सिद्धसेन नाम के विभिन्न विद्वान्

दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों एवं कवियों के उल्लेखों के आधार पर इस बात के कई प्रमाण मिलते हैं कि सिद्धसेन दिगम्बर आचार्य एवं एक कवि थे। किन्तु निश्चय रूप से यह कहना बहुत कठिन है कि उल्लिखित सिद्धसेन ही सिद्धसेन दिवाकर थे। फिर भी, प्राप्त प्रमाणों के अनुसार उन का दिगम्बर सम्प्रदाय का होना निर्विवाद सिद्ध है, जो इस प्रकार है—

प्रथम, भ० यश'कीर्ति ने दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र और देवनन्दी के साथ ही जिनसेन और सिद्धसेन का सादर उल्लेख किया है।^५ मुनि कनकामर ने भी अकलंकदेव, समन्तभद्र, जयदेव और स्वयम्भू के साथ पुष्पदन्त तथा सिद्धसेन का उल्लेख किया है।^६ इसी प्रकार घनपाल द्वितीय ने "बाहुबलिचरित" में और हरिवेण ने "धर्म-परीक्षा" में सिद्धसेन का सादर उल्लेख किया है।^७ वस्तुतः सिद्धसेन उन का नाम था और दिवाकर उपाधि। इसलिए उन का नाम सिद्धसेन ही लिखा मिलता है। दूसरे,

१. राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारी की ग्रन्थ-सूची, तृतीय भाग, पृ० ३०१।

२. प० मुखलाल संधवी - 'प्रतिभा-मूर्ति सिद्धसेन दिवाकर',

प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ३७६, ३८४।

३. जिनरत्नकोश, प्रथम खण्ड, पृ० १८३।

४. जैन ग्रन्थावली, पृ० ६४।

५. जिणसेण सिद्धसेण वि भयंत, परवाइदप्प भंजण कयंत ।—भ० यश'कीर्तिविरचित चन्द्रप्रभ-चरित प्रशस्ति।

६. करकण्ठचरित, १, २, ८-६।

७. सिरसिद्धसेण पवयण विणोउ जिणसेणे विरहउआरि सेउ ।—बाहुबलिचरित की प्रशस्ति।

तो वि जिणिद धम्मअणुराए^८ बुहसिरिसिद्धसेण सुपसाए ।—धर्मपरीक्षा, १, १. १०।

आ० कुन्दकुन्द के अनुसार ही सिद्धसेन दिवाकर ने गुण और पर्याय की अभेदता का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार षडनयवाद की स्थापना दिगम्बर आम्नाय के अनुकूल है।^१ तीसरे, उन के सम्मतिर्क का प्रभाव आ० अकलंक और समाश्रमण पर समान रूप से लक्षित होता है, पर न्यायावतार का कोई प्रभाव अकलंक स्वामी पर दृष्टिगत नहीं होता है। चौथे, दिवाकर ने समाश्रमण की आगम विरुद्ध मान्यता का विरोध किया है।^२ अतएव निश्चय ही सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे, जिन का उल्लेख अपभ्रंश-कवियों ने किया है। न्यायावतार के कर्ता उन से भिन्न परवर्ती आचार्य थे।

न्यायावतार नामक दर्शन ग्रन्थ के रचयिता आ० सिद्धसेन श्वेताम्बर विद्वान् थे। उन का समय लगभग आठवीं शताब्दी कहा जाता है। डॉ० जगदीशचन्द्र ने जीतकल्पसूत्र पर आ० सिद्धसेन की पूर्णरचना का उल्लेख किया है।^३ किन्तु उन के समय का निश्चय न होने से उन के सम्बन्ध में कुछ कहना बहुत ही कठिन है। इसी प्रकार पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री ने तत्त्वार्थभाष्य के टीकाकार सिद्धसेनगणि का उल्लेख किया है, जो आठवीं शताब्दी के विद्वान् थे।^४ मेरे विचार में सिद्धसेनगणि और सिद्धसेन दोनों एक ही विद्वान् थे, जिन का उल्लेख प्रो० मालवणिया ने किया है।^५ पं० महेन्द्र-कुमार जी के अनुसार उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य की टीका लिखी थी। प्रो० मालवणिया जी ने उन की लिखी हुई बृहत्काय वृत्तियों की रचना का उल्लेख किया है। इन के अतिरिक्त देवगुप्त के शिष्य सिद्धसूरि के द्वारा 'नमिऊणक्षेत्रसमाप्त' की वृत्ति तथा 'सम्यक्त्वरहस्यस्तोत्र' लिखे जाने का उल्लेख मिलता है।^६

उपलब्ध रचनाओं के आधार पर सिद्धसेनसूरि नामक तीन विद्वानों का पता चलता है। पहले आचार्य दसवीं शताब्दी या उस के पूर्व के हैं। इन का उल्लेख वीरसूरि ने अपने चन्द्रप्रभवचरित्र नामक प्राकृत काव्य में किया है, जिस का रचना-काल वि० सं० ११३८ है।^७ दूसरे विद्वान् आलोच्यमान काव्य के रचयिता साधारण सिद्धसेन-सूरि हैं। स्वयं कवि ने स्तुतियों तथा स्तोत्रों को लिखने तथा उन की प्रसिद्धि का उल्लेख किया है।^८ अतएव नमस्कारमाहात्म्य के कर्ता सिद्धसेनाचार्य यही प्रतीत होते हैं।^९ तीसरे आचार्य सिद्धसेनसूरि देवभद्रसूरि के शिष्य हैं, जिन का समय बारहवीं

१. पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, न्यायकुमुदचन्द्र की भूमिका, पृ० ७२।

२. वही, पृ० ७८।

३. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत-साहित्य का इतिहास, पृ० १६१।

४. न्यायकुमुदचन्द्र की भूमिका, पृ० ७८ तथा १०४।

५. श्री दत्तसुखभाई मालवणिया : जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन, पृ० ८।

६. जैनग्रन्थानवली, श्री जैन श्वेताम्बर कान्धेन्स, बम्बई की ओर से प्रकाशित, पृ० १२०, १४६।

७. बेलणकर जिनरत्नकोश, खण्ड प्रथम, पृ० ११६।

८. युद्ध थोसा बहुभेया जस पडिज्जति वेसेसु। १.४

९. बेलणकर 'केटलाग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स खण्ड तृतीय-चतुर्थ, पृ० ४६५।

शताब्दी है।^१ प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार सिद्धसेनसूरि और देवभद्रसूरि के शिष्य सिद्धसेनसूरि दोनों एक ही विद्वान् हैं। क्योंकि इन सिद्धसेनसूरि का लिखा हुआ पद्म-प्रभचरित्र नाम का काव्य भण्डारों में उपलब्ध है। इस का उल्लेख जिनरत्नकोश में भी है। कवि के द्वारा लिखी हुई प्रशस्ति से पता चलता है कि वे राजागच्छ के देवभद्रसूरि के शिष्य थे। उन का यह उल्लेख प्रवचनसारोद्धार की टीका में मिलता है।^२ इस प्रकार निश्चित रूप से सिद्धसेनसूरि नाम के तीन विद्वान् हुए; जिन्होंने धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्य भी रचे थे।

साधारण सिद्धसेन और बारहवीं शताब्दी के सिद्धसेनसूरि दोनों भिन्न-भिन्न आचार्य थे। क्योंकि साधारण सिद्धसेन यशोदेवसूरि के शिष्य थे और सिद्धसेनसूरि देवभद्रसूरि के शिष्य। दोनों के गच्छ भी अलग-अलग थे। श्री देवभद्रसूरि का जन्म श्रीचन्द्र गच्छ में हुआ था। उन्हीं के शिष्य सिद्धसेनसूरि थे। सिद्धसेनसूरि के शिष्य मुनि चन्द्रसूरि हुए, जो उस समय के अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य थे।^३

रचना-काल

विलासवईकहा अपभ्रंश के उपलब्ध प्रेमाख्यानक कथाकाव्यों में सब से प्राचीन रचना है। प्राकृत के प्रेमाख्यानक काव्यों की भाँति यह प्रेमकथाकाव्य है, जिसमें जीवन की सफलता का रहस्य सच्चे प्रेम में प्रदर्शित है। इस कथाकाव्य का रचना-काल वि० सं० ११२३ है।^४ इस का रचना स्थान धंधुका नगर है। धंधुका नगर गुजरात देश में अहमदाबाद के निकट है। पं० बेचरदास दोशी के विचार में इस कथा के लेखक गुजरात प्रदेश के एक जैन साधु थे।^५

रचनाएँ

कवि सिद्धसेनसूरि ने यद्यपि अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है, पर उन की इस लकेली रचना को देख कर यह सङ्ग में अनुमान हो जाता है कि अन्य रचनाएँ भी उन्होंने लिखी होंगी। इस बात का तो स्वयं कवि ने उल्लेख किया है कि उन के लिखे हुए स्तोत्र आदरपूर्वक पढ़े जाते थे। ये स्तोत्र संस्कृत और प्राकृत दोनों में लिखे गये थे। 'नमस्कारमाहात्म्य' के अतिरिक्त अन्य कई स्तोत्र और स्तुतियाँ भी

१. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन 'प्राकृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ४८८

२. वैतथकार जिनरत्नकोश, प्रथम खण्ड, पृ० २३४

३. सिरिचंदगच्छगयणे जाओ सिरिदेवभद्रसूरिखी।

पयडिय पसत्थ सत्थो चित्तजसो (१)।

तस्सिरि सिद्धसेनसूरि समुग्गुणगणवनिओ।

मुणिचंदसूरि पवरो तीओ लोयम्मि विवखाओ।

—प्राकृत काव्य महीपालचरित्र की अन्तिम प्रशस्ति।

४. एवकारसहिं सएहि गएहि तेवीस बरिसअहिगहि।

पोस चउहसि सामे सिप्र। धंधुकय पुरम्मि ॥ १, ७।

५. पं० बेचरदाम दोशी 'विलासवती' भारतीय विद्या वर्ष ४, अंक ६, पृ० २२१।

सिद्धसेन के नाम से मिलती है, जो सम्भवतः साधारण सिद्धसेन की रचनाएँ कही जा सकती हैं। इन रचनाओं में शास्वत्जिनस्तुति (प्राकृत में), वर्द्धमानद्वात्रिंशिका तथा अर्हत्स्तवन (संस्कृत गद्य) का उल्लेख मिलता है^१। स्तोत्र रचयिताओं में सिद्धसेन दिवाकर और साधारण सिद्धसेनसूरि का नाम लिया जाता है। अतएव उक्त रचनाएँ दोनों में से किसी एक विद्वान् की लिखी हुई होनी चाहिए। इस प्रकार स्तोत्र तथा स्तवन या स्तुतियों को छोड़ कर स्वतन्त्र रूप में कवि के द्वारा अन्य किसी बृहत् रचना का उल्लेख या संकेत नहीं मिलता।

कथा का आधार

विलासवती की कथा श्री हरिभद्रसूरि कृत 'समराहन्वकहा' से उद्धृत है। स्वयं कवि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है^२। समरादित्यकथा में राजा गुणसेन की नौ भवों की कथाओं का रोचक एवं सरस वर्णन है। उनके पाँचवें भव की कथा में राजा सूरतेज और पट्टरानी लीलावती की मुख्य कथा के अन्तर्गत सनत्कुमार की उक्त कथा वर्णित है। कथा संवाद से आरम्भ होती है। स्वयं आचार्य सनत्कुमार मुनि दीक्षा लेने का कारण तथा अपने जीवन की प्रधान घटना का उल्लेख करते हुए काकन्दी नगरी के राजा सूरतेज और रानी लीलावती के पुत्र जयकुमार को यह कथा सुनाते हैं। वस्तु रूप में कथा स्वामाविक हो कर भी रंगीन कल्पनाओं से तथा दैवी संयोगों से अनुरजित है। इस प्रकार जयकुमार के पूछने पर आचार्य अपनी बोती कथा सुनाते हैं। अन्य कथाओं की अपेक्षा यह कथा शुद्ध लोककथा जान पड़ती है, जिन में धार्मिक अंश बहुत कम है और बाद्य में जोड़ा गया प्रतीत होता है।

परम्परा

प्राकृत-साहित्य में 'समराहन्वकहा' प्रसिद्ध कथाकाव्य कोश है, जिस में लोक-प्रचलित कथाओं का सरस वर्णन धार्मिक परिप्रेक्ष्य में निहित है। आ० हरिभद्रसूरि ही इन कथाओं के काव्य रूप में कदाचित् सब से पहले प्रयोक्ता थे। उन की समरादित्य कथा के आधार पर दसवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक प्राकृत, संस्कृत, गुजराती तथा अन्य भारतीय भाषाओं में समरादित्य तथा उसके अन्तर्गत अन्य उपकथाओं की रचना होती रही है। वस्तु रूप में उन में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। इस प्रकार समराहन्वकहा वर्षों तक भारतीय साहित्य में उपजीव्य ग्रन्थ बनी रही है। प्राकृत में मार्कण्डेय कृत विलासवती कथा का उल्लेख मिलता है, जो सत्रहवीं शताब्दी की रचना कही जाती है^३। इसी प्रकार जिनहर्ष रचित वि० सं० १७२८ की लिखी हुई लीलावती

१. जैनग्रन्थावली, पृ० २६२, २८६ तथा २७३।

२. समराहन्वकहाउ उद्धरिया सुद्धसंधिबंधेण।

कोउल्लेखे एसा पसन्नवयणा विलासवद्धि ॥ १, ६ ॥

३. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन 'प्राकृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ६३०।

रास नामक रचना उपलब्ध हुई है^१। इससे स्पष्ट है कि—कथाकाव्य के रूप में लिखी हुई काव्यविधा की दृष्टि से विलासवती के उपाख्यान के आधार पर यह पहली रचना है। जिनरत्नकोश में उल्लिखित लक्ष्मोघर महर्षि कृत—विलासवती कथा भी परवर्ती रचना जान पड़ती है^२।

✓ कथावस्तु

इस भारतवर्ष में श्वेताम्बी नाम की नगरी में यशोवर्मा नाम का राजा राज्य करता था। उस के पुत्र का नाम सनत्कुमार था, जो अत्यन्त सुन्दर और गुणवान् था। एक दिन कोतवाल चोरों को बाँध कर राजमार्ग में लिये जा रहा था। चोरों ने कुमार को देख कर उन से प्रार्थना की। युवराज की आज्ञा से कोतवाल ने चोरों को बन्धन मुक्त कर दिया। किन्तु नागरिक जन राजा के पास गये और चोरों के उपद्रव का सम्पूर्ण वृत्तान्त तथा राजकुमार द्वारा उन को छुड़वा देने का वृत्त सुनाया। राजा ने क्रोधित हो उन चोरों को मृत्युदण्ड दे दिया। कुमार को जब इस घटना का पता चला तब वह अत्यन्त दुःखी हुआ। सनत्कुमार पिता से रूठ कर मित्र वसुभूति के साथ राज्य की सीमा से बाहर ताम्रलिप्ति नगरी में चला गया। उस समय वहाँ राजा ईशानचन्द्र राज्य कर रहे थे। अपने यहाँ सनत्कुमार के आगमन की बात सुन कर राजा ने उस का बड़ा सम्मान किया और राजकुमारोचित आवास की व्यवस्था कर दी। कुछ दिनों के बाद राजा ने कुमार को स्वतन्त्रतापूर्वक शासन का कार्य-भार सम्हालने को कहा, पर सनत्कुमार ने उसे स्वीकार नहीं किया। एक बार बसन्त के समय में कुमार अपने मित्र के साथ वसन्तोत्सव मनाने के लिए राजमार्ग से उपवन की ओर जा रहा था कि राजा की कन्या ने अपने हाथों से बकौली (मौलसिरी) की गूँधी हुई माला राजकुमार के ऊपर खिड़की से फेंक दी। कुमार ने सिर ऊपर उठा कर देखा तो अनिन्द्य सुन्दरी को देख कर कामभाव से पीड़ित हो गया। उस के मित्र ने वह माला ठीक से कुमार के कण्ठ में पहना दी। उसी समय से कुमार के मन में उस राजकन्या विलासवती के प्रति अनुराग का अंकुर जग गया। वह सब कुछ भूल कर उस का ही ध्यान करने लगा। उस दिन उपवन में उस का मन उड़ा-उड़ा-सा रहा और रात में भी ठीक से नीद न आने से सिर में पीड़ा बनी रही। दूसरे दिन प्रातःकाल मित्र के साथ वह गृह-उद्यान में गया। वहाँ वसुभूति ने मित्र को उदास देख कर उस का कारण पूछा। कुमार के न बताने पर स्वयं उस ने राजकुमारी के प्रेम-भाव को सूचित कर दिया। मित्र ने कुमार को समझाया कि सन्ताप नहीं करो, वह स्वयं तुम्हें चाहती है इस लिए समागम अवश्य होगा। मैं भी कोई उपाय सोचूँगा। वसुभूति ने विलासवती की सेविका धात्री-पुत्री अनांगसुन्दरी से सम्पर्क स्थापित किया।

१. अगरचन्द नाहटा : 'उपाध्याय लाभवर्द्धन और उन की रचनाएँ', शोध-पत्रिका, वर्ष १२,

अंक ४, पृ० २६।

२. जिनरत्नकोश, पृ० ३६८।

इस बीच कई दिन बीत गये। राजकुमार अत्यन्त व्यथित रहने लगा। उसे अपने मित्र की इस कार्यवाही का कुछ भी पता नहीं चला। एक दिन मित्र ने सब वृत्तान्त सुनाते हुए कहा कि मैं आज अनंगसुन्दरी के घर गया था। उसे उदास देख कर मैंने पूछा कि तुम मुरझा क्यों रही हो। उस ने बताया कि अपना दुःख तुम्हारे आगे कहने से क्या लाभ। मैंने कहा कि मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण कर सकूँगा। मेरे वचनों से आश्वस्त हो कर उस ने कहा—‘हे महाराज, राजकुमारी विलासवती मुझे अपने से अलग नहीं मानती। इसलिए काम के संताप से पीड़ित उस ने मुझे अपनी स्थिति भली-भाँति बता दी है। वह आप के मित्र राजकुमार को वरना चाहती है। मैंने उन से मिलाने का वचन दे दिया है। किन्तु प्रथम दर्शन के बाद से आज तक वे कहीं टिखलाई नहीं दिये। और इसी लिए कुमारी मेरे कार्य को संदिग्ध जान कर शय्या का त्याग कर एकान्त में कामाग्नि में झुलसी जा रही है। वह राजमार्ग की ओर टकटकी लगा कर घण्टों बैठी रहती है। उस ने मुझ से कहा है कि तुम मुझे उन से मिला दो। कुमारी उस समय सखियों की गोद में पड़ी हुई थी। मैंने पंखा हुलाया, चन्दन छिड़का तब कहीं चेतना लौटी। मैंने झूठ में ही उन के साथ समागम का वचन दे दिया है। इसी बीच माता के आ जाने से मैं कुमारी को छोड़ कर अपने घर आ गयी हूँ। यही मेरी चिन्ता का कारण है।’ तब मैंने उस से कहा कि उस युवक को मैं जानता हूँ, इस लिए ऐसा उपाय करो जिस से तुम्हारी स्वामिनी सुखी हों। तब उस ने आप के सम्बन्ध में पूछा तो मैंने सब सच-सच बता दिया।

मित्र वसुभूति की इन बातों को सुन कर सनत्कुमार ने बिना उत्सव के उत्सव मनाया। मित्र को पुरस्कृत किया। तब वे दोनों बगीचे में गये। इतने में अनंगसुन्दरी आ पहुँची। उस की बात सुन कर वसुभूति ने कुमार से कहा कि—अपने को चन्दन-लतागृह में चलना चाहिए। वहाँ सखियों से परिवृत राजहंसी के समान विलासवती कुमार को दिखलाई दो। अनंगसुन्दरी ने कुमार को विलासवती के आसन पर बिठाया। बहुत सम्मान किया। इतने में ही कन्या एवं अन्तःपुर के रक्षक मित्रभूति ने आ कर निवेदन किया कि राजा विलासवती को वीणावादन के लिए स्मरण कर रहे हैं। कुमारी तिरछी दृष्टि से कुमार को देखती हुई अन्दगति से अपने भवन को लौट गयी। मित्र के साथ राजकुमार भी बगीचे से निकल पड़े। वही द्वार पर राजपत्नी कुमार को देख कर उस पर रोज गयी। वे दोनों अपने घर लौट गये। सन्ध्या के समय अनंगसुन्दरी ने विलासवती की भेजी हुई सामग्री (सिन्दुवार के फूलों से गुँथी हुई सुगन्धित माला और पान) कुमार को भेंट में दी। कुमार ने सामग्री सादर ग्रहण कर ली। बदले में अनंगसुन्दरी को भुवनमार नामक कण्ठाभरण कुमार ने दिया। धीरे-धीरे दोनों में गाढ़ अनुराग हो गया।

किसी एक दिन राजकुल की दासी ने आ कर सनत्कुमार से कहा कि—‘रानी अनंगवती आप को बुला रही है। महाराज का विश्वासपात्र होने से तथा राजकुमारी

की माता की आज्ञा होने से कुमार उन के पास चला गया । कुमार को आया देख कर रानी ने काम प्रस्ताव रख दिया, जिसे कुमार ने अस्वीकार कर दिया । जब कुमार ने माता को उपदेश दिया तब रानी हँस कर कहने लगी कि यह तो लोकाचार ही है । मैंने तो विनोद किया था । कुमार भी उसे प्रणाम कर अपने घर लौट आया । कुछ समय बाद कोतवाल विनयन्धर सनत्कुमार के पास आ कर बोला कि राजा ने आप का बध करने के लिए मुझे आदेश दिया है । कारण यह है कि बाहर से राजा के आते ही रानी अनंगवती ने रोते हुए क्षत-विक्षत बदन से कुमार के कई दिनों से तंग करने तथा अस्वीकार करने पर यह दशा करने का आरोप लगाया है, जिस से राजा ने मुझे यह आज्ञा दी है । किन्तु मेरे ऊपर आप के पिता का अत्यन्त उपकार होने से मैं किकर्तव्यविमूढ़ हो रहा हूँ । विनयन्धर ने फिर कहा—कि इस में आप का दौष नहीं है और राजा से मैं नवेंदन करूँगा, जिस से वे आप पर विश्वास कर सकेंगे । किन्तु कुमार ने कहा—नहीं, दुष्ट राजपत्नी की रक्षा होनी चाहिए । अन्य कोई उपाय सोचना चाहिए । कुमार विनयन्धर से कहता है कि मैं मित्र वसुभूति के साथ देशान्तर में जाना चाहता हूँ । वह कहता है—ठीक है । एक जहाज स्वर्णभूमि को आज ही रात को जाने वाला है । विनयन्धर ने मन्ध्या को ही उन दोनों को जहाज के स्वामी समुद्रदत्त को सौंप दिया ।

दो महीने में वे दोनों स्वर्णभूमि में पहुँच गये । जहाज से उतर कर कुमार अपने मित्र के साथ श्रीपुर नाम के नगर में गया । वहाँ श्वेताम्बी के रहने वाले समृद्धिदत्त नामक सेठ-पुत्र से उस की भेंट हो गयी । वही बचपन के मित्र मनोरथदत्त से कुमार का समागम हुआ । मनोरथदत्त उन्हें अपने घर ले गया । दोनों का राजोचित सम्मान-भोजन-पान आदि का प्रबन्ध हो गया । राजकुमार ने अपने मामा के पास सिंहलद्वीप जाने की इच्छा प्रकट की । मनोरथदत्त ने अत्यन्त अनुरोध के पश्चात् दोनों को बिदाई दी । जाते समय उस ने सनत्कुमार को नयनमोहन नामक रत्नजड़ित चादर भेंट में दी । इस चादर की यह विशेषता थी कि ओढ़ने वाला सब को देख सकता था, पर उसे कोई नहीं देख सकता था । उस सिद्धि की चादर को ले कर कुमार मित्र के साथ जहाज में बैठ कर सिंहलद्वीप के लिए रवाना हुआ । मार्ग में तूफान तथा ज्वारभाटा आने से जहाज छिन्न-भिन्न हो गया और जहाज के सभी प्राणी वियुक्त हो गये । बहते हुए कुमार को एक काष्ठफलक आ मिला । उस के सहारे वह तीन दिन और तीन रात बिता कर समुद्र तट पर जा लगा ।

कुछ दूर जा कर कुमार जामुन के वृक्ष के पास बैठ गया । इसी समय सन्ध्या हो गयी । फलों को खा कर कुमार ने क्षुधा शान्त की । शिला की सेज तैयार की । इतने में ही थोड़ी दूर पर उसे एक तापस बाला दिखाई दी । वह कुमार की विलासवती ही जान पड़ी । कुमार के पूछने पर भी बिना उत्तर दिए वह चली गयी । रात को स्वप्न में कुमार ने अपने ऊपर डाली गयी दिव्य कुसुममाला देखी जो कण्ठ में धारण

कर ली गयी। सूर्योदय होने पर कुमार ने एक अचेष्ट अवस्था वाली तापसी को देखा। वह विशेष रूप से कुमार को देख कर बोली—हे राजपुत्र, जुग-जुग जिओ। फिर, वह तापसी अपना वृत्तान्त सुनाने लगी। उस ने कहा कि हे कुमार, सुनो। इस भरतक्षेत्र में वैताडप नाम का पर्वत है। उस पर गन्धसमृद्ध नामक विद्याधर नगर है। वहाँ के राजा सहस्रबल और रानी सुप्रभा की मै मदनमंजरी नाम की बेटो हैं। विलासपुर के राजा विद्याधर नरेन्द्र के पुत्र पवनगति से मेरा विवाह हुआ था। बहुत दिनों तक विषय-सुखो को भोगने के बाद एक दिन हम दोनों विमान में बैठ कर तन्दन वन में गये। हम लोग क्रीड़ा करने में प्रवृत्त हो रहे थे कि सोने की शिला से गिर कर पवनगति का देहान्त हो गया। मैं बहुत विलाप करती रहो। मेरी आकाशगामिनी विद्या मुझ से विस्मृत हो गयी। इसी समय तपस्वी देवानन्द नाम के विद्याधर आये। उन्होंने मुझे उपदेश दिया। विद्या भूलने का कारण सिद्धायतनकूट का उत्लंघन बताया। उन से व्रत ग्रहण कर मैं भी दीक्षित हो गयी। दूसरे दिन फूल तथा ईंधन लेने के लिए समुद्र के किनारे गयी। वहाँ काष्ठफलक पर लगी हुई सुन्दर कन्या को देखा। उसे मैं घोरज बंधा कर आश्रम में ले गयी। कुलपति ने बताया कि यह ताम्रललि के राजा ईशान-चन्द्र की पुत्री विलासवती है। यशोवर्मा के पुत्र राजकुमार सनत्कुमार पर आसक्त हो जाने से, लोकमुख से यह सुन कर कि राजकुमार का वध हो गया विलासवती स्नेह से व्याकुल हो प्राणान्त करने के लिए आधी रात को श्मशान के लिए अकेली चल पड़ी। राजमार्ग में चौरों के हाथ पड़ गयी। उन्होंने आभूषण उतार कर सार्धबाह के हाथ इसे बेच दिया। मार्ग में पोत भग्न हो जाने से तीन रात समुद्र में तैर कर यहाँ किनारे आ लगी है। अब पति को पा कर यह भोगो को भोगेगी।

राजपुत्री के कहने से मैं यहाँ आयी हूँ। अतएव आप चलिए। वह मरणासन्न है। सनत्कुमार तापसी के साथ आश्रम में जाता है। दोनों का सामन्द विवाह सम्पन्न होता है। कुछ दिनों तक भोग-विलास करने के पश्चात् स्वदेश लौटने का विचार करते हैं। तापसी से पूछ कर वे दोनों वहाँ से चल पड़े। ध्वजाहीन पोत को चलन के लिए तैयार किया। इसी समय मल्लाह ने आ कर बताया कि महाराज, कटाहद्वीपवासी सानुदेव सार्धबाह ने मलय देश में स्थित ध्वजाहीन पोत को देख कर आप को लिखाने के लिए हमें भेजा है। पत्नी सहित आप चलिए। सार्धबाहपुत्र ने कुमार का बहुत सम्मान किया। सभी ने पोत में बैठ कर यात्रा की।

कुछ दिनों के बाद एक पहर रात रहते सनत्कुमार और सानुदेव निर्वृत होने के लिए एक साथ उठ बैठे। सार्धबाह पुत्र ने अबसर पा कर विलासवती के रूप के लोभ से कुमार को समुद्र के किनारे रुकने के लिए कह कर पीछे से धक्का दे दिया। सनत्कुमार समुद्र में गिर पड़ा। भाग्य से काष्ठफलक हाथ लग गया। पाँच दिनों में वह मलयकूल पहुँचा। वहाँ नारंगफलों का भोजन कर वह समुद्र के किनारे-किनारे एक मील दूर निकल गया। इतने में उसे काष्ठफलक के पास मरणासन्न विलासवती दृष्टि-

गत हुई। विलासवती ने पोत के भग्न होने तथा वहाँ तक आ पहुँचने का वृत्तान्त सुनाया। फिर, पीने के लिए पानी माँगा। कुमार उसे बड़ के पेड़ के पास बिठा कर नयनमोहन चादर दे कर पानी लाने के लिए चला गया। लौट कर आने पर जब कहीं विलासवती नहीं दिखाई दी तो कुमार अत्यन्त चिन्तित हुआ। वह उसे ढूँढ़ता हुआ घने वन में निकल गया। वहाँ उस ने देखा कि काला अजगर नयनमोहन पट को लील रहा है। कुमार ने समझ लिया कि देवी का प्राणान्त हो गया है। अतएव मरण के लिए उद्यत हो कर वह भी अजगर के पास चला गया। किन्तु उसे देख कर अजगर ने शरीर सिकोड़ लिया। तब कुमार ने उस के माथे पर जोर से पैर दे मारा। तब भय से अजगर ने चादर उगल दी। उसे ले कर कुमार बड़ के पास सोयी हुई प्रियतमा के पास पहुँचा। वहाँ एक डाली पर फन्दा फँद कर उस ने गला फँसाया ही था कि एक ऋषि ने आ कर इस अकार्य से उसे बचा लिया। उन्होंने बताया कि मलय पर्वत के मनोरथपूर्वक शिखर से योगपूर्वक गिरने से मनोरथ की पूर्ति हो जाती है। सनत्कुमार वहाँ गया। तीसरे दिन जैसे ही वह साँस साध कर गिरने लगा कि विद्याधर ने अधर में ही उसे ग्रहण कर लिया। विलासवती का वृत्तान्त सुन कर उस ने बताया कि वह अभी मरी नहीं है। क्योंकि यहाँ पर विद्याधरों के स्वामी चक्रसेन ने अप्रतिहत चक्र नाम की महाविद्या का साधन आरम्भ किया है। उन की साधना के प्रभाव से अड़तालोस योजन तक क्षेत्रशुद्धि हो जायेगी। और इस लिए अजगर ने तुम्हें देख कर कुण्डली लगा ली थी। विद्याधर की इन बातों से कुमार आश्चस्त हो गया।

दूसरे दिन चक्रसेन विद्याधर की विद्यासिद्धि का वृत्त ज्ञात कर कुमार उस विद्याधर के साथ चक्रसेन के पास मलयशिखर पर गया। विद्याधर स्वामी ने उसे घोरज बँधाय। इतने में दो विद्याधर विलासवती को साथ में ले कर आ पहुँचे। उन्होंने बताया कि अजगर के भय से चादर फँक कर विलाप करती हुई इस सुन्दरी को मृत्यु के भय से यहाँ ले आये हैं। विद्याधर पति ने सनत्कुमार को अजितबला नाम की महाविद्या प्रदान की। इसी समय महाविद्या की सिद्धि की सूचना देते हुए कीर्ति तापस का वेश धारण किये हुए मित्र वसुभूति आ पहुँचा। विलासवती और कुमार उस से मिल कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वसुभूति ने बताया कि किस प्रकार समुद्र में पोत के भग्न हो जाने से काष्ठफलक के सहारे पाँच दिनों तक रहने के उपरान्त यहाँ के तट पर आ लगा, और कुलपति के आश्रम में आप का वृत्त ज्ञान कर ढूँढ़ता हुआ यहाँ आया है।

सनत्कुमार ने विधिपूर्वक एक लाख मन्त्र का जप आरम्भ किया। कई प्रकार के विघ्न आये, पर वह विचलित नहीं हुआ। अन्त में उसे अजितबला विद्या सिद्ध हो गयी। इसी मलयशिखर की गुफा से अनंगरति नाम का विद्याधर विलासवती का अपहरण कर वैताडघ पर्वत पर स्थित रथनूपुर चक्रवाल नाम के नगर में ले गया। विद्या के बल से सनत्कुमार ने पता लगाया। दूत को भेजा। किन्तु अनंगरति समर के लिए

उद्यत हो गया। अन्त में युद्ध हुआ। अनंगरति युद्ध में पराजित हो गया। सनत्कुमार का राज्याभिषेक हुआ। कुछ दिनों के बाद कुमार विलासवती और विद्याधरों के साथ माता-पिता से मिलने गया। वापस लौट कर आने पर बहुत समय के बाद उन दोनों के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिस का नाम अजितबल रखा गया। अजितबल के युवक होने पर सनत्कुमार ने उसे युवराज पद पर अभिषेक कर दिया। इसी बीच विद्याधर श्रमण से पूर्व भवो का वृत्तान्त सुन कर सनत्कुमार को वैराग्य उत्पन्न हो गया। अन्त में घर-बार छोड़ कर दुर्धर तपस्या कर निर्वाण गमन होता है।

प्रबन्ध-रचना

विलासवतीकथा की वस्तु प्रकृतियों, सन्धियों तथा कार्यान्वित से युक्त है। नायिका की प्राप्ति के लिए मित्र वसुभूति द्वारा जो उपक्रम किया जाता है, वह प्रारम्भ के अन्तर्गत आता है। नायिका भी नायक से मिलने का प्रयत्न करती है। नायिका से वियुक्त हो जाने के बाद सनत्कुमार विलासवती की प्राप्ति की आशा में ही जीवित रहता है। स्वप्न में भी वह उसी की प्राप्ति का विचार करता है। किन्तु अभिलषित की प्राप्ति होने के पश्चात् फलागम में तथा नियत के विद्यमान रहने में कई प्रकार के संकट आते हैं, जिन्हें नायक साहस, धैर्य और धूर-वीरता के साथ पार कर वास्तविक रूप में विलासवती को प्राप्त कर विद्याधरों का राजा बनता है। इस प्रकार कार्या-वस्थाओं की सहायक प्रकृतियों तथा सन्धियों का भी पूर्ण सन्निवेश इस रचना में लक्षित होता है।

प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु अन्य कथाकाव्यों की भाँति वर्णनो में न उलझकर एकाएक आरम्भ हो जाती है। नायक के जीवन में बाह्य सवर्ष और आन्तरिक संघर्षों की मुख्यता होने से घटनाओं में कई मोड़ दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें कथानक आकस्मिकता के साथ गतिशील दिखाई पड़ता है। घटनाओं के उठाव में वातावरण तथा संयोग का अद्भुत सामंजस्य है। घटनाएँ धीरे-धीरे आगे बढ़ती हुई उग्र होती जाती हैं, जिससे कथा में जहाँ औत्सुक्य और कौतूहल बना रहता है वहीं वे अन्त में चरम अवस्था पर पहुँच जाती हैं। और विद्याधरों से युद्ध होने पर जय पराजय की स्थिति में धीरे-धीरे उतार होने लगता है तथा कार्य की प्राप्ति हो जाने पर घटनाएँ सब शान्त हो जाती हैं। अतएव कथा की गति देने वाली घटनाओं का आरम्भ, विकास तथा समाहार भी क्रमशः नाटक, उपन्यास तथा कहानी की भाँति इस कथाकाव्य में हुआ है।

इस कथाकाव्य में अन्य कथाओं की भाँति कथा धार्मिक वातावरण में संवरण न कर शुद्ध लोक-जीवन में प्रवेश करती हुई दिखाई पड़ती है। अतएव इस कथा पर धर्म या सम्प्रदाय-विशेष का आवरण न हो कर सामान्य कथा का चित्रण है। अन्त में अवश्य साम्प्रदायिक मान्यताओं का समावेश हुआ है, जो अलग से या ऊपर से चिपकाई हुई-सी जान पड़ती है।

कथा का संगठन जटिल न हो कर सरल है। पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध के लिए घटनाओं तथा कथाओं को अलग से योजना न हो कर पूर्ववर्ती घटनाओं का ही उत्तरार्द्ध से पूर्ण लगाव है। इन घटनाओं को, जिन में एक के बाद एक कड़ी जुड़ती जाती है तथा आधिकारिक कथा के साथ वस्तु रूप में जो बहुत दूर तक चलती है, दशरूपककार ने 'पताकाकथा' नाम अभिहित किया है।^१ विनयधर तथा विद्याधरो को घटनाएँ ऐसी ही हैं, जो अन्त तक कथा के साथ चलती हैं। किन्तु वस्तुतः वह पताका न हो कर प्रकरी है।^२

इस प्रकार कथानक में प्रवाह और गतिशीलता है। कही भी उखड़ापन लक्षित नहीं होता। और न घटनाएँ कथा की प्रगति में बाधक हैं। बीच-बीच में वर्णनों के उचित समावेश से जहाँ कथा में रोचकता आ गयी है, वही काव्यात्मक सौन्दर्य भी निखर उठा है। अतएव प्रबन्ध-रचना में अपभ्रंश के कथाकाव्यों में यह एक उत्कृष्ट रचना है।

अपभ्रंश के प्रायः सभी प्रबन्ध काव्यों में साहित्यिक रुढ़ियों का पालन देखा जाता है। किन्तु आलोच्यमान कथाकाव्य में अन्य प्रबन्धों की अपेक्षा काव्य-रुढ़ियों कम हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में चौबीसी-वन्दना, पंच परमेष्ठियों की नमस्कार तथा सरस्वती की वन्दना है। फिर, सज्जन-दुर्जन-वर्णन के अनन्तर वस्तु का वर्णन आरम्भ हो जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध के अनुबन्ध में ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश के कुछ प्रबन्धों पर प्राकृत काव्यों का प्रभाव बना हुआ था। अतएव कवि ने न तो आम विनय ही प्रकाशित की है और न पूर्व कवियों का स्मरण किया है। गुरु-परम्परा का उल्लेख करते समय अवश्य लेखक ने अपने को जड़मति कहा है।

यह काव्य तीन हजार छह सौ बीस श्लोक प्रमाण है।^३ यह ग्यारह सन्धियों में विभक्त है।^४ इस कथा की रचना भिल्लमाल कुल के सर्वश्रेष्ठ गोपगिरि शिखर पर रहने वाले लक्ष्मीधर शाह के अनुरोध से हुई है।^५ अपभ्रंश के कई काव्यों में इस प्रकार किसी सेठ-साहुकार या अन्य धर्मप्रेमी सज्जन के कहने से ग्रन्थ-रचना का उल्लेख मिलता है। किसी-किसी काव्य में उन के गुणों का उल्लेख एवं प्रशंसा भी है। अतएव ये सभी कथाएँ सोपेक्ष्य नियोजित हैं, जिन्हें कवि ने धर्मकथा नाम दिया है। किन्तु बन्ध-रचना

१. मानुबन्धं पताकार्थं प्रकरी च प्रवेशभाक् । दूर मदनुवर्तते प्रार्थमिकं सा पताका, सुधीवादि वृत्तान्तवत् ॥—दशरूपक, १, १३ ।

२. वही, १, १३ ।

३. एसा या गणिज्जती पाएणा पुहुभेण खवेण ।

संपुण्णार्हं जाया दक्षीससयाहं वीसाहं ॥—अन्तिम प्रशस्ति, ८ ।

४. समराष्ट्रचक्रहाउ उद्धरिया सुद्धमधिबोधेण—वही, ६ ।

५. सिरि भिल्लमालकुलगयणर्थं गोवर्द्धनि सिंहनितायस्स ।

मयणेण माटुनकडीहरस्स रडया कहा तेण ॥—वही, १ ।

में ये कथाकाव्य स्पष्ट रूप से संस्कृत तथा प्राकृत के प्रबन्धकाव्यों के अनुरूप हैं और वस्तुरूप में लोककथाएँ हैं। प्रबन्धकाव्य की इस रचना में कार्य-कारण योजना, घटनाओं की मोड़ों के अनुकूल बिस्तृत और संक्षिप्त बनाना तथा गतिशील बनाये रखना और रसाभिव्यञ्जना आदि से अन्त तक परिध्याप्त लक्षित होती है। वि० क० में प्रबन्ध-रचना के ये सभी तत्त्व एवं गुण निहित हैं।

वस्तु-वर्णन

आलोच्यमान कथाकाव्य में वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत नगर-वर्णन, समुद्र यात्रा-वर्णन, उद्यान-वर्णन, शकुन-वर्णन, विद्यासिद्धि-वर्णन, मलयगिरि-वर्णन, सागर-वर्णन, वसन्त-वर्णन, गंगानदी का वर्णन, युद्धयात्रा तथा युद्ध का वर्णन और उत्सव-वर्णन आदि मुख्य हैं। ये वर्णन अलंकृत शैली में न हो कर लोकप्रचलित शैली में स्वानुमति से प्रकाशित हैं। वर्णन प्रवाह पूर्ण तथा प्रसाद गुण से युक्त है। अतएव इन में उक्ति-वैचित्र्य का प्रदर्शन न हो कर वस्तु का यथातथ्य वर्णन स्वीत बिम्बों द्वारा अभिव्यंजित है। किन्तु शब्द-रचना काव्यागों से समन्वित तथा माधुर्य पूर्ण है। कही-कही तो भाषा अत्यन्त सरल है।

नगर-वर्णन

इस भारतवर्ष में अत्यन्त सुन्दर श्वेताम्बी नाम की नगरी है। उस में धवल प्रासाद तथा देव-मन्दिरों की पंक्तियाँ लोगों का मन हरने वाली हैं। वहाँ के प्रमुख लोग वाणिज्य करते हैं जो चिर काल से परम्परागत है। उन के भवनो पर लगी हुई ध्वजापताकाएँ पवन से प्रकम्पित होती हुई ऐसी जान पड़ती हैं मानो देव-देवेन्द्रों की बुला रही हों। उस नगर का राजा यशोधर्मा अत्यन्त प्रसिद्ध है।

भरहवासि सुमणोभिराम	वरनयरि अत्थि सेयविय ताम ।
स रयज्ज धवलपासाय सोह	देवउलपति ता तोसिय जणोह ।
पमुद्दय सउन्नज्जण सवणिज्ज	वहु दिवस सहस्सेहि यन्न णिज्ज ।
पवणुद्धय धयपतिहि विहाइ	हक्कारइ अमरसमुद्ध वाइ ।
पडिक्खसक्खसक्खणिय कंठु	जमुवंमु नामु तहि नरवरिद्ध । (१, २)

उस रथनूपुर नाम के नगर में अनेक प्रकार के मणि और रत्नों की रचना स्फुरायमान हो रही थी। प्राकार सोने के बने हुए थे। जहाँ पर बड़े-बड़े भवन देवताओं के भवनो के समान उज्ज्वल रत्नों के बने हुए थे। सभी लोग धन-धान्य से समृद्ध थे। उस नगर के हाट-मार्ग चौड़े-चौड़े श्वेत-स्वच्छ तथा अत्यन्त मनोहर थे। वहाँ पर गगनचुम्बी देवमन्दिर थे। वहाँ के वन फल-फूलों से समृद्ध नन्दन-वन ही जान पड़ते थे। सरोवर, वापी, कुएँ तथा जलाशय आदि अत्यन्त मनोज्ञ थे। वहाँ के बाग-बगीचों में कामिनी म्रियँ विलास करती थी।

जहि नाणामणि रयणेहि समेउ	पायार कणबनिम्मिउ सतेउ ।
जहि उज्जलरयणविणिम्मियाई	सुरलोयसरिच्छई हम्मियाई ।
बहु भंड भरिय संपय सभन्गु	रायंति मणोहर हट्टमग्गु ।
रम्मइ बिसाल धवलुज्जलाई	गयणग्गविलग्गई ।
फलकुसुमसमिद्धई काणणाई	सोहंति नाइ नंदणवणाई । (८, २६)

मलयगिरि-वर्णन

सनरकुमार ने अनेक प्रकार के सुगन्धित तरवरो से युक्त मलय नामक महान् पर्वत देखा । उस मलयगिरि पर इलायची, लौंग, हरफारेवड़ी (लवलीफल), कपूर, अगर, हरिचन्दन, कटहल और सुपारी आदि के पेड़ों में फल शोभायमान हो रहे थे । पल्लव दलों से उन की शोभा और भी अधिक बढ़ रही थी । उस के अन्तरंग में निरन्तर दिनकर का तेज स्फुरायमान हो रहा था । कित्तर जन सुमधुर गान कर रहे थे । मरकत मणि के बने हुए सघन नील तटों पर हरे-हरे विशेष दूबोंकुर भन हर रहे थे । जल के भरे हुए झरने कलकल कोलाहल कर रहे थे । जड़े हुए शिलातल शोभा भर रहे थे । कहीं पर कपूरी रंग के मृग स्थित थे तो कहीं निर्भय हो कर चौकड़ी भर रहे थे ।

अह मलयमहागिरि तेण दिट्ठु	नाणाविहु तरुपरिमलबिसिट्ठु ।
एलालवंगलवली वर्णेहि	कप्पूर-अयर-हरियंदणेहि ।
बिप्पूरिय फणस पोफलिफलेहि	उब्बेल्लि बेल्लि पल्लवदलेहि ।
अंतरिय निरंतर तरणितेउ	छलिय महर किन्नर सुगेउ ।
घणकिरिणनील मरगयतडेसु	अविभाविय हरियंकुव विसेसु ।
वज्जंति जत्य निज्जर जलाई	फरिसेणय फलिह सिलायलाई ।
कत्थवि धिय कप्पूरिय कुरंग	उग्गभ भमंति निग्गभय सुयंग । (९, १)

सरोवर-वर्णन

मारी-समूह की भाँति जहाँ भीरे परस्पर गीत गा रहे थे, निःशब्द सुखर क्षोभित हो रहे थे और मनोहर कमल-नाल शोभित हो रहे थे, गजेन्द्र के झुण्ड के झुण्ड डोल रहे थे तथा उन्मत्त रोहित मत्स्य चल रहे थे, सुन्दर सारस पक्षी शब्दावमान हो रहे थे और मगरमच्छ पानी के भीतर से उछल रहे थे, जहाँ विशाल नीले कछुए तथा नाके चंचलता से तिर रहे थे और चार चक्रवाक स्फुरायमान हो रहे थे तथा झड़ते हुए केशर के पत्तों से व्याप्त था ऐंसे उस महासरोवर की देखा ।

भमररवे पारइ गीययं	मिलिउ नाइ नारी समूहयं ।
निब्बोल कोल लोहिंयं	भमंत मत्त-रोहिंयं ।
रसंत कंतसारसं	रमंत नीर माणुसं ।
सुउच्छलंत मच्छयं	बिसाल नील कच्छयं ।
विलोललोलनवकयं	फुरंत चार चक्रकयं ।
खुडंत पत्त केसरं	पलोइयं महासरं । (५, १५)

विमान-यात्रा का वर्णन

मित्र वसुभूति तथा परिवार के लोगों के साथ सनत्कुमार विमान में बैठ कर विद्याबल से युक्त हो कर चल पड़ा। वह कंबन तथा मणि से निमित्त सिंहासन पर बैठा। ऊँचे स्वर में बन्दीजन शुभ गीत गा रहे थे। सोने के चमरदण्ड डुलाये जा रहे थे। कमलों की भाँति समस्त योद्धा प्रसन्न एवं विकसित थे। सुन्दर विद्याधर-विलासिनी स्त्रियाँ मधुर कण्ठ से गीत गा रही थी। तूर्य की शब्द-ध्वनि आकाश मण्डल में व्याप्त हो रही थी। विद्याधरों की सकल सेना गगन-मार्ग में फैल रही थी। खवखव करते हुए घोड़े दौड़ रहे थे। गुलगुलाते हुए मदोन्मत्त हाथी चल रहे थे। विविध प्रकार से ऋझाएँ करते हुए बीर आगे बढ़ रहे थे। अनुकूल पवन से प्रेरित हो कर विमान आकाश में चल रहे थे।

वसुभूषणमुह परिवारसार	आरुहित विमाणि सणकुमार ।
अजिजयबल विज्जसज्जिस विसिट्ठ	कंचणमणिसीहासणि निविट्ठ ।
उट्ठंठ सुपंडर पंडुरीउ	उट्ठामसह बंदिण सुगीउ ।
वालिय चामीयर चमरदंडु	वियसिय असेसु भडकमलसंडु ।
विज्जाहूर ललिय विलासिणीहि	गाहज्जमाणु कलभासिणीहि ।
तूररववहिरिय गयणमग्गु	अवकलिय विज्जाहूरवलसमग्गु ।
पसरंतु गयणमंडल विसाले	चल्लिउ रहनेउर चक्कवाले ।
धार्वाति तुरंगम खवखवंतु	मयमत्तमहागय गुलुगुलित ।
विबिहा करयरिय सरीर	वक्कंति चलंत चलंत बीर ।
अणुकूलय पवण परिपेल्लिमाइं	गयणेण विमाणइं चल्लियाइं । (८, २५)

राजमन्दिर का वर्णन

उस प्रमुख राजमन्दिर की विविध भूमियाँ सोने की बनी हुई थीं। अनेक रत्नों से वे प्रकाशमान हो रही थी। ऊँचे-ऊँचे एक जैसे मन्दिर अत्यन्त शोभायमान थे। वे इतने ऊँचे थे कि कालागुरु का धुँआं मेघ से मिल कर ऐसा सोहता या मानो मोतियों के हार के रूप में सुन्दर तारे हों। वह ऐसा छा जाता या मानो विमल जल-धारा बरस रही हो। मधुर तथा सुखकारक बाजे बजते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो बाणों के संपतन से उत्पन्न हुआ निर्घोष हो।

तं कणयविणिम्मिउ	बहुविहि भूमिउ ।
नाणारयणुज्जीवियं	उत्तुंगु सुसोहणु मंदिरसरिसु पलोइयउं ।
	(८, ३२)

मिलिय बहुलकालायरुपूमेण	छाहउ मेहइ संदोहेण ।
मोत्तिय हार सरीहि सुतारेहि	वरिसइ नाइ विमलजलधारेहि ।

वज्रिजय सुक्ल मद्भुरनिष्घोसहिं गज्जइ नाइ जणियव्विसिहिं तोसेहिं ।
पंचवन्नमणिकिरणहिं नावइ सुरवइघणुय गयणे उट्ठावइ । (८, ३३)

चमकती हुई स्वर्ण-पताकाएँ झिलमिलाती बिजली ही जान पड़ती थीं । पाँच रंगों की मणियों की किरणें आकाश में निकलते हुए इन्द्रधनुष की भाँति जान पड़ती थीं ।

युद्धयात्रा-वर्णन

सनत्कुमार सुसज्जित विमान में बसुभूति तथा सेना के साथ चल पड़ा । अनेक प्रकार के बाजों के बजाये जाने से नभतल भर गया था । समस्त बाजों के एक साथ बजने से ऐसा जान पड़ता था मानो ब्रह्माण्ड ही फूट कर उछल पड़ा हो अथवा युद्ध देखने के लिए मानो देवताओं को ही बुलाया हो । अनुकूल पवन से प्रेरित उड़ती हुई ध्वजा-पताकाओं तथा गर्व से उन्नत उद्भट भटों से युक्त विमान आकाशमार्ग में चले जा रहे थे । विशेष रूप से विजय को सूचित करने वाले शुभ शकुन हो रहे थे । कुछ विद्या-धर श्रेष्ठ तथा विशाल गजों पर आरुढ़ थे । कुछ चंचल घोड़ों पर सवार थे । अन्य सिंह और वानर की सवारों पर सवार थे । उत्तम देवों की भाँति समस्त सैनिक चले जा रहे थे । सभी आनन्दित थे । वे उत्कृष्ट सिहनाद कर रहे थे । कुमार का जय-जयकार घोषित कर रहे थे । सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि हो रही थी । सम्पूर्ण महीमण्डल को देखते हुए चले जा रहे थे ।

आऊरइ नहयलु सरिमएम पनिवीण तहि वंसहं	इय वज्जइ वज्रिजयइ असेसहं ।
फुट्टं नं वंभडु उच्छलियउ तूरारउ	न रणदंसण कज्जाहूउ देवहं हक्कारउ ।
ता दिसि समुहं दोलिर धयालइ	उव्विभय उव्वभड चिन्धयाइ ।
अणुकूल पवण परिपेल्लियाइ	गयणेण विमाणइ चल्लियाइ ।
जयसूयग सउण महा विसेसु	चल्लिउ विज्जाहूर वलु असेसु ।
विज्जाहूर केवि महागएहिं	आरुड केवि चंचल हएहिं ।
अन्ने पुण सीहहिं वानरेहिं	सत्थत्तु गयणु जिह सुरवरेहिं ।
सव्वहं सुहडहं आणंदु जाउ	उक्कुट्ठिं करहिं तह सीहनाड ।
कुमारह जयसह सुरेहिं धुट्ठु	सुसुयन्धहं कुसुमहं वरिस वुट्ठु ।
पेच्छंतउ महिमंडलु असेसु	नयरावर पुरपट्टण निवेसु ।

(७, २१-२२)

सागर, सरिता, सरोवर, निर्झर, ग्राम, पर्वत, गोपुर और गोकुल आदि को छोड़ते हुए वे क्षण भर में सपरिवार विजयाश्रमपुर में पहुँच गये ।

सायरसरिसोत्तइ सरजलाइ	गामइ गिरिगोउर गोउलाइ ।
परिचत्तउ गमण परिस्समेण	वेवड्ढे पट्टत्तउ तक्खणेण ।
अह वेयड्डतल्लि सपरिवाह आवासिउ	खंवावार कमेण नियसिविरं पि नियेसउ । ७, २३

इसी बीच शत्रु-सेना भी आ पहुँची । कुमार की सेना में कोलाहल होने लगा ।
अण भर में जट सन्तुष्ट हो गये । कुमार ने अपने हाथ में तलवार धारण कर ली ।

एत्थंतिरि आइउ परवलंति कुमारह वल सयलुव सलवलंति ।
मय समरभेरि सुगहिरसरेण संनिहिय सुहृद सव्वेवि सण्णेण ।
ता सुपउहर समेलउं परदूसओहु अंगे सहियउ ।
ताह मुट्ठि मज्झि सुकलत्तु बिह सग्गयणु कुमरि गहिउ । (७, २३) ।

युद्ध-वर्णन

तब क्रोधित हो शत्रु-सेनाएँ एक-दूसरे पर बरस पड़ी । निरन्तर शस्त्रास्त्रों को छोड़ने लगीं । प्रलयकालीन मेघ के समान सम्पूर्ण आकाश मण्डल में फैल गयी । कुछ योद्धा तलवारों से भिड़ गये । हाथी हाथी से और घोड़े घोड़े से युद्ध करते हुए सैनिक लोग एक-दूसरे को ललकारने लगे । एक-दूसरे को लक्ष्य कर सैनिक प्रहार करने लगे । कई भाँके की अनी से देह विदारने लगे । जूझते हुए एक-दूसरे को कुछ भी नहीं समझने लगे । छुरी चलाने वाले छुरी धारण करने वालों से तथा पैदल पैदलों से भिड़ गये । सिर फूटने लगे और सुभट लहलुहान हो गये । वे ऐसे जान पड़ रहे थे कि मानो वसन्त के टेसू (ढाक) कुसुमित हो गये हों । इस प्रकार आकाश में विद्याधरो का, अन्तराल में गिद्धों का और धरती पर श्रावक (गृहस्थ) मनुष्यों का युद्ध होने लगा । किसी का छटपटाता हुआ माथा फूट गया, किसी की भुजा और किसी का हाथ छिन्न हो कर गिर पड़ा । किसी के सब शस्त्र छिन्न-भिन्न हो गये, बाण चूक गये और छत्र टूट कर गिर गये । शस्त्रों की मार से शरीर छिन्न हो कर तितर-बितर हो गया । व्यव्रा-बिह्व छेद डाले गये । और भी अनेक प्रकार से दारुण रण प्रकट हो गया मानो समुद्र का जल गंगा जल के मिलने से क्षुब्ध हो गया हो ।

ताव रिखवरिसए रिमु भणंति
पलयव्वघणोहि निरंतरेहि
सग्गप्पहरेमि वडंति केवि
गयगयहि तुरंगतुरंगमेहि
सग्गप्पहार निवडंति केवि
गयगयहि तुरंगतुरंगमेहि
तहि एकमेवकु हक्कारयंति
पहरट्ठेय विज्जहर पडंति
कुंतग्गेहि केवि निभिन्न देह
अन्नोन्न केसकन्नणु करेवि
अवहत्थेहि हत्थेहि मिडहि ताव

सरवरिसु निरंतरं भड मुयंति ।
सञ्छाइउ अंबरतलु सरेहि ।
उप्पय कालमिग्गय जेव ।
सञ्छाइउ अंबरतलु सरेहि ।
उप्पायकाले निग्गय जेव ।
जुज्झंति सुहृदसुहृदोहि समेहि ।
अवरोप्पह कुलु संभालयंति ।
उट्ठेवि पुणेवि समावडंति ।
जुज्झंतिहि तहेव अवगणिय वेह ।
गय पहरण छुरियहि लग्ग केवि ।
तुहहि सिरकमइं समइंजाव (७, २७)

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति-वर्णन में सन्ध्या, रात्रि, वन, उद्यान, वसन्त ऋतु आदि का वर्णन इस काव्य में निबद्ध है। प्रकृति के आलम्बन रूप का ही विशेष रूप से चित्रण हुआ है। उद्दीपन रूप में रजनी का एवं वियोगिनी रूप में तथा हंसी का वियोग-वर्णन दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः हर्ष और विषाद में मनःस्थिति के अनुरूप भावों का चित्रण बिम्बार्थ-योजना द्वारा अभिव्यंजित हुआ है। अतएव यहाँ पर प्रकृति विरह का अंग न बन कर स्वतन्त्र रूप से वर्णित है, जिस में प्रकृति के विभिन्न चित्र शृंखलाबद्ध हैं। उदाहरण के लिए वर्णन है—सिन्दूर के समान रक्त वर्ण का सूर्य अस्तंगत हो गया। मानो आकाशरूपी वृक्ष का प्रणय रूपी फल ही पक गया हो। जब सूरज भलीभाँति डूब गया तब तिमिर-शत्रु की सेना ही मानो दौड़ कर फैल गयी। तमचर की नाँति सूरज अपने देश चला गया। अभी तक दिन रूपी शिखर के ऊपर जो लाली शोभायमान हो रही थी सन्ध्या की उस लालिमा को सूरज के कर-निकरों ने हटा ली थी। गोधूलि की वह बेला ऐसी जान पड़ रही थी मानो तिमिर रूपी विरलकेशों को छिटका कर रवि रूपी पति के विरह में रजनी शोकमग्न हो। आकाश-मण्डल में फैले हुए तारे टूट-टूट कर ऐसे गिर रहे थे मानो रजनी रूपी नायिका के हार के नग हो टूट कर गिर रहे हों। सरोवरो में मुकुलित कमल ऐसे क्षोभित हो रहे थे मानो मित्रता का निर्वाह कर रहे हों। चक्रवाक युगल विरह के ताप से नष्ट हो गये। अत्यन्त काली स्नाही वाले अन्धकार को न सहते हुए दुग्ध के समान अबल चन्द्र का उदय हुआ।

सिंदूरारुणवण्णो दिणयरु अत्थमियउ ।

नहयलरुक्खह नाइ पक्कउ फलु पनियउ ।

जाव सूरु अत्थमणु पाविउ
तमचरव्व गय सूर दंसिणा
सहइ संज्झया रत्तमं परं
तिमिर केस विरलेवि जामिणी
वित्थरंति गयणंमि तारया
सरवरेसु कमलेहिं मउलियं
चक्कवाय जुयलं पिहडियं
ना सहयंतु अइकसणतममसी

ताव तिमिररिवु सेणु वाविउ ।
अनिय बासतरु सिरि सहंनिणा ।
पहरय निय सूरस्स वंबरं ।
निय नाइ रवि विरहि कामिणी ।
तुट्ट नाइ निसिनारि हारया ।
नाइ मित्त परिवणु पालियं ।
मरुय विरह तावेण विनडियं ।
बुद्धवल्लु अह उग्गउ ससी । (५, ६-७)

उद्यान-वर्णन

उद्यान-वर्णन में प्रकृति का आलम्बन रूप तथा परिगणन-प्रणाली दोनों ही रूप मिलते हैं। प्रबन्ध काव्य में उद्यान के वर्णन में वनस्पति की नामावली देना चिर प्रचलित है। यद्यपि मलयगिरि के वर्णन में भी कुछ वृक्षों का नामांकन है, पर देश और स्थान के भेद से विशेष रूप से स्थानीय पेड़-पौधों की नामावली प्रस्तुत करना आवश्यक

जान पड़ता है। आलोच्यमान कथाकाव्य में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि देश, ऋतु और स्थान के अनुसार दृश्य तथा वातावरण का स्पष्ट चित्रण हो। अतएव सुन्दर वन के वर्णन में दक्षिण भारत में उत्पन्न होने वाली वृक्षावली का उल्लेख किया गया है। उस वन में अशोक, आड़ू, आम, आमला, सेमल, केतकी, उदुम्बर, कसेर, करंज, खजूर, जामुन, नारंगी, सुपारी, कंकोल, पीलु, ठाक, मौलथी, मुचकुन्द, चन्दन, तेंदु, सलई, बहेडा, ताड़, अनार, शिरस, सीसम, शमी (शोंकर), तमाल, ताल, शाल, एरण्ड, पाटल आदि वनस्पतियाँ, फूल-फल तथा वृक्ष थे।

सुन्दरवणु नामेणं उज्ज्वाणु रवन्नञं दिट्ठं दाहिंवि तेहिं आसम आसन्नञं ।

जहिं अणेय पायवा नि सिद्धसूर आयवा ।

असोयआरुआमला अंवाडासंविस्वला ।

कयवञं वञंवरा कसेरु किपिकेसरा ।

करंजखज्जखंजणा रिउंजमुंजअंजणा ।

नमोहसिगगंगयया नारंगपूगनागया ।

कक्कोलकेहकचणा धवालिवाहधम्मणा ।

पीयालपीलुपिप्पला पलासकवलिवंजुला ।

मायंदकुंदचंदणा कयदुतिट्ठवदणा ।

अंकोलविल्लिमल्लिया वहल्लसल्लईलया । इत्यादि, (५, ४)

इस वर्णन में कुछ वृक्ष उत्तर भारत के भी जान पड़ते हैं। जैसे शाल और देवदार वृक्ष विशेष रूप से हिमालय पर तथा उस के निकट उत्पन्न होते हैं। किन्तु मलय गिरि पर उत्पन्न होने वाले इलायची, लौग, कपूर, अगर और हरिचन्दन आदि का वर्णन (६, १) दक्षिण भारत की ही उपज है। वस्तुतः प्रबन्धकाव्य में प्रायः सभी प्रकार के फल-फूलों, वनस्पतियों तथा पेड़-पौधों का वन-वर्णन के अन्तर्गत नाम गिनाने की एक रूढ़ि ही चिर प्रचलित है। प्रकृति-वर्णन में सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, प्रभात आदि के कई छोटे-छाटे स्थल इस काव्य में दृष्टिगोचर होते हैं। इन में प्रकृति का आत्मव्यनात्मक रूप ही प्रकट हुआ है। उद्घोषन रूप में प्रकृति वर्णन बि० क० में ही नहीं स्वतन्त्र रूप से अपभ्रंश के कथाकाव्यों में भी नहीं मिलता। यद्यपि कहीं-कहीं प्रकृति विरह का अंग बन गयी है, किन्तु उस में वियोग की मादकता न हो कर वियोगावस्था का संकेत मात्र है। इस से ज्ञात होता है कि प्रकृति का उद्घोषन रूप में संक्षिप्त प्रकृति-वर्णन परवर्ती विकास है। प्रकृति-वर्णन में प्रस्तुत वर्णन मुख्य है, जो कथाकाव्य में विशिष्ट रूप से प्रयुक्त है—वसन्त-वर्णन, समुद्र-वर्णन, मलयगिरि-वर्णन और सरोवर-वर्णन तथा उद्यान एवं वन-वर्णन इत्यादि।

ऋतु-वर्णन

उद्यान के वर्णन में छोटी ऋतुओं की शोभा का वर्णन प्रस्तुत काव्य में चित्रित है। यद्यपि महाकवि कालिदास के 'ऋतुसंहार' में षट् ऋतुओं का स्वतन्त्र रूप से वर्णन

मिलता है, पर प्रबन्धकाव्य में यह प्रवृत्ति प्राकृत और अपभ्रंश कथाकाव्यों में मिलती है। हिन्दी के प्रबन्धकाव्यों में यह परम्परागत सामान्य प्रवृत्ति लक्षित होती है। सनत्कुमार मित्र वसुभूति के साथ गृह-उद्यान में गया। उन दोनों ने वहाँ भली प्रकार भ्रमण किया। वहाँ बड़ी बहल-पहल थी। सब पेड़-पौधे फूँके हुए थे। भोरे सदा गूँजते रहते थे। वह बगीचा बहुत बड़ा तथा मनोहर था। रोमांचित तिलक और अशोक के वृक्ष तथा सिन्दुवार की मंजरियाँ वसन्त की शोभा को भर रही थीं। चमेखी ग्रीष्मकालीन सुगन्धि को फैला रही थी। केतकी पावस के रूप में महक रही थी। मदहीन हाथी की भाँति मदजल की सुगन्धि के समान शरद् सप्तच्छद के साथ महक रहा था। पीली मालकागनी से युक्त हेमन्त पीताम्ब को भरता हुआ दिखाई दे रहा था। श्वेत कुन्द पुष्पों के रूप में दिशाओं में खिलमा फैलाता हुआ शिशिर शोभायमान हो रहा था। इस प्रकार अनेक प्रकार के फूलों के वेश में छद्म ऋतुएँ शोभा भर रही थी।

अह ते गय भवणुज्जाणे दोवि
तत्थ वेदि कलकय दोहल्लेहि
छप्पेविउ निवसहि सव्वकालु
पडमंचिय तिलयासोय जंतु
गिण्हु वि मल्लिय परिमल्लु बहतुं
पुणु गयमय गय गन्ध सरिच्छएहि
पिजरपियंगु मंजरि विसिट्ठु
उदाम कुंद धवलय विसोह
आनवि नाणाविह कुसुमवेसु

आढत्त भमेवि तहि सव्वओवि ।
कुसुमिय असेस तरुमंडल्लेहि ।
उज्जाणु मणोहर तं विसालु ।
तरुय सिंदुवार मंजरिय बसंतु ।
पाउसु कयवासिय दियतुं ।
सरउ वि सहिउ सत्तच्छएहि ।
बहु रोष गत्तु हेमतुं दिट्ठु ।
सिसिरो विट्ठु पीमण जणिय सोह ।
कुमरेण पलोइय तरु असेसु । (१, २१) ।

गंगा नदी का वर्णन

पुरजनों के साथ वह झोडा के निमित्त गंगा नदी के किनारे पहुँचा। नदी में तरंगें हिलीरें ले रही थीं। हंस और चक्रवर्त से युक्त वह अत्यन्त रमणीय जान पड़ रही थी। पति और पत्नी दोनों ही विलासपूर्वक हास-परिहास करते हुए वहाँ स्थित हो गये। उन दोनों ने उस नदी में हंस और हंसिनी के जोड़े को देखा। हंस और हंसी आपस में एक-दूसरे के मुँह को टकटकी लगा कर देख रहे थे।

नाणा उवगरणेहि संगयाइं
हल्लंततरंगेहि हंसरहंगइं
दोण्णिवि सबिलासइं बड्डियहासइ
मयणाहिगन्धु ससहस पहक्कु
अवरोप्पर हसिय रायणाइं

रमणीयतीरे गंगे गयाइं ।
तहि रमणीय लयाहरइं ।
ठियइं तुम्हे जिह मयणरइ ।
नवसुसिण विलेवणु तुम्ह हुक्कु ।
मृहकमल निवेसिय लोयणाइं ।

(११, १४-१५)

समुद्र-वर्णन

समुद्र का वर्णन दो स्थलों पर हुआ है। वर्णन में प्रवाह तथा भावावेग पूर्णतया लक्षित होता है। वस्तु-वर्णन लोक शैली में एवं अनुभूतिजन्य है। अतएव अलंकृति का चमत्कार न हो कर भावानुभूतियों का सटीक चित्रण ही इस की विशेषता है। वर्णन है—कहीं पर चंचल तरंगें नाच रही थी। कहीं पर मगर और घाघ प्रकाशित हो रहे थे। कहीं पर मच्छ पूछें उछाल रहे थे और कहीं पर उन के उछलने से शोभा बढ़ रही थी। बड़ी-बड़ी लहरें कोलाहल कर रही थीं। कहीं पर हाथी सूँढ़ों से पानी उडेल रहे थे। चित्र-विचित्र सीपियाँ मोतियों के रूप में स्फुट हो रही थी। कहीं पर मूँगे खण्डित हो रहे थे। कहीं पर चंचलता से बहने वाले शंख-कुलों का दलन हो रहा था और कहीं पर विषधर विष की फुंकारें छोड़ रहे थे।

.....

कथवि मयरघाय अप्फालिउ
कथवि उच्छल्लिउ उल्लिलिहि
कथवि जल करिदंते वि कत्तिउ
कथवि मुसुमूरंतु पवालई
कथवि विसहर विसवज्जारहि

कथवि तरलतरंगिहि नचवह ।
कथवि मच्छपुच्छ उच्छालिउ ।
हल्लाविउ महल कल्लोलिहि ।
फुडिउ सिप्पि मुत्ताहल लिउउ ।
कहिंवि दलंतु लुलिय संखउलई ।
ओसारिउ सुदूरज्जंकारहि । (३,१)

मुनिवर के समान सागर दिखाई दिया। बड़ी-बड़ी कल्लोल मालाओं से वह व्याप्त था। लहराते हुए शंख किनारे पर शोभायमान हो रहे थे। कहीं पर उठते हुए फेनों से तट घबल हो रहे थे तो कहीं पर हाथी जूझ रहे थे। कहीं पर जलमानुस मोती बीन रहे थे और कहीं पर अत्यन्त क्रोधित हो विषधर विष छोड़ रहे थे। कहीं पर बड़े-बड़े मच्छ उछल रहे थे और कहीं-कहीं मगर तथा घाघ प्रकाशमान हो रहे थे। कहीं पर बढ़िया मूँगे बिलकुल लाल दिखाई पड़ रहे थे और कहीं पर लहरियाँ तटवर्ती पेड़ों की जूम रही थी। कहीं पर भिन्न वर्ण वाले जल का संगम हो रहा था तो कहीं बडवानल प्रज्वलित हो रहा था और कहीं पर अनेक प्रकार के रत्नों की किरणों से जल रंजित हो रहा था।

.....

तं च सुमहल्ल कल्लोलमालाउलं
कहिंवि उदरं डिडोर पंदुर तडं
कहिंवि मुत्ताहलालुइ जलमाणुसं
कहिंवि परिहच्छमच्छेहि उच्छालियं
कहिंवि आरत्त दीसंतए वर विदुमं
कहिंवि उट्ठंत जावत्त अह दुग्गमं
कहिंवि जालावलो जलिय बडवानलं
एरिसं तीर परिसंठिया सायरं

मुनिवर सरिसउ सायर दिट्टुउ ।
विउल विलुलंत संखउल बेलाउलं ।
कहिंवि जुज्झंत संघडिय जलकरिषडं ।
कहिंवि गुरु रोस पममक विसहरविसं ।
कहिंवि गुरुमयरकर घाय अप्फालियं ।
कहिंवि लहरीहि लहल्लंत तीरवुदुमं ।
कहिंवि अन्नेन जलवन्ननह संगमं ।
कहिंवि बहुरणकिरणेहि रंजिय जलं ।
गस्य अच्छरिया पेच्छमि रयणायरं । ५,९।

वसन्त-वर्णन

भविष्यत्कहा की भाँति बिलासबईकहा में भी वसन्त-वर्णन में लोक-जीवन की झाँकी ललित पदावली में चित्रित है। ऐसे वर्णनों में श्रुति, नाद तथा लय एवं योति का मधुर समन्वय अपभ्रंश-काव्यों की निजी विशेषता है। वसन्त का वर्णन है—इधो बीच वसन्त के आगमन से लोगों में बिलासपूर्ण चेष्टाएँ उत्पन्न हो गयीं। बविवेकी जनों के लिए कामविकार आनन्दकारक हो गया। मानिनी स्त्रियों के मान का दलन करने वाला सुगन्धित मलय पवन बहने लगा। सकल बन-उपवन विकसित हो गये। पक्षियों के मन अनुरंजित होने लगे। प्रत्येक घर के द्वार पर बन्दनवार शोभित हो गये। कामिनी स्त्रियाँ कलापूर्ण क्रीड़ाएँ करने लगी। विविध हाव-भावों से प्रेम का प्रसार करने लगी। हर्ष से भरे हुए युवक विचित्रतापूर्ण चाँचर खेलने लगे। सभी देवकुल के लोग पंचम राग में संगीत की तान छेड़ने लगे, गीत गाने लगे। केशर की बगियाँ खिल गयीं। पाटल कुसुमों ने लोचन प्राप्त कर लिये। बन में चारों ओर मदन-पति का साम्राज्य फैल गया। सरोवरों में कमल-कमलिनियाँ प्रफुल्लित हो गयीं। आम की डालियों पर लटकने वाली मंजरी तथा पिगल पराग महकने लगा। फूले हुए फूलों से कुंज के कुंज उत्लसित हो गये। बन-उपवनों में अघोष और बकौली (मोलवी) फूल गये। मधुर ध्वनि में काहल नामक बाजा बजाया जाने लगा। कुसुमों के भार से तहवर झुक गये। मदनोन्मत्त मधुकर गुंजायमान होने लगे। रक्त वर्ण के रूप में फूलों ने उज्ज्वल वसन धारण कर लिये। किशुक (टेसू) नये वर के समान दिखने लगे। सिंदुवार डालियों पर शोभायमान होने लगे। पाटलों से झिरता हुआ मकरन्द लोगों को मोहने लगा। माधवी-मण्डप महकने लगा और नोलकण्ठ मन्द ध्वनि में बोलने लगा।

एतन्तरि पसरिय बहु बिलासु	मणहर संपत्तु बसंतु मासु।
अविवेयलीय आणंदयार	पायडिय विविह कामुयवियार।
माणणि जण माणुवि निहलंतु	पसरित मलयानिलु महमहंतु।
वियसंति सयल काणणबणाई	फुडंडंति नाई पहियमणाई।
घरि घरि अंदोलय गागिणीउ	कीलंति कलालय कामिणीउ।
वेक्खंति जेत्यु विविहासवाई	पेम्मई पसरति पुणन्नदाई।
दिक्खंति जेत्यु च्छब्बरि विचित्त	खेत्लंति जुवाण पहिट्टचित्त।
वर पंचमगेयह शुणि पयत्त	कीरत्ति सयल देउलेहि जत्त।
लय पुच्छ मणीहर वियसिय केसर	पाडल कुसुम सल्लयणउ।
महुमासवि मयवइ काणणेव	बह गयवइ यह उम्मेवणउ।
जत्थ वियलदल कमल सालिणी	सरबरेसु उत्तलसिय कमलिणी। (१, ७)

विवाह-वर्णन

विवाह का अत्यन्त विस्तृत विवरण इस काव्य में मिलता है। बारात के

प्रस्थान करते समय मंगलाचार किया जाता था। वर को मोतियों से पूरित चौक में बिठाया जाता था। सिंहासन के आगे जल से भरे हुए मंगलकलश रखे जाते थे। दही, चावल और अंकुरित दूब से मंगल पढ़ा जाता था। बन्दीजन गान करते थे। द्वार-चार के समय महिलाएँ आगे रहती थी। वे वर के दोनों कन्धों से मूसल का मुँह छुलाती थीं। दधि, अक्षत और चन्दन से पूजा करती थीं। भाँवर दे कर आरती उतारती थीं। इस प्रकार सब मंगलाचार किये जाते थे। अभिलषित दान दिया जाता था। जलाँजलि छोड़ी जाती थी। भीतर द्वार पर पहुँचते ही वर को स्त्रियाँ रोक कर खड़ी हो जाती थीं। वे नेग-चार करती थी। घोती का पल्ला अँगूठे से छुआ कर वे नेग माँगती थी। फिर, जहाँ कन्या बैठी होती थी वहाँ प्रवेश कराया जाता था। वहाँ मंगल-गान गाये जाते थे।

राडलदुवारि संपत्तु जांव महिलायणु अम्गइट्टियउ ताव ।
 कियउ यारणइं निउंछणाइं जुय खंष मुसलमुह ताडणाइं ।
 दहिअक्खयचंदण वंदणइं आरसियलोणहं भामणइं ।
 आयारइं सव्वइं तहि कियइं दाणइं दिन्नइं हियच्छियइं ।
 चलणेहिं जलण भरिय सुसरावहं संपुडमह दलंतउ ।

लगउ अनिलवेय करिवहु यावास दुवार पत्तउ ॥
 अह तत्थ महिलाउ रंघंति बहुलाउ,
 वित्तइं पयवित्ति अंचलेहिं खंचंति अंगुट्टे लगंति नियदाणु मग्गंति ।
 अह देवि तं तिट्ठु भवणम्मि सुपविट्ठु—(१०,४)

इस प्रकार समूचा वर्णन लोक-जीवन से भरित तथा स्थानीय रूप-रंगी (लोकल कलर्स) से चित्रित है।

रूप-वर्णन

सनत्कुमार ने उस बाला को नयी कमलनी के समान सुकुमार तथा स्तनो पर झूलते हुए द्वार से उल्लसित देखा। पूर्ण चन्द्र के समान उसका मुख था। कुवलय (नील कमल) के समान उस के नेत्र थे। अशोक से उन की तुलना की जा सकती है। उस के हाथ स्थल कमल की शोभा की हर रहे थे। उस के चरण अत्यन्त संश्लिष्ट थे। सिर पर लहराते हुए टेढ़े-मेढ़े घुँघराले बाल बयांये मानो कमल से भीरे ही मिल रहे थे। इस प्रकार बिलासवती-सर्वांग में उत्कृष्ट थी।

सो दिट्ठु तं बाल नवनालिणि सुकुमाल ।
 उट्ठंत यणहार उल्लसिय सियहार ।
 संपुन्न ससिवयण सन्निहियट्टिय मयण ।
 परे पक्क बिबोट्टु कंकणेहिं सुपबोट्टु । (१०,५)

स्पष्ट ही उक्त वर्णन में रीतिशास्त्र का प्रभाव न होकर स्वतन्त्र रूप से छवियों का अंकन है, जिसमें वस्तु का यथार्थ संश्लिष्ट वर्णन है।

भाव-व्यंजना

आलोच्यमान कथाकाव्य में अनेक मार्मिक स्थल हैं, जिनमें विभिन्न स्थितियों में मनुष्य की मानसिक दशाओं का सटीक चित्रण हुआ है। जीवन में सुख की भाँति दुःख भी स्वाभाविक है। किन्तु कभी-कभी ऐसी अप्रत्याशित घटनाएँ घट जाती हैं, जिन की हम पहले कभी कल्पना भी नहीं करते। सनत्कुमार का पिता से रूठना तथा ताम्र-ललित पहुँच कर राजा ईशानचन्द्र का आतिथ्य ग्रहण करना, विलासवती का गोख से सनत्कुमार के कण्ठ में फूलमाल अर्पित करना, दोनों का उद्यान में परस्पर सम्मेलन होना तथा राजरानी से कलंकित हो कर रातोंरात ताम्रललित छोड़ कर सनत्कुमार का श्रीपुर पहुँचना और वहाँ से प्रस्थान कर सिंहलद्वीप की यात्रा करना, इत्यादि।

सिंहलद्वीप की यात्रा करते समय नौका के भग्न हो जाने पर सनत्कुमार की मनःस्थिति अत्यन्त आकुल-व्याकुल हो जाती है। वह किसी प्रकार काष्ठफलक से चिपक कर जब बहता हुआ समुद्र के किनारे पहुँचता है तो मित्र को न देख कर बहुत चिन्तित हो जाता है। नाना प्रकार के भाव उस के मन में उठने लगते हैं। एक के बाद एक संकटों का पहाड़ देख कर वह अपने कर्मों की गति का विचार करने लगता है। सनत्कुमार मन ही मन में कहता है—विधि का विलास एवं कर्मों की शक्ति अचिन्त्य है। कहीं श्वेताम्बी नगरी छोड़ कर मैं ताम्रललित पहुँचा और कहीं ताम्रललित से भाग कर इस अपार सागर को लाँचना पड़ा। कहीं तो मैं सिंहलद्वीप जाने के लिए प्रवृत्त हुआ। और कहीं बीच में पोत के फूट जाने से इस अवस्था को देख रहा हूँ। आश्चर्य तो यह है कि सब कुछ चला जाने पर भी मैं आज जीवित हूँ। मित्र वसुभूति के न रहने पर विविध क्लेशों को सहते हुए जीवित रहने से क्या लाभ? हाय सुमित्र, हाय गुणों के सागर, हे वसुभूति ! तुम समुद्र में कैसे होगे ? हाय, किस प्रकार जल के बीच में रहने का वर्णन करूँ ? तुम्हारे बिना मैं शून्य मन से क्या करूँ ?

एयइं ताइं जहिह्या विहियहं
एह सा कम्महं सत्ति अचिंतिय
कहिं पुर ताम्रललित छड्डेविणु
कहिं हउं सिंहलदीवि पयट्टउ
किह अवत्थ एरिस पाविज्जइ
एगोयर सन्निहेण वा—

विरहियस्सवसुभूइणा
हा सुमिउ हा गुणरयणायर
हा किह जलहिहि मज्झवि वन्नउं

विहि विलसियहं अचिंतिय रुवइं ।
कहिं सेयविय नयर परिचत्तिय ।
कहिं अपार सायर लंघेविणु ।
अंतराले किहं पवहणु फुट्टउ ।
तो अज्जवि जीविउ धारिज्जइ ।
किं अज्जवि जीविण भो एरिस-
विविह किलेसभाइणा ।
भो वसुभूइ कत्थमह सायर ।
तहं विणु किं करेमि हउं सुन्नउं ।

इसी प्रकार विलासवती के लिए दोने में पानी भर कर लाने पर प्रिया को न देख कर सनत्कुमार के मन में विविध संकल्प-विकल्पों का संचार होने लगता है। पहले तो कुमार यह समझता है कि नयनमोहन पट से आवृत होने के कारण परिहास कर रही है, इसलिए कहता है—हे देवि, हँसी मत करो। किन्तु जब इतना कहने पर भी वह नहीं दिखाई देती तो कुमार का मन आर्शकाओं से भर जाता है। अशुभ की सूचना देने वाली उस की बायीं आँख फड़कने लगती है। कुमार का मन दुःखी हो जाता है। धबड़ा कर उस के हाथ से दोना गिर पड़ता है। वह अत्यन्त विषण्ण मन हो कर 'हा देवि' कह कर प्रलाप करने लगता है। उस ने सभी ओर दूँढ़ा, पर कहीं नहीं मिली। इतने में उसे काला, चिकना और भारी अजगर दिखाई दिया। उस के पास नयनमोहन पट देख कर वह सकपका गया। वह सोचने लगा कि मेरी प्रिया कहाँ चली गयी। उस ने दिन और रात एक कर डाला। बार-बार चिन्ता करने लगा कि आकाश में चली गयी अथवा धरती पर है? उसे गर्मी, सर्दी, दुःख-सुख सब बराबर हो गये। उस के लिए जीवन व्यर्थ हो गया। वह चेतन हो कर भी अचेतन हो गया। वह अकथनीय मूर्च्छावस्था को प्राप्त कर धरती पर गिर पड़ा।

तो जाव न दिट्ठिय तहिं खयणे
तह फुरिय वामलोयण असुहं
अव्वत्तयत्तेणावि बरीयं
पुणु सो अच्चंत विसम्भु मणे
हा देवि देवि देवित्ति गिरो
नय सा कत्थवि लह तहिं ससहरवयणो
ता बेयमाण निवडिय हियउ
विट्ठोय तेण तरुवर गहणे
अलिकुलकज्जलघणकसिणतणु
सुह गहिय नयणमोहन परिउ

आसंक पडिय कुमारस्स मणे ।
उप्यन्न कुमारह चित्ति दुह ।
तं नलिणपत्तु हत्थह पडियं ।
तहिं वुम्भवयणु तरलच्छु वणे ।
आठत्तु गवेसिवि सो कुमारो ।
बालुय वलिहिं दिट्ठागुरु अवगरवहणी ।
तीयवि अणुसारि चल्लियउ ।
अमवणू नाहं निवडिउ भुवणे ।
विसज्जेनितहा सुरवयणु ।
तस्सवि गसणं मियवावडउ ।

(५, २४-२६)

इस के पूर्व स्वप्न-दर्शन के अनन्तर की मनःस्थिति इतनी बद्धमूल हो जाती है कि उसे केवल विलासवती ही लक्षित होती है। आलोच्यमान कथाकाम्य में ऐसे कई छोटे-बड़े मार्मिक स्थल हैं, जिन में मनुष्य की भावामिष्यजना भलीभाँति अभिव्यक्त हुई है। कथा का नायक सनत्कुमार होने से कवि ने अधिकतर भावों की अभिव्यंजना नायक द्वारा अभिव्यक्त की है। सनत्कुमार से संबन्धित मुख्य स्थल हैं—विलासवती को पाने के लिए चिन्तित होना, मित्र-वियोग, तापसी कन्या को देख कर विलासवती का स्मरण-करना, विलासवती का वियोग, संयोग इत्यादि।

वियोग-वर्णन

प्रस्तुत काव्य में वियोग-वर्णन के चार स्थल हैं। पहले में सनत्कुमार मित्र वसुभूति के विरह में विकल हो कर अपने उद्गार व्यक्त करता है। दूसरे में विलासवती की स्वाभाविक मनोव्यथा निबद्ध है और तीसरे स्थल में माता अर्नगवती विलासवती के लिए विलाप करती है। उस के उच्छ्वास भारतीय माता के सहज प्रसूत अधु-नल से सिक्त है, जिन में माँ की ममता अपना अघोर रूप सहेजे हुए है। उस के मन में विभिन्न प्रकार के संकल्प रह-रह कर उठते हैं। वह सोचती है कि हाय, मेरी बेटी कहीं नष्ट हो गयी अथवा किसी झुएँ में गिर कर मर गयी या कोई दुष्ट ही उसे हर ले गया अथवा वह समुद्र पार कर गयी। हा हा ! मेरी बेटी विलासवती, तेरी बुद्धि कैसे फिर गयी ? पहरेंदारी से संरक्षित होने पर भी तुम कैसे रात में भाग निकली ? क्या किसी प्रकार खोर के हाथ में पड़ गयी ? क्या कोई तुम्हें भगा कर ले गया ? हाय ! तुम सब शुभ लक्षणों से युक्त थीं। तेरी सुन्दर आँखें मन को सुलदायक थी। तुम अत्यन्त विनोत और समस्त कलाओं से युक्त थी। हे मधुरबचनी, तुम कहाँ हो ? मुझे उत्तर दो।

हाहा कहि नट्टिय मज्झ सुया	किं कल्पवि कूवे पडेवि मूया।
किं केणविदुट्ठे अबहरिया	किंवा रयणायर उत्तरिया।
हा हा महघोए विलासवड्ढ	किह एह बुद्धि तुहु सभबड्ढ।
कंवुड आरक्ख समाउलेहि	किह रयणिहि विवय राउलेहि।
किं कल्पवि चोरहं पिडिपडिया	किं कल्पवि गत्थहि तुहुं दडिया।
हा सम्बसुलक्खणे हा सुहए	विणयहनिहि सयलकलानिए।
हा मधुरवयणि केनातिलया	पडिवयणु देहि तुहु कत्थ गया। (९, २७)

चौथे स्थल पर माता पुत्र सनत्कुमार के लिए विलाप करती है। माँ पुत्र के गुणों का स्मरण करती हुई भाव-भीने स्वरों में फूट पड़ती है। वह कहती है—ताम्र-ललित मे घटित तुम्हारे अशुभ वृत्त से सभी शोक-सागर में डूब गये। राजा और दोनों रानियाँ मूर्च्छित हो गयी। हे मेरे सलने होनहार पुत्र, हाय विचक्षण ! मुझे अपना मुँह दिखलाओ। हाय ! सुविनीत, देवगुरु बत्सल और सरल छलरहित तुम अभिमान के मेरु हो, पर गुणों के सागर हो। हाय पुत्र ! तुम तो विवेक-रत्नाकर हो। तुम्हारा शरीर कोमल, सुन्दर भुजाएँ युद्ध में शत्रुओं से लोहा लेने वाली हैं। सकल महीतल पर गवेषणा करने पर भी तुम जैसा पुत्र नहीं दिखलाई पड़ता।

हा महपुत्त सत्त्वसलक्खण	हा दिक्खन्वय लागि विक्खलण।
हा सुविणिय देवगुरुवच्छला	हा सोढीरवच्छ वज्जियवच्छला।
हा अहिमागमेरु गुणसागर	हा पुत्तय विवेयरयणायर।
हा कोमलसरीर सुललिय भुय,	हा पडिवज्ज सूरयइ संजय।

हा हा मरउं पुत्त तुह नयणहं, आणंदिय सज्जनहं सलोणहं
तुह पडिच्छंदह पुत्त न दोसह । पुहवी दुअइ सयलु गवीसह
हा विहि कि तुहु मई अवरइउ जेण पुत्तु देखणहं न लइउ । (१०, १५)

भविष्यत्कहा में चित्रित भविष्यानुरूपा की भाँति विलासवती भी अपने विरह में मोन है। वह वियोगाग्नि में तप कर कुन्दन की भाँति निखर उठती है। अतएव उस में मुखरता न हो कर गम्भीरता और व्याधा-वेदना की यथार्थ विवृति हाव एवं अनुभावो में लक्षित होती है। वियोगविधुरा भारतीय नारी का एक चित्र देखिए—

वह विलासवती कई विद्याधरियों से घिरी हुई थी। मुख-कमल को वह बाँयें हाथ की हथेली पर रखे हुई थी। मोतियों के समान बड़े-बड़े आँसुओं को बहा रही थी। भोजन-पान का त्याग कर दिया था। उत्तर में सदा मोन रहती थी। विविध अस्त्र-शस्त्रों को धारण किये हुए अनेक विद्याधरो से वह रक्षित थी।

सा वेडिइय बहु विज्जाहरीहि ।

मुहकमलु वाम करयले वहंति

परिचत्त पाणभोगण विहाण

सन्नाह विविह आउह घरेहि

मुत्ताहल सम अंसुय मुयंति ।

अच्छइ अदिन्न पडिबयण ताण ।

रक्खिज्जइ बहु विज्जाहरेहि । (७, ९-)

हंसी का वियोग-वर्णन

आलोच्यमान कथाकाव्य में हंसी का वियोग-वर्णन अत्यन्त मार्मिक एवं अनुभूति पूर्ण है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में इस वर्णन का निजी वैशिष्ट्य है। कवि की संवेदना में यह चित्र अत्यन्त स्फोट एवं प्रेरक बन पड़ा है। वर्णन है—वह हंसी विरह की ज्वाला में सतप्त हो कर छिन में आकाश में उड़ती, छिन में पानी में डूबती, छिन में नदी के किनारे पहुँचने की चेष्टा करती, किन्तु रेतिले तट पर बहुत कम घूमती है। शब्द सुन कर मिलने दौड़ती है, पर चकवे को देख कर सोचती है कि भ्रम हो गया। बड़ा भारी शोक होने से वह मरने के लिए निश्चय से तैयार हो गयी। जब वह नदी में डूबकी लगाती है तो उस के पंखों पर लगा हुआ कुंकुम सब धुल जाता है। कुंकुम का अंगराग धुल जाने से वे दोनो ही परस्पर एक-दूसरे को धवलकाय देख कर पहचान लेते हैं।

खणे गयणहं सहुहि, खणे जले बुहुहि विरहजलण संतावियइ ।

खणे तीरलयावणे संकमंति

निसुणेवि सद्धु एक्कहि मिलंति

तो गरुय सोय अभिभूययाई

सुरसरिहि सुत्ति बुहुंति जांम

पेक्खेवि परोप्पह धवल काउ

सुरसरिहि पुलिणे विरलइ भमंति ।

पुणु चक्कवाय संकए छलंति ।

द्वय वेवि मरण कय निच्छयाई ।

पक्खालिउ कुंकुमु सयलु ताम ।

तो दोण्हवि पक्खिजाणु जाउ ।

(११, १५-१६)

इस प्रकार संभ्रम की स्थिति में दोनों (हंस और हंसी) विरह के वेग से करुण स्वर में कूकते हैं। उन का खाना-पीना छूट जाता है। और बिन्ता से विकल हो कर मृत्यु का आलिङ्गन करने के लिए वे तत्पर हो जाते हैं।

तो गरुडविरह बेयण वसेण कूबंति दोवि करुणइं सरेण ।
आहार न इच्छहि मरणह वंछहि खणु अच्छहि चितावियइं । (११, १५)

विलासवती कथा विप्रलम्भ प्रधान प्रेमकथा काव्य है। इस काव्य में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों ही विप्रलम्भ शृंगार से युक्त हैं। ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग वियोग के विभिन्न आवर्त-विवर्तों में आन्दोलित ललित होता है। काव्य के आरम्भ से ले कर अन्त तक की घटनाएँ नायक या नायिका की विछोह एवं कष्टों से भरी लघु कथाएँ हैं, जिन में प्रेमी और प्रेमिका का सच्चा प्रेम निबद्ध है। आलोच्यमान कथा का प्रारम्भ नायक के माता-पिता के वियोग से होता है। सनत्कुमार पिता से वृष्ट हो कर ताम्रलिप्ती नगरी में चला जाता है। वहाँ उस का प्रेम राजकुमारी विलासवती से हो जाता है। किन्तु प्रेम-संबन्ध पक्का होने के पूर्व ही नायक को वहाँ से भागना पड़ता है और वह मित्र के साथ श्रीपुर पहुँचता है। वहाँ से सिंहल द्वीप के लिए प्रस्थान करता है। किन्तु पोत के समुद्र में भग्न हो जाने से मित्र वियोग का असह्य दुःख झेलता है। किसी प्रकार देव संयोग से उस वन में विलासवती का समागम हो जाने पर लौटते समय सार्यवाह के छल से नायक-नायिका पुनः वियुक्त हो जाते हैं। संयोग से फिर दोनों मिल जाते हैं। किन्तु नायक के पानी लेने जाने पर नायिका को अजगर लील जाता है और फिर उसे वियोग-व्यथा की अग्नि में तपना पड़ता है। इतना ही नहीं, विद्याधरो की सहायता से पत्नी को प्राप्त कर लेने पर भी वह अनंगरति से युद्ध करता है और उसे जीत कर विलासवती को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रस्तुत कथाकाव्य की मुख्य कथा विप्रलम्भमूलक शृंगार से ओतप्रोत है।

इस कथाकाव्य में सभी प्रमुख पात्रों को वियोगाग्नि में तपना पड़ता है। नायक-नायिका को तो विरह में जलना ही पड़ता है, पर उन के माता-पिता भी वियोग में आसू बहाते हुए दिखाई पड़ते हैं। यही नहीं, सनत्कुमार के मुनि बन जाने पर पुरवासी उन के वियोग में शोकाकुल दृष्टिगोचर होते हैं। कवि ने उन के भावों की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है।

लोएहि रुतेहि अंसु मुयंतेहि गुण सुमंरतेहि परियरउ ।
पुरमजिअ विदूहि जाव जाई नायरियह दिट्ठि ताव ठाई ।
अंपन्ति परोप्पर दुक्खियाउ सोए नयणंसु फुसंतियाउ ।
हले कीस नराहिअ दिक्खलेह कि एरिसु रज्जु न चिर करेइ ।
वेरगु कवणु हूयउ इमस्स मणइट्ठु सयलु संपडइ जस्स ।

(११, ३४)

अतएव फल की दृष्टि से विलासवती की प्राप्ति ही काव्य का साहित्यिक प्रयोजन है। किन्तु नायिका की प्राप्ति में विभिन्न संकट आते हैं। नायक संकटों में डूबता-उतराता किसी प्रकार लक्ष्य-साधन में सिद्ध हो पाता है। संकट-काल में नायक विविध-व्यथा से पूर्णतया पीड़ित दिखाया गया है। इसलिए इस रचना में विप्रलम्भ शृंगार मुख्य है।

अपभ्रंश काव्य की ही नहीं भारतीय प्रबन्धकाव्य की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि रचना का अन्त सुख में तथा शान्त रस में होता है। विलास कथा में भी समाप्ति शान्त रस में होती है। किन्तु इस में शान्त रस मुख्य नहीं है। आदि से अन्त तक विप्रलम्भ ही अविरुद्ध गति से संचरित लक्षित होता है।

शृंगार के दोनों पक्षों का उचित सन्निवेश काव्य में हुआ है। संयोग-शृंगार में—उद्यान में मिलन, परस्पर दर्शन, विवाह, काम-क्रीड़ा, विहार आदि बातें वर्णित हैं। अन्य रसों में वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक का उचित समावेश है। युद्ध-वर्णन में वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। युद्ध के समय तथा अन्य स्थलों पर रौद्र रस की अभिव्यञ्जना हुई है। इसी प्रकार हमसान वर्णन में भयानक रस अभिव्यक्त हुआ है।

पत्ताय तत्प भीसण मसाणे	बहु किलकिलंत बेयालट्टाणे ।
इज्जंति मडय वित्थयि गन्वे	चुरहुरिय धोर सावयववन्वे । ३, ७ ।

बीभत्स का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

तक्खणे समुकिन्न भाणुस किवालेण	पियमाणि सहिरासव राहय्यर सएण ।
गयणं पि अट्टट्ठासो नलोहेण	पज्जालयंतीय संजमिय सोहेण ।
तिक्खइं दाढाईं बहु हड्डं गम्भाईं	कडयड चावंति डिभाईं ।

भयानक का उदाहरण है—

अइ कसिणदेह नव नाइ मेह	जम्पासदीह चलजमलजीह ।
गुंजट्ट नयण विकराल बयण	अइ कुडिल बार सुंकार फार ।
दाढा कराल विसमुक्क जाल	कुसिय तिमाय संजमिय बाय ।

तथा—

भंमिबेवि भीसणाउ	पज्जलंत लोयणाउ ।
दाढा काडि भासुरेहि	लोलमाण जोहएहि । (६, ३०)

रौद्र रस की अभिव्यञ्जना ब्रूत के वचनों को सुन कर विद्याधर राजा के मन में तुरन्त होने लगती है। विभावानुभावों से वह भावों को अभिव्यक्त करता हुआ लक्षित होता है। हाव-भावों में क्रोध स्थायी भाव तथा विविध संचारी भावों का सुन्दर समावेश हुआ है।

अस्फालित बिय भुज समरसेण हतंत गुरोस रज्जंत नयणेण ।
 किम भिउडि अइ भोसण बाउगेण रिउ पहर विसमंति अइपरिमुसो तेण ।
 उअमिउ वच्छत्थलं वाउ निमित्तेण कोपानलेणावि अच्चंत जलिएण ।
 अन्धारियं नियमहं चंड सोहेण उव्वेल्लियं वाहुजुयलं मुहंघारअहियं । ७, १५ ।

चरित्र-चित्रण

आलोच्यमान कथाकाव्य में एक के बाद एक कई पात्र लक्षित होते हैं। किन्तु पात्रों की भीड़ में मुख्य पात्र सनत्कुमार और विलासवती दिखाई पड़ते हैं। इन दोनों का चरित्र ही मुख्य रूप से इस काव्य में चित्रित है। सनत्कुमार कथा का नायक है और विलासवती नायिका। विलासवती की प्राप्ति ही इस कथा का फलान्त है। अतएव सनत्कुमार के चरित्र में नायकोचित गुणों का सन्निवेश हुआ है। नायक और नायिका केवल परस्पर अनुरक्त ही चित्रित नहीं हैं, अपितु उनमें सच्चे प्रेम की व्याप्ति भी प्रदर्शित है।

सनत्कुमार—सनत्कुमार का चरित्र मुख्यतया राजकुमार युवक का चरित्र है, जिसकी मर्से यौवन से भोगी, नयन लाली से आपूरित तथा मन मधुर कल्पनाओं से अनुरजित एवं प्रेम की प्यास से तृपित है। अतएव प्रथम दर्शन में ही वह निक्षिप्त मौलसिरी की माला को देख कर स्नेहाकुर से रोमांचित हो जाता है। बार-बार उस का मन रस्सी तुड़ाये हुए घोड़े की भाँति काम का अनुगमन करने लगता है। किन्तु वह मित्र के समझाने पर संयम के बांध को न तोड़ कर सामाजिक मर्यादाओं का पालन करता है। इतना ही नहीं, वह अपनी इच्छा से बिना विवाह किये समागम के लिए प्रवृत्त नहीं होता। हाँ, प्रेम को बढ़ाने वाली औपचारिक बातों में वह पीछे नहीं रहता। और ऐसे ही समय पर उस की व्यवहार-चतुरता का पता लगता है। स्पष्ट ही नायक प्रेमी होने पर भी कामांध नहीं है। अतएव अनंगवती के बुलाने पर वह निर्विकल्प उस के पास जाता है और रानी के द्वारा काम-प्रस्ताव रखने पर वह उस का विरोध करता है। वह उसे समझाता है कि यह अनौचित्य है और बड़े लोगों को यह शोभा नहीं देती है। इसी प्रकार पोत के भग्न हो जाने पर जब वह आश्रम के निकट के वन में पहुँचता है और वहाँ किसी तापसी सुन्दरी को देखता है तो उस का मन उस पर लुभाता नहीं है। किन्तु जब उस को छवि मन में बस जाती है तब वह विचार करता है कि यह विलासवती ही होनी चाहिए। क्योंकि मेरा मन उसे छोड़ कर अन्य किसी में नहीं बिँधा है। यही नहीं, स्वप्न सुन्दरी का दर्शन होने पर वह कहता है कि उसी विलासवती को छोड़ कर अन्य कन्या में नहीं चाहता और कोई मेरे मन में नहीं है। उस के इस कथन से जहाँ नायक का नायिका के प्रति गाढ़ प्रेम सूचित होता है, वहीं नायक के उदात्त चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। फिर, अजगर के द्वारा विलासवती के लील

जाने पर सनत्कुमार गले में फन्दा डाल कर प्राणान्त करने के लिए तैयार हो जाता है, जिस से नायक का उत्कृष्ट प्रेम स्पष्ट निदिष्ट है।

नायक के चरित्र की दूसरी विशेषता है सहिष्णु तथा अमाशील होना। विनयंघर के समझाने पर भी सनत्कुमार रानी के आरोप का प्रतिकार करने के लिए राजसभा में नहीं जाता है और विनयंघर को राजा के आदेश के पालन की ही अनुमति देता है। वस्तुतः वह दूसरे के दोषों को ढँक कर अपने दोषों को प्रकाशित करने की नीति का पक्षपाती है।

मित्र की राय का तथा मित्र का वह यथोचित सम्मान करता है। मित्र के बिछुड़ने पर वह बहुत ही अधिक दुखी होता है। मिलने पर प्रत्येक कार्य में उसे अपने साथ रखता है तथा बराबरी का स्थान देता है।

सनत्कुमार साहसी तथा वीर है। विद्याधरों से युद्ध कर वह सच्ची वीरता का परिचय देता है। समुद्र में जहाज के फट जाने पर वह साहस नहीं छोड़ता है। किसी प्रकार काष्ठफलक के सहारे सागर तैर कर किनारे पर जा पहुँचता है। विद्या-सिद्धि करते समय उस के आत्मबल का सच्चा स्वरूप लक्षित होता है। वह सब प्रकार के उपसर्गों तथा विघ्न-बाधाओं को सहन करता है। 'प्रिया का ध्यान आने पर अपने मन को एकाग्र कर वह समाधि से विचलित नहीं होता।

संक्षेप में, सनत्कुमार धीर-वीर, साहसी, स्वाभिमानी, विवेकी, दूरदर्शी और दयालु है। चोरो की प्रार्थना से पक्षीज कर वह उन्हें मुक्त कर देता है। किन्तु पिता के द्वारा फाँसी पर चढ़ा देने से वह रष्ट हो नगर-त्याग कर देता है। इस प्रकार सनत्कुमार में राजोचित जातीय तथा वैयक्तिक गुणों का अद्भुत समावेश लक्षित होता है।

विलासवती—नायिका विलासवती सनत्कुमार के प्रति सच्चे मन से आसक्त दिखाई पड़ती है। अपने प्रेम-व्यापार के उपक्रम के लिए वह अनंगसुन्दरी दासी को सहायक बना कर सनत्कुमार का पूरा परिचय प्राप्त करती है तथा उद्यान में नियत समय पर उस से भेंट करती है। इस के पश्चात् उस की सेवा में उपहार भेज कर प्रणय-निवेदन करती है। किन्तु सनत्कुमार के इन वचनों पर कि बिना विवाह किये रति-क्रोड़ा में प्रवृत्त नहीं होंगे, विलासवती भी नायक के वचनों का पालन करती है। वह काम-वेदना की व्यथा को भोग कर भी नायक को समागम के लिए बाध्य नहीं करती। इस से पता लगता है कि विलासवती कामान्ध नहीं थी। दूसरे, वह व्यवहारोचित मर्यादाओं का पूर्णतया पालन करती है। उद्यान में दासी के साथ अकेली न जा कर माता तथा अनेक सेवक-सेविकाओं के साथ जाती है। सनत्कुमार विषयक रति भाव को वह माता से गोपन कर मन ही मन नहीं रखती। भारतीय कन्या का यह विशेष रूप इस रचना में भलीभाँति प्रकाशित हुआ है।

विलासवती के सच्चे प्रेम की परीक्षा उस समय होती है जब यह बात ताम्र-लितो में सर्वविदित हो जाती है कि सनत्कुमार का वध हो गया है। विलासवती तब प्रेम की ज्वाला में जल कर सती होने के लिए अर्द्धरात्रि के समय हमसान की ओर अकेली चल पड़ती है। किन्तु तस्करों से छूटी जा कर वह किसी प्रवृहण में समुद्र की लहरों पर चलती है और बहाव के फूट जाने पर काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करती है। यहाँ पर नायिका के साहस और त्याग का परिचय मिलता है।

स्वभाव से विलासवती सरल और लज्जालु है। इसीलिए तपोवन में सनत्कुमार को देख लेने पर भी वह घृष्टता के साथ वार्तालाप न कर बड़ी-बूढ़ी तापसी को उस के पास भेजती है। उस से भी वह तुरन्त न कह कर दूसरे दिन कहती है। इस से उस की मनोवृत्ति तथा शालीनता सूचित होती है।

विलासवती का अन्य रूप पतिव्रता पत्नी का है। वह पतिभक्त तथा अनन्य सेविका के रूप में चित्रित है। इसी लिए विलासवती सानुदेव सार्धबाह तथा विद्याधर राजा के घृणित प्रस्ताव को ठुकरा कर अपने सतीत्व का परिचय देती है। दो शब्दों में, विलासवती का चरित्र सती सीता या सावित्री के चरित्र के समान है तथा पति के प्रति भक्ति आत्मसमर्पणमूलक है।

अन्य चरित्र

अन्य चरित्र में मित्र वसुभूति, विनयंधर, अनंगसुन्दरी तथा अनंगवती आदि की कुछ चारित्रिक विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। मित्र वसुभूति सनत्कुमार का अभिन्न मित्र तथा सहायक है। वह मित्र सनत्कुमार को उचित राय से ही पुरस्कृत नहीं करता, वरन् संकट काल में विलासवती के हरे जाने पर वह उस का पता लगाता है और मित्र की भरपूर सहायता करता है। विनयंधर सनत्कुमार के वंश से उपकृत हो कर कुतज्ञता ज्ञापित करता है तथा सिंहलद्वीप की यात्रा के लिए पूरी व्यवस्था करता है। इस प्रकार जीवन दान के बदले कुमार का जीवन रक्षित कर कुतज्ञता से उद्ग्रहण होता है।

उक्त सभी चरित्रों में से अनंगवती का चरित्र कामुक तथा दुराचार से युक्त वर्णित है। अनंगवती के काम-प्रस्ताव का विरोध करने पर रानी हँस कर कह देती है कि मैं ने तुम्हारी परीक्षा के लिए ही यह कौतुक रचा है; वास्तव में नहीं। इसी प्रकार जब पुत्री के भाग जाने का वृत्त उसे ज्ञात होता है तो वह विलाप करती है और अपने किये पर पश्चात्ताप करती है। वह राजा को भी सच्चा-सच्चा वृत्तान्त निवेदन करती है। यह एक अनुभव की बात है कि जब व्यक्ति किसी मूल पर पश्चात्ताप करता है तो समझना चाहिए कि उस के स्वभाव के प्रतिकूल ही वह घटित हुई है। फिर, सनत्कुमार से मिलने पर रानी उस से क्षमा माँगती है, जिस से उस का सारा दोष धुल जाता है।

अनंगरति का चरित्र अवश्य रावण का चरित्र है, जो बिना युद्ध किये किसी भी प्रकार विलासवती को अन्त तक लौटाने के लिए तैयार नहीं होता। अनंगसुन्दरी विलासवती की दासी होने पर भी अनन्य सखी और सेविका के रूप में चित्रित है। वह प्रत्येक कार्य को विलासवती की रुचि के अनुसार तथा ईमानदारी से करती है। इस प्रकार वर्गगत चरित्रों में सनत्कुमार, विलासवती, अनंगरति तथा अनंगवती के चरित्र हैं, जिनमें वैयक्तिक तथा जातीय गुणों का भी समावेश है, अन्य वैयक्तिक चरित्र ही हैं।

आदर्श प्रेम की व्यंजना

अपभ्रंश के कथाकाव्यों में तीन प्रकार के प्रेम-रूपों का वर्णन मिलता है। पहले प्रकार का प्रेम युवक नायक और नवयौवना नायिका के विवाह के अनन्तर स्फुरित देखा जाता है। भ० क० और सि० क० में इसी प्रेम का विकसित रूप लक्षित होता है। भविष्यदन्त वास्तविक प्रेम के कारण भविष्यानुष्णा को चतुरता से और सुमित्रा को युद्धपूर्वक प्राप्त करता है। किन्तु जि० क० में जिनदत्त पुतली के रूप में चित्रित किसी सुन्दरी के रूप को देख कर उस पर मोहित हो जाता है। उस के पिता चित्रकार को बुला कर सुन्दरी का नाम, पता पूछते हैं और उसे भेज कर विमलमती को पाने का प्रयत्न करते हैं। इस में यद्यपि नायक-नायिका की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता है, पर उस की ओर से प्रयत्न होने के कारण पं० रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा वर्णित प्रेम-रीतियों में से चौथी प्रकार की कही जायेगी।^१

विलासवर्द्धका में वर्णित प्रेम-विवाह के पूर्व का प्रेम है, जो संयोग और वियोग के सागर में उठने वाले विभिन्न आवतों से कल्लोलित तथा अन्त में क्षीतल मन्द समीर से हिल्लोलित है। विलासवती मधुमास में उद्यान की ओर जाते हुए मित्र के साथ सनत्कुमार के रूप-लावण्य को गोख में से निहार कर उन पर आसक्त हो जाती है और तुरन्त ही अपने हाथों से गूँधी हुई मौलसिरी की माला उन के ऊपर छोड़ देती है। वह माला सनत्कुमार के सिर के ऊपर जा कर गिरती है। मित्र वसुभूति उसे कण्ठ में खिसका देता है। सनत्कुमार एक दृष्टि में विलासवती को देख कर उस पर न्योछावर हो जाता है। प्रेम की आग धीरे-धीरे दोनों के हृदय में सुलगने लगती है। मित्र और दासी से दोनों का उद्यान में साक्षात्कार होता है। एक-दूसरे के प्रति अनुराग प्रकट करते हैं। कुछ दिनों में प्रेमोपहार आदि भेजने और स्वीकार करने से दोनों का प्रेम-सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है। किन्तु नायक-नायिका के प्रेम-प्रणय को तब तक आत्मसात् नहीं करता जब तक विवाह नहीं हो जाता। विलासवती भी प्रेमी के वचनों का पालन करती है। इस प्रकार कवि ने विवाहपूर्वक समागम की बात कह कर प्रेम के शुद्ध

^१ पं० रामचन्द्र शुक्ल 'जायसी-ग्रन्थानवली, धूमिका, पृ० २६-२७।

रूप को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त किया है, जिस से प्रेम में आवेग के साथ ही शुद्धता भी दिखाई पड़ने लगती है। यह कवि की अपनी कल्पना और अनुभूति का मेल है कि उस ने प्रेम के आवेग की तीव्रता को समुद्र की मर्यादा की भाँति लौकिक सीमा में बाँध कर भी ऐकान्तिक प्रेम की गम्भीरता का परिचय दिया है। और इसीलिए नायक के वियोग में विकल हो कर विलासवती का आधी रात में सती होने के लिए श्मशान की ओर प्रस्थान करना, मार्ग में डाकुओं से लूटी जा कर किसी व्यापारी के हाथ लगना और समुद्र में पोत के भग्न हो जाने पर आश्रम में पहुँचना आदि ऐसी दुर्घटनाएँ हैं; जिनमें नायिका संकट झेल कर भी नायक में अपने सच्चे प्रेम को प्रकट करती है। नायक भी संकट में पड़ कर कष्टों को भोगता हुआ उसी आश्रम के उपवन में देवयोग से जा पहुँचता है, पर निराश-सा हो कर अपनी मनःस्थिति को प्रकाशित करता हुआ कहता है—उस विलासवती को छोड़ कर मेरा मन अन्य किसी कन्या को अपनाने के लिए तैयार नहीं है (सा—य विलासवई बज्जेविणु अन्नहि कन्नहि न रमइ महु मणु) इस से नायक का नायिका के प्रति गाढ़ प्रेम सूचित होता है। इतना ही नहीं, अजगर के विलासवती को लील जाने पर सनत्कुमार फाँसी लगा कर प्राण-त्याग करने को उद्यत हो जाता है। मलय पर्वत के शिखर से प्रिया को पाने के लिए कूद पड़ता है। विलासवती के हरण हो जाने पर विद्याधरो से प्राणों का मोह छोड़ कर युद्ध करता है। ये सभी घटनाएँ नायिका और नायक के आदर्श और वास्तविक प्रेम को प्रकट करती हैं।

इस कथा के प्रेम-वर्णन में नायक या नायिका के प्रेम की उग्रता न हो कर दोनों के प्रेम की अतिशय तीव्रता का मेल दिखाई पड़ता है। दोनों ही कई संकटों में पड़ कर अपन प्रेम-पथ से विचलित नहीं होते हैं। एक-दूसरे को पाने का प्रयत्न तथा साक्षात्कार के बाद प्रेमोपहार का आदान-प्रदान एवं वियोग-काल में काम-व्यथा दोनों में कवि ने समान रूप से प्रदर्शित की है।

आदर्श प्रेम की इस व्यंजना में कवि ने जिस विशेष बात को चित्रित किया है वह गाम्धर्व विवाहपूर्वक नायक-नायिका का समागम है। इस लिए सनत्कुमार का विद्याधरों से संग्राम प्रेमोन्माद के रूप में न हो कर लोक-कर्तव्य तथा सामाजिक नियमों के अनुरूप हुआ है। रामचन्द्र की भाँति सनत्कुमार अनंगरति के पास अपना दूत भेजता है और पत्नी को वापिस लौटाने के लिए निवेदन करता है। इसी प्रकार युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व स्वयं सनत्कुमार प्रिय वचनों में उस से निवेदन करता है और उस के उद्धत दर्प को अपनी शालीनता से जीत कर कर्तव्य-विधान का परिचय देता है।

इस प्रकार प्रेम की व्यावहारिकता और यथार्थता का मेल कर कवि ने जिस आदर्श प्रेम की सृष्टि की है वह मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित हो कर लोक-प्रेम एवं आदर्श रूप से मण्डित है।

संवाद-संयोजना

प्रस्तुत काव्य में कई मधुर संवादों की संयोजना उत्कृष्ट बन पड़ी है। संवाद पात्र, देश, काल तथा वातावरण के अनुसार अनुस्यूत हैं। मुख्य संवाद हैं—वसुभूति-सनत्कुमार-संवाद, अनंगवती-सनत्कुमार-संवाद, विनयधर-सनत्कुमार-संवाद, मनोरथदत्त-सनत्कुमार-संवाद, तापसी-सनत्कुमार-संवाद, तापस-सनत्कुमार-संवाद, तापस-ऋषि-सनत्कुमार-संवाद, विद्याधर-सनत्कुमार-संवाद, वसुभूति-सनत्कुमार-संवाद, अनंगरति-सनत्कुमार-संवाद, सनत्कुमार-मुनि-संवाद आदि।

इन संवादों में सरलता, स्वाभाविकता, सजीवता और कसावट निहित है, जो किसी भी अच्छे संवाद के विशेष गुण कहे जा सकते हैं। भाषा संवादों के अनुकूल तथा मधुर है। संवाद पढ़ने के साथ ही दृश्य तथा वातावरण से युक्त चित्र आँखों के सामने आ जाता है। यथा—

अंसुपबाहू मृएणि पुच्छिय	कुसलें तुम्ह सरीरि अच्छिय।
अबि अम्हहं पढ़णो तुह तामह	कुसलु कुमार किंव महरायह।
तात सुकुसलु कुमारि कहियउ	मिस सहिउ निय मंदिरे नोयउ।

संक्षिप्त और विस्तृत दोनों प्रकार के संवाद प्रसंगतः इस रचना में नियोजित हैं। तापसी और सनत्कुमार के संवाद में वह आश्रम में आने की अपनी तथा विलासवती की संक्षिप्त कहानी कहती है, जिस से संवाद बहुत लम्बा हो गया है। किन्तु समूचे काव्य में यही एक स्थल है जहाँ संवाद कथा बन गयी है। कई संवाद बहुत छोटे-छोटे तथा रुचिकर हैं। कहीं-कहीं संवादों के बीच संवाद है। जैसे कि—

“महं पुच्छिय कबणें कारणेण	सा भणइ मयणह पीडणेण।
महं अपिउ सुदरि वम्महस्स	निज्जिय नीसेस सुरासुरस्स।”
महं पुच्छिय सुंदरि कहहि मज्झु	निम्बेयह कारणु कवणु तुज्झु।
अभणिउ तीए किं अस्सिएण	वुक्खेण तस्स सहस्सि मणेण।

इस प्रकार वसुभूति उस के और अनंगसुन्दरी के बीच में किये गये वार्तालाप को सनत्कुमार को सुनाता है। इसी प्रकार विनयधर राजा की बात को ज्यो का त्यों संवाद के रूप में नाटकीयता के साथ सनत्कुमार को सुनाता है और नैमित्तिक का उल्लेख करता है। कहीं-कहीं संवादों के बीच उपदेश की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। अनंगवती के द्वारा सनत्कुमार के सामने काम-प्रस्ताव के रखे जाने पर सनत्कुमार उसे उपदेश देता है। यथा—

ता मइं तुह अपिउ निय मणेण	तुम एव्विय वड्डउं गुणगणेण।
अणुराईं भरिउ सु निम्भरेण	पज्जालिउ विरह महाजरेण।
इय विटिवि भणइ सणकुमार	संकप्पु अबिबज्जहि असार।

जा इह परलोपाहि वि विरुद्ध	एरिसु न अंव अणुहरद तुहु ।
आलोअहि निय कुलु अइ बिसालु	अप्पनउ पेक्खि तुहु सामिसालु ।
परिभावहि तुहु केवइहु नामु	अणुचितहि दारुणु विसयगामु ।

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि संवादों में कथनोपकथन की शैली सर्वथा व्यावहारिक तथा शिष्ट है। कवि के वाग्वैदग्ध्य का पता हमें अनंगवती के वचनों में मिलता है। जब वह समझ लेती है कि सनत्कुमार विलासवती का प्रेमी होने पर भी मुझे कर्तव्य की शिक्षा दे रहा है तो तुरन्त कहती है—

एत्थंतरि लच्छिय वयणियाए	जंपिउ अणंगवइ राणियाए ।
तहं साहु साहु उल्लबिउ एउ	उच्चिउ कुमार तुम्हह विबेउ ।
तुहु खु वि सीलु वि अत्थि दोवि	तइ सरिसु न दीसइ पुरिसु कोवि ।

इस प्रकार संवाचपटुता तथा चरित्रों के अनुकूल संवादों का समावेश संपूर्ण रचना में दृष्टिगत होता है। इन संवादों के माध्यम से स्थान-स्थान पर पात्रों के चरित्रों पर भी प्रकाश पड़ता है। अनंगवती और सनत्कुमार के उक्त वचनालापों से दोनों का चरित्र स्पष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार छोटे-छोटे वाक्यों में मधुर संलाप देखे जाते हैं। संवादों में चुस्ती और भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति सभी स्थलों पर अभिव्यंजित है। इन संवादों की ध्यान से पढ़ने या सुनने पर कथा-कहानो-सा आनन्द मिलता है। उदाहरण के लिए—

तुम्ह निमित्तु अम्हे पढाविय ।	
ता अम्हहं पसाउ लहु किज्जइ	नंगरियइ पबहणि जाइज्जइ ।
कुमरि जंपिय पाणपियारिय	भइहो अत्थि दुइज्जिय भारिय ।
ते भणंति को दोसु भविस्सइ	चलउ सावि कि भार करिस्सइ ।

इस प्रकार संवादों में पात्रों की सजीवता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। प्रसंगा-नुकूल संवादों में उतार-चढ़ाव तथा भावों की मायिकता निहित है। युद्ध के समय भावों में यदि स्फूर्ति और उत्साह है तो विवाह के समय पुलक और आनन्द तथा मुनि-वीक्षा के समय निर्वेद एवं वैराग्य। इन सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति संवादों के माध्यम से ही अधिकतर हुई है। उदाहरण के लिए—

अण्णे पुण पमणह ममण एउ	संसार विरसउ अम्ह देउ ।
इह लोइ ताव किउ रज्जु सारु	एवहिं पुणु इच्छइ भवहु पारु ।

संक्षेप में, कहीं-कहीं संवादों के अधिक लम्बे हो जाने के अतिरिक्त लगभग सभी गुण उक्त संवादों में प्राप्त होते हैं, जिन्हें पढ़-सुन कर सहज ही पता चल जाता है कि संवाद संयोजना में रचनाकार को पर्याप्त सफलता मिली है।

शैली

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य की प्रसिद्ध काव्य शैली कडवक बन्ध में इस कथाकाव्य की रचना हुई है। वस्तुतः कडवक शैली का सम्बन्ध छन्दोनुबन्ध से है। अपभ्रंश के प्रायः सभी प्रबन्ध काव्य सामान्यतः पदद्विधा में निबद्ध है। पदद्विधा के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। हिन्दी की चौपाई-दोहा शैली की भाँति पदद्विधा चौपाई जैसा एक छन्द है और इस के अन्त में भिन्न छन्द की योजना रहती है। इन दोनों की एक साथ रचना को ही सामान्य रूप से 'कडवक' कहते हैं। स्पष्ट ही संस्कृत के काव्यों की भाँति अपभ्रंश के काव्यों में श्लोक या दोहे न हो कर पदद्विधियों की रचना देखी जाती है।

विलासवर्द्धकहा में समूचा काव्य-कलेवर पदद्विधा छन्द तथा कडवक शैली में निबद्ध है। साधारणतया एक कडवक में छह पदद्विधा छन्द अर्थात् बारह पंक्तियाँ प्रयुक्त दिखाई पड़ती हैं। किन्तु किसी-किसी कडवक में आठ, दस और ग्यारह पंक्तियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार एक कडवक में छह पदद्विधा छन्द से ले कर बारह तक का प्रयोग इस काव्य में हुआ है। कडवक के अन्त में भिन्न छन्द का प्रयोग है। किसी-किसी कडवक में आदि और अन्त में भी भिन्न छन्द का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

काव्य-रचना की दृष्टि से वि० क० की शैली रोचक तथा वैदग्ध्यवृत्ति से पुष्ट है। अतएव वर्णनों में, संवादों में तथा घटनाओं के उतार-चढ़ाव में विशेष आनन्द एवं स्फूर्ति का अनुभव होता है। रचना-शैली की सब से बड़ी विशेषता यही है कि पाठक उत्तरोत्तर रस से आप्यायित हो रचना में डूबता जाता है और पढ़ते-पढ़ते अपने आप को क्षण भर के लिए भूल जाता है। भ० क० और वि० क० दोनों ही कथाकाव्य शैली की दृष्टि से उत्तम रचनाएँ हैं।

वस्तुतः प्रस्तुत कथाकाव्य की शैली साहित्यिक है, जिस में अलंकारों का सहज सन्निवेश, वाग्वैदग्ध्य और शब्द-योजना का सौष्ठव अन्ततः गर्भित है। इसलिए भाषा-रचना में सामासिक पदावली तथा अलंकरणता स्पष्टतया देखी जाती है। भावों की तीव्र बनाने के लिए तथा बिम्बायों को उभारने के लिए कहीं-कहीं भ० क० की भाँति मूर्तामूर्त तथा अप्रस्तुत-योजना भी लक्षित होती है। वि० क० भी इसी साहित्यिक शैली की कोटि में आती है।

संक्षेप में, शैली की दृष्टि से वि० क० साहित्यिक रचना है, जिस में संवादों की मधुरता, भाषा-सौष्ठव तथा अलंकरणता के बीच पर्याप्त रोचकता है। अतएव काव्य प्रभावविभ्यञ्जक एवं माधुर्य गुण से ओतप्रोत है।

भाषा

इस कथाकाव्य में प्रयुक्त भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है। यद्यपि कवि गुजरात का निवासी था—पर उस की भाषा परवर्ती वैयाकरणों के द्वारा निर्दिष्ट भाषा सम्बन्धी

नियमों के अनुरूप है। आ० हेमचन्द्र के नियमों में तथा इस रचना के शब्द-रूपों में अत्यन्त साम्य है। वस्तुतः प्रस्तुत काव्य पर प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। क्योंकि इसमें प्राकृत के प्रत्ययों तथा क्रियापदों का प्रयोग हुआ है। भाषा में देशीयता भी झलकती है, पर परवर्ती प्राकृत की वाक्य-रचना भी स्पष्ट है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द-रूप इस प्रकार हैं—

गत्थु, पील, कुणह, बहर, तत्ति, दूमिज्जइ, पत्ता, उक्काउ, पहरेमि, उक्कोस, गिण्ह, जंव, तंव, वज्जर, पज्जर, दुगुंछ, कुण, अप्पाह इत्यादि। यद्यपि अपभ्रंश-काव्यों में प्राकृतों की प्रायः सभी विशेषताएँ, शब्द-रूप तथा क्रियाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, पर कहीं-कहीं अन्तर भी है। जैसे कि—प्राकृत में प्रायः संस्कृत की 'क' धातु के बदले 'कुण' का प्रयोग होता है, पर अपभ्रंश में 'कह' का। किन्तु वि० क० में कुणह, खंबइ, मुमुमूरह, मुरइ आदि ऐसे ही ठेठ प्राकृत के प्रयोग हैं। ऐसे प्रयोगों में से कुछ संस्कृत के तत्सम या तद्भव प्रयोग भी हैं, जो इस प्रकार हैं—

चास (चाचक), पियाल (प्रियाल), सहयार (सहकार), पवहणु (प्रवहण), सग्रिह (सन्निभ), निम्भय (निर्भय), एला, लवंग, फणस (पनस), पल्लव, बाण, कप्पूर (कर्पूर), विसिट्ठु (विशिष्ट), तेउ (तेज), काहल, तरल, खय (क्षय), मराल, रउह (रौद्र), विवाउ (विपाक), कराल, दाड (दंष्ट्र), अलय (अलका), परोप्पर (परस्पर), सग्गु (स्वर्ग) और केय (केतु) आदि।

इसी प्रकार क्रिया-पदों पर भी संस्कृत की छाप लगी हुई दिखाई पड़ती है। कुछ क्रिया-रूप निम्नलिखित हैं—

हय (हत), फुरिय (स्फुरित), विमुक्क (मुक्त), विमुक्कमाण, ताडिज्जमाण, संटुबिय (संस्थित), गिण्ह (गृहण), परिणवइ (परिणमते), जाणंति, परिहरहु, अभिभूययाई, एसा (एषा), वयण (वदन), कप्पिय (कल्पित), जयइ (जयति) आदि।

ज्ञात होता है कि कवि साधारण प्राकृत के अच्छे विद्वान् थे। इस लिए उन की यह रचना प्रौढ़ तथा कसा हुई है। कहीं-कहीं वाक्य-रचना पर भी प्राकृत का प्रभाव लक्षित होता है। उदाहरण के लिए—

एसा य गणिज्जंती पाएणाणुट्टेण छंदेण।

संपुण्णाई जाया छत्तीससयाई बीसाई ॥ (प्रशस्ति अंत्य, ८)

रेखांकित प्रयोग स्पष्टतया प्राकृत के हैं। इसी तरह पूर्वकालिक क्रिया में जुड़ने वाला प्राकृत का पूर्वकालिककृत 'ऊण' प्रत्यय भी कहीं-कहीं प्रस्तुत रचना में दृष्टि-गोचर होता है। यथा—पढाविऊण, अबबारिऊण, गिण्हिऊण इत्यादि। उदाहरण है—

करेऊण तो देवया गुरु पणामं तुमलोकडं गिण्हिऊणं च वामं (३,१६)

यद्यपि अपभ्रंश कथाकाव्यों में सन्धिबहुल तथा समस्त पदावली का बहुत कम प्रयोग मिलता है, पर प्रस्तुत काव्य में विरल नहीं है। कई स्थलों पर साहित्यिक भाषा तथा समस्त प्रयोगों का उचित सन्निवेश दृष्टिगत होता है। समासबहुला पदावली के कुछ उदाहरण हैं—

लडियतडविडवनिवडंतसडियफला; कुरकारंबकलहंसकोलाहला; कुंचचकामसार-
सियसदाउला; कुसुममालआमोहयमहयर; उववणसुंदरकंदररबन्नु; गुरुसिहरनिरुमियगय-
समम्मु, सुमहलकल्लोलमालाउलविउलविलुलंतसंसलवेलाउलं इत्यादि।

उक्त प्रकार की रचना को देख कर कहीं-कहीं बाणभट्ट की कादम्बरी का स्मरण हो आता है। किन्तु सन्धि-रचना में संस्कृत की भाँति अपभ्रंश में जटिलता नहीं मिलती और इसी लिए कदाचित् सभी प्रकार की सन्धि-रचना दृष्टिगोचर नहीं होती। अतएव तबोवण, रयणायर, परोप्पर, हारप्पहा, अण्णाणु, कोवानल, सच्चिय आदि सामान्य रचना देखी जाती है। वस्तुतः मणोरह, विज्जासाहणु, हारप्पहा, छायाव्व आदि शब्द-प्रयोग संस्कृत से तत्सम या तद्भव रूप में गृहीत हुए हैं। अपभ्रंश की ठेठ भाषा में उन का चलन नहीं है।

इस काव्य में जहाँ प्राकृत तथा संस्कृत के शब्द-प्रयोगों तथा रूपों का समावेश मिलता है, वही सूचितयों, लोकोक्तियों तथा देशज शब्द-रूपों की प्रचुरता दिखाई पड़ती है। वि० क० में प्रयुक्त सूक्तियों में से कुछ इस प्रकार हैं—

अमिलाण कसुम समु जोव्वणंपि । (४,१४)

ता दुसहु पेम्मु विससमु विवाउ । (५,७)

उत्तम धम्म परगुह्यण सम्माणिय । (५,१२)

वच्छ लच्छ छायाव्व चंबला वंधुमिस्स जोगा न निव्वला । (६,१९)

कस्स व सयल मणोरह पूरिय । परिकम्म परिणड अडरउड । (६,२०)

लोकोक्तियाँ—

एक्कहि दिसि अच्छड तडु विसालु अन्नहि वि वग्घु दाढा करालु । (२,१४)

—एक ओर नदी है और दूसरी ओर खाई।

जिह मणु न मरइ न लट्ठियावि । (२,२१)

साँप भी मरे और लाठी न टूटे।

अहवा सयकालि समुट्टियाहं उट्टंतिय पंख पिपीलियाहं । (७,१५)

मरते समय चींटियों के भी पंख निकल आते हैं।

इस प्रकार वि० क० की भाषा मधुर, प्रवाहपूर्ण तथा शब्द-विन्यास में वैदर्भी रीति से युक्त है। म० क० की भाँति इस काव्य की भाषा प्राकृत से प्रभावापन्न तथा

शास्त्र और लोक के मेल की भाषा है। अतएव एक ओर शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह है तो दूसरी ओर लोक में परिव्याप्त वातावरण, उक्तियों तथा देशज शब्दों का भी प्रयोग है। और इसी प्रकार अनुरणनात्मक शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग दृष्टिगत होता है।

अलंकार-विधान

भ० क० की भाँति प्रस्तुत काव्य में साधर्म्यमूलक अलंकारों की मुख्यता है। अधिकतर उत्प्रेक्षा, उदाहरण और उपमा तथा लोकोक्ति आदि दृष्टिगोचर होते हैं। अंत्यानुप्रास तथा यमक तो अपभ्रंश-कविता में चित्रों के चौखटे की भाँति जड़े हुए हैं। अतएव प्रत्येक पंक्ति के अन्त में अनुप्रास-योजना या तुक का निर्वाह मिलता है। इसी प्रकार यमक भी देखा जाता है। अपभ्रंश में अन्त में ही नहीं आदि, मध्य और अन्त में तुक का प्रयोग मिलता है। यथा—

अइ कसणदेह नव नाइ मेह जमपास दीह चल जमल जोह ।
 नाहो मलंगएहि घणोहि पलंगएहि ।
 तो दुम्मुहवलेण सरवरें चंड सोहवलु न सायरनीर खुट्टिएण (७, २७)

इसी प्रकार भिन्न पंक्तियों के अन्त में तुक दृष्टिगोचर होता है। जैसे कि—

आहार न इच्छहि मरणहं बंछहि खणु अच्छहि चितावियहं ।
 खणे गयणहं उडुहि खणे जलि बुडुहि विरहजलेण संतावियहं । (११, १५)

कुछ अलंकारों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

तडतडिय तरलविज्जुल सणेहि नं पलमकालु गज्जिउ घणेहि । (६, २४)
 (स्वरूपोत्प्रेक्षा)

पेच्छवि सिरिजसधम्मु तुह । किं सम्गु एह किं असुरवासु
 किं अलय नयिरि घणयह निवासु । (सन्देह)
 दिज्जइ न दोसु कस्सवि जणइ पुव्वउ किउ फलु परिणवइ ।
 (अर्थान्तरन्यास)

जिह कुपुरिसु कोवि कयाबराहु संकुडियउ अयगह हय सणाहु । (उदाहरण)
 दोणिवि किय धुसिण विलित्तयंग जाणंति परोप्पर जिह रहंग । (भ्रान्तिमान्)
 कस्स वि सयल मणोरह पुरिय ।
 अहवा खयकालि समुट्टियाहं उट्टंति पंग पिभीलियाहं । (७, १५)
 (लोकोक्ति)

छन्द-योजना

आलोच्यमान कथाकाव्य में अपभ्रंश के अन्य प्रबन्ध तथा कथाकाव्यों की भाँति पद्यविधान निहित है। समूचा काव्य पद्यद्वारा छन्द में लिखा गया है। कड़वक के

रूप में पढ़ा दिया छन्द से जुड़े हुए अन्य छन्द भी मिलते हैं, जो निम्नलिखित हैं—
घत्ता, मरहट्टा, आवली, अन्धारी, ललिता, वदनक, विद्युत्, आभाणक, छटुणिका,
ललितक, नवकोकिल, चतुष्पदी, पद्यावती इत्यादि ।

छन्दों की दृष्टि से भी यह रचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस में कई नये छन्द भी मिलते हैं । पढ़ा दिया के अनन्तर घत्ता और चौपाई का प्रयोग ही अधिक हुआ है । चौपाई के कई भेद हैं । चौपाई के भेदों में से लघु चौपाई, विषम चौपाई और अर्द्धसम चौपाई के भेदों को प्रस्तुत रचना में ढूँढ़ा जा सकता है । छन्दों के लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

घत्ता—यह समद्विपदी छन्द है । इसमें दस, आठ और तेरह पर यति के क्रम से एक पद में एकतीस और कुल बासठ मात्राएँ होती हैं^१ । यथा—

तं पउर पयाउलु हरिकमलाउलु रायहंस दियगण पउर ।

सावएहि पवन्नउं धरिय सुवन्नउं सरवरकाणण ससु नयइ ॥

तथा

वहु लोहिय सितो पहरण जुत्ती तले रणभूमि बिहावइ ।

अव्विय सिरकमलहि तोडिय नालहि जमघर पंगणु नावइ ॥

मरहट्टा—यह भी समद्विपदी छन्द है । इसके प्रत्येक चरण में उनतीस मात्राएँ होती हैं । छह और बाद की मात्राओं पर चार-चार के क्रम से यति होती है । कुल अट्ठावन मात्राएँ कही जाती हैं^२ । जैसे—

को संसारि समा सुहउ कस्स वि सयल मणोरह पूरिय ।

वस्स न उण्णज्जइ खल्लिउ कस्स न आसा महादुम चूरिय ॥ (७, १५)

आवली : यह समचतुष्पदी छन्द है । इस के प्रत्येक चरण में बीस मात्राएँ तथा कुल अस्सी होती हैं । इस में कहीं-कहीं प्रथम छह मात्राओं पर तथा बाद में चार-चार मात्राओं पर यति देखी जाती है, पर नियम नहीं है^३ । उदाहरण के लिए—

कहयवि दिवस गय एत्थंतरे आगय,

निज्जामय फुरि मलहु बेडिय संगय ।

गन्धारी : यह भी समचतुष्पदी छन्द है । इस के प्रत्येक पद में १७, १८ या १९ मात्राएँ होती हैं^४ । सभी पदों में मात्राएँ समान होती हैं । निम्नलिखित उदाहरण में अठारह मात्राओं का गन्धारी छन्द है । यथा—

१. प्राकृतपैगलम्, १, ६६ ।

२. वही, १, २०८ ।

३. सान्ते दोनावली ।

सा हेला पादान्ते द्विमात्रोना आवली ।— छन्दोऽनुशासन, ४, ६८ ।

४. डॉ० बेल्लणकर द्वारा सम्पादित "छन्दोऽनुशासन", पृ० ३४३ ।

माणाबिह समिहाउ कुमरि महियाउ,
मुइ भूमि सर्बिहि बन्धेहि सहियाउ ।

ललिता : यह छन्द समद्विपदी, समचतुष्पदी और विषमचतुष्पदी तीनों रूपों में मिलता है । यहाँ यह समचतुष्पदी के रूप में प्रयुक्त है । समचतुष्पदी में भी इस के दो रूप मिलते हैं—चौबीस मात्राओं का और बाईस मात्राओं का । विरहांकजातिसमुच्चय में यह बाईस मात्राओं का छन्द कहा गया है और जानाशयी में इसे ही गलितक कहा गया है । उदाहरण है—

सिंदूरारुण वण्णो दिणयर अत्थमियउ,
महयल रक्खह नाइ पक्कउ फलु पनिअउ ।

वदनक : यह समचतुष्पदी छन्द है । इस के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं । क्रमशः छठी, चौथी, चौथी और दूसरी मात्रा पर यति होती है ।^१ यथा—

तं निसुणेवि भणइ विज्जाहर, केत्तिय दूरि वित्तु एहु वइयर ।
कुमरेण कहिउ इस जोयणेहि, एयह उदेसह स महीएहि ॥ (६, ७)

विद्युत् : यह भी समचतुष्पदी छन्द है । इस के प्रत्येक पाद में सतरह मात्राएँ होती हैं । क्रम से चौथी, पाँचवी, चौथी और चौथी मात्रा पर यति होती है ।^२ जैसे कि—

लोहह पंजरे घल्लिय कत्थवि,
सोह जे वा सीयंति समत्थवि ।

भामाणक : यह चतुष्पदी छन्द है । इस के प्रत्येक चरण में इक्कीस मात्राएँ होती हैं । चार मात्राओं के क्रम से यति देखी जाती है । यथा—

जो जसु चितइ पासु परजणह अपाव ह ।
तं तसु बाल वि पडइ कलुसिय निय भावह ।

छद्गुणिका : यह विषम चतुष्पदी छन्द है । इस में १२-१२ और १२-१३ के क्रम से मात्राओं का विधान है ।^३ उदाहरण है—

फुट्टुं नं बंभंडु उच्छलियउ तूरारउ,
नं रणदंसण कज्जे हूउ देवहं हक्कारउ ।

१. वही, पृ० ३४४ ।

२. वचचाहो वदनकम् । छन्दोऽनुशासन, ६, २८ ।

३. विरहांकजातिसमुच्चय, ३, ११ ।

४ छन्दकोश (रत्नशेखर सूरि), १७ ।

५. डॉ० वेत्तणकर द्वारा सम्पादित छन्दोऽनुशासन, पृ० ३६३ ।

कलितक : यह विषय चतुष्पदी छन्द है । इस में १९-१९ और १९-२० मात्राएँ दोनों पदो में होती है ।^१ नीचे लिखे उदाहरण में १९-२० मात्राओं का पद उद्धृत है—

देवह आपसेणहं पुहइ भमंतउ, देविहि सुहिकरं गिरि बेयहडे पट्टतउ ।

नवकोकिल : यह समचतुष्पदी छन्द है । इस के प्रत्येक चरण में पाँच-पाँच मात्राओं के विराम से तीस मात्राएँ होती हैं । यथा—

सुरमिहुण मणोहरु गिरिवर सिंहइ घरिय विविह वणगहणसिरि ।

सुपवित्ति सिलायलु सइ धरायलु दिट्ठु विसिट्ठु विमलगिरि ॥

चतुष्पदी : इस में चार चरण होते हैं । दो चरणों को मिला कर तीस मात्राएँ तथा—कुल साठ मात्राएँ होती हैं^३ । जैसे कि—

एरिसु निमुणेविणु तो पणमेविणु तइं पुच्छिउ सो मुणि पवइ ।

भयवं इह संजमु एरिसु दुग्गमु जो कोऊण न तरइ नइ ॥

पद्यावती . यह समचतुष्पदी छन्द है । इस के प्रत्येक पद में बत्तीस मात्राएँ रहती हैं । इस में जगण का निषेध है ।^५ यथा—

जैविणु नवि लिज्जइ सो अणु णिज्जइ जइ अवराहइ सयइ करइ ।

हुयवउ पज्जालियउ पुर अइ वलियउ दहइ तो वि को न घरे घरइ ॥

संकीर्ण स्कन्धक : यह विषय द्विपदी छन्द है । इस की प्रथम पंक्ति में बत्तीस और द्वितीय पंक्ति में तीस मात्राएँ होती हैं । यह गीति के संयोग से बनता है, इसलिए इसे संकीर्ण कहा जाता है ।^६ उदाहरण है—

निय गुरु चित्तंगह निहयाणं महा पणमवि सुंदर पयकमलु ।

मिच्छत विणासणु जिणवर सासणु दिण्डु जेण अम्हह विमलु ॥

इस की प्रथम पंक्ति में बत्तीस और द्वितीय में तीस मात्राएँ हैं । अतएव संकीर्ण-स्कन्धक है । प्रा० प्रे० में इसे सिहिनी कहा गया है ।

१. डॉ० बेजणकर द्वारा सम्पादित छन्दोऽनुशासन, पृ० ३६३ ।

२. पइ निर्भवकाकिष्ठा ।—छन्दोऽनुशासन, ४, २३ ।

३. पइ पइ जिह होइ तीस ध्रुवमसइ असवरउबरजुत्तो ।

चउकलध जुत्त ठवि ठाम घरहुक्कलु अति निरुत्ता ।—प्राकृतछन्दकोश, ३६ ।

४. प्राकृतपंगलम्, १, १४४ ।

५. चेऽहमे स्कन्धकम् ।

गीतिरेवाष्टमस्य गुरोः स्थाने चगणे कृते स्कन्धकम् ।—छन्दोऽनुशासन, ४, १३ ।

द्विपदी—यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में अट्टाईस-अट्टाईस मात्राएँ होती हैं।^१ यथा—

जंपिउ अनिलवेउ एत्थंतरे एरिस देव जुज्जए ।

पर पढयरु खंदलेहाए वि पाणिग्गहणु किज्जए ।

अन्य मात्रिक छन्दों में चित्ररेखा, विलासिनी और ललित आदि मिलते हैं। कुछ छन्द दो भिन्न छन्दों के मेल से बने हुए लक्षित होते हैं। जैसे कि—

मिउ सुरहि सुयंघ मंदएणं

आसासिउ सिसिरेणं मारुणं ।

बह दिवस परिस्समेणं

सनिह्वाविद्यत्त तखणेणं ॥

इस छन्द की प्रथम पंक्ति के प्रथम चरण में पन्द्रह और द्वितीय में सतरह मात्राएँ हैं अतएव कुसुमलतागृह छन्द है।^२ दूसरी पंक्ति में पहले पाद में तेरह और दूसरे में पन्द्रह मात्राएँ हैं इस लिए सहकार कुसुम मंजरी नामक छन्द है।^३ ये दोनों ही छन्द मिल कर इस प्रकार किसी भिन्न छन्द की ही रचना में प्रयुक्त है।

प्रस्तुत रचना में द्विपदी, विषम द्विपदी, चतुष्पदी, अर्द्धसमचतुष्पदी, विषम चतुष्पदी और षट्पदी के कई छन्द मिलते हैं। इन में अधिकतर मात्रिक छन्द प्रयुक्त हैं। कई छन्द ऐसे भी हैं जिन के लक्षण और नाम छन्द-ग्रन्थों में नहीं मिलते। उदाहरण के लिए—

मरणावे समणु वहु चित्तंतउ

निवतरुस्स तले सो जाव पडुत्तउ ।

इस के प्रथम चरण में सतरह और द्वितीय चरण में बीस मात्राएँ हैं। अतएव यह अर्द्धसमचतुष्पदी का कोई भेद जान पड़ता है। छन्दशास्त्र में इस के नाम-रूप का उल्लेख नहीं मिलता।

इन के अतिरिक्त मात्रिक छन्दों में विच्छित्ति, उद्गीति आदि छन्द तो शास्त्र-सम्मत मिलते हैं, पर निम्नलिखित छन्द का न तो लक्षण ही मिलता है और न नाम ही। यथा—

चलिउ सणकुमार वेयड्डहो छाड्य गयण मंडलो ।

वर सोन्न ण जेव मंदिरसिरि देविहिं सहुँ अखंडलो ॥

गणों में भिन्नता होने के कारण यह निश्चय ही वर्णवृत्त नहीं है। मात्रिक वृत्त में अर्द्धसमचतुष्पदी और विषम द्विपदी एवं विषम चतुष्पदी में प्रथम पंक्ति में उन्तीस

१. चरणगौ द्वितीय पद्यौ जो लीर्वा द्विपदी ।

एक कथमात्र पंच चतुर्मात्रा गुरुच । तथा द्वितीयपद्यौ चण्णौ जो लीर्वा द्विपदी ।

—छन्दोऽनुशासन, ४, ६४ ।

२. ओजे पंचदश समे सप्तदश कुसुमलतागृहम् ।—वही, ६, १६, ६४ ।

३. ओजे त्रयोदश समे पंचदश सहकारकुसुममंजरी ।—वही, ६, १६, ४७ ।

और द्वितीय में छम्बीस, सत्ताईस या अट्ठाईस के भेद से कोई छन्द नहीं दिखाई पड़ता। स्पष्ट ही यह विषमद्विपदी का कोई भेद है।

घत्ता की भाँति इस काव्य में विच्छित्ति का भी प्रयोग बहुत हुआ है। विच्छित्ति समद्विपदी छन्द है। इस के पहले पद में बाईस और दूसरे पद में बाईस तथा कुल मिला कर चवालीस मात्राएँ होती हैं।^१ इस का उदाहरण है—

तं पेच्छेविणु चिता कुमरह उप्पज्जइ

एसो वि दइय बिउत्तो बिहिणा विणडिज्जइ।

इस कथाकाव्य में मात्रिक वृत्त ही नहीं वर्णिक वृत्त भी मिलते हैं, पर बहुत कम। कुछ वृत्त तो मात्रिक और वर्णिक दोनों ही हैं तथा कुछ के लक्षण तथा नाम छन्दशास्त्र में नहीं मिलते। उदाहरण के लिए—

तो ओबंतएहि किचिवि तुज्ज कज्जयं

ता तत्थेव नेहि अप्पणि तुम्ह रज्जयं।

इस वृत्त में प्रत्येक पंक्ति में चौदह-चौदह वर्ण तथा 'मज्झरलया' लक्षण है, जो छन्दोनुशासन और भट्ट केदार के वृत्तरत्नाकर में भी नहीं है।

जिययत्तकथा

परिचय

पं० लाखू विरचित 'जिनदत्तकथा' अपभ्रंश के कथाकाव्यों में उत्तम रचना है। यह काव्य ग्यारह सन्धियों में विभक्त है। इसमें काव्य और कथातत्त्व दोनों का सुन्दर मेल है। अपभ्रंश-साहित्य में लक्ष्मण नामक दो कवियों का निर्देश मिलता है। लक्ष्मण या लक्ष्मदेव का 'णेमिणाहचरित' चार सन्धियों की रचना है, जो निश्चय ही पं० लाखू से भिन्न कवि की रचना है। क्योंकि आलोच्य प्रति के अन्त में स्पष्टतः पं० लाखू लिखा मिलता है।^१ स्वयं कवि ने अपने लिए 'लक्ष्मण' शब्द का प्रयोग किया है।^२ लक्ष्मण रत्नदेव के पुत्र तथा पुरवाहवंश में उत्पन्न हुए थे।^३ किन्तु लाखू का जन्म जायसवंश में हुआ था। फिर, दोनों की भाषा में भी अन्तर है। अतएव लक्ष्मण और लाखू दोनों भिन्न काल के भिन्न कवि हैं।

१. डॉ० बेलनकर द्वारा सम्पादित छन्दोऽनुशासन, पृ० ३३७।

२. पंडित लाखू विरचित इति जिनदत्तशास्त्रं समाप्तं। — पुष्पिका का अन्तिम भाग

३. ताहजि गंतयु सबखणु सुलखणु खखणु खखिजउ सयवजखणखणु। प्रहस्ति का अन्तिम भाग।

४. डॉ० हरिवंश कोखड़ : अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २३९।

कवि का वंश

कवि जामस या जैसवाल बंश में उत्पन्न हुआ था। क्योंकि दिगम्बर भावकों के बहुतर भेरों में जैसवाल का ही उल्लेख है; जामस का नहीं। वस्तुतः पाल या बाल शब्द बाद में पीछे जोड़े जाने लगे। मूल में जामस ही रहा होगा। यह बंश उत्तर प्रदेश और राजस्थान में अत्यन्त समृद्ध रहा है। कवि के जिला एटा के बिलरामपुर में बसने से भी यही सूचित होता है कि लाखू सपरिवार भाग कर अपने सजातीय बन्धुओं से आ मिले। वहाँ आज भी जैसवालों की संख्या अधिक है। लाखू के प्रपितामह का नाम कोसवाल था, जो जामसवंश के प्रधान तथा अत्यन्त प्रसिद्ध नरनाथ थे।^१ वे जैनधर्म के परम भक्त थे। हरियाणा प्रदेश के किसी स्थान में रहते थे। किन्तु कवि ने उस का नाम त्रिभुवनगिरि कहा है^२। त्रिभुवन-गढ़ या तिहुनगढ़ हरियाणा में न हो कर भरतपुर जिले में बयाना के निकट पन्द्रह मील पश्चिम-दक्षिण में करौली राज्य का प्रसिद्ध किला 'ताहून गढ़' है, जो आज बिल्कुल बीरान है। इस दुर्ग का निर्माण और सामकरण 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर त्रिभुवनपाल पदवी एवं उपनाम से विभूषित महाराज तवनपाल या तिहुनपाल ने किया था।^३ अतएव त्रिभुवनपाल के नाम से यह त्रिभुवनगिरि या तिहुनगढ़ प्रसिद्ध हुआ। इसका उल्लेख कवि बुलाकीचन्द के वचनकोश में मिलता है।^४ इस से यह भी पता लगता है कि वहाँ जैसवाल जाति के लोग जैसलमेर से आ कर बसे थे। कुतुबुद्दीन के आक्रमण करने पर लोग यहाँ से भाग कर इधर-उधर बस गये। बुलाकीचन्द के अनुसार कुछ लोग मथुरा में भी जा बसे थे।^५ कवि लाखू वहाँ से भाग कर बिलरामपुर में आ बसे थे।^६ बिलरामपुर जिला एटा में आज भी विद्यमान है। डॉ० जैन के अनुसार कवि का अण्द्रवाड तो फीरोजाबाद के निकट है ही, बिलराम भी एटा जिले की कासगंज तहसील का ही बिलूराम उपनाम 'कूटाशहर' प्रतीत होता है। इन स्थानों में जामसवालों की अब भी बस्ती है।^७ स्पष्ट ही यथनों के द्वारा त्रिभुवनगिरि के लूटे जाने

१. यह होताउ आसि बिनालबुद्धि

जामसहो बंस उबरणसिन्धु

जामस गरजाहो कोसवालु

२. विलसिय बिनासरस गलिय गज

३. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन : जैन-सन्देश शोधाङ्क, २, १८ दिसम्बर १९४८, पृ० २१।

४. राजा कहे पड़यो फेर

जैसलवाल तहैं तैं जान

चले चले आये सभ तहाँ

५. अण्द्रचन्द नाहुटा : कवि बुलाकीचन्द रचित बिबोर्वाक २, १८ दिसम्बर, १९४८, पृ० ७०।

६. सो तिहुनगिरि भगण्ड जवैन

लखलखु सव्वाउ समाणु साउ

सो इत्त तत्थ हिठंठु पत्तु

बुज्जिय जिनबक तिरयण बिसुठि।

मुण्णल्लज्जामल्ल माणिसकसिन्धु।

जसरसमुद्ध्यि दि (क्) चक्कवालु।

ते तिहुनगिरि गिबसंति सज्ज।

तो तुम ग्यागो जैसलमेर।

जैसवाल कहत बात प्रमान।

हुंती तिहुनगिरि नगरी जहाँ।

वचनकोश और जैसवाल जाति, जैन-सन्देश, शोधा

विस्तृत वरीण विच्छाहिबेण।

विच्छोयउ विहिणा जणिय राउ।

पुरे विलरामे लखलखु सुपत्तु।

पशसि का अन्तिम भाग।

७. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन : शोधाङ्क जैन-सन्देश, शोधाङ्क भाग २२ सं० ३६, पृ० २८।

पर जैसवाल जाति के लोग मथुरा पहुँचे होंगे और वहाँ से एटा, कासगंज, अलीगढ़ और मैनपुरी की ओर फैल गये होंगे। यह भी सम्भव है कि एक दल मथुरा की ओर चला गया होगा और दूसरा आगरे की ओर बढ़ गया होगा तथा तीसरा बुन्देलखण्ड की ओर चल पड़ा होगा। इस प्रकार जैसवाल जाति के लोग जैसलमेर से बढ़ते-बढ़ते चारों ओर फैल गये। इस जाति का यह संक्रमण यवनो के आक्रमण के फलस्वरूप हुआ। इतिहास से भी इस की पुष्टि होती है।

ऐतिहासिक प्रमाण

ऐतिहासिक प्रमाणों से पता लगता है कि प्राचीन श्रीपथ अथवा भरतपुर राज्य में, वर्तमान बयाना में यदुवंशी राजाओं का वर्षों तक राज्य रहा है। किन्तु डॉ० जैन के मत में करौली राज्य के मूल संस्थापक राजा विजयपाल थे, जिन्होंने १०४० ई० में विजयमन्दिरगढ़ नामक दुर्ग का निर्माण कराया था^१। विजयपाल मथुरा के यदुवंशी राजा जयेन्द्रपाल या इन्द्रपाल (९६६-९२ ई०) के ग्यारह पुत्रों में से एक था^२। इसी विजयपाल के अठारह पुत्रों में से एक अत्यन्त पराक्रमी तिहुणपाल नाम का राजा हुआ। त्रिभुवनगिरि या तहनगढ़ का निर्माता राजा तहनपाल था। परम्पराके अनुसार तहनगढ़ बयाना से दक्षिण में चौदह मील दूर कहा जाता है^३। परन्तु वह पश्चिम-दक्षिण में बयाना से पन्द्रह मील की दूरी पर है। तजुल मशोर के अनुसार ११९६ ई० मुहजुद्दीन मुहम्मद गोरी ने तहनगढ़ के राजा को पराजित कर ताहनगढ़ बहाउद्दीन तुघलिल को सौंप दिया था^४। उस समय तहनगढ़ का राजा कुँवरपाल था। डॉ० शरण और मजूमदार के विचारों के अनुसार ११९५ ई० में मुहजुद्दीन उत्तरभारत की विजय करता हुआ तथा बयाना और ग्वालियर को अपने राज्य में मिला कर लौट आया था। बयाना के प्रमुख कुँवरपाल ने बड़े समय के घेरे के बाद ही राजधानी और तहनगढ़ सौंप दिया था^५। यह राजा का आत्मसमर्पण था, जिस की ओर कवि ने भी संकेत किया है^६। सम्भवतः राजा साधनहीन रहा होगा अथवा यकायक आक्रमण हुआ होगा। पह दुर्ग वर्षों तक मुसलमानों के अधिकार में रहा। इस लिए आज तक फूटी दशा में पड़ा हुआ है। इस प्रकार त्रिभुवनगिरि का इतिहास कुरुगज्जनक है, जिस में भारतीय जीवन में बसे हुए छोटे-छोटे असंगठित तथा राग-रंग से रंजित राज्यों की व्यथा एवं आत्मपीडा छिपी हुई है।

१ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन : शोधक जैन-सन्देश शोधाङ्क, भा० २२, सं० ३६ (२२-३६), पृ० ५१।

२ ब्रजभारती, फाल्गुन सं० २०११, पृ० २१-२२ (जैनसन्देश से उद्धृत)

३ व रुद्रगल फार इम्पायर, प्रकाशित भारतीय विद्याभवन, प्रथम संस्करण खण्ड ५, पृ० ५५।

४, वही, पृ० ५६।

५, वही, पृ० १२०।

६, लक्ष्मणु सञ्जाउ समाणु साउ

विच्छोयउ विहिणु जणिय राउ।

पं० लालू रचित अन्तिम प्रशस्ति।

पं० लाखू की प्रशस्ति से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि कोसवाल यादववंश के राजा थे और उन का यश चारों ओर फैला हुआ था^१। कवि के पिता भी कहीं के राजा थे। श्रीधर के कवि के प्रति कथन से यही स्पष्ट संकेत मिलता है^२। लाखू के पिता का नाम साहुल और माता का नाम जयता था^३। अणुवतरत्नप्रदीप से भी यही पता चलता है।

रचना-काल

कवि का रचना-काल लगभग अर्द्ध शताब्दी तक रहा। उन का 'जिनदत्त-चरित' वि० सं० १२७५ की रचना है^४। कवि को लिखने में कम से कम एक वर्ष का समय तो लगा ही होगा। अतएव काव्य-साधना इस के पूर्व प्रारम्भ हो चुकी होगी। क्योंकि लेखक सहसा ही साहित्य-व्यापार में प्रवृत्त नहीं हो जाता। उसे पहले अभ्यास करना पड़ता है। फिर, जिनदत्तकथा जैसी साहित्यिक रचना को देख कर यह सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस के पूर्व कवि कुछ लिख चुका था। लेखक की अन्तिम रचना अणुवतरत्नप्रदीप जान पड़ती है। इस का रचना-काल वि० सं० १३१३ है^५। अतएव वि० सं० १२७०-१३१३ कवि का रचना-काल कहा जा सकता है।

रचनाएँ

यद्यपि अभी तक पं० लाखू या लखण की दो ही रचनाओं का पता लग सका है, किन्तु हमारे विचार में कवि की अन्य रचनाएँ भी संभावित हैं। लाखू विरचित 'चंदणछट्टीकहा' प्रारम्भिक रचना है, जो वि० सं० १२७० की कृति जान पड़ती है। अपभ्रंश की व्रतकथाओं की भाँति यह भी इतिवृत्तात्मक लघुकाव्य रचना है। इस में चन्दन पट्टी व्रत का माहात्म्य एवं फल वर्णित है। रचना के अन्त में 'लखण' नाम लिखा मिलता है, जिस से निश्चय ही यह उक्त कवि की रचना है^६।

१. जायसहोत्रंस उवयरणसिन्धु

जायबणरणाहुहो कोसवाल

२. ता पमणई सिरिहरु सन्नु सन्नु

जह् एन्नि सु तोवि महाणुभाब

३. साहुलहो सुपिययम मणुज्ज
ताह् जि ण दणु लखणु सुलभणु

४. बारहसय सत्तरयं पंचुत्तरयं

पढम पन्न रविचारए छट्टिसहारए

५. तेरह सय तेरह उत्तराले परिगलिय विक्कमाइच्च काले।

गुणगरुअमाल नाणिकसिन्धु।

जयरसमुद्धिय दि (ग) चक्कवालु ॥ वही ॥

६. लवियउ लखण गिप्पवन्नु।

मो साहुलसुअ जोमुअराब।

णामें जयता कयचिलय कज्ज।

लखणु लखियउ सयदल दलपणु ॥

विक्कम काल वि हत्तउ।

पुसमासि संमत्तिउ ॥

हॉ० कोछड़ के अपभ्रंश-साहित्य से उद्धृत।

६. इय चंदणछट्टिहि जो पालह् वहु लखणु।

सो दिवि भंजिवि सोबणु मोखणु जाणे लखणु।

जन्म-काल और परिवार

यद्यपि कवि के जन्म-काल के सम्बन्ध में कुछ कहना बहुत कठिन है, परन्तु त्रिभुवनगिरि के बसाये जाने और विष्णुसं किये जाने वाली घटनाओं तथा दूबकुण्ड के खिलारिख और मदनसागर (अहार क्षेत्र) में प्राप्त मूर्तिलेखों से यह निश्चय हो जाता है कि ग्यारहवीं शताब्दी में जैतवाल अपने मूल स्थान को छोड़ कर कई स्थानों में बस गये थे। सम्भवतः तभी कवि के पूर्वज त्रिभुवनगिरि में आ कर बसे थे और मुहजुद्दीन-मुहम्मदगोरी के आक्रमण होने पर बिल्लरामपुर में जाकर बस गये थे। यह घटना सन् बारह सौ के लगभग की कही जाती है। उस समय तक कवि का जन्म नहीं हुआ था।

‘अणुवयरयणपईठ’ के अनुसार कवि समुना नदी के तट पर स्थित ‘रायवड्डिय’ नाम की नगरी में रहता था। डॉ० हीरालाल जैन के विचार में वर्तमान रायभा नामक नगर ही प्राचीन रायभद्री नगर रहा होगा, जो आज भी आगरा और बाँदीकुई के बीच में विद्यमान है^१। इस से यह पता लगता है कि कवि रायभा में भी रहा है। किन्तु प्रश्न यह है कि तहनगढ़ में रहने के बहले कवि वहाँ रहता था या बाद में बिल्लरामपुर में पहुँचा अथवा रायभा होता हुआ बिल्लरामपुर गया। क्योंकि कवि ने स्वयं कहा है कि त्रिभुवनगिरि के भग्न के हो जाने पर इधर-उधर घूमता हुआ बिल्लरामपुर में पहुँचा^२। इस के दो उत्तर हैं—पहला तो यह कि कवि का जन्म कम से कम तहनगढ़ में तो नहीं हुआ था। क्योंकि कवि का ग्रन्थ-रचना-काल सं० १२७० के लगभग से १३१३ है। और तीनों ही ग्रन्थ तहनगढ़ में नहीं रचे गये। यदि जिनदत्तकथा बिल्लरामपुर वासी जिनधर के पुत्र श्रीधर के अनुरोध और सुख-सुविधा प्रदान करने पर लिखी गई तो अणुवतरत्नप्रदीप आहवमल्ल के मन्त्री कृष्ण के आश्रय में तथा उन्हीं के अनुरोध से चन्द्रवाडनगर में रचा गया^३। आहवमल्ल की वंश-परम्परा भी चन्द्रवाड नगर से बतलायी गयी है। इस से स्पष्ट है कि सं० १२७५ में कवि सपरिवार बिल्लरामपुर में था और सं० १३१३ में चन्द्रवाडनगर फिरोजाबाद के पास में। यदि हम कवि का जन्म तहनगढ़ में भी मान लें तो फिर रायवड्डिय में वह कब रहा होगा। हमारे विचार में लाखू के बाबा रायवड्डिय के रहने वाले होंगे। किसी समय तहनगढ़ अत्यन्त समृद्ध नगर रहा होगा। इस लिए उस से आकर्षित हो वहाँ जाकर बस गये होंगे। किन्तु तहनगढ़ के भग्न हो जाने पर वे सपरिवार बिल्लरामपुर में पहुँच कर रहने लगे होंगे। सम्भवतः वहाँ लाखू का जन्म हुआ होगा और श्रीधर से गाँधी मित्रता कर सुख से समय बिताने लगे होंगे। परन्तु श्रीधर के देहावसान पर तथा राज्याश्रय के आकर्षण से चन्द्रवाडनगरी में बस गये होंगे।

१. डॉ० हरिवंश कोछड़ ‘अपभ्रंश-साहित्य’, पृ० ३५७।

२. सो इत्त तत्थ हिडतु पत्तु, पुरे बिषसगमे लखणु सुफ्त।

३. डॉ० कोछड़ ‘अपभ्रंश-साहित्य’, पृ० ३५७।

कवि का जन्म सम्भवतः तेरहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ होगा। क्योंकि 'अणुव्रतरत्नप्रदीप' कवि के अन्तिम समय की रचना जान पड़ती है, जिसमें पाँच अणुव्रतों का वर्णन है। वस्तुतः बृद्धावस्था में निर्वेद भाव और धार्मिकता विशेष रूप से जाग्रत हो जाती है। अतएव विद्वान् ऐसे समय में धर्म-प्रवचन करें तो स्वाभाविक ही है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तहनगढ़ में प्राचीन काल से यदुवंशी राजाओं का राज्य रहा है। आलोच्यमान कथाकाव्य के रचयिता कवि लाखू उसी परिवार से सम्बन्ध हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से मथुरा के यदुवंशी राजा जयेन्द्रपाल से इस राज्यवंश का पूरा विवरण मिलने लगता है। बहुत कर पहले भरतपुर और मथुरा राज्य एक ही शासन के अन्तर्गत थे। जयेन्द्रपाल के पुत्र बिजयपाल हुए, जिन्होंने विजयमन्दिर गढ़ बनवाया था। त्रिभुवनगिरि का निर्माण इन्हीं ने करवाया था। इन के उत्तराधिकारी धर्मपाल और धर्मपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल हुए। महाभाग प्रशस्ति के अनुसार ११५० ई० में उन का राज्य था^१। उन के उत्तराधिकारी कुँवरपाल कहे जाते हैं। किन्तु वस्तुतः अजयपाल के उत्तराधिकारी हरपाल थे। परम्परा के अनुसार हरपाल अजयपाल के पुत्र और उत्तराधिकारी थे। महाकवि ११७० ई० का हरिपाल का शिलालेख भी मिला है^२। हरपाल के पुत्र कोशपाल थे, जो लाखू के पितामह के पिता थे। कोशपाल के पुत्र यशपाल थे। यशपाल के पुत्र लाहड़ थे, जिन के जिन-मती नाम की भार्या थी। उन दोनों के अल्हण, गाहल, साहल, सोहण, रयण, मयण, और सतण नाम के सात पुत्र हुए। इन में से साहल लाखू के पिता थे। महाकवि के शिलालेख के अनुसार हरिपाल सोहपाल के उत्तराधिकारी थे। इसी प्रकार ११९२ ई० के सहणपालदेव के शिलालेख से पता लगता है कि उस समय उन का राज्य वर्तमान था। जो भी हो, उक्त अध्ययन से यही पता चलता है कि कवि लाखू के पूर्वज यदुवंशी राज्यघराने से सम्बन्धित थे, जिस के सम्बन्ध में अभी अन्य ऐतिहासिक अनुसन्धान की अपेक्षा की जाती है।

• कथानक

अम्बुद्वीप के भरतसेन में मगध नामक अलंकृत एवं मनोहर प्रदेश में वसन्तपुर नाम का सुन्दर नगर था। उस में चन्द्रशेखर नाम का राजा राज्य करता था। उस के मैनासुन्दरी नाम की रूपवती एवं गुणवती रानी थी। उसी नगरी में श्रेष्ठी जीवदेव निवास करता था। उस की पत्नी जीवजसा अत्यन्त सुन्दर थी। किन्तु उस के कोई सन्तान न होने से वह अत्यन्त दुखी थी। एक दिन चैत्यालय में स्थित मुनिदेव से उस ने कर्ण निवेदन किया। उन्होंने कहा—पुत्री दुःख न करो। कुछ ही दिनों में तुम कीर्तिशाली पुत्र प्राप्त करोगी। अल्प समय में ही जीवजसा के गर्भ-चिह्न प्रकट हो

१. द स्मूगल फार इम्पायर, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रथम संस्करण, पृ० १६।

२. वही, पृ० १६।

गये और सुन्दर पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। उस का नाम जिनदत्त रखा गया। आठवें बरस के लगते ही बालक को उपाध्याय के घर पढ़ने के लिए बिठला दिया गया। वहाँ सभी विद्याओं और कलाओं को सीख कर निपुणता प्राप्त करता है। परन्तु यौवन को देहली पर पैर रखते ही कुमार में नाना प्रकार के काम भाव प्रकट हो जाते हैं। एक दिन वह मित्रों के साथ सहस्रकूट जिन-मन्दिर की वन्दना के लिए जाता है। वहाँ उत्कोर्ण चित्रों में वह किसी सुन्दरी के रूप को देख कर मोहित हो जाता है। उस पुतली के रूप-सौन्दर्य को देख कर उस के अंग-प्रत्यंगों में काम-व्यथा जग जाती है। रह-रह कर वह उसी का स्मरण करता है। काम की प्रायः सभी अवस्थाएँ एक-एक कर प्रकट होने लगती हैं। जीवदेव को चिन्ता होती है। तुरन्त ही चित्रकार को बुला कर वे सब वृत्तान्त पूछते हैं और लेख के साथ उसे चंपानगरी पठाते हैं। अंगदेश में बसी चंपा नगरी में पहुँच कर वह श्रेष्ठो विमल से सब समाचार कहता है। वह चित्रकार के साथ वसन्तपुर जाता है। जिनदत्त के रूप को देख कर उस का मन भर जाता है। अतएव जिनदत्त का विवाह श्रेष्ठो विमल और उस की भार्या विमला से उत्पन्न कन्या विमलमती से धूम-धाम से होता है। कुछ दिनों तक ससुर के घर रहने के पश्चात् जिनदत्त विदा हो कर सपत्नीक वसन्तपुर लौट आता है। एक दिन वह धूर्तों के साथ जुआ खेलता हुआ ग्यारह कोटि स्वर्ण हार जाता है। सात कोटि तो वह चुका देता है, पर शेष के लिए भण्डारी से माँगने के लिए कह देता है। किन्तु भण्डारी जुआ के लिए द्रव्य देने से मना कर देता है। अन्त में पत्नी से लेकर चुकाता है। जब पिता को इस घटना का पता चलता है तब वे सप्त व्यसनों के कुपरिणाम पर प्रकाश डालते हुए जिनदत्त को समझाते हैं। कुमार धनोपार्जन के लिए द्वीपान्तर जाने की इच्छा व्यक्त करता है, परन्तु वे उसे समझा-बुझा कर रोक लेते हैं।

इस बीच भोग-विलास करते हुए जिनदत्त को आठ बरस बीस जाते हैं। पिता के रोकने पर वह ससुराल जाने की इच्छा प्रकट करता है, जिसे वे मान लेते हैं। जिनदत्त पत्नी के साथ चंपापुरी में पहुँचता है। एक दिन वह वन में किसी औषधि को पा कर पत्नी को उद्यान में छोड़ कर अदृश्य हो जाता है। विमलमती तब कष्ट-क्रन्दन करती है। अन्त में पति से मिलने की आशा में निकटस्थ चैत्यालय में अजिका (साध्वी) के पास धर्म का पालन करती हुई रहने लगती है। अजिका विमलमती को सम्बोधित है कि बेटी, खेद न करो तुम्हारा पति छह महीने में लौट कर आ जायेगा। यह सुन कर वह यहाँ निश्चिन्त हो कर रहती है। जिनदत्त तीन दिन तक तो वही छिप कर रहता है। फिर, दशपुर (मन्दसौर) नगर में पहुँचता है। वह नगर के बाहर उद्यान में ठहर जाता है। वह सागरदत्त नामक सार्धबाहू परिजनों के साथ आकर रुकता है। वह जिनदत्त के रूप को देख कर चमत्कृत होता है। किन्तु सब से बड़ा आश्चर्य उसे तब होता है जब उपवन के सूखे फल-फूलों को वह हरा-भरा कर देता है। सागरदत्त जिनदत्त को अपना लेता है। एक दिन दोनों जन नगर में जाते हैं।

जिनदत्त के रूप को देख कर स्त्रियाँ विमुख हो जाती हैं। उसे स्मरण हो आता है कि बिना धन के जीवन व्यर्थ है। जिस के लिए मैं ने घर-बार छोड़ा उस का उपाजन अवश्य करना चाहिए। अतएव जिनदत्त पोत लेकर सिंहलद्वीप जाने की इच्छा प्रकट करता है। सागरदत्त भी साथ चलने की तैयारी करता है। कई द्वीपों को देखते हुए वे सिंहलद्वीप में पहुँचते हैं। उस पुर के चैत्यालय की प्रशंसा सुन कर जिनदत्त हर्षित हुआ और वन्दना के लिए नगर में गया। वहाँ मालिन के करुण क्रन्दन को सुन कर वह उस बुढ़िया से उस का कारण पूछता है। वह कहती है—इस नगर के राजा धनवाहन और रानी विजया के श्रीमती नाम की बहुत ही सुन्दर कन्या है, जो किसी रोग से पीड़ित है। इस लिए पहर भर बीत जाने पर जो मनुष्य उस के पास जाता है वह सुबह मरा हुआ मिलता है। राजपुत्री विषलता की पत्नी की भाँति लोगों को खा जाती है। वह धवलगृह में रहती है। उसे बड़ा कष्ट है। बड़े-बड़े मन्त्रियों ने मिल कर लोगों को राय दी है कि कोई उस के पास अकेला न रहे। एक दिन राजा ने सब लोगों से कहा कि पूर्व जन्म के पापोंवश से मेरे एक ही पुत्र है, जिस की रक्षा कठिन जान पड़ती है। क्योंकि वह बहिन के पास जाये बिना मानता नहीं। अतएव उसकी रक्षा के लिए किसी न किसी का रहना आवश्यक है। उस दिन से प्रति दिन कोई न कोई वहाँ भेजा जाने लगा। जो भी उस महल में जाता उसे वह दुष्ट राक्षसी जीवित नहीं छोड़ती। बूढ़ी मालिन कहती है कि मेरे एक ही पुत्र है, जो अन्धे की लाठी के समान है। किन्तु आज उसे वहाँ जाना पड़ेगा। इस लिए मैं रोती हूँ। जिनदत्त उत्तर में कहता है—हे माता, जहाँ वह राजपुत्र है वहाँ मुझे भेज दो। मैं वहाँ जाता हूँ। तुम पुत्र के साथ यही रहो। इतने में पुत्र को बुलाने के लिए हरकारा आ पहुँचा। जिनदत्त बोला—तुम अपने घर जाओ। मैं सायंकाल सुन्दरी के यहाँ जाकर बसूँगा। नहा-धोकर जिनवन्दना कर जिनदत्त ने प्रेम से बहुसस्त्रिभोजन किया। फिर सहस्रकूट जिन-चैत्यालय की वन्दना कर बायें हाथ में खाँडा और दाहिने हाथ में तलवार लेकर चल पड़ा। जिनदत्त कुमारी के यहाँ पहुँच जाता है। श्रीमती भी उस के अनुराग से उठ बैठती है और कुमार से आने का कारण पूछती है। वह पूरा वृत्तान्त सुनाता है। कुमारी कहती है कि जाओ, जाओ। मेरे पिता तुम पुरुषराज को देख कर महान् चिन्तासागर में पड़ गये हैं। इतना कहते ही उस कुमारी को विष का वेग चढ़ जाता है। तब कुमार उसे एक कहानी सुनाता है। जिनदत्त से कहानी सुनती हुई वह गहरी नीद में सो जाती है। सोती हुई वह बड़े जोर से हँकार भरती है। जिनदत्त सावधान हो कर देखता है कि उस के मुँह से घुएँ के रूप में फैलता हुआ एक काला भुजंग निकलता है। वह उस विषधर को मार कर एक पिटारी में रख देता है। अब कुमारी स्वस्थ हो जाती है। प्रातःकाल नागरिक जन यह वृत्त जान कर आश्चर्यचकित होते हैं। राजा को सूचना मिलती है। वह हाथी पर बैठ कर आता है और कुमारी के साथ जिनदत्त को लिव्वा जाता है। फिर, राजा उन दोनों का विवाह कर देता है।

सिंहलद्वीप में बहुत समय तक सुखोपभोग करने के पश्चात् एक दिन जिनदत्त राजा से घर भेजने के लिए निवेदन करता है। अन्त में राजा सम्मानपूर्वक बहुत कुछ दायजे में देकर जिनदत्त को श्रीमती तथा उन के साथियों के साथ विदा करता है। सागरदत्त श्रीमती के रूप-सौन्दर्य को देख कर काम-बाणों से पीड़ित हो जाता है। मन में यह विचार कर कि जिनदत्त को किसी प्रकार समुद्र में फेंक दूँ तो यह सुन्दरी मुझे चाहने लगेगी, छल रचता है। वह कंकड़-पत्थर कुछ डाल कर जिनदत्त को भ्रम में डाल कर परपुरुष को बचाने का ढोंग रचता है। जिनदत्त को किसी प्रकार समुद्र में गिरा कर सागरदत्त श्रीमती से काम-याचना करता है। अपने को अकेली जान कर वह उपाय सोचती है और मन ही मन चिन्तन करती है कि यदि भुज्ज में क्षील, संयम हो तो यह पोत डूब जाय। जहाज डूबने लगता है। सब लोग सुन्दरी से प्रार्थना करते हैं। जल-देवता प्रकट होते हैं और वे सब सुख से चम्पापुरी पहुँचते हैं। चम्पापुरी के उद्यान के बाहर ही चैत्यालय को देख कर श्रीमती बन्वना के लिए चल देती है और वही अजिका विमलमती के उपदेश से आसक्त हो रहने लगती है।

इधर जिनदत्त समुद्र में तैरता हुआ किसी सूखे काठ के पट्टे को प्राप्त करता है। उसी का सहारा लेकर वह समुद्र पार करने लगता है। इतने में आकाश मार्ग से जाते हुए दो पुरुष रोष करते हुए उसे दिखाई देते हैं। कुमार उन विद्याधरों की नीचे आने के लिए ललकारता है। नवकार मन्त्र का स्मरण करता हुआ वीर जिनदत्त दण्डो दिशाओं में देखने लगता है। बहुत दूर उसे पहराती हुई ध्वजा दिखाई पड़ती है। वह आशा बाँध कर उसी ओर लम्बी भुजाओं से पानी धकेलता हुआ आगे बढ़ता है। अन्त में विद्याधर उसे विमान में बिठा कर विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर नाम के नगर में लिबा जाते हैं। उस पट्टन में अशोक नामक विद्याधरों का राजा राज्य करता है। उस के शृंगारमती नाम की अत्यन्त सुन्दर कन्या है। एक बार चारणमुनि का उस नगर में आगमन हुआ था। उन्होंने बताया था कि जो वीर अपनी भुजाओं से समुद्र को पार करेगा वह इस कन्या का पति होगा। मरुवेग विद्याधर इस प्रकार जिनदत्त को पूरा वृत्तान्त सुना कर तथा राजा को बता कर अपने साथी के साथ चला जाता है। राजा जिनदत्त के साथ शृंगारमती का पाणिग्रहण कराता है। बहुत समय तक वे दोनों भोग-विलास करते हैं। राजा उसे विविध प्रकार की विद्याएँ सिखाता है। एक दिन जिनदत्त पत्नी के साथ विमान में चढ़ कर भद्रसाल आदि अकृत्रिम चैत्यालयों की बन्दना के लिए गया। द्वीप-द्वीपान्तरो में तथा मानुसोत्तर आदि पर्वतों पर भ्रमण करते हुए वेग से वे अंगदेश में चम्पापुरी नगरी के बाहर उद्यान में रुक गये। पत्नी के बहुत आग्रह करने पर भी जिनदत्त ने उसे सुला दिया और स्वयं जागता रहा। सबेरा होने पर जब वह जागती है तब निर्जन स्थान में अपने को देख कर कर्ण विलाप करती है। उस गन्धर्वदत्ता का विलाप सुन कर विमलमती श्रीमती को उस के पास भेजती है। शृंगारमती उसे वृत्तान्त सुनाती है। वह उन दोनों के साथ प्रेम से रहने लगती है।

उधर जिनदत्त सामन का रूप धारण कर लेता है और चम्पा-नरेश को तटस्थ-तरह के चमत्कार दिखाता है। एक दिन मदनमत्त हाथी के भिगड़ जाने से पूरा नगर बड़े भारी संकट में पड़ जाता है। जिनदत्त उसे विद्या के बल से शान्त कर देता है। राजा उस के साथ अपनी कन्या का विवाह करने के लिए तैयार हो जाता है, पर यह विचार कर कि यह ब्राह्मण है, हिचकता है। वह मन्त्रियों से राय लेता है। वे बताने हैं कि यह प्रच्छन्न विद्याधर है। जिस के यहाँ जिनदत्त ठहरा था, वह माँको उस से सब-सब बताने को कहता है। जिनदत्त कहता है कि चलो राजसभा में सब कुछ बताऊँगा। अन्त में राजा की प्रार्थना पर जिनदत्त पूरा वृत्तान्त सुनाता है। वह कहता है कि मुझे घर छोड़े बारह बरस बीत चुके हैं। राजा विमल सेठ को सूचवा देता है तथा जिनदत्त के साथ चैत्यालय में पहुँचता है। वहाँ उस की सभी पत्नियाँ उस के रूप को देख कर कहती हैं कि यह हमारा पति नहीं है। सब लोग समझाते हैं कि बहुत बरस बीत जाने से रूप में अन्तर आ गया है। किन्तु उनमें से कोई भी स्वीकार नहीं करती। तब जिनदत्त मुँह पर कपड़ा डाल कर रूप बदलता है। अब किसी को भी सन्देह नहीं रहता। राजा उन सब को साथ में लेकर नगर में जाते हैं। मार्ग में विमल सेठ आता हुआ दिखाई देता है। वह राजा से प्रार्थना कर सब को अपने साथ ले जाता है और यथोचित सम्मान व सत्कार करता है।

दूसरे दिन राजा ने विलासमती की लग्न भेजी। धूम-धाम से जिनदत्त का विवाह हुआ। बहुत दिनों तक वहाँ रहने के बाद माता-पिता से मिलने के लिए आतुर हो कर कुमार वहाँ से चल पड़ा। सभी पत्नियों को तपा बहुत कुछ दायजे में ले कर सेना के साथ वे वसन्तपुर में पहुँचे। नगर के बाहर पड़ाव डाल दिया। जिनदत्त राजा के पास दूत भेजता है कि या तो सेठ जीवदेव को समर्पित करो अथवा नगर का राज्य छोड़ो। राजा ने दोनों ही बातों में अपनी असमर्थता प्रकट की। अन्त में राजा जीवजसा को बुलाता है। वह विलाप करतो है। किसी प्रकार वह जिनदत्त के पास पहुँचती है। कुमार माता को साष्टांग प्रणाम करता है। राजा भी यह जान कर कि जिनदत्त आया है, कच्छनरेश नहीं है तो हर्षित हो कर मिलने जाता है। नगर में हर्ष-उत्साह से बातावरण अत्यन्त मधुर एवं सुखद हो जाता है। गाजे-बाजे के साथ जिनदत्त सपत्नीक घर पहुँचता है। नगर में बहुत बड़ा उत्सव मनाया जाता है। कुमार सभी मित्रों से मिलता है। बहुते सासू के तथा फूफो के पैर पड़ती है। जिनदत्त दायजे में प्राप्त तथा सागरदत्त से वापिस लौटायो हुई धनराशि में से बहुत कुछ दान में बाँटता है तथा भेंट स्वरूप राजा के यहाँ लेकर जाता है। राजा भी बदले में उपकरण तथा अमूल्य पात्र भेंट में देता है। यही नहीं, वह उसे आधा राज्य भी देता है। कालान्तर में सुखोपभोग करता हुआ जिनदत्त बहो रहता है। इसी बीच विमलमती से जबदत्त और सुदत्त तथा श्रोमती से गरुडकेतु, जयकेतु और सुकेतु नाम के पुत्र होते हैं। शृंगारमती से जयमित्र, वसुमित्र और सुमित्र पुत्र तथा चौथी पुत्री-रत्न उत्पन्न होते हैं। अब सभी के विवाह

होते हैं। इस प्रकार जिनदत्त नाती-पोतों के बीच सुख से समय बिताता है।

एक दिन वनमाली से समाचार मिलता है कि वन में सुसमाधिगुप्त नामक मुनिराज चार ज्ञान के धारक पधारें हैं। राजा सपरिवार उन की वन्दना के लिए जाता है। उन से पूर्व भवो की कथा सुन कर जिनदत्त को निर्वेद भाव उत्पन्न हो जाता है और वह जिन-दीक्षा ग्रहण कर लेता है। अन्त में घोर तपस्या कर स्वर्ग प्राप्त करता है।

प्रबन्ध-रचना

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की भाँति इस काव्य की रचना भी प्रबन्ध के अनुरूप है, जिस में संश्लिष-रचना के साथ ही साहित्यिक रुढ़ियों का पालन हुआ है। ग्रन्थ का प्रारम्भ चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना से होता है। फिर, कवि स्ववंश का कीर्तन कर सज्जन-सुर्जन का वर्णन करता है। अनन्तर पूर्व कवियों का स्मरण करता है। पूर्ववर्ती कवियों में वह अकलंक, चतुर्मुख, कालिदास, श्रोहर्ष, व्यास, द्रोण, बाण, ईशान, पुष्पदन्त, स्वयम्भू और वाल्मीकि का स्मरण करता है। तदनन्तर कवि आत्म-विनय का प्रदर्शन करता हुआ कहता है कि मैं देशी भाषा के लक्षणों को नहीं जानता हूँ। मैं ने उन्हें अच्छी तरह नहीं देखा है।^१ इस से यह सूचित है कि कवि ने यह काव्य देशी भाषा में लिखा है। और कवि को यह स्वीकारोक्ति सच है कि वह सभी नियमों से पूर्ण परिचित नहीं है। क्योंकि स्थान-स्थान पर वह संस्कृतनिष्ठ पदों का गुम्फन तथा शब्द-रचना को गड़ता हुआ लक्षित होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि लेखक इस भाषा को जानता ही नहीं था अथवा उस को कही सोखने जाना पड़ा था। यह तो कवि की विनय मात्र है, जिस से कुछ संकेत मिल जाता है। वस्तुतः शास्त्र और संस्कृत ग्रन्थों की साहित्यिकता के फेर में पड़ कर ही लाख पण्डित ने सालंकार वर्णन और तदनुकूल शब्दावली का प्रयोग किया है।

कवि का कथन है कि मैं ने उक्त कवियों के ग्रन्थों को न तो देखा है और न धातु, लिंग, गुण, कारक, समास, सन्धि, छन्द, व्याकरण, भाषा और देशी भाषा के लक्षणों को गुना है।^२ गुरु से भी जो सोखा है उसका भी मनन नहीं किया। और न महाधवल, जयधवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थों को देखा है। पुराणों को भी नहीं पढ़ा है।^३

१. णिक्कल्ल कु अवलं कु षडमुहो
वयविलासु कहवासु असरिसो
पुप्फयसु सुसयधु भन्तल

२. देसभासलवल्लु ण तक्कड । (१, ६)

३. ह्य कईड भो मई ण दिट्ठया
घाड लिगुणं गुणु ण कारडं
पयसमत्ति किरिया विसेमया

४. देसभासलवल्लु ण तक्कड
महाधवल्लु जयधवल्लु दिट्ठु
तह ण दिट्ठु सिद्धं तु पायड

कालियासु सिरिहरिसु कय सुहो ।

दोणु भाणु ईसाणु सहरिसो ।

वालम्भीड सम्मई रसिल्लड । (१, ६)

फुरइ केम महु मइ वरिड्ठया ।

कम्पु करणु ण समासु सारडं ।

संधिखंडुदायरण भासया । (१, ६)

मुणमि नेब आयहि गुरुक्कड ।

णउर वप्प पयमिइ वरिड्ठु ।

णउ पुराणु अइहासु गइड । (१, ६)

यह सब कुछ नहीं जानता हुआ लाखू इस काव्यकथा को क्यों कहता है, इस को लिखने का क्या प्रयोजन है ? इस के उत्तर में स्वयं कवि कहता है—यदि ऐरावत (इन्द्र का हाथी) अपनी प्रभा से लाख योजन प्रमाण घरवी को प्रकाशित करता है तो क्या अन्य हाथी अपने तेज और बल को प्रकट नहीं करते ? यदि चन्द्रमा अमृत स्फुरायमान करता है तो क्या अपने प्यारे को अन्य ओषधि* नहीं देते ?^१ जो सूर्य तीनों लोकों में घूमता है क्या वह अपनी कान्ति से घोभायमान नहीं होता ? अर्थात् होता हो है । जो सूर्य को भाँति अनन्त प्रकाश से युक्त आत्मा वाले हैं, पर अपने आप को नहीं पहचानते हैं उन के लिए मैं तुम्हारे सामने यह कथा कहता हूँ ।^२

पं० लाखू ने कई स्थानों पर अपनी इस काव्य-रचना को 'कहा' लिखा है ।^३ जिनदत्त की कथा कहना ही कवि का उद्देश्य है । क्योंकि कथा हो अपने आप में इतनी सोद्देश्य, भावपूर्ण, रसयुक्त और गौरव-गरिमा से भण्डित है कि उस के वर्णन से ही कवि-व्यापार एवं उस का जीवन सफल हो जाता है । कवि के शब्दों में जिनदत्त की कथा के प्रसाद से मेरा जीवन सफल हो गया है ।^४ कवि ने यह कथा पुरवाडबंश के दिनमणि बिलहण के नाती तथा जिनधर के पुत्र श्रीधर के अनुरोध से लिखी थी । श्रीधर बिलहरामपुर (एटा) में रहते थे । उन्होंने कवि की बड़ी सहायता की थी । क्योंकि लाखू का परिवार त्रिभुवनगिरि के उजड़ जाने पर बिलहरामपुर में आ कर बसा था । संभवतः कवि की आर्थिक स्थिति उन दिनों ठीक न होगी और साधु श्रीधर ने अर्थ-सहायता दी होगी । जो भी हो, लेखक ने उस का उपकार माना है और उस के शील-स्वभाव की बड़ी प्रशंसा की है । कवि ने इस कथा को कवित्वपूर्ण, रसयुक्त तथा विविध भावों से अनुरंजित कर अभिव्यंजित किया है । अतएव यह कथाकाव्य की कोटि का प्रबन्ध है । कथा को कवित्वपूर्ण कहने के बाद ही कवि ने रूपक के सहारे पूरी कथा के सम्बन्ध में परिचय देते हुए सांगरूपक प्रस्तुत किया है (१, ४) ।

कथा-योजना और उस का स्रोत

यद्यपि प्रायः सभी जैन-कथाओं का निर्गम तीर्थंकर महावीर की वाणी से हुआ मानते हैं । पर कई कथाएँ ऐसी हैं जो लोक में बरसों तक प्रचलित रही हैं और आज भी

* चन्द्रमा को ओषधिनाथ और ओषधिपति कहते हैं । इसलिए कवि ने ऐसा लिखा ।

- | | |
|---------------------------------|--|
| १. इवहरिष जइ तिरथ भासए | लखु जोयणो महि पयासए । |
| इयरु दंति किं गउ सातयउ | पयहु करइ गियलल समेयउ । |
| चंदु देह जइ अमिय फारउ | ओसही ण किं गिय पयारउ । (१, ६) |
| २. जइ दिगिदु तइ लोउ वोहए | कि पयगु गियरुइ ण सोहए । |
| जइ ण सुअमि गियमणि गुणव्वहा | तइहि कहमि तुन पुरउ सक्कहा । (१, ६) |
| ३. सपयसरकलह सहो हियकलह सहो | कलह सहो सेयंसबहो । |
| भगमि भुवणकलह सहो रयकलह सहो | णविजि जिणहो जिणयत्तकहा । |
| गिसुमेवि कहा जिणहरहो पुत्तु | सनहइ लनखणहो सुबुद्धि जुत्तु । (१, ९) |
| ४. ते सुपसाए महु सहलु जम्मु | लहु हवइ वप्प गिहगिय कुकम्मु । (१, ९) |
| ५. पुण पमणइ सिरिहरु गिसुणि लल्ल | पायडिय सत्तु रसमइ महल्ल । (१, ३) |

अनुश्रुतिपूर्ण में उससे मिलती-जुलती विविध कहानियाँ विभिन्न प्रदेशों में सुनने को मिल सकती हैं। अतएव इन कथाओं को लेखक लोक से ग्रहण करता रहा हो तो स्वाभाविक ही है। संभव है उन का महत्त्व एवं प्रभाव दशनि के लिए उन के पीछे धार्मिक उद्देश्य जोड़ दिया गया हो। भ० क० ऐसी ही रचना है। उस में श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य दशनि के लिए लोककथा पर धर्म का आवरण बढ़ा दिया गया है। किन्तु जि० क० में वस्तु किसी उद्देश्य विषय से पूर्व योजित नहीं है। इस में मित्र श्रीधर के अनुरोध से कवि ने बणिक् अर्हद्त्त से जैसी कथा सुनी थी वैसी ही काव्यात्मक रूप में वर्णित है।^१ इस से स्पष्ट है कि यह कथा श्रुति के रूप में बहुत पहले से चली आ रही थी। कवि के कथन से यह भी स्पष्ट है कि उस ने किसी पुराण या काव्य से इसे ग्रहण नहीं किया है। परन्तु आ० सुनतिसूर रचित “जिनदत्ताख्यान” बालोप्यमान रचना से पूर्व ही रचा जा चुका था। इस के लेखक आचार्य पाटिच्छयगच्छीय आ० सर्वदेवसूरि के शिष्य एवं दशवैकालिक कृष्ण की टीका के रचयिता थे। उन का समय अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका है, पर यह निश्चित है कि वे १० लाखू के पूर्व के हैं। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में गद्य-पद्य में लिखा हुआ मिलता है। इस की प्रतिलिपि सं० १२४६ की है। इस के साथ ही एक और जिनदत्ताख्यान प्रकाशित हुआ है, जिस की प्रतिलिपि सं० ११८६ की है।^२ लाखू की रचना तेरहवीं शताब्दी की है। अतएव निश्चित है कि उन के पूर्व ही जिनदत्त विषयक कथाएँ प्रकाश में आ चुकी थी, किन्तु कवि ने उन्हें देखा नहीं था; केवल लोक-परम्परा से सुना था। संभवतः अर्हद्त्त ने उसे किसी आचार्य से सुना ही और उसी को कवि ने निबद्ध किया हो। जो भी हो, कवि ने उसे लोककथा कहा है और उसी रूप में लोकप्रणीत वस्तु-वर्णन भी हुआ है। फिर, काव्य लिखने का प्रयोजन जन्म सफल बनाना कहा गया है, जो स्वान्तःसुखाय की भाँति अपने आप में महत् आदर्श है।^३

कथा-योजना में घटनाओं का स्वाभाविक विकास करना अपभ्रंश के कथाकाव्यों की अपनी विशेषता है। जहाँ कहीं अस्वाभाविकता प्रतीत होती है वहाँ लेखक कोई न कोई हेतु कथा या कथाभिप्रायों की योजना कर उसे गतिशील और रोचक बना देता है। जिनदत्त की इस कथा में पाठक को तब बड़ी निराशा एवं झुंझलाहट होती है जब नायक एक के बाद एक विवाह करता हुआ किसी न किसी व्याज से क्रमशः उन सभी पत्नियों को छोड़ता जाता है। कवि के ध्यान में यह घटना-तत्त्व ओझल नहीं था, इस लिए वह चंपापुरी के राजा के मुख से इस बात को कहलाता है कि जो कुमार कई विवाह कर चुका है और सभी विवाहिताओं को छोड़ चुका है उस के साथ अपनी कन्या

१. पुष्प भण्डा लिखित निम्नलिखित सप्त
पापडिय सप्त रसमह महल ।
बणि अरुहयत्त कह कहहि तेन
अहिणव विरहहि मह पुण्ड जेम । (१, ३) ।

२. १० अमृतमाल मोहनमाल भोजक ' जिनदत्ताख्यानद्वय, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सं० २००६ ।

३. ते सुप्पसाए मह सल्ल भम्मु सल्ल हवह वप्प गिहणिय कुक्कम्मु । (१, ३)

का विवाह करना कहीं तक उचित है ? किन्तु जब उसे वास्तविकता का पता लगता है तब तैयार हो जाता है। और इस प्रकार कथा में अस्वाभाविकता आने से बच जाती है। इस का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि जिनदत्त का विवाह बंधापुर की राजकुमारी से बतलाना कवि को अभीष्ट था, किन्तु उस का कारण-निदिष्ट न होने से नायक को स्वाभाविक मनोवृत्ति का परिचय दे कर ही कथा को आगे बढ़ाया जा सकता था। क्योंकि जिनदत्त पहली बार बिमलमती को बिना कुछ कहे छोड़ चुका था। और उस ने छोड़ा इसलिए था कि परदेश तथा द्वीप-द्वीपान्तरो में जा कर उसे द्रव्यार्जन करना था। इस की चर्चा वह पहले ही कर चुका था। अतएव यह विचार कर कि मैं किसी से कहूँगा तो कोई भी मुझे घर से बाहर कमाने के लिए जाने नहीं देगा और पत्नी तो किसी भी प्रकार तैयार न होगी, उस ने नहीं कहा। इस लिए पाठक अनुमान से समझ लेता है कि उस में उक्त कारण रहा होगा। परन्तु शृंगारमती को यकायक नगर के बाहर उद्यान में छोड़ देने में अस्वाभाविकता-सी लगती है। और कथा में अस्वाभाविकता होना उस का सब से बड़ा दोष है। इस का हेतु कवि ने आगे चल कर बताया है कि जिनदत्त पहले ही अपनी दोनों पत्नियों को—वहाँ के चैत्यालय में देख चुका था, जो कि उद्यान के निकट ही था। इस प्रकार की अस्वाभाविकता तथा चमत्कारों से जहाँ कथा में उत्सुकता, क्षिप्रता और नाटकीयता एवं कुतूहल का समावेश हो गया है वहीं पढ़ते-पढ़ते उपन्यास जैसा आनन्द मिलने-लगता है। कहीं-कहीं अनावश्यक घासिक उपदेश छटकता है, जिस से कथानक के प्रवाह में अन्तर आ जाता है और पाठक का भी मन ऊबने लगता है। फिर भी कुल मिला कर कथा का प्रभाव मन पर अच्छा ही पड़ता है। अपने शुद्ध रूप में यह एक प्रेमकथा है, जिस में विभिन्न लौकिक पक्षों का समाहार है। जिनदत्त का प्रथम विवाह बिमलमती के चित्र-दर्शन की प्रेरणा से होता है, जो रूप-लोभ का उत्तम निदर्शन है। रूप का लोभ मनुष्य में स्वाभाविक और प्रेम की प्रथम वृत्ति का परिचायक है। अतएव नायक के जीवन में एवं कथा में उस की संयोजना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी थी। प्रेम के ब्यापक रूप को दर्शाने के लिए वियोग को चित्रित करना आवश्यक है। क्योंकि वियोग सच्चे प्रेम की प्रथम अनिवार्य सूचिका है। वियोग में प्रेम कंधन की भाँति चिन्तानल में तप कर खरा बन जाता है। इसी लिए नायक ने वियोगाग्नि में जल कर भी वियोग को निभाया और माना। तीसरे, कवि के लिए विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन करने और जीवन के दोनों पक्षों को उतारने का यह अवसर परम उपयुक्त था। क्योंकि जिनदत्त की परीक्षा तो सभी स्थानों पर हो चुकी थी, पर उस ने किसी भी पत्नी की परीक्षा नहीं ली थी। अतएव यहाँ पर सभी की परीक्षा हो जाती है। और इसी कारण से जिनदत्त वामन का रूप तब तक नहीं बदलता है जब तक सभी पत्नियों को अच्छी तरह नहीं परख लेता। इस प्रकार यह निश्चित प्रतीत होता है कि कवि ने कई बातों को ध्यान में रख कर कथा की इस रूप में योजना की है कि वह अस्वाभाविक-सी जान पड़ती है; किन्तु है नहीं। आगे चल कर कथा में हो

उस के स्पष्ट संकेत मिलते हैं, जिस से जान पड़ता है कि लेखक उन घटनाओं तथा तथ्यों से उदासीन नहीं था।

जिनदत्ताख्यान और जिनदत्तकथा

कुछ नामों को छोड़ कर जिनदत्ताख्यान और जिनदत्तकथा में साम्य लक्षित होता है। उदाहरण के लिए सिंहलद्वीप का राजा पृथ्वीशेखर, विद्याधरों के राजा अशोक की पुत्री अंगारवती, चम्पापुर के राजा की कुमारी रतिसुन्दरी आदि नामों में अन्तर मिलता है। घटनाओं में भी कहीं-कहीं कुछ अन्तर दिखाई देता है। जैसे कि दधिपुर नगर के बाहर जिनदत्त की सार्थबाहू से भेंट होना, सिंहलद्वीप से श्रीमती का पाणिग्रहण कर लौटते समय रात को जिनदत्त को समुद्र में इस लिए डोरा या रस्सी बाँध कर उतारना कि कोई मनुष्य किसी वस्तु को लेने के लिए समुद्र में गिर पड़ा है। फिर भी जिनदत्त उतरने के लिए तैयार नहीं हुआ तो उसे रस्सी बाँध कर उतारा। जब वह उतर गया तो सार्थबाहू ने डोरी को कँपा कर उसी में छोड़ दिया। श्रीमती अपने को रजस्वला बता कर शील की रक्षा करती है और छह महीने की अवधि माँगती है। चम्पापुर के पास आती हुई साध्वियों को देख कर वह वही उतर जाती है और उन के साथ हो लेती है। इसी प्रकार जिनदत्त रथनूपुर के चक्रवर्ती राजा अशोक की कन्या अंगारवती का परिणय कर किसी दिन जन्मभूमि का स्मरण कर दक्षिण समुद्र में क्रीड़ा करने के बहाने से अंगारवती को ले कर विमान में दधिपुर के लिए चल पड़ता है। मार्ग में चम्पापुर के उद्यान में साध्वी के पास दोनों पत्नियों को देख कर प्रसन्न होता है और अंगारवती को उस के निकट ही छोड़ देता है। इस प्रकार कुछ भिन्नता होने पर भी दोनों बहुत कुछ समान हैं।

जिनदत्तविषयक अन्य कथाएँ

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि लासू कवि के पूर्व ही जिनदत्तकथा को विषय बना कर कथाकाव्यों को या काव्यों की रचना प्राकृत में हो चुकी थी, पर कवि उन से अनभिज्ञ था। प्राकृत में ही नहीं, संस्कृत में भी आ० गुणभद्र 'जिनदत्तचरित्र' की रचना कर चुके थे। यह रचना प्रकाशित भी हो चुकी है। इस की एक हस्त-लिखित प्रति जयपुर के पाटोदी मन्दिर में स्थित शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है। पं० नाथूराम प्रेमो ने गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण के अतिरिक्त आत्मानुशासन और जिनदत्त-चरित्र का भी उल्लेख किया है^१। उन का समय श० सं० ७४० से ८४० के बीच कहा जाता है। क्योंकि गुणभद्राचार्य अकालवर्ष के शासन-काल में हुए, जिस का समय लगभग श० सं० ७९७-८३३ है।^२ अतएव आचार्य की जिनदत्तचरित्र की रचना प्राकृत से भी

१. पं० नाथूराम प्रेमो : जैनसाहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० १११।

२. वही, पृ० ११६।

पहले की जान पड़ती है। उक्त रचनाओं के अतिरिक्त 'जिनरत्नकोश' में तीन अन्य रचनाओं का उल्लेख मिलता है—जिनदत्तकथा (संस्कृत गद्य) रचना काल सं० १४७४; जिनदत्तचरित्र (अ०)—रघू कृत तथा जिनदत्ताख्यान (प्राकृत गद्य)। हिन्दी भाषा में लिखी हुई कई 'जिनदत्तचरित्र' नाम की रचनाओं का पता चलता है। उन में से कुछ निम्नलिखित हैं :—

१. जिनदत्तचरित्र—कवि कमलनयन-पद्यानुवाद (भाषा), २० का० सं० १८७१।
२. „ —पं० बख्तावरमल्ल—भाषा, २० का० सं० १९०९।^२
३. „ —मुनि विश्वनूषण—भाषा (चौपई बन्ध), २० का० सं० १७३८।
४. „ —पन्नालाल चौधरी भाषा; २० का० सं० १९३६।
५. „ —पं० श्रीलाल काव्यतीर्थ—हिन्दी अनुवाद।

कन्नड भाषा में पद्यनाम कृत 'जिनदत्तचरित्र' का पता मिलता है। इसी प्रकार सम्भव है कि अन्य भारतीय भाषाओं में भी जिनदत्तकथा का आधार ले कर साहित्यिक रचनाएँ लिखी गयी हों। क्योंकि जैन साहित्य में एक ही विषय तथा वस्तु पर विभिन्न आचार्यों द्वारा विविध रचनाएँ प्रत्येक युग में लिखी जाती रही हैं।

वस्तुवर्णन

यद्यपि जिनदत्तकथा में कुछ वर्णन परम्पराभूत एवं प्राचीनता के द्योतक हैं, पर कुछ नवीनता लिये हुए भी हैं, जिन में लोक-समाज तथा रीति-पद्धतियों का सटीक वर्णन है। वस्तुतः कुछ वर्णन प्रबन्धात्मकता के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी होते हैं। ऐसे वर्णनों में नगर-वर्णन, रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, बाल-वर्णन, संयोग-वियोग-वर्णन, विवाह-वर्णन, यात्रा-वर्णन तथा नायक के साहसिक कार्यों आदि का वर्णन कहा जाता है। अतएव वस्तुवर्णन में प्राचीन वर्णनों का होना या न होना महत्वपूर्ण नहीं है, बरन् वर्णन की शैली में पुराना या नयापन होने से उस का महत्व है। पं० लाखू की शैली की यह विशेषता है कि वे अलंकृत शैली में वर्णन करते हुए भी लोकशैली का आनन्द प्रदान करते हैं। बहुत कम स्थल ऐसे हैं जहाँ चमत्कार से भरित होने के कारण अर्थ दब-सा गया है। इस का मुख्य कारण कवि की साहित्यिकता है, जो शास्त्रीयता में बंध कर चलती है।

नगर-वर्णन

आलोच्यमान कथाकाव्य में चार स्थलों पर नगर-वर्णन मिलता है। चारों ही वर्णन एक-दूसरे से भिन्न हैं। कवि ने सिंहलद्वीप का वर्णन नहीं किया। इस के दो ही

१. कामताप्रसाद जैन, हिन्दी जैन साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० २१४।

२. वही, पृ० २२०।

कारण जान पड़ते हैं—एक तो यह कि जिनवत् को तथा शङ्करों को खिहल के राजा और उस की राजकुमारी का विवरण मालिन से मिलता है। वह असंभवतः जितना परिचय दे सकते थे उतना दिया। दूसरे, सम्भव है कि खिहलद्वीप के सम्बन्ध में कवि को विशेष जानकारी न हो। वसन्तपुर का कवि ने बहुत विस्तृत वर्णन किया है। प्रथम सन्धि के नवम कड़वक से ले कर तेरहवें तक वसन्तपुर का अलंकृत वर्णन है। विविध छन्दों में काम्यात्मक वर्णन करना कवि की विशेष प्रयुक्ति है। किन्तु चम्पासुरी का वर्णन दो ही कड़वकों में सीधा-सादा वर्णित है। दधिपुर (दक्षपुर) का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वहाँ के गोपुर स्वर्णनिर्मित हैं। वे इतने ऊँचे हैं कि आकाश को छूते हैं। परिखाएँ लबालब जल से पूर्ण हैं। सभी जाति के लोग उस पुर में रहते हैं। सभी अपने धर्म का पालन करते हैं। उस पुर के भव्य बन्द और सूर्यकान्त मणि के बने हुए प्रकाशमान हैं। सभी पाप-कर्मों से रहित पवित्र हैं। वहाँ किसान जोग धान्य के आश्रित हैं वहाँ के लोगों में प्रेम प्रदोष के समान निर्मल है। उस पुर में उत्पन्न होने वाले फल सभी की इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। वहाँ निरन्तर शीतल, सरस सरने कलकल करते हुए बहते रहते हैं। वृक्ष वहाँ छाया देने वाले हैं। समस्त सुखों से वह पुर भरपूर है। इस प्रकार वहाँ किसी बात की कमी नहीं है। (३, १४) इसी प्रकार दो कड़वकों में समस्त पदावली तथा सालंकार भाषा में कवि ने रथनूपुर का वर्णन किया है। लगता है कि बाणभट्ट ही कादम्बरी में किसी नगरी का वर्णन कर रहे हों।

मुहिगिरिसरिस पिउ परिह परियरियउ	रयगघणकणकणयसुवणजण भरियउ ।
तरणियररयणयरपउपरितवियउ	रयणियरमणिकिरणयलियजलघवियउ ।
अरुणमणिफुरणसुपसरण अरुणियणहो	कसणसिरिरयणकरफुरणकसणियपहो ।

इत्यादि (५, ४)

कवि की यह अलंकृत शैली प्रायः सभी वर्णनों में दिखाई देती है। वस्तुतः यह संस्कृत-साहित्य के अध्ययन का निदर्शन है। स्पष्ट ही कवि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का अच्छा विद्वान् एवं पण्डित था।

बरात का वर्णन

बरात का वर्णन यथार्थ रूप में किया गया है। शैली प्रसाद गुण युक्त तथा मधुर है। वर के हाथों में कंकण पहना कर स्त्री-पुरुष विवाह के लिए प्रस्थान करते हैं। साथ में भाँति-भाँति के बाजे बजते हैं। महिलाएँ मंगल-गीत गाती हैं। कुमार के दोनों ओर चमर के साथ युवतियाँ चलती हैं। सुन्दर और सुवासित वस्त्रों से युक्त तथा कम-बोय ललनाएँ पूनम के चन्द्रमा की भाँति दोसियान् हो रही थीं। सुन्दरियाँ स्त्री जनों के बीच नाच रही थीं। इस प्रकार जय-जय शब्द करते हुए पुर में सभी पैदल चल रहे थे। साथ में एक करोड़ बैल शोभायमान थे। उन के सींग मण्डित थे। गले में घण्टियाँ

टमटमा रही थीं। लीव काटे भर-भर कर उन बेलों पर चले जा रहे थे।

कंकणकलियहृत्यह्य हेलए मंदलमहुर घोसया
 बबककुडुकबुबकमुक्कारव वज्जिरणंदि घोसया ।
 मंगलचारसार वरणारिउ महुररवाउ संगया
 उभयवक्कु वरहो जुबईउचारिअ वमर संगया ।
 सरसोहंसचारवच्चिववउ वर वरवासरे मंडिउ
 हइ सयलु पुण्णिमाईदुव तणु दित्तिअ अहंठिउ ।
 सियरिसमूहत्थवियंवरु णिहिल सुहोणमूसिउ
 हयहिंसारवेण भेसियदिसु मणियरु तिमिरु सेसिउ ।
 णिरु णच्चंतु चारु णारीयणु पयलिय सेवविदओ
 वरयत्तिअभारणभारियघरकंपियकुयलि कंदओ ।
 छत्तावलि णिरंतर तरिय तरणि करणियरकंतउ
 पुरउ चरंतु चारुचारणउल्लु जयसहोचरंतउ ।
 गलि घंटा टणंत सवलावय ववल करोड
 सोहणा परमपिसंडिवद्धंसिग गारुणलुलियंवरवणा । २,१० ।

और उन के साथ इतने धोड़े थे कि खुरों से उठी हुई धूल उन लोगों की आँखों में भर रही थी। इस प्रकार आनंद-प्रमोद से भरे हुए अनगिनत लोग काम-विलास को उत्पन्न करते हुए उस बारात में चले जा रहे थे।

चलियागणिय बुज्जदुगिअहु कलकट्टाल भारिया
 कावडिकलियकंधयिरपक्कल चलिया हिल कहारिया ।
 हयलुरखयकुरेणुलुंपिय वरयत्तिणराण लीयणा
 सामीयमण सयल संचलिय कामविलासकोयणा ।
 इसी प्रकार विवाह का भी सजीव वर्णन हुआ है।

विवाह-वर्णन

विवाह-वर्णन में कवि ने सभी मुख्य बातों का वर्णन किया है। विवाह के लिए घर ससुर के द्वार पर पहुँचता है। चारों ओर गीत तथा वाद्य-ध्वनि से दिशा-मण्डल भर जाते हैं। कल-कल कोलाहल और बन्दी जनों के स्तुति-पाठों से सब कुछ व्याप्त हो जाता है। उसी समय कन्या का शृंगार किया जाता है। महिलाएँ मिल कर मंगल गीत गाती हैं। घर के सम्मुख कन्या को बैठाया जाता है। परस्पर एक-दूसरे को देखने से काम-भाव तथा मदन-विलास उत्पन्न हो जाता है। दोनों ही एक-दूसरे की ओर अभिमुख होते हैं। गोत्राचार होने के बाद पाणिग्रहण का कार्य आरम्भ होता है। उस समय जिनदत्त कटाक्षपात करता है। बार-बार बाँकी दृष्टि से विमलमती को देखता

है। वह लज्जा (श्रोत्रा) वक्ष पैर के अंगूठे से धरती को खुरचती है। उस के चंचल नेत्र काम को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार एक दूसरे को देखते हुए वे दोनों वहाँ बैठे रहे। ब्राह्मण ने पूजा-विधि संपन्न कर बन्धुओं के द्वारा वर-वधू की अंगुलियों को एक दूसरे में पिरो दिया, मानो प्रथम स्नेह के रस से बीजांकुर ही उत्पन्न हो गया हो।

सो तर्हि कालि णववरो णं रईवरो पत्तु मामदारे ।

विलया गेयसंकुले कलकलावले वंदिवंदसारे ॥

ताम पसाहियावि सा बालिया बत्थाहरणभूषिया
मंगलसह मिलिवि बरकामिणिबर-सम्मुहं णिवेसिया ।

अण्णोण्णाबलोयणुप्पण्हं णवरविलासकयदिही

अहिणवणयपउरपसरणभरभारियवल्लहामही ।

तहो दंसणजलेण अहिसित्तउ मणदलरइरसडिडउ

गुणमुच्छाउ ताहे परिमिल्लउ पणयावणिउ वडिडउ ।

जहं जहं सरलतरलणयणाबलि वल्लहवणवणरुहे

खिवइ पसण्णवाल तहं तहं वर उल्लसियंतु कयसुहे ।

.....

.....

वरबंधवेहि कुम्बरीहि करे अंगुलीए अंगुत्यलउ ।

पोयउ णं पढमसणेहरस रेहइ वीयंकुर वलउ ॥ (२, १२)

विवाह-वर्णन की भाँति काम-क्रीडाओं का भी सजीव और विस्तृत वर्णन हुआ है। नायक-नायिका के हाव-भाव, अनुभाव और विभावों का अच्छा चित्रण संप्रेष्य बिम्बो के माध्यम से हुआ है। इसी प्रकार कामज्वर से पीड़ित जिनदत्त का वर्णन भी सूक्ष्म, विस्तृत और हृदयग्राही हुआ है।

हाट-वर्णन

हाट का स्वतन्त्र वर्णन इस काव्य में नहीं है। नगर-वासियों के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए कवि ने प्रसंगतः निर्देश किया है। उस रथनूपुर में मनोहर वेश्याएँ चित्त को चुरा लेने वाले मणिमय हारों को पहने हुए द्वार-द्वार पर स्थित थीं। रात हो जाने से जुआरी फणों को छोड़ कर अपने घर जा रहे थे। रस से भरित वेश्याएँ विटों से घिरी हुई बैठी थी। तमोलो मोल-मोल कर रहे थे। माली फूलों की मालाएँ दे रहे थे।

मणहरणिरारमणे हार मणिमयहार उरे घुल्लिय ठिय दारे दारे जि गियहार ।

परिहरेवि टिट्टाइ जूयार घरे जंति रसविडवि बिडणिविड वेसोय बहिठंति ।

तंमोलिया मोल्लंत मोल्ल अप्पंति मालिय पसूणोह माला समप्पंति । ५, १३ ।

इस प्रकार वेश्याओं का वर्णन ही कवि ने मुख्य रूप से किया है।

सिंहलद्वीप-यात्रा-वर्णन

सिंहलद्वीप की यात्रा में लेखक ने कई द्वीपों के नामों का उल्लेख किया है, जो या तो मार्ग पर थे अथवा जो एक ओर छूट गये थे। घर से यात्रा के लिए प्रस्थान करने का भी पूरा वर्णन हुआ है। समुद्र-तट पर आकर ठहरने, रसोई-भोजन करने आदि का भी वर्णन आलोच्यमान काव्य में है। समुद्र के तट की शोभा, प्रकृति के विविध परिवर्तनों के बीच उस की श्री तथा समुद्र का वर्णन करने के अनन्तर कवि जहाज को ठेलने, उस को सजाने आदि का वर्णन करता है। पोत में बैठ कर सब जा रहे हैं। समुद्र गरज रहा है। पोत बहा चला जा रहा है। वेणा तट को छोड़ कर वह हिम द्वीप पहुँचता है। वहाँ से भंभापट्टन होता हुआ कुंडलद्वीप पहुँच जाता है। मार्ग में मैनाग द्वीप एक ओर रह जाता है। इस के पश्चात् वे तिलक द्वीप की ओर बढ़ते हैं। किन्तु उसे छोड़ कर सहजावद्द्वीप की ओर मुड़ते हैं। वहाँ से छोहारद्वीप का मार्ग पकड़ते हैं। फिर मेच्छ, पावाल (प्रवाल) द्वीप में विश्राम करते हुए वे वडवानल से बच कर आगे बढ़ते हैं, जहाँ वैदूर्यमणि की एक खान मिलती है। वहाँ पर क्रय-विक्रय कर लाभ लेकर रत्नद्वीप में पहुँचे। फिर, हीरा की खान को छोड़ कर रत्नों की अंगोर कर सेतु-बन्ध पहुँचे। वहाँ से नीलमणि द्वीप में गये। उस नीलमणि द्वीप में पाँच सौ धनुष ऊँची जिनप्रतिमा स्थित है। वहाँ ऋषभनाथ की वन्दना कर पोत में बैठ कर सब आगे बढ़े। अन्त में जहाँ बीस सौ धनुष ऊँची जिनप्रतिमा विराजमान है, ऐसे उस सिंहलद्वीप में आ पहुँचे। पोत के तट पर लगते ही सब भार उतार कर नीचे रखा गया। सभी आनन्द से नीचे उतर गये।

समुद्र-वर्णन

समुद्र का वर्णन जिनदत्त कथा में अत्यन्त सजीव है। पदने के साथ समुद्र का चित्र आँखों के सामने उतर आता है। अनेक गाँव, पट्टन, प्रदेशों को पार करते हुए सार्धवाह के साथ सभी लोग सानन्द समुद्र के तट पर बहुत दिनों के बाद पहुँचते हैं। वह समुद्र जल से लबालब भरा हुआ तथा अनेक रत्नों से प्रकाशमान ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्र ही हो। निरन्तर किलोल करने वाली लहरें उस में स्फुरायमान हो रही थी। श्वेत चन्द्र के समान उज्ज्वल फेन-राशि शोभायमान हो रही थी। जल में स्नान करते हुए चिंघाड़ते हाथी सज रहे थे। भयानक भगर विचरते हुए तीर पर दिखाई दे रहे थे। किनारे पर मछलियाँ समुद्र के हार जैसी शोभित हो रही थी। बार-बार नाके आदि समुद्र के जलजीव चमक जाते थे। अत्यन्त धवल शंखों की माला सुखदायक थी। कहीं-कहीं तिमिमत्स्य चंचलता से चमकते शोभायमान हो रहे थे।

दिग्वह्व सो सत्यवाहो बहंतो सह्रिसु अकूवारतीरे पट्टतो ।
जलबहुलु ता तेण दिट्ठो णईसो बहुरणभासित्लड णं सईसो ॥
अणवरय कल्लोल धोलंत फारो सियससिव डिढीरपिडोह तारो ।

जलकरडि मज्जंत गज्जेहि सज्जो जलगरविरधंत गत्ते मणुज्जो ।
 मयर बिबरताण सोरे दुहिल्लो सरलयर हारस्लिजो कंठतुल्लो ।
 महफुरियणवकंक्रियो णं मुहुल्लो अहधवलसंसाबलीए सुहिल्लो ।
 परिफुडिय सुसीउडे संकडिल्लो तिमितरल जंपंति एवं कुडिल्लो । १, २२।

इन के अतिरिक्त राजा चन्द्रसेखर, घनवाहन, अशोक तथा जिनदत्त आदि का अच्छा वर्णन हुआ है। जिनदत्त का वर्णन दो स्थलों पर मुख्य रूप से बहुत ही उत्तम बन पड़ा है। सागरदत्त जब पहली बार जिनदत्त को देखता है तो उस के रूप-सौन्दर्य का उत्कृष्ट वर्णन कवि ने किया है। दूसरी बार सिंहलद्वीप से लौटते समय समुद्र और जिनदत्त के बीच की बहुत ही सुन्दर तुलना अलंकृत शैली में की है। इन वर्णनों को पढ़ कर बाण की कादम्बरी का स्मरण हो आता है। किन्तु वस्तु और शैली में अन्तर होने से पं० लाखू का व्यक्तित्व अलग ही स्थान रखता है।

बाल-वर्णन

बालक जिनदत्त के वर्णन में भी कवि का वैशिष्ट्य लक्षित होता है। कुछ बड़े हो जाने पर बालजिनदत्त स्वर्ण के बने हुए उस मन्दिर में घुटुरन चलते हैं। आँगन में बिचरते हुए क्रीडाएँ करते हैं। हाथों के बल धीरे-धीरे खिसकते हैं। उन की क्रीडाओं को देख कर लोग हर्ष से भर कर उन्हें उछालते हैं, कपोलों की चूमते हैं। सोने की घुँघराओं से मण्डित उन के पगों की तथा मुग्ध बेश को देख कर साहु जीवदेव आनन्द-दायक बाल को अपनी गोद में बिठा लेते हैं। बालक के सहजात कुटिल कैश तथा धूलिघूसरित वस्त्र अत्यन्त शोभायमान होते हैं।

बियरह पंगणे कीलाबिसेसु तणुतेबोहामिय बासरेसु ।
 करे करे संचरह लुबण्णधामु बालुवि जायउपायडिय गामु ।
 हल्लर हल्लर हल्लर सरेहि णरणाहि बिलासिणि सायरेहि ।
 उच्चाहल्लिंति गुणमणिबरिट्ठु चुंबंति तुंडु गंडुवि बिसिट्ठु ।
 कणयमय धुघरावलि विसेस मंडिय पयाइं गय मुल्लवेस ।
 पेच्छेवि ससूणु वणिजीवदेउ उच्छंणि लेह आणवहेउ ।
 सहजाय कुडिल कुंतल जडिल्लु धूलिघूसरियावयकडिल्लु । (१, २३) ।

रूप-वर्णन

नगर-वर्णन की भाँति रूप-वर्णन भी आलोच्यमान कथाकाव्य में बार स्थलों पर हुआ है। रूप-वर्णन में कवि ने केवल बाह्य सौन्दर्य को ही बिम्बों में मूर्तिमान् नहीं किया है, अपितु आन्तरिक सौन्दर्य का चित्र भी संप्रेष्य बनाया है। वर्णन सभी एक से एक सुन्दर तथा संगीत है। उदाहरण के लिए शिल्पी विमलमयी का वर्णन करता हुआ कहता है कि कमनीय कुण्डलों के बीच उस कन्या के सुन्दर कान झलमलते हैं। उद्दीप्त एवं तपाये हुए सोने की भाँति वे अनुरजित हैं। उन को देखते ही स्नेह से जन-जन मोहित हो जाते

हैं। सभी बेणी बलकों से अलंकृत उस की पीठ पर झूलती रहती है। साड़ी का सुन्दर पल्लव नीचे हार उस के तन पर बहुत खोभा पाते हैं। कपोलों पर प्रस्वेदजल की बूँदें क्षोभित होती हैं। सोने से गढ़ी गयी प्रतिमा की भाँति वह बाला सोहती है। यही नहीं, बहुत-सी गीत-कलाओं में भी वह कुसल है, जो मुनियों के मन के समान मोह लेती है। वह बहुत गुणों से भरपूर कोयल के समान मधुर बोलने वाली है। हे वनिकर ! क्या एक जिह्वा से उस का वर्णन हो सकता है ?

तह दुहिय दुहरहिय विमलामह कण्ण कमणीयकुंडलझलकंत वरकण्ण ।
उदित संतविय सोवण सुपहाल पिच्छंत जणमोहणासहिब णेहाल ।
लंबंत बेणीलमालंकरिय पिट्ठि चेलंबलाचार चलहारलय सिट्ठि ।
सेलिषपरिमल मिलंतालिसंदोह वियलंत गंडाउ सेयं बु विदोह ।
कंबणह बडियव्व बडिमेव सोहंति बहुनेयककुसल मुणिमणुव मोहंति ।

बहुगुणहं अहिययरि परपुट्टिसम वाय कि एककजीहाए वणिणयह वणिराय । (२,७)

उक्त पंक्तियों में कवि ने नारी-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कुण्डल की कमनीयता के साथ ही आन्तरिक कोमलता, मधुरता और तपाये हुए सोने की भाँति निर्मलता का बिम्ब चित्रित किया है। अतएव मुनि के मन की उपमा देकर उस सादृश्य को अभि-व्यंजित किया गया है। अलंकारों के प्रयोग तथा वर्णन की सादृश्यता में यहाँ पर महाकवि धनपाल का स्मरण हो आता है। सम्भव है धनपाल ने इस काव्य-रचना को पढ़ा या सुना हो।

रूप-वर्णन में कवि-समय के अनुसार दिव्य पात्रों का वर्णन चरण-नख से शिख तक किया जाता है और मानवीय पात्रों का वर्णन इस के विपरीत शिख से नख तक होता है। किन्तु पं० लाखू ने नायिका का रूप-सौन्दर्य दोनों रूपों में चित्रित किया है। यद्यपि यह वर्णन (नख-शिख) पात्रगत (मालिन के द्वारा) है, और इस में भी पहले नेत्रों का और फिर कोमल करतल-चरण का वर्णन है, पर क्रमशः वह पयोधर, हीरावलि के समान दशन, लोचन, बिम्बाचर, घीवा और ससिचूड़ से युक्त है। प्रयुक्त उपमान प्रायः सभी पुराने हैं। उन में विशेष चमत्कार नहीं है। वर्णन अलंकृत तथा परम्परित है। शिख से ले कर नख तक के वर्णन में अवश्य कुछ नवीनता झलकती है।

तहि जीवणवणलावणलोल णं सरवाहो पारदि कोल ।
कुंलकलाव अलिणीलभास णं मयणहो वग्गुर गय्य पास ।
कुरलाबलिकलियकबोलवित्ति णं मयणहो तोषा जुवल जुत्ति ।
छणछणयायरदलभालपट्टु णं असकेवहो जयविजयपट्टु ।
वंकुजल मूजुबलउ सुधाउ णं सरेण चडाइउ चप्पिवाउ ।
मूमज्जु जं जि रइरस अगाह तं वणुह मज्झि णं मुट्ठिगाह ।
कलयंठिकंठ कल झुणि सहाउ णं तद्धणगुण टंकारराउ ।
जगु मोहइ णासावंससौह जयमेरि सरहो णं जणिय खोह । (५,८)

भृंगारमती का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह यौवन रूपी वन में लावण्यलीला ही कर रही थी। उस के केश-कलाप काले-काले भौरों जैसे जान पड़ रहे थे मानो मदन की डोरी का बना हुआ भारी पाश हो। अलकें कपोलों पर छटकती हुई ऐसी जान पड़ रही थी मानो कामदेव के धनुष और बाण हों। पूनम के चन्द्रमा के समान उस का माथा था मानो काम का विजयपट्ट हो। उस की दोनों भुजाएँ चढ़ाये हुए धनुष की भाँति प्रतीत हो रही थीं। संसार में जो भी अगाध रति का रस था वह उस की भाँहीं में समाया हुआ था। उस के सुन्दर कण्ठ से जो ध्वनि निकलती थी वह मानो धनुष की टंकार ही होती थी। उस की नासा जग की मोहने वाली जय भेरी के समान थी। उस के अघर बिम्बाफल के समान थे। निर्मल कुछ-कुछ दिल्लाई देती हुई दाँतों की पंक्ति ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो सरोवर में सीपियों के बीच मोती सोहते हों। कमल जैसा प्रफुल्ल मुक्त काम के छत्र की भाँति सुशोभित था। सुन्दर बाहु युगल काम की कुसुममाला ही जान पड़ रही थी। कड़े हुए दोनों उरोज कामदेव के स्नान करने के दो कलश ही प्रतीत होते थे। गहरी नाभि सरोवर और त्रिवली उस में क्रीडा करने वाली तरंगें जान पड़ती थी। उस का बुबला-पतला उदर रस का प्रसार करने वाला मानो साक्षात् कामदेव ही था। विस्तृत कटि अत्यन्त रसयुक्त थी, मानो रतिपति का ही रूप हो। इस प्रकार उस का कटि-प्रदेश बहुत बाँका, तरल, चंचल और विशिष्ट अंगों से शोभित था, जिस में तीनो लोकों के जन-मन रूपी तुरंग अमित होते थे, चक्कर खाते थे। उस के गुह्य स्थान की जय हो मानो वह काम की ध्वजा-पताका ही थी। उस की अर्धे इतनी कोमल तथा सुढील थी कि कलभ (गजशावक) को भी तिरस्कृत कर दिया था, वे मानो कामदेव की शरण में आने वालों के लिए आलानस्तम्भ थे। उस के शरीर के संधि-बन्धन इतने घने और दृढ़ थे कि मानो जन-मन को मारने के लिए काम की ही शक्ति हो। मसृण जंचाएँ ऐसी शोभित हो रही थी मानो जन-मन के विचरण के लिए काम का ही मार्ग हो। निर्मल नखों की प्रभा क्या स्फुरायमान हो रही थी मानो दर्पण ही हो। लालकमल के समान उस के तलवे (पदतल) क्या थे मानो काम की विजय प्राप्ति के ही सूचक हों।

इस प्रकार समूचा रूप-वर्णन अलंकृत शैली में वर्णित शास्त्रीय परम्परा में विहित है। कही-कही उपमानों की नवीनता और उक्ति-चमत्कार भी लक्षित होता है। किन्तु अधिकतर वर्णन परम्पराभूत एवं रीतिग्रस्त है। यह संस्कृत का स्पष्ट प्रभाव है। लगता है कि कवि ने संस्कृत का काव्यत्व ही शास्त्रीय निपुणता के साथ यहाँ रस से अभिव्यक्त कर उड़ेल दिया है। इस में जो कुछ नवीनता दिखाई देती है, वह बहुत कम है—वह कवि की प्रतिभा का चमत्कार है। संक्षेप में, रूप-वर्णन कवि की वाणी में प्रभावोत्पादक रूप से तथा पात्रों के मुख से स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक दोनों ही रूपों में हुआ है। अधिकतर वर्णन शास्त्रीय एवं अलंकृत शैली में है। अलौकिक रूप में वर्णन बिलकुल नहीं है।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति-वर्णन में वन, सन्ध्या, रजनी, वसन्त आदि का श्लिष्ट वर्णन आलोच्यमान कथाकाव्य में मिलता है। मुख्यतः आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण हुआ है, पर उस का उद्दीपन रूप भी अभिव्यजित है। प्रकृति-वर्णन की लगभग सभी विधाएँ जि० क० में लक्षित होती हैं। वन-वर्णन में आलम्बन, प्रभावार्थक, परिगणनात्मक तथा उद्दीपन रूप में विविध रंगीनी चित्र दिखाई देते हैं; जिन में कवि की रुचि तथा सूक्ष्म अध्ययन का पता लगता है। प्रत्येक चित्र बिम्बों में सञ्जीव और भाषा में सटीक यथार्थता से मण्डित है। भाव और भाषा के सम प्रवाह में शब्द-चित्र को उतारने में कवि अत्यन्त कुशल है। लय और ताल उस के पदों के पीछे अनुकरण करते-से जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए—

पट्टलकुलल झुल्लमाण अल्लसफलं पिड्डुपिड्डु—दुदुमेसुदेमि दोहलं जलं ।

इसी प्रकार वन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

सकोरवा पट्टव चूवपायवा गिरंतरे चलंतचारुकोकिला लवंत सा गिरंतरे ।

पट्टलकुललंगलुदु गिद्ध भिगभिगिया झुगंति सस्मुरं सुसोहणा जह्मगमगलगिया ।

इन उदाहरणों में शब्द-नाद, पद-योजना, ताल, लय, गीति और छन्द तथा संगीत का कितना सुन्दर मेल है।

सन्ध्या का वर्णन है—संज्ञा होते ही चारों ओर लाली फैल जाती है। समुद्र का रंग भी लाल कमल के समान हो जाता है, मानो स्निग्ध घने भूँगे के रूप में काम ने ही अपना रंग डाल दिया हो। फूले हुए टेसू ऐसे जान पड़ते थे मानो गहरे लाल सिंदूर ने ही रूप धारण कर लिया हो। राग की धारण किये हुए सन्ध्या रूपी नायिका लज्जा से दिनकर की सेज पर पहुँची। उस समय वह समस्त लोकों की सुन्दरता को धारण कर रही थी। रवि भी अच्छी तरह विचार कर बहल गया। बड़े-बड़े लोग शालीनता से दिन के कार्यों को समाप्त कर भोजन करने लगे। फिर, रजनी की बात सुन कर कि सन्ध्या से रमण करना युक्त नहीं है चारों ओर तम का राज्य फैल गया। इस में क्या अचरज है कि संज्ञा (सन्ध्या) शीनी हो गयी और तम रूपी मोह का प्रभाव छा गया।

बिहावरि वासर अंतरि जाय

समुज्जल संज्ञ वराण छाय ।

सिणिद्ध घणामल विदुमरंग

सरीसरत्तुप्पल णं समरंग ।

पलासपसूण पट्टल्लिय सोह

सुरससिंदूर णिरुचिय देह ।

वहंति सक्कंतहो राउ सलज्ज

गया लहुसावि दिणंदहो सिज्ज ।

लहेवि असेसहो लोयहो चारु

गबो रवि संज्ञसमो सुविधाए ।

महंत जि भाणवल्लोए सलज्ज

समत्ति सक्कजे पभुंजहि भज्ज ।

सुणेवि तमारिहि केरी वत्त

ण वासरि गारि रमिज्जहो जुत्त ।

संकततमोमहराय विमुद्ध

अहो कह भंति ज आइ ण मुद्ध । (३, २२)

यहाँ पर संध्या का वेग से लज्जा पूर्वक दिनकर की सेज पर जाने और दिनकर का विचार पूर्वक उस के पार्श्व में शोभायमान होने की कल्पना कितनी सुन्दर है। उक्त पंक्तियों में सन्ध्या, दिनकर, रजनी एवं तम का मानवीयकरण हुआ है। भारतीय साहित्य में मानवीयकरण कोई नई वस्तु नहीं है। महाकवि कालिदास से ले कर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य में प्रकृति-वर्णन का चित्रण मानवीयकरण तथा अलंकृत रूप में कहीं न कहीं होता रहा है। अलंकृत शैली में वर्णित प्रकृति का उदाहरण है—

कसण कज्जल अलसिकुसुमयलि अलिसिमिर मसि सम सरिस ।

बणतमालदल पडल बणउ बहुदिशिबह पसरियउ ।

परन्तु लोकशैली में प्रचलित टेक और चुनों के आधार पर वस्तु एवं विषय का वर्णन करना अपभ्रंश-कवियों की विशेषता है। ऐसे वर्णनों में बिम्बार्थ स्फूर्त हो कर चित्र की बिल्कुल स्पष्ट कर देता है तथा भावों के साथ ही उस की क्रिया प्रेरक एवं बेगवती लक्षित होने लगती है। रात्रि के वर्णन का एक दृश्य देखिए—

णं णिसा णिसायरीहि फुल्लसोह णं रईहि ।

गेहि नेहि दिज्जयंति दोष जे तमोह हंति ।

ताव चंदिया समेउ चंद उगगउ सतेउ ।

लोयणाण तें असोहु भंजि घल्लिउ तमोहु ।

इसी प्रकार चन्द्रोदय का प्रभावकारी चित्र देखिए—

भूरुहाउ ता सकुंत उड्डिया चुमुच्चुमंत ।

उगगउ तमारि ताम्ब भासमाणु देसगाम ।

अंधयाह चालयंतु चविरुक्क मेळयंतु ।

कंजपूज तोसयंतु धम्ममग्ग पोसयंतु ।

ताम्ब ओसहीसघामु णट्टहो विसिट्टकामु ।

पढ़ने के साथ लगता है कि उगते हुए चन्द्रमा को प्रत्यक्ष देख रहे हो और वह सबमुच कोई दिव्य प्रभावशाली हो, जिस से सब कुछ भावमान हो रहा हो तथा उसी में इतना सत्व है कि अन्धकार को भगाने में समर्थ है, दूसरे में यह गुण कहाँ है जो धर्म मार्ग का पोषण करता हो अर्थात् शान्ति प्रदान करता हो और तिमिर जैसे शत्रु को भी भग्न कर देता हो। इस प्रकार गीति शैली में विलष्ट बिम्बार्थ-योजना कर कवि ने समूचा चित्र ही स्पष्ट कर दिया है। काव्य में ऐसे अनेक स्थल हैं, जो इस काव्य-रस को सहज रूप में सहेजे हुए हैं।

वस्तु-परिगणनात्मक रूप में वन में स्थित अनेक वृक्षों और फूलों की नामावली मिलती है। पूरे कवचक में वृक्षों और फूलों के नाम भर ही हैं (५, १९)। जगता है कि इतने अधिक वृक्ष और फूल चम्पापुरी के बाहर वन में रहे भी होंगे या नहीं? यथार्थ में प्रबन्ध-परम्परा में इस प्रकार नामों की गिनाने की पद्धति बहुत पहले ही प्रचलित हो

प्रचलित हो गयी थी। बाल्मीकिरामायण स्वयम्भू के पञ्चमचरित्र, बाणभट्ट की कादम्बरी, तथा सन्देशरासक में इसी परम्परा का निर्वाह मिलता है।

प्रकृति-वर्णन में कहीं-कहीं कवि ने क्रियापदों के द्वारा प्रकृति के व्यापारों को अभिव्यंजित किया है। ये गीतशैली और छन्द दोनों में अभिव्यक्त हुए हैं। किन्तु ये मुख्यतः गेय हैं और एक-एक पद में एक-एक चित्र से संवलित हैं। उदाहरण के लिए अमरपुरसुन्दरी नामक छन्द में वर्णित निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

पमुदया सम्मणे	बहुतरुणं घणे
बिहविहयाउले	गुंजिरालीउले
कोवि लालावरे	किण्णरी कीलरे
फुल्ल पफुल्लरे	वल्लरी हल्लरे
दक्खरसरिल्लरे	मयण सोहिल्लरे
पवणपडिपिल्लरे	पत्तदर चल्लरे
सरसफलभरसहे	णमिय वसुहास्से । (३, ९)

भावभिव्यंजना

आलोच्यमान कृति में मार्मिकता से ओतप्रोत कई मार्मिक स्थल हैं, जिन में मनुष्य जीवन के विविध मार्मिक प्रसंगों की सुन्दर योजना हुई है। बेटों की भावभोनी बिदाई, माता का नयी बहू का स्वागत करना, बेटे की आरती उतारना, जिनदत्त का समुद्र में उतरना, समुद्र-संतरण, वनिताओं का करुण विलाप आदि सरस स्थल हैं, जहाँ मानवीय संवेदनाओं की अनुभूति से हमारा हृदय द्रवित एवं दीप्त हो जाता है। विभाव पत्र में जहाँ हमें वस्तु रूप में वर्णन मिलता है वहीं अलंकार के रूप में भी दृष्टिगोचर होता है। और भावपक्ष में मानसिक दशाओं का अनुभूतिपूर्ण चित्रण अलंकृत शैली में तो है, पर सामान्यतः लोकपक्ष से समन्वित है। रीतिकालीन कवियों की भाँति कवि का वर्ण्य क्षेत्र संकुचित नहीं है वह वस्तुतः सामाजिक जीवन में ही प्रस्फुटित होता है। सुख-दुःख, राग-विराग, सहानुभूति, करुणा आदि शाश्वत भाव हैं, जो प्रत्येक के जीवन में कभी न कभी अपना स्वाभाविक विलास करते हुए देखे जाते हैं। इन का ही यथार्थ चित्रण जब कवि विभिन्न परिस्थितियों की संयोजनाओं में एवं घटनाओं में योजित करता है तभी उस की मार्मिकता का पता हमें लगता है। जिस प्रकार रस-दशा की पूर्णता को पाये बिना भाव प्रभावहीन एवं सदीप समझा जाता है उसी प्रकार मार्मिक प्रसंग भी दोषयुक्त एवं प्रभावहीन माना जा सकता है। किन्तु इस काव्य में भावों की रसमय दशा का पूर्ण संचार ललित होता है।

जि० क० में रतिभाव की प्रधानता है। उस में लज्जा, औत्सुक्य, मोह, विमोघ, पक्षेग, अलसता, स्मृति, चिन्ता, वितर्क, धृति, चपलता, विषाद, उग्रता, दीप्य और अडता आदि अनेक संचारी भावों को छोड़ कर सभी विभिन्न प्रसंगों पर अभिव्यंजित हुए हैं।

संयोग और वियोग में, नायक तथा नायिकाओं की मानसिक दशाओं में रतिभाव की कठण अभिव्यक्ति हुई है। बीभत्स में आलम्बन स्वरूप भय तथा वात्सल्य में हर्ष-पुलक का ही समावेश मिलता है। शोक में प्रिय के अभाव से उत्पन्न विषाद की अभिव्यञ्जना ही वर्णित है। विलाप में जिनदत्त की पत्नियों का विषाद ही मुख्य है। इन के अति-रिक्त शील एवं सतीत्व पर गर्व तथा आत्मविश्वास की मधुर अभिव्यक्ति श्रीमती के पति पर पतिवियुक्त होने पर हुई है। इसी प्रकार जिनदत्त के वामन-रूप को देख कर वे कहती हैं कि यह मेरा पति नहीं है। वे तो बहुत ही सुन्दर थे। अपने पति को सुन्दरता की सराहना करना भारतीय नारी का विशिष्ट गुण है, जो रूप पर नहीं रति भाव पर अवलम्बित है। इस प्रकार पातिव्रत की जो शास्त्र हमें विविध भावों में अनुरंजित मिलती है वह भारतीयता का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है।

संयोग-वर्णन

संयोग-वर्णन में विविध काम-क्रीड़ाओं तथा प्रेम का यथार्थ चित्रण हुआ है। पूर्व राग से ले कर चित्र-दर्शन, विवाह, हेल्ला खोडा, हाव-भाव, सार्विक भावों तथा रसिकता की पूर्ण अभिव्यञ्जना इस काव्य में हुई है। नायक-नायिका के प्रथम दर्शन के अवसर पर अंगचेष्टाओं द्वारा भावों का प्रदर्शन तथा प्रेमाभिव्यक्ति का एक चित्र देखिए—

खिन्न सदिष्टि हिट्ट भूभाएं	बहु मुहुं दर नियंतउ ।
बोलावस णियहि अंगुठहि	महियलु रेहयंतउ ।
सा सालस विलाससरलामल	चल दर कामकोयणा ।
चलहवयणवसुह मज्झंतरि	खवियावलिय लोयणा ।

अर्थात् जिनदत्त बार-बार घरती पर बैठी हुई विमलमती पर दृष्टिपात करता हुआ कटाक्ष करता है। वह भी लज्जावश पैर के अंगूठे से घरती खुरचती है। अपने विलासपूर्ण चंचल नेत्रों से वह काम-भाव जाग्रत कर देती है। अपनी आँखों को फँकती हुई वह अवगुष्ठन के भीतर से पति को निहारती है।

इसी प्रकार काम-क्रीड़ाओं के वर्णन में लज्जा, संकोच, जड़ता और चपलता आदि मानसिक भावों का मूर्ति-विधान लक्षित होता है। रति के उद्रेक में कवि ने अपने आप को मानवीय सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रखा है, अपितु प्रकृति तथा अमूर्त वस्तुओं में भी रस का संवार दिखाया है। वाम्पत्य, वात्सल्य और भगवद्बिषयक रति के तीनों रूप जि० क० में मिलते हैं। बाल-लीला के वर्णन में, बेटे के लिए माता की अनौत्थियों तथा मांगलिक क्रियाओं में, स्नेह और मिलन में वात्सल्य तथा अन्त में निवेद में तथा बीच-बीच में जिनपूजा एवं तद्विषयक अनुराग में भगवद्भक्ति देखी जा सकती है।

लासू के प्रेम में रूप-लिप्सा एवं मानवीय सौन्दर्य का बोध है। आन्तरिक गुणों का पता हमें बाद में मिलता है, पहले तो रूप-दर्शन एवं उस की लिप्सा ही आकर्षण के मूल में होती है। अतएव प्रेम-पद्धति में चित्र-दर्शन, गुणप्रबोध और प्रत्यक्षदर्शन ही मुख्य रूप से निर्दिष्ट है। क्योंकि विवाह के पूर्व कवि ने सभी सुन्दरियों के रूप का वर्णन किया है। किन्तु पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अभिहित चार प्रकार की प्रेम-पद्धतियों में से यह दूसरे प्रकार की कही जा सकती है^१। संक्षेप में, अन्तःपुर के प्रेम को छोड़ कर तीनों प्रकार की प्रेम-पद्धतियाँ प्रस्तुत रचना में वर्णित हैं।

वियोग-वर्णन

मानवीय प्रेम की पूर्णता के लिए वियोग एक आवश्यक भूमिका मानी गयी है। अतएव वाल्मीकि से ले कर कालिदास और अबभूति तक संस्कृत में, विमलसूरि से ले कर जिनहर्षगणि तक प्राकृत में और स्वयम्भू से ले कर भगवतीदास तक अपभ्रंश में वियोग-वर्णन की परम्परा अविरत रूप से प्रवाहित रही है। आलोच्यमान रचना में विरह-वर्णन तीन स्थलों पर हुआ है, चौथे स्थान पर वियोग में कामदशाओं का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। विरह-वर्णन में वियोगजन्य स्वाभाविक अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना के साथ ही मानवीय भावानुभावों का उत्तम प्रेमजन्य चित्रण बन पड़ा है। विप्रलम्भ के पूर्वाग, मान, प्रवास और कष्ट भेदों में से मान को छोड़ कर तीनों भेद मिलते हैं। जिनदत्त के छोड़ कर चले जाने पर उस की सभी पत्नियाँ प्रवसित नायिका की भाँति वियोग में दिन काटती हैं। किन्तु उन दिनों का वियोगकालीन जीवन चित्रित न करने से रीतिमूलक प्रवृत्तियों से प्रस्त होने से रचना बच गयी है। फिर भी उन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कामदशाओं के वर्णन में प्रेम की जो तीव्र अभिव्यञ्जना हुई है तथा काम की जो अतिशयता दर्शायी गयी है वह परवर्ती संस्कृत-साहित्य का रीतिकालीन प्रभाव है, जो दरबारी संस्कृति की देन है। विरह-वर्णन में कवि ने वातावरण, नाटकीयता, प्रभाव और दुष्यों की योजना कर अत्यन्त मायिक अभिव्यञ्जना की है। जैसे कि, विमल-भस्ती को वन में अकेले छोड़ जाने पर वह पहले तो इधर-उधर स्वामी को ढूँढती है, फिर पुकारती है और फिर आँसुओं की ढालने लगती है। अपने हृदय को धाम कर वह प्रिय-प्रिय पुकारती है और विरह के वेग को न सह कर अपने आप को ही प्रकट कर देती है। वह कहती है कि स्वामी के साथ ही मेरे सामने यह हृदय फूट क्यों नहीं जाता ?

पुष्करंती सामि सामिति
ठलिय अंसु ठलहलक्ष्यंति य
आह्वणंति पिब पिब लब्धौ
अप्य उ पयडहि ताम

विहलं बलचलणवण ।
विरहाउर उरु सयरि ।
सहहु ण तीरउं तब विरहु ।
सामिय सह सा मम पुरउ ।
हियउ ण फुट्टु जाम । (३, ११) ।

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, तृतीय संस्करण, पृ० २६।

बियोग की स्थिति में श्रीमती का हाहाकार अपने यथार्थ रूप में वर्णित है। वह अपने अभाव में असन्तुष्ट हो कर मानो अवशता और वयनोयता को स्पष्ट खोल कर रख बेती है। उस में जहाँ आत्मविलाप है वहाँ अंगवेष्टाओं का सहज प्रदर्शन और भावों की वास्तविक अभिव्यक्ति का भी योग है। अतएव वह अपने शरीर को कोसती है, हृदय में रुज्जित होती है। वह नहीं चाहती कि क्षण भर के लिए भी मैं पति का बियोग सहन करूँ। वस्तुतः श्रीमती का विलाप कवि की अन्तर्भावनाओं में डूब कर समस्त हाहाकारों के साथ हाव-भावों में फूट पड़ा है। कवि के ही शब्दों में—

तें तुव भमउ समउं रहरससुह्र सेवताहं बट्टए ।

कुणियण मे सरीरि लज्जाहउ हियउ तडत्ति कुट्टए । (४, २५)

हा हा करंति कंवहो भरंति वक्कं जलोल अविरलकवोल

गंडंतराल कुंडलकराल खालिय करेहि कंकण परेहि

उरयलु हणंति हा हा भणंति कयकंतिमोसु विहणंति सोसु

विरहणिग भुल उत्तगत्त कडकडकंठ कयरसवडंत

सासइ मुवंति दहदिहि णियंति कयदिट्टिकट्ट सुन्दरि बरिट्ट

लोयण चलंति कयमुक्कलंति कुंतलकलाव पयणिय पलाव । (४, २२)

शृंगारमती विरह में बार-बार पति के रूप का स्मरण करती है। हृदय के संताप से आँसुओं को बहाती हुई उस कुशाग्री की दशा ओटते हुए कथाय (काड़ा) की भाँति हो रही थी। निबिण्ण तथा विमनस्क होने से वह कण प्रलाप करती है और क्षण में चेतन तथा क्षण में निश्चेतन हो जाती है मानो सन्निपात ही हो गया हो।

पइ विरहताव संतविय संति वक्कल कमड कडकडकंठंति ।

दुम्मियमण षणक्षीणी णिह विहाणी करुणपलाव कुणंती ।

खणे उप्पज्जइ वेयण खणि णिच्चेयण सण्णिवाय णं भुत्ती (४, २१)

उस के भावों में बड़ी कसमसाहट और व्याकुलता है कि मेरे पति मुझे यो ही छोड़ कर किस स्थान पर चले गये। वह कहती है कि स्वामिन् हँसी मत करो। तुम्हारी यह हँसी मेरे लिए दुःसाध्य है। पाठक इसी से अनुमान लगा सकते हैं कि उस के मन में कितनी गहरी वेदना है। वह जोने में बिलकुल समर्थ नहीं है। इसलिए कहती है कि जब यह हृदय इस व्यथा को सह नहीं सकता है तब यह समूचा तड़क कर फूट ही जायगा।

दे देहि दइय दरिसाउ ताम सहसक्कइ इहु हियवउ ण जाम ।

फुट्टइ तडत्ति तह जह वि सयलु चंवयउ वलाहउ लोहणिहलु ।

पई रहिय ण जीवमि कय महत्थ करिमरि ते होहमि रत्तहत्थ । (४, २२)

भावों में कितनी तड़पन और व्यामोह है, जिसे भुक्तभोगी ही जान सकता है।

कामावस्थाओं का वर्णन

जि० क० में काम की दशों अवस्थाओं का सटीक वर्णन है। स्वयम्भू के पठम-चरित-में भी इतना सजीव वर्णन नहीं है। जिनदत्त कामज्वर से पीड़ित हो कर अत्यन्त व्याकुल हो जाता है। बढ़िया कमल के नये-नये पत्तों से अत्यन्त सुन्दर बिछोना उस के लिए रचा जाता है। शीतलता तथा सुखदायक वस्तुएँ उस पर रखी जाती हैं। किन्तु ऐसी सेज के विषम प्रतीत होने पर उस का मन निमिष नहीं होता और परिणामतः दश अशुभ अवस्थाएँ अपना रूप धारण कर जिनदत्त के प्राणों को सुलाने लगती हैं। पहली अवस्था चिन्ता है, जो मन को बिलहरा देती है। दूसरी बार-बार दर्शन का स्मरण करना है। इस अवस्था में कुमार निःश्वास तथा दीर्घ उच्छ्वासों को छोड़ने लगा। तीसरी अवस्था में रह-रह कर संताप-ज्वाला जलाने लगी। चौथी अवस्था के बरा में हो कर वह आक्रन्दन करने लगा। पाँचवी अवस्था में उस का भोजन-पान छूट गया। अमृत रस से युक्त भोजन भी उसे अरुचिकर हो गया। छठी अवस्था में वह अपने आप में नहीं रह गया। क्षण भर के लिए भी वह स्थिर नहीं रह सकता। उस का मन उस के हाथों से निकल गया। सातवी अवस्था में दाह बुरी तरह से शरीर को जलाने लगी। और बात के अधिक बढ़ जाने से विमनस्क हो कर अपने आप को भूल गया। आठवी और नौवीं में शरीर का मान ही नहीं रह गया तथा वह बिल्कुल दुर्बल हो गया। यदि दसवी अवस्था संभव हो तो फिर जीव देहान्तर में जा कर ही स्थित हो। ऐसी दशा में जिनदत्त की नींद चली गयी और वह शरीर रहित हो गया। बाणों की शंका से वह मकरध्वज से पकड़ लिया गया। बार-बार वह दोनों भुजाएँ फैलाने लगा, किन्तु आलिंगन शून्य हो गया। कपूर आदि शीतल पदार्थों का लेप किया गया, किन्तु बिरह की ज्वाला में वह सब सूख गया। चन्दन से समूचा शरीर गीला कर दिया गया। सारे शरीर पर लेप चढ़ा दिया गया। परन्तु अभाग सब सूख गया। चटक गया और उबटने लगा। सिला के समान जिनदत्त धरती पर गिर गया। बार-बार मूच्छित होने लगा। वह चेतनाहृत हो गया। बोल बंद हो गया। बल और मान से क्षीण हो गया। ऋषि की भाँति वह ध्यान में लीन हो गया। निरंग के रंग में रँग गया। प्रमोह भाव भंग हो गया। अज्ञानता में बड़बड़ाने लगा। सारा शरीर कँपने लगा। हिताहित का विचार नहीं रह गया। अच्छे रस को मानने से मना करने लगा। दाँतों को तिरछा करने लगा। अपने ही अघरों को डसने लगा। जम्हाई लेने लगा। अँगुलियों को मोड़ने लगा। हिम के समान शीतल तथा मनोहर चन्द्रमा की किरणें खरे तेज से जलाने वाली जान पड़ने लगी। बार-बार वह चौक कर चक्करने लगा। सुखदायक ताजे फूलों की माला अग्नि के समान दाहक हो गयी। भूत-प्रेत से ग्रस्त की भाँति प्रलाप करने लगा। मूच्छित होने लगा। सिर और शरीर कँपने लगा। मानो सन्निपातज्वर ने ग्रस लिया हो (२, २)।

काम की इन दशाओं का इतना विस्तृत तथा अनुभूतिपूर्ण मार्मिक वर्णन अन्यत्र कम मिलता है। वस्तुतः कवि का यह वर्णन योति शैली में अत्यन्त सजीव और

प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। इस प्रकार मरणावस्था को छोड़ कर सभी दशाओं की स्थिति यहाँ वर्णित है। वर्णन उक्तिमूलक न हो कर प्रभाववात्मक रूप में अलंकृत शैली में चित्रित है, जिस में भावानुभावो का उत्तम पुट-परिपाक है। फिर, इस वर्णन को एक विशेषता यह भी है कि सामान्यतः नायिका में कामातिरेक तथा कामदशाओं का चित्रण किया जाता है, किन्तु यहाँ पर नायक में कामदशाओं का स्फुरण दर्शाया गया है, जो सूफी प्रभाव न हो कर सामन्तीय जीवन का यथार्थ रूप है। यथार्थ में वियोग के अतिरेक में इस प्रकार की अवस्थाओं का होना स्वाभाविक है, क्योंकि जब मन पर मनुष्य का नियंत्रण नहीं रह जाता तब उस की जो भी स्थिति संभव हो सकती है घट सकती है। काम की उक्त अवस्थाएँ शास्त्रविहित हैं, जिन के नाम हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-रूपन, उद्वेग, सप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मरण।^१

रस-निर्णय

“जिनदत्तकथा” अपभ्रंश-साहित्य का मधुर कथाकाव्य है, जिस में रतिभाव की प्रधानता है। प्रथम सन्धि से ले कर छठी सन्धि तक सम्भोग या विप्रलम्भ शृंगार अतिशयता से वर्णित है। काम की विविध दशाएँ, सम्भोग एवं रति-झीड़ा, वन-बिहार, चार कन्याओं का पाणिग्रहण, तीन पत्नियों का वियोग में संतप्त होना और माता का बिरह तथा भोग-विलास के वर्णन से स्पष्ट है कि इस काव्य में शृंगार की मुख्यता है। शृंगार के दोनों पक्षों का विविध भावानुभावों एवं संचारी भावों से संवर्धित विशद वर्णन हुआ है। किन्तु सातवीं और आठवीं सन्धि में तीनों लोकों का वर्णन तथा नवी सन्धि में पूर्व भव का वर्णन है। दसवीं और ग्यारहवीं में धर्मोपदेश तथा तपस्चरण का वर्णन है। अतएव ग्रन्थ का पर्यवसान शान्तरस में ही हुआ है।

शृंगार और शान्त के अतिरिक्त बीभत्स, भयानक, अद्भुत, रौद्र और वात्सल्य तथा कर्ण विप्रलम्भ की सप्रसंग योजना हुई है। वीर रस अवश्य इस काव्य में नहीं मिलता। यदि मानना ही पड़े तो हाथी की बग में करने तथा सौंप को मारने आदि के जिनदत्त के साहसिक कार्यों को वीर रस में गिन सकते हैं, जिन में स्थायी भाव उत्साह और अनुभाव पुलक रूप में लक्षित होता है। इस प्रकार इस रचना में प्रायः सभी प्रकार के भावानुभावों तथा रसों का समावेश हुआ है।

बीभत्स का उदाहरण—

घोरघार दियबड अमुहावणे

करयरत कायउल अमणहरे सलवलंत पलदल-
चल दुहयरे ।

दियदियउवरं ताबलि लुलियए

सिमिसिमत किमिकुल चलवलियए ।

भूममंत भेरंड भयंकरे

सडिय मांस गंधें असुहंकरे ।

१. अभिलाषारिचन्तास्मृतिगुणकथनोद्बेगसप्रलापारच ।

उन्मादोऽथ व्याधिजडता मृतिरिति दशाश्च कामदशाः ॥ साहित्यदर्पण, ३, १६० ।

फिक्कुरंत जरसिब कयणीसणे दर बुक्कंत मसणा भरमीसणे ।
पलगिलंत गोमाड भिडंतए रतगित्त बेयाल जडंतए ।

रौद्र का उदाहरण—

रे रे णिषक्क असक्कसंघ अपयड णिकोड जड बीड खंघ ।
किल्लिल्लकल्लककिल्लित्तगत्त बहुणा विठुणा विणडित्त कुवत्त ।
जेणेहु तरहि रेव बारिरासि अम्हारउ तें ते कहउ आसि ।
सक्कुवि असक्कु इह सिधुणीरे जलकील करहु संकइ गहीरे ।
अहवा एवहि तुहुं विहिक्केण दिट्टउ उट्टिउ अह रिसेण ।

यहाँ पर जिनदत्त का उग्र वचनों में ललकारना, हाथ-पैरों का फेंकना तथा विद्याधर का रोष दिखाना आदि भावानुभावों से रौद्र रस की अभिव्यक्ति हो रही है ।

अद्भुत का उदाहरण—

पलोइळण तं कुमार कि सुरो किमेहु किण्णरो हि किण्णरो बरो ।
कि भंगवंतु कामदेउ भव्वहो कि रायउत्तु दिव्ववत्तु सम्बहो ।
कि सुलपाणि दिव्वबाणि भासओ कि भंगु बंगु धम्मसंगु सासओ ।
कि खेरिंदु दित्ति कंदु मुन्दरो किमेहु वत्तु सोहए पुरंदरो ।

उक्त पंक्तियों में जिनदत्त को देख कर सार्धवाह के विस्मय एवं आश्चर्यचकित होने का वर्णन है । उस के कान्त रूप को देख कर वह इतना स्तम्भित हो गया है कि ठीक से समझ ही नहीं पा रहा है कि यह मानव है या विद्याधर, किन्नर या अन्य कोई । इसी प्रकार जिनदत्त के कौतुकों को देख कर जहाँ चम्पा नगरी के सभा-जनों को अर्चमा और विस्मय होता है वहाँ भी अद्भुत रस का संचार हो जाता है ।

भयानक का उदाहरण—

उण्णयकुंभत्थल्लु सुधिरणयणु सिक्कार धारिल्लव भरिय गयणु ।
अविहडहाडय बेयडिय दंतु दुहरिसणु भीसणु णं कयंतु ।
पायडिय णिविड अविहड मडप्पु पयचय चप्पिय फणिकण कडप्पु ।
णिट्ठविय सयण णिट्ठुर सहाउ गयमत्ततुगु णं जसु समाउ ।
कंपाविय पाणीयणु भयपाणीयणु सुहडुप्पाइय खोहउ ।
विसरिसि वड्डवसलीलउ मारणसीलउ लुट्ठाविय मणु वोहउ ॥

इन पंक्तियों में हाथी के बिगड़ने का वर्णन है । कवि ने उस का विकराल एवं भयंकर चित्र अभिव्यजित करते हुए कहा है कि दूढ़ सोने की साँकलों से बँधा होने पर भी वह ऐसा बिचाड़ रहा था तथा सीरकार कर रहा था कि पानी की बूँदों से भगनतल भर गया था । यहाँ कंप, स्तम्भ, रोमांच तथा संशय आदि भावानुभावों से भयानक रस परिपुष्ट एवं अभिव्यक्त है ।

वात्सल्य का उदाहरण—

पेछेबि ससूणु वणिजीवदेउ	उच्छंगि कैइ आणंदहेउ ।
सहजाय कुडिलकुंतल जडिल्लु	धूलीपूसरिमावयकडिल्लु ।
का एबि तोसाविउ वियसियासु	काएबि बोलाविउ गुणणिवासु ।
कवि चामीयरमउ कीरु मोरु	अप्पइ बालहो जणबिसिचोरु ।
सोवंतहो तहो णिरु काबि राम	ठिय पासे चमरकर कय सणाम ।
णियपयहत्थंगुठउ दुहरसणट्टउ	अवलेहइ जीहाए सिसु ।
बालु वि अतुलिय बलु कणयसमुज्जलु	जसरसपसरण भरिय दिसु ॥

यहाँ पर बालक की स्वाभाविक चेष्टाओं में तथा माता-पिता के हृदय में बच्चे के प्रति स्नेहानुराग में जिन भाव-विभावों की योजना हुई है उन से स्पष्ट हो वात्सल्य की प्रतीति होती है ।

इस काव्य में विभिन्न रसों की योजना होने पर भी मुख्य रूप से शृंगार और शान्त दो ही रसों की अभिव्यंजना हुई है । यद्यपि रचना का प्रारम्भ जिन-बन्धना से हुआ है और बीच-बीच में शान्तरस को उद्बुद्ध करने वाली घटनाओं की संयोजना हुई है, किन्तु प्रधान रस शृंगार है । सामान्यतः यह कहा जाता है कि काव्य का जिस रस में पर्यवसान हो वही मानना चाहिये । और फिर यह भी विचारणीय है कि बीच-बीच में कवि उसे अभिव्यक्त करता रहा है या नहीं ? वास्तव में ये दोनों ही बातें रस का निर्णायक तत्त्व नहीं कही जा सकती । क्योंकि कभी-कभी घटनाएँ अप्रत्याशित रूप से ऐसी घटित होती हैं कि वे हमारे मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं । भले ही कालांतर में हम उस घटना को भूल जायें, पर उस का प्रभावकारी चित्र स्थायी रूप से अपनी छाप बनाये रखता है । क्यो कि सारी घटना का दृश्य उस एक चित्र से लिपटा रहता है । इसी प्रकार रस की अभिव्यक्ति सामाजिको के मन में होती है और उन के जिन-वास-नात्मक भावों को उद्दीप्त करने में जो रचना प्रेरक होगी तथा जिस स्थायी भाव के अनुगत उद्दीप्त भावानुभाव होंगे उस रचना में प्रभावाभिव्यंजना के रूप में वही रस मुख्य होगा । उदाहरण के लिए, जि० क० में जिनदत्त के जीवन की देहली पर पैर रखते ही कवि निर्वेद भाव को प्रदर्शित करता है, जो वस्तुतः मनोविज्ञान की दृष्टि से काम भाव का ही सूचक है । नहीं तो जो बालक किशोर वेश्याओं के हाव-भावों से मुग्ध नहीं होता । वह चित्र में देखी हुई कन्या पर कैसे मुग्ध हो सकता है ? और फिर इतना ही नहीं, काम की सभी अवस्थाओं को उसे पार करना पड़ता है । अतएव कवि ने रति भाव को ही इस रचना में प्रधानता दी है । शृंगार के दोनों पक्षों के चित्रण में कवि की रागात्मिका वृत्ति अतिशयता से रमी है । शान्त रस को व्यक्त करने वाली घटनाओं को चलता हुआ व्यक्त किया है । वियोग का जितना वर्णन है उतना साध्वी का उपदेश नहीं है । वहाँ केवल आँसू ही पोंछे गये हैं । कलेबर की दृष्टि से भी दो-तिहाई रचना संयोग-वियोग के आवतों में झूलती हुई दिखाई देती है । समूची रचना को पढ़ने पर राग का

ही लेप मन पर भलीभाँति चढ़ जाता है। और तब यही लगता है कि मासिक भावना से काव्य का अन्तिम अंश ऊपर से जोड़ दिया गया है। मूल रूप में तो यह एक प्रेमकथा के रूप में डली हुई है। भले ही कवि ने उस में अपनी शिष्ट एवं संस्कृत रूचि से कुछ हेर-फेर कर दिया हो। अतएव काव्य को पढ़ने पर पाठक के मन में रचना के जिन गंभीर संस्कारों से रस की स्थायी दीप्ति होती है वह शृंगार है, रतिभाव है और इस लिए इसे शृंगार प्रधान कथाकाव्य माना जा सकता है।

चरित्रचित्रण

जि० क० में जिनदत्त का चरित्र ही मुख्य है। यद्यपि वह श्रेष्ठपुत्र है, पर उस का चरित्र राजकुमार का है। बचपन से ही कुमार विचक्षण और कलाकोविद् दिखाई पड़ता है। उसका लोक-जीवन कामरस से भरित तथा काम का प्रसार करने में बिलक्षण निपुणता से युक्त है। किन्तु इस के साथ ही वह विनयी और सदाचारी भी है। मात-पिता और देव तथा गुरु में उस की भक्ति है। शिष्टाचार के पालन में वह सावधान है। पिता के समझाने पर वह मान जाता है और उपदेश का पालन करता है। मुख्य रूप से कवि ने जिनदत्त को साहसी, धीर-वीर और संयमी के रूप में चित्रित किया है। कथानुबन्ध से विवित है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की व्याप्ति का यथार्थ रहस्य जि० क० में लेखक ने अभिव्यक्त किया है। जीवन को सुखी बनाने के लिए नायक अर्थोपार्जन के लिए परदेश जाता है। वहाँ विभिन्न संकटों को झेलता है। पूर्व जन्म का पुण्य होने से विपत्तियाँ उसे वरदान देती हैं। वह जहाँ भी जाता है सिद्धि उस के हाथ लगती है। लक्ष्मी और संपत्ति दोनों ही वह प्राप्त करता है। किन्तु अच्छी तरह सुखोपभोग कर लेने पर अन्तिम अवस्था में गृह का त्याग कर कामोपभोग की भाँति धीरे तपस्या कर स्वर्ग-श्री को वरण करता है। इस प्रकार जीवन के दोनों पक्षों का यथार्थ रूप प्रदर्शित कर कवि ने भारतीय जीवन के चरम लक्ष्य की ओर संकेत किया है।

स्त्री-चरित्रों में सब से अधिक हमें श्रीमती प्रभावित करती है। यद्यपि सभी स्त्री पात्र सदाचारी, विनयी, संयमी और शिष्टाचार का पालन करने वाले हैं, किन्तु सब का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है। जिनदत्त की माता जहाँ शान्त और सीधे स्वभाव की है वहीं विमलमती गम्भीर और लावण्ययुक्त है। वह स्वभाव से मधुर और कोमल है। परन्तु श्रीमती स्वभाव की खरी और असहिष्णुता से युक्त है। लेकिन वह अत्यंत तथा स्वच्छन्द नहीं है। उस की बुद्धि बिचक के अंकुश से अनुशसित है। अतएव उसमें समय के अनुकूल गम्भीरता भी लक्षित होती है। यद्यपि शृंगारमती सभी पत्नियों में अधिक बिदुषी और विद्यानिधान है, पर उस का व्यक्तित्व उतना प्रभावशाली नहीं है जितना कि श्रीमती का है। वह जिनदत्त की भी मस्ती-भाँति नहीं पहचान पाती। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि वह उसके गुणों से परिचित नहीं थी। केवल उस के

रूप पर ही वह रोज़ सकी थी। किन्तु श्रीमती उस के गुणों से भी प्रभावित थी। यही नहीं, जिनदत्त ने उसे जो कुछ बताया था, समझाया और सिखाया था उसे उस ने अच्छी तरह गँठ में बाँध कर रख लिया था। संकट काल में उस के मर्म को वह अच्छी तरह गुनती है। यही उस के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है।

धनपाल की भविष्या और लाखू की श्रीमती की तुलना

भ० क० में वर्णित भविष्यानुरूपा और जि० क० में उल्लिखित श्रीमती समान परिस्थितियों को तथा संकट को झेलती हुई दिखाई देती हैं। दोनों ही परम सुन्दरी और द्वीप की निवासिनी हैं। यदि भविष्यानुरूपा तिलक द्वीप की रहने वाली है तो श्रीमती सिंहलद्वीप की। दोनों ही किसी न किसी आधि-व्याधि से पीड़ित होकर एकान्त में बहती रहती हैं। कुमार भविष्यदत्त तिलक द्वीप में और जिनदत्त सिंहल द्वीप में पहुँच कर उन्हें आधि या व्याधि से मुक्त करते हैं। उन के पुरुषार्थ के पुरस्कारस्वरूप उन कुमारों में से भविष्यदत्त की भविष्यानुरूपा से और जिनदत्त की श्रीमती से गँठ बँध जाती है, धूम-धाम से विवाह हो जाता है। दोनों ही कुमारियों के लिए भारतवर्ष नया था। वे अपने पतियों के साथ समुद्र में पोत में बैठ कर नये देश को देखने की लालसा से आगे बढ़ती हैं। भविष्यानुरूपा यह जानने की अभिलाषा प्रकट करती है कि मेरे सास-ससुर कहाँ रहते हैं? उस के इस कथन से माता-पिता की स्मृतियाँ कुमार के मन में सजल हो आती हैं। वह घर चलने का प्रस्ताव रखता है। जिनदत्त भी ससुर और पत्नी के समझ भावभीना निवेदन प्रकट करता है। दोनों ही नायक प्रतिनायक की धूर्तता से छले जाते हैं। छले जाने का मुख्य कारण विवाहिता सुन्दरी का रूप-सौन्दर्य होता है। भविष्यदत्त यदि भाई के छल से समुद्र तट पर छोड़ दिया जाता है तो जिनदत्त को धर्म-पिता सागरदत्त समुद्र में किसी प्रकार उतार देता है। ऐसी स्थिति में दोनों सुन्दरियों के सामने प्रतिनायकों के लुभावने प्रस्ताव रखे जाते हैं। वे अत्यन्त धर्म संकट में पड़ जाती हैं। किन्तु विवेक से संयमित हो अपने शील को रखा करने में समर्थ होती हैं। पहले तो दोनों ही प्रतिनायक को उपदेश देती हैं, पर बाद में यह विचार कर कि मैं यहाँ अकेली हूँ और पतिदेव तो अब कदाचित् हो मिलें—हाव-भाव दिखा कर भविष्यानुरूपा एक महीने की और श्रीमती छह महीने की अवधि माँगती है। दोनों के ही शील के प्रभाव से जलदेवता प्रत्यक्ष होते हैं। इस प्रकार परिस्थितियों और घटनाओं में समानता होने पर भी दोनों के व्यक्तित्व में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है।

भविष्यानुरूपा जहाँ अपने विरह में मौन रहती है वहाँ श्रीमती मुखर है। उस में संकल्प-विकल्पों के विविध आवतों के मध्य नारीसुलभ निपुणता और मधुरता का सुन्दर योग है। वह भविष्यानुरूपा की भाँति विरह में डूब नहीं जाती है, बरन् अपने विचारों से कर्तव्य बुद्धि को जाग्रत बनाये रखती है। श्रीमती ने जहाँ तर्क-वितर्क है

वहाँ भविष्या संवेदनशील है। वह अपने विचारों में लो जाती है, भोजन-पान तज देती है। किन्तु ऐसी स्थिति में भी श्रीमती प्रत्येक बात का विचार करती है। वह मन ही मन कहती है कि अभिनव जीवन के कारण मुझे कलंक लग ही गया। मैं क्यों न इस से यह कह कर अपनी रक्षा करूँ कि छह महीने तक जब तक पतिदेव को मृत्यु को क्रिया-विधि संपन्न नहीं हो जाती तब तक मैं विलास नहीं करूँगी। ऐसा ही कह कर वह सागरदत्त के प्रति हाव-भाव प्रकट करती है। वह उस की कुमति का विचार कर बार-बार मन में संतप्त होती है। किन्तु अपनी परिस्थिति और विवशताओं में अवस्था को भली-भाँति जानती है और इसी लिए सागरदत्त के चंपापुरी के राजा को भेंट देने के लिए चले जाने पर वह चैत्यालय की ओर चल देती है।

श्रीमती में तर्क-वितर्क अधिक है। जब वह सागरदत्त को उपदेश देती है और रावण का उदाहरण देती है तब वह कहता है कि पांचाली ने पाँचों पाण्डवों की कैसे पति बनाया था। किन्तु उस के इस तर्क से वह हारती नहीं है, वरन् तुरन्त प्रत्युत्तर में कहती है कि तुम जैसे दुराचारी का क्या विश्वास? कोई भी बुद्धिमती स्त्री पर पुरुष का विश्वास नहीं करती। उस के इन तर्कों को सुन कर सागरदत्त बिलकुल नम्र बन जाता है और असमर्थता एवं काम-व्यथा को प्रकट करने लगता है।

इस प्रकार दोनों के स्वरूप में बहुत बड़ा अन्तर लक्षित होता है। दोनों कवियों की वर्णन-शैली में भी अन्तर है। धनपाल की शैली जहाँ समासप्रधान है वहाँ लावू की व्यासमूलक। अतएव जि० क० में प्रत्येक वर्णन विस्तार के साथ मिलता है, किन्तु भ० क० में संक्षिप्त है। परन्तु गम्भीरता दोनों में है। लगता है कि श्रीमती में कहीं-कहीं कुछ चाचल्य है, पर उस में स्वैरता न होकर भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। और अपने इस व्यक्तित्व तथा स्पष्टवादिता के कारण वह सपत्नियों में सब से अधिक प्रभावशालिनी है।

संवाद-योजना

जि० क० में नियोजित कई मधुर संवादों की मालाएँ एक के बाद एक शोभायमान लक्षित होती हैं। इन संवादों में मुख्य हैं—सार्वबाह-जिनदत्त-संवाद, मालिन-जिनदत्त-संवाद, श्रीमती-जिनदत्त-संवाद, राजा धनबाहन-जिनदत्त-संवाद, खेवर-जिनदत्त-संवाद, राजा-जिनदत्त-संवाद इत्यादि। ये सभी संवाद साहित्यिकता से ओतप्रोत शिष्टता लिये हुए हैं। भाषा ललित तथा सानुप्रासिक है। इसलिए इन को बार-बार पढ़ने को मन करता है। उदाहरण के लिए—

कुलमंडण रिउलंडण को तुहुं कहि कुलि जावउ ।

भो कुच्छर निम्मच्छर कहहि कहो इह आयउ ॥

सुणेवि बोलिउ सत्यबाहस्स, आहासइ कुम्बरगुह सुणु वणीस ।

हउं इत्थ पत्तउ भो वप्प कोउल्लेण, जत्थ तत्थ महिबलि जमंतउ ।

इसी प्रकार कहीं-कहीं संवाद सरल और मधुर हैं। यथा—

तिणि पुच्छिय जणणिए सच्चुव कहि ।

कि कंदहि को तुहु मज्झु भणु, ता अप्पइ बेरि बित्तंतु सुणु ।

इस काव्य में संवादों के बीच में वर्णन भी चलते दृष्टिगोचर होते हैं, जो वातावरण तथा चित्र को अंकित करते चलते हैं। जैसे कि—

विणिवरो सा बेरी रोवती विमलमुह अइ दीणी ।

विदाणी तणु सोणी तज्जिय मुहा ॥

तथा—

एवमेव कंपए ताब बेरि जंपए

पुत्त वामु दाहिणो भिण्णुनेव लोयणो

आम्ब मेरुसायरो जाणहे दिवायरो

जा विहाचरोयरो जा घराघराचरो ।

इस प्रकार अधिकतर संवाद अलंकृत हैं। उक्त उदाहरण में संवाद गीतिशैली में तथा वर्णन के मध्य निहित हैं। वस्तुतः इन संवादों में कवि की वैयक्तिकता की छाप लगी हुई मिलती है और इसीलिए कहीं-कहीं संवाद वर्णन के अन्तर्गत मिलते हैं। ये संवाद दो जनों के वार्तालाप से आरम्भ हो कर वर्णन के अंग बन जाते हैं और बीच-बीच में तथा अन्त में संवादों के साथ पूर्ण होते दिखाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं संवादों के बीच घटित घटनाओं की संक्षेप में आवृत्ति हुई है। उदाहरण के लिए, सिंहलद्वीप में तथा चम्पापुरी में राजा के परिचय चाहने पर जिनदत्त पुरो कहानी कहता है। इसी प्रकार मालिन सिंहलद्वीप के राजा राजकुमारी का वृत्तान्त सुनाती है। कहीं-कहीं संवाद अत्यन्त मधुर तथा सरस हैं। यथा—

वर पिक्खिवि सुंदरि लवइ एम्ब ।

हे मुहय कामु सुउ केण जाउ

हो भणइ वीर परएम आउ ।

सायह लघेवि इह दीउ पत्त

ता दिट्ठ एक्क बेरिय रयात्त ।

पुच्छिय अक्खि तणि एक्कु पुत्त

सो भवखेसइ पट्टसुय गिरुत्तु ।

तहो दीणत्तणु णिसुणेवि चित्तु

कंपित सज्जीवयव्वहो विरुत्तु ।

तहे दिण्ण वाय तुहं सूण ठाए

जाएम्बउ मई मा ख्यहि माए ।

ता सुंदरि जंपइ णियमणि कंपइ

वयाहि वयाहि परएसि गर ।

वस्तुतः संवादों में कथा की आवृत्ति लगभग सभी कथाकाव्यों में मिलती है, जो लोककथा की विशेषता है। लोग कहानी कह चलते हैं और सुनने वाला सुनता हुआ हैका भर चलता है या बीच-बीच में पूछता हुआ संवादों का आनन्द प्राप्त करने लगता है। अतएव इन संवादों में कथा का सा आनन्द मिलता है। संवाद अलंकृत होने पर भी नीरस नहीं है। उन में भाव-धारा एवं रस जोतप्रोत है। यथा—

तं त्रिसुणेवि पडिअपियउ जिणयसे कण्हहि पियउ ।
ते वयणाउवि जीसरिउ महं अबलोइवि संवरिउ ।
हुउं न मुणमि मणिमंडियए सालंकार करंडियए ।

तथा—

सोऊण सोवि दीहुरुबसास मोत्तूण भणइ संजणिय तास ।
छम्मासे मेर परक्करासि बहु दिवहावहि कय महुरमासि ।

इसी प्रकार—

तो वणीसु पहंसिय सुवत्तउ ।
भणइ भदि भोमाउ मेल्लही मह समेउ सहसति वोत्तलही ।
सुणेवि रायउतोइ उत्तउ वज्जसंख लोवमु ववत्तउ ।
वत्थि वाय वंधणु जयंतरे माम कहउ ते दुह गिरंतरे ।
आसि मण्णु पुरउ गिरत्तउ ते तणूहेणे हु उत्तउ ।
सुसुरु होइ ते सत्थ पुंगमो सत्थवाहु सुह सहरतो हमो ।

संक्षेप में, प्रसंगत. मंवाद अलंकृत, सरस तथा वचन-चातुरी से युक्त है। ऐसे स्थल क्लिष्ट होने पर भी नीरस नहीं है।

भाषा और शैली

जि० क० की भाषा साहित्यिक तथा संस्कृत से प्रभावापन्न है। कवि की शब्द-योजना तथा वचन गुण, रीति और रस के अनुकूल है। कही-कही तो ऐसा लगता है कि संस्कृत की किसी अलंकृत रचना को पढ़ रहे हों। विशेष कर वर्णनों में कवि ने सालंकार तथा संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया है। इस का कारण यही जान पड़ता है कि तेरहवीं शताब्दी के पूर्व ही संस्कृत ने साहित्य में आदर्श मान स्थापित कर लिया था। अतएव जो भी उत्कृष्ट काव्यात्मक रचना प्रसूत करना चाहता था उसे संस्कृत भाषा तथा साहित्य में कुछ न कुछ अवश्य विचार करना पड़ता था। पं० लाहू की रचना में दो बातें मुख्य हैं—समासप्रधान शब्दावली का प्रयोग तथा अलंकृत भाषा की रचना। उदाहरण के लिए—

कलकलामलकिसरकलियगे मुच्छंदमयरंदमए भट्सहसहलदलालए ।

पयपसर पफुल्लियए सिरिसमाससुविसालणालए । १०, १ ।

स्वयं कवि ने स्वीकार किया है कि कथाकाव्यकमल में समास रूपी विशाल नाल शोभायमान है। (१०, १) किन्तु जहाँ कवि ने पाण्डित्य प्रदर्शन किया है वहीं मधुर एवं ललित रचना की है, जिसे पढ़ कर छोड़ने को मन नहीं चाहता। यथा—

कय मणहर महुरसर पियालउ चंदणतिलय बहुल अलयालउ ।

मणहह हरिय सयल बिलयासउ विसयसुख संपत्ति पयासउ ।

परमण तावहारि सुविसालउ पयडिय अविरलच्छाउ विसालउ ।

गवघणसारपक्ख उवलक्खित्त अभयापरस मिल्हु पोमक्खउ । ६, २० ।

यहाँ पर कवि ने दिल्ह प्रकृति-वर्णन किया है। अतएव कई शब्द द्वयर्थक हैं। जैसे कि—पियालउ—प्यारा, कोयलों को प्रिय, चौक (चौराहा) से युक्त (कोकिलाप्रिय-चतुष्कयुक्तः), अलयालउ—केशों से युक्त, चारो ओर से लतायों से घिरा हुआ—स्थान (या समन्तात् लतास्थानं), विसयसुक्ख—विषयसुख, सुखदायक सैकड़ों पक्षी (पक्षिशत-सुखप्रकाशक, वि-पक्षी); सुविसालउ—विशाल धर्मस्थान, लक्ष्मी के घर; गवघणसार—कपूर, कपूर के वृक्ष; अभया—भयरहित, हरङ्ग; पोमक्खउ—कमल जैसी खाँस वाली कमलककड़ी; इत्यादि।

वस्तुतः आलोच्यमान काव्य में संस्कृतनिष्ठ, प्रभावापन्न, संस्कृतभ्रष्ट, देशी, प्राकृत तथा लोकबोलियों के भी नाम-रूप मिलते हैं। विषय के अनुकूल भाषा, छन्द, रस, रीति, गुण तथा अलंकारों का प्रयोग कवि की विशेषता है। भ० क० की भाषा से इस में बहुत अन्तर मिलता है। कुछ शब्दों को देख कर तो यह भ्रम होने लगता है कि कवि ने जानबूझ कर संस्कृत के शब्दों को तोड़-मरोड़ कर अपभ्रंश बनाया है। जैसे—कि—फग्गु—सं० फल्गु (व्यर्थ), दीहियइ—दीविका, छम—छप, विडोड विडोडा (इन्द्र), सारय—शारद, मेट्ट—मेण्डक, दच्छा—दक्ष, बहूव—बभ्रुव, उवायण—उपायन, संभंत—संभ्रान्त, अब्बुवा—अब्रुवाणा आदि।

कई ऐसे अप्रसिद्ध शब्द हैं, जिन का आज की संस्कृत में व्यवहार ही नहीं होता, पर वे किसी न किसी रूप में इस रचना में समाविष्ट हैं। दूसरी ओर देशज शब्दों की भी कमी नहीं है। कुछ शब्द हैं—तलवाय—तलवा (पदतल), बोरी—बेर, सडिय—सड़ा हुआ, वास, खलुव्व—खलिहान, दाइज्जउ—दायजा, बोधी—पान का बोड़ा, सेहह—सेहड़ा, आरत्तिउ—आरती, माम—पिता (ससुर), कोसाल—भाण्डागार, छाउ—छाछ, बद्धावय—बधावा, कमड—कबाघ, तच्छेर—आश्चर्यकारी इत्यादि। रचना में अनुकरणात्मक शब्दों की भी प्रचुरता है। यया—करघरंत, सल्ललंत, सिमिसिमतं, कडकडकडंत, कडकडंत, किल्लि, विल्लि आदि।

तेहि पिहु पिहु जि पच्चारि संगामिओ

खिल्लिपिल्लित्त भल्लि सरसल्लित्त

सुहेवि संभोडित्त तोडित्त जोडित्त

वंधित्त खंधित्त सुंधित्त कुंधित्त

पिट्टित्त बट्टित्त खुट्टित्त लुट्टित्त

अयणु जुत्तीए कस्तीए उक्कत्तिउ

बंधित्त रंधित्त खंधित्त सुंधित्त

पम मलित्त दलित्त पडिखलित्त दिक्खामओ ।

अइकरालोल कीलालखालुल्लित्त ।

फाडित्त धाडित्त पाडित्त च्चवडित्त ।

तलियत्त गलियत्त गालित्त लुंधित्त ।

हुणियत्त वणियत्त खणियत्त धुणियत्त ।

णिसियधाराए करवत्तकरवत्तिउ ।

बंधित्त रंधित्त मारित्त रंधित्त । (१०, ७)

एक स्थान पर कई क्रियापदों का एक साथ प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जैसे कि — दलित, पिलित, लुटित, समोडित, तोडित, जोडित, फाडित, घाडित, पाडित, बघडित, बंघित, खंचित, खुंचित, कुंचित, सलियत, गलियत, गालित, लुंचित, पिट्टित, बट्टित, खुट्टित, लुटित, हुणियत, बणियत, खणियत, घुणियत, बंघित, रंघित, खंघित, सुंघित, बंघित, गंघित, रंघित, मारित इत्यादि। अपभ्रंशरचना में प्रायः सन्धि-निर्वाह बहुत कम देखा जाता है। किन्तु प्रस्तुत रचना में सन्धियों की बहुलता है। उदाहरण के लिए — सिन्धिट्टियत, सत्वेसहो, उक्कुक्कुरिय, बालुविव, दोहरालि, निवबमेव, सिज्जासण्ण, परस्सामुसंचे, दोबच्छवि, गयणंगण, एककुवि, दीहत्तोहय, भिण्णावयास, धरच्छवमाण आदि। इसी प्रकार समास-रचना की अतिशयता इस काव्य में दिखाई देती है। समुच्चा काव्य विविध छन्दो में अनुबद्ध होने पर भी बन्ध की दृष्टि से पद्धतियाँ में निबद्ध है। कवि ने स्वयं कहा है कि इसे मैं ने पद्धतियाँ में प्रकट किया है।^१ स्पष्ट ही यह ग्रन्थ अपभ्रंश की व्याप्त प्रबन्ध शैली में वर्णित है। यह काव्य चार हजार श्लोक-प्रमाण है।^२ शैली और भाषा पूर्णतया भावों के अनुकूल है। रोद्र रस में कवि ने विकट-बन्ध तथा शृंगार में प्रसाद एवं मधुर की योजना की है। यथा—

मरुधुव धुम्बिर धयधवल बल खणखण खणंत किंकिणि जुवहि ।

एक ही पंक्ति में विवाह के अवसर पर सागलिक कार्यों में व्यस्त युवतियों का बिम्ब आँखों के सामने घूम जाता है। पवन से कंपित चंचल ध्वजा-पताकाएँ भी शब्दों में काँपती हुई-सी लक्षित होती हैं। कवि की भाषा और शैली का ही यह चमत्कार है कि दृश्य के दृश्य चंचल चित्रों की भाँति अपना अमिट प्रभाव पाठकों के मन पर छोड़ देते हैं। इस प्रकार भाषा और शैली की दृष्टि से यह उत्कृष्ट कोटि की रचना है। इस में लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ, अप्रस्तुत-विधान, शब्द-चित्र आदि बहुत कुछ मिलता है। भाषा की लक्षणा और व्यंजना शक्ति से भी यह सम्पन्न है। कहीं-कहीं प्रतीकों का प्रयोग भी हुआ है। अतएव सभी दृष्टियों से रचना बढ़िया है।

अलंकार-योजना

अलंकार-विधान में कवि का पाण्डित्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अलंकारों के चमत्कार से तथा छन्दों की विविधता से समुच्चा काव्य भरा पड़ा है। शब्दों की संश्लेष-रचना तथा उक्ति-वैचित्र्य में कवि का वैभव पंक्ति-पंक्ति में फूट पड़ा है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में इतनी प्रौढ़ कृति दूसरी नहीं मिलती। काव्य का प्रारम्भ ही यमक-रचना से होता है। अनुप्रास तो पद-पद पर मिलता है। यमक और अनुप्रास के प्रायः सभी

१. पद्धतियाँ यें पायडल्लु

समलहं पद्धडियहं एहं हुंति

२. एयहो मंधहो सहसह चयारि

हवं मुक्कु गिरक्कल्ल खलियलज्जु

आहहिं जाजेज्जसु सुणयसल्लु ।

सत्तरिणवज्जुसययुडुणि सति । अन्तिम पुणिका, ३

परिमाणु सुगह अक्खरवियारि ।

गवि जाणमि हेयाहेया कज्जु । नहीं ।

भेद एवं प्रकार इस कव्य में दिखाई देते हैं। यद्यपि आलोच्यमान रचना में वाक्य-न्यायमूलक, लोकोक्तिमूलक, विरोधमूलक तथा औपम्यमूलक आदि अलंकारों के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं, पर मुख्यता सादृश्यमूलक अलंकारों की है। सादृश्य में गुण, धर्म, रूप, क्रिया तथा विम्ब का साम्य लक्षित होता है। अतएव भावों के चित्र-विधान में उस का योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। अधिकतर सादृश्यमूलक अलंकार ही अष्टांश-रचना में सहज विधान में अनुस्यूत देखे जाते हैं। जि० क० में निम्नलिखित अलंकार मुख्य हैं :—

भूहरषारोवि ण परमसेसु

पहपेसिणुवि ण तियरह विसेसु ।

बहु भित्तिकिउवि ण जंबुदीउ

जडमाणसबंतुवि पर ण णीउ । (विशेषोक्ति)

यहाँ पर अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति है। क्योंकि कारण के रहते हुए भी कार्य का अभाव है और वह कार्य अचिन्त्य है। कारण है कि राजा चन्द्रशेखर भूधर यानी पृथ्वी को धारण करने वाला होने पर भी क्षेपनाग नहीं था। पतियों का पोषण करने पर भी स्त्री की रतिविशेष से होन था। अनेक स्रोतों वाला होने पर भी जम्बूद्वीप नहीं था। मूर्खजनों का शत्रु होने पर भी नीच नहीं था। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर द्रष्टव्य है—

जणसंतावहरवि पर ण मेहु

पालिय संजम् वि ण मुक्क गेहु ।

विमल्लोहयपक्खु वि पर ण हंसु

सयल्लकालउ वि ण सीयरंसु । (विशेषोक्ति)

छंदवंती सुलबल्लणगुणो धारिणी

सक्कई कव्ववित्तीव मणहारिणी ।

रायहंसणपत्तीव विरगामिणो

लोयमंतोसयारिणिय णं सामिणी ॥ (उपमा)

कि रायहंसु पंडुरंसु भासुरो

कि सामिणीसु सोहए हयामुरो ।

कि सुत्तपंथु दिव्वगंसु संवरो

कि पंतइत्तु कप्पवित्थु धीवरो ।

कुवेरु एहु कि सुमेहु धण्णओ

कि पुण्णिमो सुहीसु तेयपण्णओ ।

कि निप्परंपि कि विरचि कुच्छरो

कि रामएउ कंतउ निमच्छरो । (सन्देह)

जितदत्त को देख कर यहाँ सार्वबाह सामरदत्त को संका हो रही है कि यह राजपुत्र है अथवा किन्नर, विद्यावर या अन्य कोई। अतएव भेदोक्ति सन्देह है।

विद्धुम विक्कारुण अहरसोहु

णं कामे दाइय ररसोहु । (स्वरूपोत्प्रेक्षा)

विणु घणेण किरिया ण वट्टए

विणु घणेण सम्म ण पयट्टए ।

विणु घणेण मित्तहं ण भावए

विणु घणेण सोहा ण पावए । (विनोक्ति)

सिसु पाडल भंतिए लंपडउ

कायहो ण विचारइ घूयडउ ।

जोड्हाजले ण जण खालियउ

सीयररहिं सुहियणु लालियउ । २, १६

(भ्रान्तिमान्)

अर्थात् चाँदनी से अग का प्रसार हो जाने पर शीतलता से कालित सज्जन शान्ति का अनुभव करने लगे । किन्तु शिशु पढ़ने वाले प्रतिबिम्ब को वाटल समझ कर छपकने को दीड़े । उलूक कौबों को हंस समझ कर बिहारने नहीं लगे ।

मे हरि एक तणुउ सुव गुणणिहि अंधहि अट्टि चारजो । (लोकोक्ति)

इस में अन्धे को लाठी का सहारा नामक कहावत प्रयुक्त है ।

दुण्णयणय चक्कासणि सचक्क पणवेवि चक्केसरि णयणिचक्क । (यमक)

करे करे संचरइ सुवण्णधामु बालुवि जायउ पायडिय णामु ।

हल्लर हल्लर हल्लर सरेहि णरणाहविलासिणि सायरेहि ।

(स्वभावोक्ति)

इन के अतिरिक्त दुष्टान्त, अर्धान्तरम्यास, समुच्चय, उदात्त आदि अलंकार जि० क० में मिलते हैं । कहीं-कहीं पञ्चमचरित और महापुराण की भाँति अलंकारों की लड़ी दिखाई पड़ती है । पहली ही सन्धि में उत्प्रेक्षा (१, १७) और उपमाओं की लड़ी की लड़ी मिलती है (१, १५) । वस्तुतः प्लेव, यमक, रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों से समृद्ध रचना भरी पड़ी है । आदि, मध्य, श्रुति, वृत्ति, छेक तथा अन्त्यानुप्रासों से यह अत्यन्त समृद्ध है । यमक में भी आदि, मध्य और अन्त पादगत अनेकों उदाहरण मिलते हैं । अर्थात् में अन्त्यानुप्रास और यमक अपभ्रंश-कविता की अपनी निजी विशेषता है, जिस का उसे गौरव है । इस का सब से बढ़िया उदाहरण प्रस्तुत काव्य कहा जा सकता है ।

छन्दोयोजना

छन्दों की दृष्टि से जि० क० का अत्यन्त महत्त्व है । अपभ्रंश के कथाकाव्यों में इतने अधिक छन्दों का किसी एक रचना में प्रयोग नहीं मिलता है । उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्य में सब से अधिक छन्दों का प्रयोग 'सकलविधिविधान काव्य' में देखा जाता है । अपभ्रंश के कवियों ने अधिकतर मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है । ये छन्द नाद, श्रुति, ताल, लय एवं देशी धुनों से समन्वित होते हैं । कहीं-कहीं तो लोक प्रचलित रागों में ही मात्राओं को घटा-बढ़ा कर छन्द का ढाँचा दिया हुआ प्रतीत होता है । कुछ छन्द जन-जीवन में विभिन्न उत्सवों पर गाये जाने वाले गीतों पर आधारित हैं । उन के नाम भी ज्यों के त्यों हैं । वसन्तचण्डर वसन्त के दिनों में तथा फाग के समय चर्वरी पर गाये जानेवाले गीत या उस की शैली पर बने हुए छन्द का नाम है । इस छन्द को पढ़ने से यही लगता है जैसे कि आपस में बात कर रहे हों ।

कि सीरपाणि कंजजोणि कि इमो

कि कित्तिवामु दिव्ववामु णित्तमो

कि रायहंसु पंडुरंसु भासुरो

कि साभिणीसु सोहए ह्यासुरो । जि० क०, २, १५ ।

बालोप्यमान कथाकाव्य में ऐसे कई छन्द मिलते हैं, जिन का अध्ययन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है । जि० क० में प्रयुक्त छन्द अधिकतर मात्रिक हैं । वे शास्त्रीय न हो कर लोकशैली में ढले हुए मिलते हैं । अमरपुर सुन्दरी, जंभेट्टिया और आवली ऐसे ही छन्द जान पड़ते हैं । श्री बेलणकर के अनुसार फुल्लडक, सम्बटक, धवल और मंगल लोक-जीवन के उत्सवों तथा मांगलिक कार्यों से सम्बन्धित छन्द हैं ।^१ आ० हेमचन्द्र ने स्वयं उन का निर्देश किया है ।^२ इस से पता लगता है कि प्राकृत-युग में ही विभिन्न मांगलिक कार्यों में प्रयुक्त होने वाले गीतों का सम्बन्ध विविध छन्दों से स्थापित हो गया था । अपभ्रंश के कवियों ने उसी परम्परा का निर्वाह कर सामाजिक विधान के अनुरूप नये छन्दों तथा गीतों का प्रयोग कर लोक जीवन का वास्तविक परिचय दिया है ।

जिनवत्तकथा में विलासिनो, पिगल, मोक्तिकदाम, मनोहरदाम, आरनाल, भुजंग-प्रमात, गाथा, वस्तु, सोमराजि, नलिना, ललिता, सिमिणी, अमरपुरसुन्दरी, पोमिनी, मदनवतार, विचित्रमनोहर, पमाणिया, वसन्तवल्पर, पंचचामर, नाराच, दुवई, तोणया तिभंगिया, रमणीलता, समाणिया, चित्तिया, अमरपयाणाम, मोणय, खण्डय, जंभेट्टिया और आवली छन्द मिलते हैं । ग्यारह सन्धियों में तीस छन्दों का प्रयोग करना कुशल कवि का ही ब्यापार है । आश्चर्य तो यह है कि केवल आवली को छोड़ कर अन्य सभी छन्द पाँच सन्धियों में ही प्रयुक्त हैं । आगे की छह सन्धियों में कवि ने पिछले छन्दों में से ही कई छन्दों का प्रयोग किया है । किन्तु मुख्य रूप से घत्ता और दुवई का योग दिखाई देता है । छन्दों के लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

विलासिनो

यह समवतुष्पदी छन्द है । इस के प्रत्येक पद में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं । कुल मिला कर साठ मात्राएँ कही गयी हैं^३ । यथा—

परहरे गए सोहघारिणी,

विसयसुखसंपत्तिकारिणी ।

सामिणी सया दुखवज्जिया,

जेहि सभुवविकमेण अज्जिया ॥

१ छन्दोऽनुशासन की भूमिका, पृ० ४६ ।

२. उरसाहादिना येनैव धवलमंगलभाषागाने तन्नामाद्ये धवलमंगले । छन्दोऽनुशासन, ६, ४० ।

देवगानं फुल्लडकम् । वहाँ, ६, ४१ ।

गाने पिदो सम्बटकम् । वहाँ, ६, ४२ ।

३. ती बरसी विलासिनो ।

हो त्रिमात्रो एकवतुमत्रि पुनहो त्रिमात्रो विलासिनो । वहाँ, ४, ६० ।

कहीं-कहीं मात्राओं में भेद लक्षित होता है। किन्तु जान पड़ता है कि अपभ्रंश की कविता उच्चारण की बिधि पर अधिक निर्भर है। क्योंकि उच्छ्वासों (utterance) के अनुसार ही अपभ्रंश के छन्दों का विकास हुआ है। अतएव लोक-शैली में ढले हुए छन्दों में अथवा कवि के स्वातन्त्र्य से मात्राओं में घटा-बढ़ी मिलती है। यथा—

मत्तकोइलमदुरभासिणी
हसइ कि पि सा जइ विलासिणी ।
दोण्हि हुंति सोहरगलण्डिआ
मल्लिआ सह य चंदजोण्हिआ ॥^१

यहाँ पर उक्त पंक्तिओं में पहली में सोलह मात्राएँ हैं, दूसरी-तीसरी में पन्द्रह और चौथी में सोलह हैं। पहली पंक्ति में 'मत्तकोइला' पाठ है। यदि 'मत्तकोइल' मान लिया जाय तो पन्द्रह मात्राएँ होती हैं। किन्तु अन्तिम पंक्ति में स्पष्ट रूप से सोलह मात्राएँ हैं। यदि 'चंद' में दो मात्राएँ मानें तो 'हुंति' में दो ही गिननी पड़ेंगी और परिणामतः तीसरी पंक्ति में चौदह मात्राएँ होंगी। इस प्रकार जब आ० हेमचन्द्र को निर्दोष उदाहरण नहीं मिल सका तो फिर इस में किसी का क्या दोष ? किन्तु आगे की पंक्तियों में मात्राएँ यथोचित हैं। उदाहरण है—

विणु घणेण गयमाणु दीसए, विणु घणेण जगि अबुहु सोसए ।
विणु घणेण काउरि सु भणिए विणु घणेण लोएहि ण माणिए ।

प्रत्येक पंक्ति में पन्द्रह मात्राएँ ही हैं, घट-बढ़ नहीं। वस्तुतः वृत्तजातिसमुच्चय में यह मिथित वृत्त के रूप में उल्लिखित है। विरहार्क ने दो स्थानों पर इस का विवरण दिया है। एक के अनुसार यह मात्रिक वृत्त है और दूसरे के अनुसार दो बार पाँच मात्राओं के प्रयोग एवं अन्त्य गुरु के अनन्तर एक जगण का प्रयोग होता है।^२ इस से यह पता लगता है कि समय-समय पर प्राकृत के छन्द संस्कृत के साथे में ढाले जाते रहे हैं। क्योंकि प्राकृत और अपभ्रंश में वे मात्रिक रूप में ही प्रयुक्त हैं। अतएव उन में स्वातन्त्र्य और लोकशैली के अनुरूप प्रयोग करने की क्षमता तथा प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

मौक्तिकदाम

कवि ने इसे मुत्तीदाम या मौत्तिया कहा है। यह सम द्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में बत्तीस मात्राएँ होती हैं। कुल मात्राएँ चौसठ कही गयी हैं। स्कन्धक के समान इस में बारहवीं और आठवीं मात्राओं पर क्रमशः यति होती है।^३ यथा—

१. छन्दोऽनुशासन से उद्धृत, ४, ६०-१।

२. श्री ह० ६० बेलनकर छन्दोऽनुशासन, पृ० ३४३-३४४।

३. तत् मौक्तिकदाम उज्जै। छन्दोऽनुशासन, ७, १६।

उज्जैरिति द्वादशभिरष्टमिष्व यतिर्येत्तदा तथैव स्कन्धकसमं मौक्तिकदाम।

शिणा जिणवत्तु समप्पिउ ताहं हिरी गउरत्तु मणाउ ण जाहं ।
 भियंतेर गुञ्ज गिबेइय वत्त तहावि करेहु समिच्छइ कंत ।

किन्तु इस उदाहरण में यति के नियमों का पालन नहीं हुआ है। वस्तुतः यह दृष्टान्त मात्रिक वृत्त का न हो कर वर्णवृत्त का है। कालान्तर में संस्कृत के साहित्यिक प्रभाव से आपन्न हो कर विभिन्न छन्द वर्णवृत्तों के सन्धि में ढलने लगे थे। प्राकृतपैगलम् में वर्णित वर्णवृत्त के अनुसार ही इस की रचना हुई है, जिस में चार जगण और प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं।

मनोहरदाम

कवि ने इसे 'विचित्तमणोहरा' कहा है। यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बीस मात्राएँ होती हैं। कुल मात्राएँ अस्सी होती हैं। इस का उदाहरण है—

मञ्जंति सो जाव पुणु चित्ते ताव
 तणु कंति लामण्ण सोहमसंपुण्ण
 वररूव तण्णमि का मार रइसंगि
 पच्चवत्स इह ञ्छंदि कय जाहि पडिञ्छंदि ।

यह गीति शैली का छन्द जान पड़ता है। भावों का आवेग गेय पद्धति पर ताल और लयानुकूल है। इस का लक्षण प्राकृतपैगलम्, छन्दोऽनुशासन और प्राकृतछन्दकोश में नहीं मिलता है।

दूसरा उदाहरण है—

कलिकलुसमलरहिय संघविय गियदुहिय ।
 ता भणित ताएण गुणगरवराएण । ३, १२

इस के प्रत्येक चरण में दस और कुल बीस मात्राएँ हैं। दोनों ही पंक्तियाँ स्वतन्त्र हैं। अतएव यह सम द्विपदी छन्द है। आ० हेमचन्द्र के चारु और विचित्रमनोहरा में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता है।^१ हाँ, मनोहरा और विचित्रमनोहरा में बहुत अन्तर है।^२ संभव है इस के दोनों नाम प्रचलित रहे हों अथवा साहित्य में उसे चारु कहते रहे हों और लोक में मनोहरा या मनोहरा प्रचलन में रहा हो।

१. पञ्जोहर चारि पडिइह ताम, ति तेरह मल्ल गीत्तिअदाम ।

२. पुञ्जहि हारु ण दिज्जेइ अत, बिहूसअ अगल लण्णम मत्त । प्राकृतपैगलम्, २, १३३ ।
 उक्त उदाहरण में भी आवि और अन्त में हार (गुरु) नहीं है।

३. चौ चारु । छन्दोऽनुशासन, ७, ७१ ।

दो पञ्चमात्री चारु । यथा—चारुचपयकई, उअ सोहइ गुअई ।

३. समे दश ओजे पचवत्स मनोहरा । वहीं, ६, २०-३२ ।

आरनाल

यह समवतुष्यदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में तीस और कुल मिला कर एक सौ बीस मात्राएँ होती हैं। छठी, चौथी और पाँचवीं मात्राओं पर क्रमशः यति होती है। यथा—

आ पालिय गुणवालें निवेण गुणमंजरि पियउक्खय करेण ।
निवणोइ वियक्खण गुणरण परिरक्खय सुहपय जहं पिएण ।

यहाँ पर यह समद्विपदी है। कहीं-कहीं पर वतुष्यदी भी है। जैसे कि—

हिमगिरिसरिसम परिहा वरिया वयसासचक्क मणोहरिया ।
अउदिसु दरसिय गोउर सगरा मुणियय चुव पंसु पवित्तवरा ।
गिम्बाणविमाणसमाणधरा भूसिय मणिकिरण तमोहहरा ।
वरचारणउल कोलाहलिया कय जणवयदाण वसें मिलिया ।

सोमराजो

इस के प्रत्येक पद में दो यगण होते हैं^१। प्राकृतपैगलम् में यह शांखनारी कहा गया है, क्योंकि लक्षण दोनों में समान हैं। जयकीर्ति ने इसे द्रुत कहा है^२। संभव है कि इस के और भी अन्य नाम हों। उदाहरण है—

कुमारस्सगेहं पर्यपति जेहं अहो णाह भव्वं ण सो देह दव्वं ।

इस प्रकार यह समवतुष्यदी वर्णवृत्त है। संभवतः यह संस्कृत, प्राकृत से अपभ्रंश में गृहीत हुआ है। क्योंकि शांखनारी भी वर्णवृत्त है और द्रुत भी।

ललिता

यह समद्विपदी छन्द है। आ० हेमचन्द्र ने इसे गीति का एक भेद कहा है। गीति छन्द का भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्रचार रहा है। लोकसाहित्य तो गीति की ही विभिन्न धुनों में लिखा गया है। इस के हजारों और लाखों भेद जन-जीवन में प्रचलित रहे हैं। इस छन्द में इकतीस मात्राएँ होती हैं, तेरहवीं मात्रा पर यति होती है। किन्तु हेमचन्द्र के द्वारा कहे गये लक्षण का पालन इस में नहीं है^३। यथा—

कुव मड उववण दीहिय हियवण, विविह करावहि सुह संपावहि ।

यहाँ पर बत्तीस मात्राओं का छन्द है। फिर, तेरहवीं पर यति भी नहीं है। पूरा कड़वक ऐसा ही है। अतएव सदोष भी नहीं मान सकते। दूसरा उदाहरण है—

१. यौ सोमराजो । वहीँ, २. ३८ ।

२. वहीँ, पृ० २८० ।

३. तृतीये ललिता । ४. १० ।

गीतिरेव तृतीये ये ललिता । वहीँ ।

रुवेणत्पर रंजिय सत्पर कुलभरधुरधर केसरिकंधर ।

वस्तुतः इस के कई भेद थे, जिन का उल्लेख संभव भी नहीं है। आ० हेमचन्द्र ने उन का संकेत भर किया है^१। अतएव उन में से ही किसी का प्रयोग हुआ है।

अमरपुर सुन्दरी

यह सम द्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पाद में दस मात्राएँ होती हैं। क्रमशः सातवीं, दूसरी और फिर पहली पर बति होती है^२। यथा—

कोविलालाबरे किण्णरी कील्लिरे ।

मदनावतार

यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बीस मात्राएँ होती हैं^३। स्वयम्भू ने इसे चन्द्रानन कहा है^४। यथा—

दिक्खवहि महपुरउ ससरीरु दिवसयरु,
णासेहि महचित्त भंतोए तमपयरु ।
ते बिरहसिहि तवियतणु जाह गउ जाम,
पज्जल्लिवि वयणं बु देदेहि पिय ताम ।

पद्मिनी

कवि ने इसे पौमिणी कहा है। इस में प्रत्येक पाद में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं। यह समचतुष्पदी छन्द है। उदाहरण है—

विरेहमाणु सुन्दरावणो जिणायमेव सोह पावणो ।
वराणणुव गित्त भूसिओ जिणुत्त सुद्धवाणि पोसिओ ।

पंचचामर

नाराच के कई भेद हैं। छन्दोऽनुशासन में नाराचक, सोमकान्त और पंचचामर का उल्लेख मिलता है। किन्तु तीनों के लक्षणों से प्रस्तुत उदाहरण मेल नहीं खाता। उदाहरण है—

१ अत्र तृतीय पगणस्य षड् विकल्पत्वे प्राग्वत्तावन्त एव भेदाः । वहीं ।

तथा—

तत्तत्तेषां शेषगणविकल्पानां चान्योऽन्यताडनायां पूर्वार्थे जाता एकोनविंशतिः सहस्राणि त्रैशते । तान्द्विरेवोत्तरार्धविकल्पे धृति जाता षट्त्रिंशत्कोट्य षडशीतिर्लक्षाश्चत्वारिंशत्सहस्राणि । वहीं, ४, ६, १ ।

२. सप्त कला दलौ चामरपुरसुन्दरी । वहीं, ७, ६६ ।

३. तत्र चतुर्भिः षड्चमार्यैर्मदनावतार । वहीं, ४, ८३ ।

४. श्री वेणकण्ठ द्वारा सम्पादित “छन्दोऽनुशासन”, पृ० ३४३ ।

सुणेह तं जिणाइयतिणा पर्यपिउ

अहो बणीस कितिमीस सार सपिजी ।

सुरिदणायणेव तुळु णंदणं

तुरं कुणेमि साहिसाह सोहणं वणं ॥

इस प्रकार इसमें कुल अस्सी मात्राएँ हैं । संस्कृत में इसे नगस्वरूपिणी कहते हैं । इस के अन्य नाम हैं—बालगामिणी, मत्तवेष्टित, प्रमाणीणिका और स्थिर^१ । वस्तुतः उक्त उदाहरण संस्कृत के नगस्वरूपिणी से मिलता-जुलता है । अतएव संभव है कि वर्णवृत्त को मात्रिक में ढाल लिया गया हो ।

पमाणिआ

इस का संस्कृत रूपान्तर प्रमाणिका है । यह वर्णवृत्त है । इस में कुल अस्सी अक्षर होते हैं । इस का दुगुणा प्रमाण नाराच में कहा गया है । इस में एक लघु के बाद क्रमशः एक गुरु होता है^२ । यथा—

असेसु देसु मिलिए सुणिच्च पंथि चल्लए ।

तडाग कूव कंदरं गिरी सरीउ सुंदरं ।

नाराच

यह चतुष्पदी छन्द है । प्रयुक्त नाराच सोमकान्त है । इस के प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं^३ । उदाहरण है—

असोय साहि सेहरच्छ मोरचारपिच्छयं विचंबुलंडिया बडंति वृषपिकगुच्छय ।

घरालेय घरारहम्मे सणिसणलेयरं लयाहरंत कीलमाण लेयरी सुखेयर ।

इस में कुल मात्राएँ छियानवे हैं ।

तोणया

इस का संस्कृत नाम तूणक है । यह वर्णवृत्त है । इस में पन्द्रह अक्षर लघा रगण, जगण, रगण, जगण और रगण का क्रम रहता है^४ । इस के अन्य नामों में उत्सव, महोत्सव और चामर का उल्लेख मिलता है । उदाहरण है—

रत्तपोमपत् छायापाय गंधवासिया उज्जलाणहावली गियंविणी हियासिया ।

मुक्कपाव सुद्धभाव रायहंसगामिणी सव्विलासदिण्ववास हासकेलिंगोमिणी ।

१. श्री बेलणकर 'छन्दोऽनुशासन', पृ० २८८ ।

२. लह गुरु निरन्तरा पमाणिआ अठक्करा ।

पमाणि दूण किञ्जिए गराअ सो भणिञ्जए ॥ प्रा० पै०, २, ६८ ।

३. गरायपाय बीह मत्त चारिमत्त अगसा ठविज्जयंति थोडसाइ अक्कराहं णिम्मसा ।

सहूय अट्टदीह अट्ट एरिसो पसिअओ नरायनाम सोमकंत कोससेहि दिट्ठक ।

प्राकृतछन्दकोश, १४ ।

४. रज्जं रास्त्तूणकम् । छन्दोऽनुशासन, १, २६४ ।

भ्रमरपद

इस का प्राकृत नाम भ्रमरपदा है। यह समद्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बाईस मात्राएँ होती हैं। छन्दोऽनुवासान में उल्लिखित भ्रमरपद से इस में अन्तर है। यथा—

होरावलि ते उज्जल दरबरसिय दसणा वालुम्बिकुरंगिव लोयणसियकसणा ।
गहिरणाहि खामोयरि सुपिहलकडिरमणा रत्तुप्पलकोमलकर कुंजरगद्गमणा ।

त्रिभंगिका

इस का प्राकृत नाम त्रिभंगिया है। यह कई छन्दों के मेल से बनता है। अतएव इस के कई भेद हैं। प्रा० पै० के लक्षण से प्रस्तुत उदाहरण मेल नहीं खाता है। यह स्वतन्त्र ही है। यथा—

पिम्बुबुरसुत्तिलउ देह्णिमुत्तिलउ पियहु लहु कवि भणइ महिल्ली ।
कामवसिल्ली गुणभरिउ सूहउ गमदारें भणिपायारें अंतरिउ ।

जम्भेट्टिया

इसे जम्भेट्टिका भी कहते हैं। यह समद्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पाद में नौ मात्राएँ होती हैं^१। यथा—

ता रिउबंतओ बहुवउ कंतओ ।
जाय सरंगओ णिरुवम चंगओ ॥

इन छन्दों के अतिरिक्त गाथा, वस्तु, भुजंगप्रयात, दुर्वई और खण्डक के उदाहरण लक्षणों के अनुसार इस काव्य में मिलते हैं। किन्तु जि० क० में कुछ अभिनव छन्दों का भी प्रयोग दिखाई देता है, जिन के नाम हैं—पिगल, विचित्रमनोहरा, वसंतचच्चर, समाणिया, चित्तिया आदि। इन में से पिगल और विचित्रमनोहरा के तो लक्षण हाँ नहीं मिलते। वसन्तचच्चर छन्द वसन्तोत्सव और वसन्तलेखा दोनों से ही भिन्न है। चित्तिया भी चित्रा से सर्वथा भिन्न है। समाणिया अवश्य संस्कृत का समानिका वर्णवृत्त से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। किन्तु णलिन संस्कृत नलिन से भिन्न है।

समानिका

इस के कई नाम हैं उष्णिह्, कामिनी, खेटक, योमिनी, रत्नक, रत्ना, शिखा आदि। इस में क्रमशः एक रगण, जगण और एक गुरु होता है^२। किन्तु निम्नलिखित उदाहरण में सर्वत्र गुरु के बाद एक ह्रस्व भी प्रयुक्त है। यथा—

ताम्ब ओसहोसवाम णट्टओ विसिट्टकाम ।

इत्थ अंतरम्मि सूर अब्बकाण आसपूर ।

१. चणौ जम्भेट्टिका । चतुर्मात्रपञ्चमात्रौ जम्भेट्टिका । वहीं, ७, ६७ ।

२. रजौ ग उष्णिक् । रगणजगणौ गुरुश्च । वहीं, २, ५३ ।

आवली

यह समबतुण्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बीस मात्राएँ होती हैं^१।

यथा—

छुट्टइ कहव कहव तत्तो पमज्जए पुणरबि धाइ तेहि सहसा गहिज्जए ।
तारिगु बहुपयारु हुक्कहु किज्जए अम्हारिसिहि केम बण्णहुं तरिज्जए ।

जि० क० में समाज और संस्कृति

साहित्यिक रचना होने पर भी जि० क० में समाज और संस्कृति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। भ० क० की भाँति इस काव्य पर भी सामन्तकालीन संस्कृति और समाज की बढ़िया छाप लगी हुई मिलती है। भले ही धार्मिक आवरण में वह कहीं-कहीं स्पष्ट रूप से न उभर सकी हो, पर लोकजीवन का पूरा तत्त्व उस में समाया हुआ है। जिनदत्त के जन्म लेने पर छठे दिन छट्टी का उत्सव मनाना^२, दसवें दिन नामकरण संस्कार करना^३, देव-पूजन करना आदि ऐसे लोकाचार हैं, जिन्हें भारतीय अपने जीवन में समाज से भुला नहीं सकता। विवाह के समय समाज में विभिन्न मांगलिक कार्य होते थे। स्त्रियाँ मंगलगीतों को गाती हुई, स्त्री-समूह में नृत्य-गान करती हुई उल्लास को प्रकट करती थी। मन्दल, डबक, फुडुक्क, बुक्क, मुक्कार, नन्दिघोष, भंभाभेरी, बीणा, तालकंसाल और तूर आदि वाद्यों के वादन से समूचा सामाजिक वातावरण हर्षोत्फुल्ल हो जाता था। बरात में स्त्रियाँ भी जाती थीं। बरात बैलगाड़ी पर जाती थी। बैलों के सींगों को सुनहले कपडों से लपेट कर सजाया जाता था। जिनदत्त की बरात में एक करोड़ बैल थे। बोझा ढोने वाले अनगिनत थे। छोड़े टापों से धूल उड़ाते जाते थे। बरात के स्वागत में पान का अत्यधिक प्रचार था। बरात को नगर के बाहर ठहराने की प्रथा थी। लोग मस्ते के साथ हाथ में हाथ डाले विहार करते थे।^४ बर को बढ़िया से बढ़िया वस्त्रों तथा आभूषणों से सजाया जाता था। जिनदत्त ने हाथों में कंकण, सोस पर सेहरा, गले में श्वेत पुष्पों की माला, कानों में कुण्डल और गले में हार धारण किया था। बर के नगर में पहुँचने पर घर-घर में दीपावली सजायी जाती थी। चौक मोतियों की रंगावली से पूरा जाता था। मंडप कई रंगों के वस्त्रों से तथा रत्नों से सजाया जाता था। बर की सवारी हाथी पर निकलती थी। विवाह में नाच-गान की प्रथा थी।^५ लोग सपत्नीक पीढ़ों पर बैठ कर वेश्याओं के नृत्य-रस का आनन्द लेते थे।^६ गीत और विनोद

१. वहाँ, ४, १८।

२. छट्टए विणि निसिजायरण नित्ति

३. दसमए वासरि जिणयणु गामु

४. करे करु मेलंतु पसुट्टमसु

५. पिच्छइ अमतायण जहरसु

६. ता तहि मंडनायले निसिय जणवसे

उवविट्ठल मणुज्जल करु समज्जल

पमुहचखन कय बहु सुह पविचि । १, २३

मुणिणा तहो कउ सुविसासधामु ।

तंबोल बोलि रंजिय बयणु । २, ११ ।

बाइय मंवलरन भरिय दिमु । २, १४ ।

रयणकिरणपीढे ।

मुपडि पिहियपीढे । २, १४ ।

में ही सारा समय बीतता था। वर ससुर के घर पर कई दिनों तक राग-रंग में मस्त रहता था। बहिस्रा भोजन तथा तरुण स्त्रियों का सत्संग, यही उस के दो मुख्य कार्य होते थे। दोपहर के भोजन के बाद ही नवयुवतियों का नृत्य आरंभ हो जाता था। नाच-गाना ही नहीं, द्राक्षा का बना हुआ मधुर आसब और पानक भी चलता था।^१ काव्य की भाँति वह अत्यन्त महकता था। फिर, नयी बहू के साथ जिनदत्त सुगन्धित तथा कोमल भोजन करता था। इस से स्पष्ट है कि उस युग में सामन्तीप्रथा का बड़ा प्रभाव था। माता बेटी को बिदा करते समय वर-बधू के सिर पर दूर्वांकुर तथा सिद्धि के लिए जौ डालती थी। सभी नगर के बाहर उद्यान तक दोनों को पहुँचाने जाते थे। माता ससुराल में मन्त्रीभाँति रहने के लिए तथा गुरुजनों की वित्त कराने के लिए पुत्री को उपदेश देती थी। बहू के साथ पुत्र के विवाह से लौटने पर माता पुत्र का सिर चूमती थी, आरती उतारती थी। बेटे-बहू की नजर उतारती थी। न्योछावर कर दान देती थी। कपूर के दिवे जला कर आनन्द मनाया जाता था। विवाह में दायजा (दहेज) देने की प्रथा थी।^२ वेश्याओं का समाज में सम्मान था। जिनदत्त का मन विषयों की ओर उन्मुख करने के लिए सेठ जीवदेव ने सन्ने अपने घर बुलाया था।^३ जुआ का प्रचार था। विभिन्न द्वीपों में जा कर वाणिज्य द्वारा रत्नों को कमा लाने में ही बणिक् जीवन सफल समझा जाता था। सार्थवाह सहस्रों की संख्या में व्यापार के लिए जहाजों में बैठ कर जाते थे। अतएव घनवान् की कसीटी कंचन न होकर रत्न, होरा, माणिक तथा मोतियों में मानी जाती थी। बहु-विवाह की प्रथा थी। विद्याधरों के राजा अशोक के अन्तःपुर में लगभग बीस देशों की रानियाँ थीं। (५, ७) मारज, मोहन, उष्वाटन तथा तरह-तरह की विद्याओं का प्रचार था। मगध में कई छोटे-छोटे राजा थे। कदाचित् यही गुजरात तथा कच्छ की स्थिति थी। इसीलिए वसन्तपुर में सेना के साथ जब जिनदत्त पहुँचा तो राजा घबडा गया। क्योंकि राजा लोग अपने छोटे से राज्य में भोग-बिलास में डूबे रहना चाहते थे।

१. दुप्पहरे भु जइ भोवणु सुकुमारयरु
गवणहारं भुव रसवहलु

रहनरुन ससुउ जणिय हरिमु
आमहुरउ परमपियासपुन

२. पुषु दिज्जइ दाइज्जउ परइ
उत्ताशानमहिं हय गोहणइ

३. कुर्वे दुज्जलं तिउ वरपहसंतिउ
कारणे निययपसूवहो गुणसंभूवहो

सुविमुटु सभंघउ सनहु गिरु ।

तरुभीज्जोवणुव सलवणहलु ।

महकइ कब्बुव दसवमियरुं ।

सौरगलु पामरणवरुन । २, १७ ।

अइ उच्च मंच दिव्वंवरुं ।

दासीउ दास मणमोहणइ ।

आणहुं साधरि विलासिणिउ ।

अकुसुममान पणासणिउ । १, २७ ।

जिनदत्तचउपई

कवि रलह कृत 'जिनदत्तचउपई' लगभग छह सौ चौपाइयों में निबद्ध काव्य-रचना है। यद्यपि यह सन्धियों में विभक्त नहीं है, पर इस की रचना कथाकाव्य की शैली पर हुई है। वस्तुबन्ध तथा वर्णन अधिकतर पं० लाखू के 'जिनदत्तचरित' पर आधारित है। समग्र रचना पाँच सौ तैतालीस चौपाइयों में रचित है।

गय सत्तावन छयसय माहि पुन्नवंत को छापइ छाहि।

तनकु पुराणु सुणिउ नउ सत्यु भणइ रलहु हउ ण मुणउ अत्यु १५४८।

किन्तु इस के आगे के पद में कवि ने पाँच सौ चवालीस चउपई रचने की बात कही है। वस्तुतः कुल छन्द पाँच सौ उनचास है, जिन में अन्त के पाँच या छह ग्रन्थ के माहात्म्य के सूचक हैं। यदि हम उन को अलग से मानें तो पाँच सौ तैतालीस या चवालीस होते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से आगे विचार किया जायेगा।

बीच-बीच में नाराच या वस्तु छन्द भी दृष्टिगत होते हैं। जिनदत्त की यह कथा किसी उद्देश्य-विशेष से नियोजित न हो कर विबुध जनो के चित्त के अनुरंजन के लिए रची गयी है।

हीणबुधि किम करउ कवित्तु रंजिण सकउ बिबुहबणचित्त।

धम्मकथा पयडंतह दोसु दुज्जणसयण करहि जिणु रोसु १२०।

अतएव कवि की मौलिकता एवं कल्पना को अधिक अवसर था; पर रलह की रागात्मिका वृत्ति कथा-वर्णन में ही अधिक लक्षित होती है। वस्तु-वर्णन कथा की अपेक्षा कम है। पं० लाखू में वर्णन की अतिशयता और जलकारों के बीच कथा की गतिशीलता दोनों ही समान रूप से मिलती है। इस से जहाँ यह स्पष्ट है कि लाखू की शैली व्यासमूलक है वहीं रलह की समासमूलक है। परन्तु यथार्थ में तथ्य यह है कि वर्णन की जो समासशैली हमें धनपाल में मिलती है वह रलह में नहीं है। भविष्यदत्त-कथा की समीक्षा में यह कहा जा चुका है कि शैली संक्षिप्त, मधुर तथा गम्भीर है। जिनदत्तचउपई में यह बात नहीं है। कथा ही इस में मुख्य है। अतएव अनुभूति की सघनता कम है।

अपभ्रंश के कथाकाव्यों की भाँति जिनदत्तचउपई में चौबीसी-वन्दना, आत्म-विनय-प्रदर्शन, सज्जन-दुर्जन-कथन, आत्माभिव्यक्ति, स्ववंशकीर्तन आदि साहित्यिक रुढ़ियों का पालन दृष्टिगोचर होता है। कवि ने तीन चौबीसी की वन्दना के साथ चौबीस यक्ष-यक्षिणियों, नवग्रहों तथा सरस्वती की भी वन्दना की है। माता-सरस्वती के प्रति कवि ने अत्यन्त अनुराग एवं भक्ति-भावना प्रकट की है। इस से पता लगता है कि जिन-सरस्वती विशेष रूप से कवि की दृष्टि देवी रही होगी। इसी लिए कवि ने बार-बार प्रणाम कर स्तुति की है।

पुणु पुणु पणवड माता पाइ जेइ हवं पालिउ करुणा भाइ ।
मउ बधारणु हुइ सउ उरणु हा हा भाइ मुक्षु जिणसरणु ।२८।

अन्य देवियों में शक्रेश्वरी, रोहिणी, ज्वालामालिनी, अम्बिका और देवताओं में क्षेत्रपाल की वन्दना कवि ने की है ।

कवि-परिचय

कवि के सम्बन्ध में विशेष जानकारी तो मिलती नहीं है । स्वयं कवि ने अपने विषय में आलोच्यमान काव्य में जो कुछ कहा है उस से पता चलता है कि उन का जन्म प्रसिद्ध जैसवाल कुल में हुआ था ।

जइसवालकुलि उत्तम जाति बाईसइ पाइल उत्तपाति ।
पंचऊलोया आते कउ पूतु कवइ रल्लु जिणदत्तचरित्तु ।२६।

रल्लु के पिता का नाम अभय (अभइ) और माता का नाम आते (?) था । सम्भवतः रल्लु का सम्बन्ध लाखू के कुल तथा राजघराने से था । सम्भव है कवि भी कहीं का छोटा-मोटा राजा हो । क्योंकि जिनदत्तचउपई में कई स्थानों पर कवि ने अपने को 'राइसिहु' उपनाम या पदवी से सूचित किया है ।

घर सिरु लाइ राइसिहु कवइ बहु फलु बीरणाहु जो णवइ ।८।
जिणवत्त पूरी भई चउपही छप्पन हीण वि छहसय कही ।
सहसु सलोक विन्निंसय रहिय गंधापमाणु राइसिहु कहिय ।५५६।
हनि ते नारिणिगु गय सगिय तुहु रायसिह लजि निय लगिय ।५५०।

हो न हो, कवि एटा के आसपास कहीं का रहने वाला था । इस काव्य की अभी तक एक ही प्रतिलिपि प्राप्त हो सकी है, जो वि० सं० १७५२ की लिखी हुई है । इस के लेखक महानन्द पालम्ब निवासी पुष्करमल के आत्मज थे । जिनदत्तचरित्र के पद्यानुवाद के रचयिता कमलनयन मैनपुरी के निवासी थे ।^१ इस से भी सम्भावना यही की जा सकती है कि कवि रल्लु उत्तर भारत के निवासी थे । और बहुत कर वि० सं० १३२० से १३८० के बीच कवि का रचना-काल रहा होगा ।

रचना-काल

जिनदत्तचउपई की रचना वि० सं० १३५४ में भादो सुदी पंचमी गुरुवार के दिन प्रारम्भ हुई थी ।

संवत् तेरहसँ चउवण्णे भादवसुदि पंचम गुरु दिण्णे ।
स्वाति नखत्तु चंदु तुल हुतो कवइ रल्लु पणवइ सरसुती । २९ ।

१. कामठाप्रसाद जैन हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २१४ ।

साधारणतया इस रचना को लिखने में छह महीने का समय लगा होगा। क्योंकि रचना अधिक बड़ी नहीं है। लेखक ने इस रचना को संक्षेप में लिखा है, नहीं तो यह अधिक से अधिक दुगुने आकार की अवश्य हो सकती थी।

कथावस्तु का आधार

कवि रत्न कृत 'जिनदत्तचउपई' का आधार लाखू रचित जि० क० है। वस्तु दोनों में समान है, पर वर्णन और शैली में दोनों में अन्तर है। मुख्य रूप से दो बातों में असमानता तथा भेद मिलता है। पहली तो यह कि जि० चउ० में कथानक संक्षिप्त विधि से वर्णित है और जि० क० में विस्तार है। अतएव जि० चउ० में कवि वर्णनों में न रम कर मुख्य बातें कहता चलता है। किन्तु जि० क० में वर्णन की अतिशयता है। जि० चउ० में घरेलूपन है, पर लाखू की रचना साहित्यिक है। दूसरी यह जि० क० अलंकृत रचना है, पर यह सीधे-सादे ढंग से वर्णित है। इसी लिए पाँच सो चवालीस चौपाइयो में समूची कथा अथ से इति तक समाहित हो गयी है।

जिनदत्त पूरी भई चउपही

छप्पन होगवि छहसय कही।

जि० चउ०, ५५६।

विषय-वस्तु में जिनदत्तकथा से रत्न कवि की यह रचना तिम्र-लिखित बातों में भिन्न है—

(१) जि० चउ० में चन्द्रशेखर राजा की रानी मैनासुन्दरी का नामोल्लेख नहीं है। जि० क० में सेठानी जीवजसा सुन्दर स्वप्न देखती है, पर रत्न ने उस का वर्णन नहीं किया। कवि ने 'हाथु देखि मुनि बोलइ' कह कर ज्योतिष की जानकारी का परिचय दिया है। किन्तु जि० क० में यह नहीं है। इसी प्रकार जि० चउ० के अनुसार जिनदत्त पाँच बरस की अवस्था में बिछा पड़ने जाता है, पर जि० क० (१, २४) में आठ बरस में पड़ने का लिखा है।

बरस दिवस बाढ़इ जेतडउ

दिन दिन विरध करइ तंतडउ।

बरस पंच दस (?) को सो उछाइ विज्जा पढण उमाधरि जाइ। वहीं, ६३

अन्य बातें कुमार का लजालु होना, विषयों में मन न लगना, सेठ का चिन्तित हो कर जुआरियों की संगति में जिनदत्त को लगाना; पर कुमार का काम से बिघना, इत्यादि बातें समान हैं।

(२) जिनदत्तकथा में कुमार पत्नी तथा माता-पिता की सम्मति एवं आज्ञा से ससुराल जाता है और साथ में पत्नी को भी ले जाता है। मुनि विषयभूषण कृत जि० च० में भी यही लिखा मिलता है। किन्तु जि० च० में जिनदत्त ससुर को झूठा लेख लिख कर बुलाता है और उन से कहता है कि तुम समदी (पी)से कहो कि मैं जिनदत्त को लेने आया हूँ।

झूठ लेखि सपुर कहू लिखइ कुधि बुलाइ जण ए कह कहइ ।
कहिउ सेठिस्थो जाइवि तेण हौं जिनवत्तहं आयउ लेण । (१४६)

इस से जिनदत्त के चरित्र पर अच्छा प्रकाश नहीं पड़ता है । जान पड़ता है कि वह बड़ा वन्द-कन्द करने वाला था ।

(३) जि० च० में वर्णित है कि जब सागरदत्त (उभयदत्त) जहाज पर चढ़ने लगा तभी पाप बुद्धि से उस ने कंकड़ों की पोटली बाँध कर रख ली थी । समुद्र से उसे चौदह रत्नाभरण मिले थे और जिनदत्त को बहुत मिले थे । अतः वह कंकड़ों की पोटली को समुद्र में डाल कर रोता है, जिस से जिनदत्त को विश्वास हो जाता है कि रत्नों की पोटली ही गिर गयी है ।

तीरिदर बुलइ पोहणु चडइ उवहिदत्तु पाप जु मनि घरइ ।
पापी पाप बुधि जनु चडो काकार बाधि पोटली बरी । २४१ ।
सो बालिर समद महि रालि कही वीर रयणण की मालि ।
एहाही बरी रयणपोटली सो देखि पुत्त समद महि परी । २४२ ।

वह धर्म-पिता को धोखे बँधा कर समुद्र में कूद पड़ता है । किन्तु जि० क० में यह सब नहीं है । वह किसी व्यवसाय से जिनदत्त को समुद्र में प्रविष्ट करा देता है, इतना ही वर्णित है । किन्तु जिनदत्ताख्यान में कहा गया है कि रात्रि के समय सागरदत्त ऐसी शब्द-व्यवहारी करता है कि कोई मनुष्य समुद्र में गिर गया हो और वह वस्तु लेकर नहीं चढ़ पा रहा हो, इस लिए जिनदत्त को तैयार कर रस्सी से बाँध कर समुद्र में उतारता है तथा हाथ की रस्सी कँपा कर उसे छोड़ देता है । मुनि विश्वभूषण के जिनदत्तचरित्र में जिनदत्त के समुद्र में उतरने का कारण भंडागार बताया गया है कि सागरदत्त उसे समुद्र में डाल कर जिनदत्त से अनुरोध करता है और वह उसे निकालने के लिए कूब पड़ता है । इस प्रकार सभी में यह कारण भिन्न-भिन्न कहा गया है ।

(४) जि० च० में जिनदत्त के समुद्र में कूदने के बाद की श्रीमती की पूरी कथा का वर्णन नहीं है । केवल इतना ही कथन है कि उभयदत्त श्रीमती से कहता है कि तुम शोक न करो, मेरे साथ राज ओगना । तब उस के सतीत्व के प्रभाव से जलवेधी प्रकट होती है । पोत डगमगाने लगता है । सभी बनजारे श्रीमती के पैर पड़ते हैं । अन्त में मल्लोर्भाति बिलावल द्वीप में पहुँच जाते हैं । किन्तु श्रीमती बिमलमती के पास तक कैसे पहुँचती है — इस का विवरण कवि ने नहीं दिया है । यह भी नहीं कहा गया है कि वह अपनी शील-रक्षा के लिए सागरदत्त से छह माह की अवधि माँगती है । जिनदत्तचरित्र भाषा में कहा गया है कि श्रीमती सागरदत्त के साथ उस के घर दधिपुर में पहुँचती है । वहाँ उस का मन न लगने से सागरदत्त उसे चम्पापुर के वन में अजिका बिमलमती के पास छोड़ आता है । जिनदत्ताख्यान में वर्णित है कि वह चम्पापुरी के पास साध्वियों को आती हुई देख कर उन के साथ हो लेती है । जि० क० में भी यह

वर्णन है कि श्रीमती सागरदत्त से कहती है कि जब तक पति का क्रियाकाण्ड न कर लिया जाये तब तक छह मास से भी कुछ "अधिक समय तक मेरा स्पर्श न करो। फिर, जलदेवता प्रत्यक्ष होता है। अन्त में सकट दूर होता है। श्रीमती सब के साथ चम्पापुरी के बाहर उद्यान में पहुँचती है। वहाँ पर कुछ समय तक भूपट्ट पर बैठने के बाद वह चैत्यालय की ओर दृष्टि डालती है। विद्याल चैत्यालय देख कर दर्शनों के लिए वहाँ जाती है और अजिका विमलमती के पास रह जाती है।

इस प्रकार कुछ न कुछ अन्तर सभी कथाओं में मिलता है। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि ये लोकप्रचलित कथाएँ रही हैं, पर समय-समय पर धार्मिक महत्त्व वर्णन के लिए उन्हें काव्यात्मक रूप दिया जाता रहा है। अतएव उन में वैविध्य और वर्णन चमत्कार तो लक्षित ही होता है, पर कथासिन्धु भी संयोजित मिलते हैं। कथा के अभिप्राय में भेद नहीं दिखाई देता है। अन्तर या तो नामों में है अथवा घटनाओं के विकास में या मोड़ में। यह परिवर्तन कवि की रूचि और भावनाओं पर निर्भर है कि वह उसे किन रूप-रंगों में चित्रित करना चाहता है। क्योंकि सम्पूर्ण कथा में नायक का चरित्र ही मुख्य होता है। इस लिए कवि उसे जिस रूप में देखना चाहेगा उसे वही रूप प्रदान करेगा। जि० क० और जि० ब० में यही बड़ा अन्तर है। कवि रहू न बालक जिनदत्त का चरित्र जुआरी, कामी, चोर तथा लपट के रूप में तो नहीं, पर सामान्य चरित्र चित्रित किया है, किन्तु जि० क० में वह विवेकी, सयमी और धीर-धीर प्रदर्शित है। इस के मूल में कवि का दृष्टिकोण यही हो सकता है कि किस प्रकार अन्यायी और अवगुणों से युक्त जिनदत्त का विकास होता है और वह राजपदवी को प्राप्त करता है। सामान्यतः कथाकाव्यों में मनुष्य के जीवन-क्रम का विकास दर्शाना ही कवि का लक्ष्य होता है। किन्तु उन की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों, घटनाओं तथा सगति का भी प्रभाव पूर्णतया मनोरुचि के अनुकूल वर्णित रहता है। यही मनोविज्ञान को दूरबीन लगा कर यह देखना पड़ता है कि किन पात्रों का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है अथवा नहीं? जि० क० में जिनदत्त का विकास प्रारम्भ से ही धीरे धीरे बताया गया है। क्योंकि मनुष्य अपनी टेढ़ तथा स्वभाव किसी के कहने से यकायक नहीं छोड़ देता या उस में किसी प्रकार का परिवर्तन ही करता है। मनुष्य में परिवर्तन क्रमशः होता है। ✓

कथावस्तु

जिनदत्तचरित की कथावस्तु का आधार प० लालू रचित जिनदत्त कथा ही है। स्वयं कवि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है।

महं ओयउ जिनदत्तपुराण
देखिनि शूत(?) रयउ फुडु एडु

लालू बिरयउ अइ सुपमाणु।
हत्थालंबणु नुह पणवहु। ५५३।

कथा में दोनों रचनावर्गों में सामान्यतः कोई अन्तर नहीं है। वस्तु-वर्णन, बन्ध-रचना और शैली में अवश्य भेद है। संक्षेप में कथावस्तु इस प्रकार है :

मगध देश में वसन्तपुरी नाम की नगरी में राजा चन्द्रसेखर राज्य करता था। वहाँ के प्रायः सभी लोग जैनधर्म का पालन करते थे। उसी नगरी में जीवदेव नामक राजसेठ निवास करता था। उस की भार्या का नाम जीवञ्जसा था। उन दोनों के कोई पुत्र न होने से वे दोनों बहुत चिन्तित थे। एक दिन सेठानी मृनिवर के पास जा कर बिलखने लगी। हाथ देख कर उन्होंने बताया कि बत्तीस लक्षर्णों तथा कलाओं से युक्त तुम्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी। कुछ महीनों के बाद गर्भ रह गया और कुमार जिनदत्त उत्पन्न हुआ। पाँचवें बरस में वह पढ़ने के लिए बैठा दिया गया। सभी कलाओं में निपुणता प्राप्त कर कुमार युवक हो चला। किन्तु उस का मन विषयों की ओर तनिक भी न देख कर सेठ को बड़ी चिन्ता हुई। उस ने परद्वय और परस्त्री को चाहने वाले जुआरियों को बुलाया और कहा कि ऐसा उपाय करो जिस से मेरा कुल न डूबे। यदि जिनदत्त का मन विषयों की ओर फेर दो तो लाख दाम दूँगा। वे जिनदत्त की साथ में लेकर अत्यन्त सुन्दर नवयुवतों को तथा वेश्या को दिखाते हैं, पर जिनदत्त का मन नहीं बिचता। इसी बीच कुछ समय निकल गया। एक दिन नन्दन वन के चैत्यालय के दर्शनों के लिए जिनदत्त को लेकर गये। वहाँ एक पुतली को देख कर जिनदत्त कामासक्त हो गया। शिल्पी को बुला कर सेठ ने उस के सम्बन्ध में पता लगा कर उसे वहाँ भेजा। वह चम्पानगरी के सेठ विमल के यहाँ गया और विमलामती का विवाह जिनदत्त से करने के लिए कहा। वह तैयार हो गया। दोनों का धूम-धाम से विवाह हो गया। एक दिन जुआरियों के बंगुल में फँसकर जिनदत्त ग्यारह कोटि द्रव्य हार गये। मण्डारी के मना कर देने पर पत्नी की रत्नजडित अंगिया को देकर कुमार ने पीछा छुड़ाया। इस से कुमार का मन बहुत व्यथित हुआ। वह देशान्तर जा कर अर्थोपार्जन का निश्चय करता है। उसे सोच में पड़ा हुआ देख कर सेठ सब बातें पूछता है। वह कुमार को समझाता है। पर वह किसी प्रकार घर छोड़ने का उपाय कर समुद्र की झूठा पत्र लिख कर बुला लेता है और उन से कहता है कि घर में यही कहिए कि मैं जिनदत्त की लेने आया हूँ। तब घर से बिदा हो कर जिनदत्त पत्नी के साथ समुद्राल चला गया।

चम्पानगरी में दो-चार दिन रह कर उस ने चलने का उपाय किया। एक दिन नन्दन वन में विमलामती को अकेला छोड़ कर अंजनमूल जडी के प्रभाव से अदृश्य हो गया। विमलामती निकटस्थ चैत्यालय में चली गयी। जिनदत्त दशपुर (मन्दसौर) गया। वहाँ के उद्यान में पहुँच कर कुमार नींद लग जाने से सो गया। तभी सागरदत्त आ पहुँचा। उस ने जिनदत्त से पूछा—तुम क्यों सो रहे हो? वह कहता है मैं तो परदेश में निकला हूँ, पर आप कैसे आये? सागरदत्त कहता है कि मैं यहाँ बाड़ी देखने आया हूँ, पर सब न जाने क्यों सुख रही है? तब जिनदत्त सुखने का कारण बतलाता है और गन्धोदक से सींच कर हरी-भरी कर देता है। उभयदत्त (सागरदत्त) उसे

अपने घर ले जाता है और बचनानुसार धर्मपुत्र बना कर सब कुछ सौंप देता है। जिनदत्त वाणिज्य के लिए द्वीपांतर में जाने के लिए कहता है। सागरदत्त के साथ अनेक सयाने और चतुर पन्डित्सो बनजारे मिल कर बारह हजार बैलों पर सामान लाद कर चले। वे सब विलावल पहुँचे। वहाँ बैलों और भैसाओं को छोड़ कर सब वस्तुएँ पोत में लाद कर आगे बढ़े। कई द्वीपों को पार कर वे सिंहलद्वीप में पहुँच गये। बनजारे क्रय-विक्रय करते हुए समुद्र-तट पर ठहर गये, पर जिनदत्त फूँक बिसाने के लिए मालिन के घर गया। उसे रोते देख कर कारण पूछा। उस ने बताया कि यहाँ के राजा धनवाहन और रानी विजया देवी की कन्या श्रीमती किसी व्याधि से पीडित है, इसलिए जो भी रात को उस के पास रहता है वह सबेरे मरा मिलता है। मन्त्रियों की राय से राजा ने ओसरी से एक-एक दिन सब के नियत कर दिये हैं। आज मेरे बेटे की पारी है, इसलिए रोती हूँ। तब जिनदत्त उसे आश्वासन देकर स्वयं उस के महल में जाता है। वहाँ वह पहरा देता है। जब रात को कुमारी के मुख से भुजंग निकलता है तब वह तलवार के वार से उसे वहीं धरती पर सुला देता है। सुबह कुमार को जीवित देख कर डोम को अचरज होता है। वह राजा को सूचना देता है। कुमार भुजंग को राज-कुमारी के मुख से निकला हुआ बतलाता है और सब को दिखाता है। राजा उन दोनों का विवाह कर देता है। राजा दायजे(दहेज) में जिनदत्त को अनेक रत्न देता है। उभय-दत्त के मन में उन दोनों को देख कर पाप आ जाता है और वह कंकड़ों की पोटली बाँध कर रख लेता है। उस पोटली को रत्नों की पोटली कह कर वह समुद्र में खिसका देता है और रोता है। उसे लेने के लिए जिनदत्त सकल के सहारे समुद्र में कूद पड़ता है। लेकिन वह पापी उसे काट देता है। उभयदत्त के प्रेम-प्रस्ताव के बचनो को सुन कर धीमती मुँह पर हाथ रख लेती है। उस के शील के प्रभाव से जल देवी प्रकट होती है और जहाज डगमगाने लगता है। वह अनशन करती है। चम्पापुरी में पहुँच कर वह विमलमती के पास पहुँच जाती है और उसी के साथ चैत्यालय में रहने लगती है।

सागर में तैरते हुए जिनदत्त को सूखे सेमल के पेड़ का एक टुकड़ा मिल जाता है। वह उस के सहारे तिरता है। इतने में ही मारुवेग नामक विद्याधर बड़े वेग से दौड़ता है। उसे अपनी ओर आता हुआ देख कर जिनदत्त खरी-खोटी सुनाता है। वह उसे बलवान् समझ कर विमान में बिठाकर रखनूपुर ले जाता है। वहाँ का राजा अशोक अपनी पुत्री शृंगारमती का पाणिग्रहण जिनदत्त के साथ कर देता है। वहाँ कुमार सोलह विद्याओं को प्राप्त करता है। एक दिन जिनदत्त पत्नी के साथ अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना के लिए जाता है। वहाँ से लौट कर वह चम्पापुरी में पहुँचता है। पति के बहुत आग्रह करने पर शृंगारमती विमान में सो जाती है और जिनदत्त पहरा देता है। प्रातःकाल जब वह विमान नहीं देखती है तो विलाप करती है। विमलमती प्रिय का नाम सुन कर उसे अपने पास ले जाती है। जिनदत्त वामन का रूप धारण कर राजा को कौतुक दर्शाता है। भदोन्मत्त हाथी को वश में कर जिनदत्त अपना वास्तविक

परिचय देता है। तीन दिन में हाथी ने नगर को तहस-नहस कर डाला था। उस के इस कर्तव्य से राजा प्रसन्न होता है। वह जिनदत्त से वास्तविक जानकारी चाहता है। जिनदत्त सब बीती बातें सुनाता है। किन्तु उस के धामन रूप को देख कर तीनों पत्नियाँ उसे अस्वीकार करती हैं। अन्त में वह रूप बदलता है। तीनों उस के अंगों से लगती हैं। उस के वास्तविक रूप को देख कर सब प्रसन्न होते हैं। विमल सेठ राजा के पास जा कर पैरों पर पड़ता है। राजा अपनी पुत्री विलासमती जिनदत्त को परिणाता है। कुमार उभयदत्त से मिलने जाता है। उस की नाक गल गयी थी, पैर सड़ गये थे। कुछ रोग से अंग-प्रत्यंगों से दुर्गन्ध निकल रही थी। कुमार उस से सब द्रव्य ले कर अपने घर जाने की तैयारी करता है। उभयदत्त मर कर नरक में जाता है। सभी पत्नियों तथा सेना के साथ वह वसन्तपुर में पहुँचता है। नगर को घिरा हुआ देख कर राजा मन्त्री को उपहार देकर भेजता है। जिनदत्त दूत को राजा के पास भेजता है। वह कहता है कि सेठ जीवदेव को मुझे सोप दो। राजा दूत को फटकारता है। वह सेठ को बुलवाता है। सभी नागरिक जन डरते-डरते पहुँचते हैं। सेठानी बिलखती है। जिनदत्त माता के पास जा कर उस के चरणों में अष्टांग प्रणाम करता है। घर-घर आनन्द मनाया जाता है। चन्द्रशेखर और जिनदत्त दोनों वसन्तपुर में राज्य करते हैं। विमलमती के विमल और श्रोमती के सुदत्त, जयदत्त तथा सुप्रभ नाम के पुत्र और मेहा पुत्री उत्पन्न हुई। शृंगारमती के सुकेतु, जयकेतु, सुगरुडकेतु और विलासमती के गुणमित्र, जयमित्र तथा द्रविणमित्र नाम के पुत्र उत्पन्न हुए।

एक दिन समाधिगुप्त नाम के मुनिवर नगर में आते हैं। जिनदत्त उन से जैनधर्म का स्वरूप जान कर, पूर्व भवान्तरों को पूछ कर, सुदत्त को राज्य देकर जिन-दीक्षा धारण कर लेता है। अन्त में घोर तपस्या कर जिनदत्त स्वर्ग को प्राप्त करता है।

इस प्रकार लाखू और रत्न की रची हुई कथा में बहुत कम अन्तर दिखाई देता है। घटनाओं और नाम में तो कोई अन्तर ही नहीं है और वर्णन में भी कहीं-कहीं समानता लक्षित होती है। बहुत कुछ रचना जि० क० पर पूर्णतया आधारित है।

वस्तुवर्णन

प्रस्तुत काव्य में वर्णन कम है। वस्तु-वर्णन में नगर-वर्णन, समुद्र-वर्णन, उद्यान-वर्णन, विवाह-यात्रा तथा प्रकृति-वर्णन ही मुख्य हैं। ये सभी वर्णन संक्षिप्त और साधारण हैं। इन में कोई नवीनता लक्षित नहीं होती। भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति तथा लोकवातावरण का चित्रण ही इन की विशेषता कही जा सकती है। वस्तु अलंकृत रूप में वर्णित नहीं मिलती। कवि का लक्ष्य कथा कहना ही है और इस लिए विवरण के बीच कहीं-कहीं वर्णन है, जो वस्तु रूप में ही वर्णित हैं। पं० लाखू की जि० क० की भाँति वर्णनों के बीच कथा इस में चलती हुई नहीं दिखाई देती। एक तो वर्णन ही इस में कम है और दूसरे कवि की रागात्मिका वृत्ति उन में नहीं रही है। स्पष्ट ही

वस्तु की दृष्टि से यह एक शुद्ध कथा है जो पद्यबद्ध है, और रचना की दृष्टि से इस की संघटना प्रबन्ध से मिलती-जुलती है। अतएव इसे कथा-काव्य ही माना जा सकता है।

नगर-वर्णन

नगर-वर्णन में लोक-जीवन की पूरी झलक मिलती है। समूचे काव्य में यही एक विस्तृत वर्णन है। इस में नगर में रहने वालों के सम्बन्ध में तथा वहाँ की समृद्धि के सम्बन्ध में संक्षिप्त वर्णन है। यथा—

णिसुणहु देसु तण्यो व्योहार	घरि घरि सफल अंब साहार ।
करहि राजु सकुटंबउ लोइ	पर तह दुखी न दीसइ कोइ । ३१
णिसुणहु देसु तण्यो व्योहार	पहिया पंथ न भूखे जाहि ।
केला दाख छुहारा खाहि
गामि गामि छे ते सतकार	पहियह कूरु देहि अनिवार ।
गामि गामि बाड़ी अंबराइ	जइसे पाटण तेसे ठाइ ।
धम्मु विषे णरु मोयणु देहि	दामु विसाहि ण कोई लेहि ।
णा करु कूडदंड तहि चरइ	अपुणइ सुख परजा व्यवहरइ ।
चोर न चरउ आखि देखिये	अरु परणारि जणणि पेखिये । ३५

बारात का वर्णन

तबहि सेठि घरि उछठ कियउ	सहु परियणु न्योते आइयो ।
पंच सवद बाजेवि तुरंतु	बहु परियणु चाले सु बरात ।
एकति जाहि सुखासण चढे	एकतु बाखर भीडे तुरे ।
एकनु साजि तसि गरी घरी	एकणु साजि पलाणी वरी ।
एकति डाडो डोला जाहि	एकति हस्त चढे बिगसाहि ।
एकति जाहि विवाहणु बइठ	सबु मिलि चंपापुरिहि पइठ । १२२ ।

इन वर्णनों में वर्ण्य विषय की स्वाभाविकता ही विशेष है।

उद्यान-वर्णन

उद्यान-वर्णन में प्रकृति का परिगणनात्मक रूप चित्रित है। वृक्षों और पुष्पों को नामावली ही मुख्य है, पर वह विशेष लम्बी नहीं है। यथा—

जे नारियल कोपु करि ठिए	तिन्हइं हार पदोले किए ।
जे छे सूकि रहे सहकार	तिन्हु अंकवाल दिखाए बाल ।
नारिग जंबु छुहारी दाख	पिडसजूर फोफिली असंख ।
जातीफल इलाइची लवंग	करणाभरण कीए नव रंग ।

काथु कपित्थ बेर पीपली	हुरड बहेड खिरी आविली ।
सिरीखंड अगर गलीदी घूप	गरहि नारि तहि ठाइ सरूप ।
जाई जूही बेलशेवती	दवणी मरुवउ अरु मालती ।
चंपउ राइचंपउ मचकुंद	कूजउ बउलसिरी जासउदु ।
वालउ नेवालउ मंदार	सिदुवार सुरही मन्दार ।
पाडल कठपाडल घणहूल	सरवर कमल बहुत कहूल । १७३ ।

समुद्र-वर्णन

उक्त वर्णनों की भाँति समुद्र के वर्णन में भी कोई चमत्कार नहीं है। यह वर्णन विवरणमूलक है। इस में एक ही चित्र वर्णित है। यथा—

दुखर मगर मछ घडियार	पाणिउ अगम न सूझइ पार ।
जलुमय कंपइ सयल शरीर	लहरि पडय शकोलइ नीर ॥
घडहडाइ गाजइ जु समुदु	सउ जोयण गहिरउ ज रउड ।
बूडिन करहि रह समुह कीलि	जाणइ मछ तु घालइ लीलि ॥

समुद्र-यात्रा का वर्णन जि० क० में वर्णित वस्तु के आधार पर वर्णित है। जि० क० में विस्तृत वर्णन है और इस में संक्षिप्त। नयापन कुछ भी नहीं है। इस प्रकार वस्तु-वर्णन में यह रचना प्रभावपूर्ण नहीं है। वस्तु का यथार्थ तथा संक्षिप्त वर्णन करना ही कवि का लक्ष्य है। भाषा, शैली और संवाद अवश्य रोचक तथा प्रभावपूर्ण है। वस्तुतः रचना का महत्त्व इन्हीं इन्हीं-गिनो बातों में विशेष है। प्रकृति-वर्णन में आलम्बन रूप का ही चित्रण है, जो महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन यथार्थ में इस काव्य में हुआ ही नहीं है। सन्ध्या, रजनी, प्रभात आदि के वर्णन भी नहीं हैं। उन का उल्लेख तक नहीं है। अतएव इतिवृत्तात्मकता की प्रचुरता हो गयी है और रसात्मकता उस का अंग बन कर रह गयी है। यद्यपि रचना पर धार्मिकता की छाप कम से कम है, पर कथा विवरण प्रधान होने से महत्त्वपूर्ण नहीं बन सकी है।

नखशिख-वर्णन

आलोच्यमान काव्य में नखशिख-वर्णन कवि के शब्दों में स्वतन्त्र रूप से वर्णित न हो कर पात्र के मुख से अभिव्यंजित हुआ है। यद्यपि उपमानों में कोई नवीनता लक्षित नहीं होती, पर शैली एवं अभिव्यक्ति में चारुता तथा स्वच्छता है। कही-कहीं लोकगत वर्णन की सरसता तथा मधुरता इस वर्णन में दिखाई पड़ती है। अतएव वर्णन में मोलिकता और नबलता स्वाभाविक रूप में लक्षित होती है। इस वर्णन की दूसरी विशेषता यह है कि चरण-नख से लेकर शिख तक के प्रायः सभी अंगों का वर्णन हुआ है। यहाँ तक कि काँख (बगल) का वर्णन भी मधुर बन पड़ा है। वर्णन इस प्रकार है—

मुंदडिय सह कसु सोहइ पाउ
जाणू थाणू बहि तहि घणे
सवइ वण्णु सोहइ पिंडरी
जंघ जुअल कदली ऊपरइ

चालत हंस देह तसु माइ ।
तहि ऊपरि नेसर बाजणे । (नख, चरण)
जणु छहि ते कुंयू पिंडरी ।
तासु लोक मूठिहि माइयइ ।

(पिंडरी, जंघा)

जणु हइ छति अणंगहु तणी
नीले चिह्न सउज्जल काख

सहइ जु रंगरेह तहि घणी ।
अवरु मुहाइ दीसहि काख ।

(त्रिवली, काँख)

चंपावण्णी सोहइ देह
पीणत्थण जोवण मयसार
हाथि सरिस मोहहि आंगुली
भुबवल जंतु काटि जणु ठाणें

गलकंद लह तिणिण जसु रेह ।
उरपोटी कडियल वित्थार । (कटि, स्तन)
णहसुत दिपहि कुंद की कली ।
वणिण सुरेख कविन्ह ते कहे ।

(अंगुली, भुजा)

इ लोणी अरु माठी लीव
काणि कुंडल इक सोवनु मणी

हरु सु पट्टिया सोहय गोव ।
नाक थाणु जणु सूवा तणी ।

(ग्रीवा, कर्ण, नासिका)

मुहमंडलु जोवइ ससिवयणी
जहि बेहो वप चाले किरण

दीह चखु नावइ मियणयणि ।
जणु रि दसणी हीरामणिहिरण ।

(मुख, नेत्र, दाँत)

भरुह मयणषणु खचिय घरी
सिरह माग मोत्तिय भरि चलइ

दिपइ लिलाट तिलक कंचुरी ।
अवरु पोठ तलि बेणी रलइ ।

(भौं, ललाट, मांग, बेणी)

इस प्रकार समूचा नखशिख-वर्णन यथोचित क्रम से तथा प्रसिद्ध उपमानों में वर्णित है । प्रसिद्ध बातें ही अधिकतर इस में मिलती हैं ।

उक्त वर्णन में नारी के बाह्य सौन्दर्य का ही वर्णन है । उस के आन्तरिक सौन्दर्य को कवि ने किसी भी स्थल पर अभिव्यंजित नहीं किया । पं० लाखू ने सभी नायिकाओं का रूप-वर्णन किया है, पर प्रस्तुत काव्य में उक्त स्थल ही मिलता है । जि० क० की भाँति इस में जिनदत्त की कामावस्थाओं का वर्णन नहीं है । केवल मोहित होना कह कर कथा को आगे बढ़ा दिया है । वस्तुतः कथा और काव्य का इस में मधुर संयोग है । इसलिए कही कथा की मुख्यता है तो कहीं काव्य की । कुल मिला कर इतिवृत्तात्मकता अधिक है और रसात्मकता कम । वियोग-वर्णन को ही पढ़ने से इस की स्पष्ट प्रतीति हो जाती है ।

वियोग-वर्णन

संयोग और वियोग दोनों ही शृंगार के पक्षों का यथार्थचित्रण इस काव्य में हुआ है। संयोग में मिलन तथा सुखद चेष्टाओं का वर्णन है और वियोग में चित्रगत रूप-दर्शन, पति-वियोग, पुत्र-वियोग आदि की मधुर तथा करुण अभिव्यंजना है। वियोग का एक करुण चित्र देखिए—

हंसागवणी चंदावहणी करइ पलाव
मोही आगइ देखत पेखत कत गयउ नाह ।
आयउ मरणू णाही सरणू कहा करायउ
कंठी रोहणु वालि हुवासणु अंवा देइ मराउ ।
काठउ कीयउ कैसे जीवउ पिय विणु तेहि
हाइ वाइ गुसइ सहि छाडि कति गयउ कंत मोहि ।
चौदिसि जोबइ धाहहि रोवइ कहा कियौ करतार
बेलि चडंती पडित्यडंती गउ सामी अंतराल ॥१५४, १५५

इस के अतिरिक्त दो अन्य स्थानों पर भी वियोग-वर्णन मिलता है, जिस में नारी भावनाओं की यथार्थ अभिव्यक्ति है। यथा—

कियौ मोहि वज्र को हियउ, कि दइवि पाहण निम्मवियउ ।
सून विमाण देखि विलिखाइ, किन फाटहि हियडा चरडाइ ।

तथा—

अति गहू करि सामियउ लागियउ, मइ पापिणो नोदमणि कीयउ ।
लोग कहनउ साचो भयौ, जागत चोरुनु कुइ मुसि गयउ ॥३१३

किन्तु इन वर्णनों में चमत्कार नहीं है। वस्तु रूप में ही इन वर्णनों का महत्त्व है; अलंकृत रूप में नहीं। प्रभावभिव्यंजना की दृष्टि से तो ये प्रभावपूर्ण नहीं कहे जा सकते। यदि मानना ही पड़े तो कहीं-कहीं क्षणिक प्रभाव अवश्य मन पर पड़ता है। अतएव काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से तथा प्रभाव की दृष्टि से यह सामान्य रचना ही ठहरती है।

इस लघुकाय प्रबन्ध में कई रसों की सुन्दर योजना हुई है। शृंगार तो आदि से लेकर अन्त तक व्याप्त है। पूर्व भवों का वृत्तान्त इस में बिल्कुल नहीं है। हाँ, जिनदत्त के मुनि बनने की घटना सब के अन्त में अवश्य वर्णित है। किन्तु वहाँ भी हास्य अंगी रूप में लक्षित होता है। उदाहरण के लिए—

मुत्ति लच्छि जइ होसइ दासि तापहि छूटहिह मुनिर भासि ।
पञ्जोवहि विशिवि जसु कंति मुणिवर तिसु के तोडइ दंतु ॥५४५॥

“तिसु के तोड़इ दन्तु” कह कर कवि ने हास्य को उन्मुक्त कर दिया है। फिर जि० क० के रस-निर्णय के प्रसंग में जो कहा गया है वही आलोच्यमान कथाकाव्य के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। अतएव इस में प्रधान रस शृंगार ही है। क्योंकि कथा का आरम्भ जिनदत्त के विवाह से आरम्भ हो कर गतिशील होता है और अन्त में माता-पिता से मिलन तथा भोग-विलास में अन्त होते-होते मोक्ष-लक्ष्मी से उस का सम्बन्ध जुड़ जाता है।

अन्य रसों में रोद्र, भयानक, हास्य और अद्भुत एवं वात्सल्य रसों की मधुर अभिव्यंजना हुई है। रोद्र का उदाहरण है—

कहइ जिनदत्त छुरी करि तोल आवहु अज न मारउ बोलु ।
तो न मुणसु जो ऐसी करउ मारि छुरी दहविह वित्परउ ॥

यहाँ पर उग्र बचनों में जिनदत्त अपने क्रोध को प्रकट कर रहा है।

एतहि ताला गरलह झाला मुहं महं ते नीसरइ
कालउ दारुण विसहरु वारुणु तहि फौ करइ ।
हिंडइ चउपासहि दोह सहासहि कालु भमंतु
कहिगउ सो पहिरउ जसु होवइरिउ खूटउ जसु कउ अंतु ।

इन पंक्तियों को पढ़ते ही रोमांच तथा स्तम्भ हो जाता है।

घाली जाइ देव जिउ आल गावहु गले रयण की माल ।
आपु...हीउ कहियइ काइ छेली मुहकि अलियर माइ ॥

यहाँ हास्यरस है।

तब सो सिला हसइ हहडाइ सभा लोगु मोहउ तिह ठाइ ।
तूठहि राजा कर तहि भाउ मागि मागि वावणे पसाउ ॥

यहाँ अचम्भा होने से अद्भुत रस का संचार है।

सेठिणि गहवरि आयउ हियउ पुणु आपणउ उछंगह लियउ ।
जायो पूतु आजु सुपियार खीर पवाह बहे षणहार ॥

उक्त पंक्तियों में मातृजनित प्रीति की अभिव्यंजना होने से यहाँ वात्सल्य रस है। इस प्रकार थोड़े में रसों का मधुर परिपाक है। भले ही भावानुभावों की व्यापकता तथा अनुकृति की चेष्टाओं, हाव-भावों का विस्तृत विधान न हुआ हो, पर विषय एवं वस्तु के अनुरूप रसों की संयोजना मधुर है।

संवाद-योजना

जि० चउ० में नियोजित संवादों को देखने से पता लगता है कि संवादों में बोल-चाल के प्रयोग स्पष्टतया निहित हैं। अतएव संवादों में सजीवता और प्रवाह बराबर

लक्षित होता है। कथानक के विकास में भी इन संवादों का महत्त्वपूर्ण योग है। किन्तु उन में विस्तार या भावों की मनोवैज्ञानिकता का समावेश न हो कर लोक-जीवन की सहज अभिव्यक्ति हुई है। जैसे कि—

तंखिण बीर पढ़ते सहाँ निय मंदिर सेठि हौ जहाँ ।
कुवरह लछण परखि फिन लेहु हमकहु सेठि बघाउ देहु ॥

इस कथाकाव्य में निम्नलिखित संवाद मुख्य हैं—चित्रकार-सेठ-संवाद, सागरदत्त-जिनदत्त-संवाद, बूढी मालिन और जिनदत्त का वार्तालाप, जिनदत्त-बिद्याधर-संवाद, बम्पापुरी के राजा और जिनदत्त का संवाद इत्यादि ।

इन संवादों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने संक्षिप्त रूप में इन का समावेश किया है। इस से जहाँ भावों के उतार-चढ़ाव का पता नहीं लग पाता, वहीं कहीं-कहीं अधूरापन-सा लगता है। उदाहरण के लिए—जिनदत्त के जुआ खेलने पर सेठ जीवदेव उसे अपने पास बुला कर कहता है—

तउ जिणदत्तह लेइ हुकारि पूछइ मंतु सेठि बइसारि ।
जइ यह पूत तत इसउ कीज नातरु घर पठइ जणु दीज ।
तो जिणदत्त भणइ कर जोडि हमकहु तात देहु जिण खोडि ।
आपु मत्तै हौं कैसे चलो जो तुम पिता कहहु सो करी ॥

यहाँ पर पाठक के मन में यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि सेठ ने जिनदत्त को किन शब्दों में क्या कह कर समझाया? इस प्रकार संक्षिप्तता के कारण कहीं-कहीं भावों को पूर्ण अभिव्यक्ति संवादों के माध्यम से नहीं हो सकी है। फिर भी, कहीं-कहीं संवादों में नाटकीयता, क्षिप्रता, मधुरता और स्थानीय रंगीन परंपरा लक्षित होती है। यथा—

कउण काज घेरी आरइहि काहे कारणि पलावे करहि ।
किसि कारणि दुख घरहि सरीरु बेगि कहेहि इउ जंपइ बीरु ॥
रुदनु करइ जंपइ वयणु आसू बहुत न थाकइ नयणु ।
कहुउ तामु जो दुखु अवहरइ हीणहं कहे कहां सुख सरइ ॥
पुणु जिणदत्त पर्यंपय ताहि भली बुरी कहियइ सबु काहि ।
मालिन वातु कहइ मनु सोइ मत दुख तुमहि निवारइ कोइ ॥

हा हा कारु करइ जिणदत्तु मालिणि स्यो बोलइ विहसंत ।
रहु रहु माइ म रोवहि खरी काइ कुढावहि महु डोकरी ॥

उक्त उदाहरणों में पर्याप्त विस्तार तथा संवादों में प्राप्त होने वाले विभिन्न गुणों का समावेश स्पष्ट है। प्रसंगतः संवादों में चुस्ती तथा स्वाभाविकता बराबर मिलती है। पढ़ने के साथ ही कहानी का-सा आनन्द मिलने लगता है। उक्त मुख्य संवादों की यह प्रमुख विशेषता है।

अलंकार-विधान

यद्यपि अलंकरण की ओर कवि की प्रवृत्ति नहीं है, पर कई अलंकार यथास्थान काव्य में नियोजित हैं। ये अलंकार बोलचाल की भाषा तथा शैली के अधिक निकट हैं। इन पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि रहल लोक-साहित्य की परम्परा से अधिक प्रभावित हैं। इसीलिए लोकशैली में भाव, भाषा, रचना और अलंकार आदि की तदनु रूप योजना हुई है। आलोच्यमान काव्य में साधर्म्यमूलक अलंकारों की ही अधिकता है। इन में स्वाभाविकता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। यही इन का वैशिष्ट्य है। मुख्य अलंकार इस प्रकार हैं—

उत्तमु लोक बसहि सामरी	जणु कहलास इन्द्र की पुरी (स्वरूपोत्प्रेक्षा)
हंसगमणि सी पदमणि जाणि	सरवर दिठी सखी सिद्धु न्हाति । (उपमा)
कि यहु ब्रह्मा कि चउवयणु	कि यहु संकर किमइ महणु ।
कि यहु खव मयणु की खानि	किमु की कला व (?) रीतइ आनि ।

(सन्देश)

विमलमती पडु दीठउ आम	गय बिहलंघल सधर पडिताम ।
हार डोर जसु सोहहि अंग	चंदन तिचि लई उछग ॥ (दृष्टान्त)
मालहती विलास गइ चलइ	दरसन देखि कुमुनि वरु ठलइ । (प्रतीप)
कइ तणु फुरइ बिबुह जण पेखि	पाय पसारउ आचल देखि ।

यहाँ पर 'तेते पाँव पसारिये जेतो लांबी सोर' कहावत का भाव ही रेखांकित पंक्तियों में है। अतएव लोकोक्ति अलंकार है।

पोडशु कला पुणु ससि मा आहि	सबइ अमिउ सोयलक सब काहि ।
तासु किरण तिहुवण जइ दिपइ	आप पमाणि जोग णा तपइ ।

यहाँ निषेधात्मक क्रियापद से साधर्म्य का समर्थन होने से अर्थान्तरग्यास है। इसी प्रकार अन्य अलंकार भी ढूँढ़े जा सकते हैं, पर उन में कोई बौद्धिक चमत्कार नहीं है। जहाँ जैसे जो अभिव्यक्ति का साधन बन गया वैसे ही समाहित हो गया है, अलग से अलंकरणशैली का निदर्शन नहीं मिलता।

छन्द

यद्यपि जिनदत्तचउपई में मुख्य छन्द चौपाई है, पर नाराच छन्द भी कई स्थानों पर प्रयुक्त है। इस में नाराच सोमकान्त ही अधिकतर मिलता है, जिस के प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं। यथा—

ता पहरइ बैठिउ नारी दिठउ वीर भुंजु
 बोलइ कुद्धी सो बि बिहद्धी भोडति अंगु ।
 कहहि कहानी की आणी निद सुखु जिमु होइ
 कह बाता सो जि तुरंता तथ (?) मइ घण सोइ ।

इस में द्वितीय पंक्ति सदोष है। सम्भव है कि यह प्रतिगत दोष हो। क्योंकि यह अत्यन्त अशुद्ध प्रति है, जिस में कई स्थल छूटे हुए हैं।

इस काव्य में नाराच के कई भेद मिलते हैं। किसी-किसी में छन्बीस और अट्ठाईस तथा किसी-किसी में मिश्रित अट्ठाईस-चौबीस या छन्बीस के उदाहरण मिलते हैं। वस्तुतः कोई भी छन्द समान मात्रा वाला नहीं है। केवल सोमकान्त नाराच के उदाहरण ठीक दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए—

मयभिभलु गय अकुस मोडी खंभु उपाडि दंतु

साकल तोडि करि चकचूरि गयउ महावतु घरकी पूतु।

गयउ महावतु गयरी जित्त गज मूडउ भउ अलह तित्तु

हउ उवरियउ जु न लूवउ कालु तउ सूडिउ तोडतु नालु बसुवंध।

उक्त पंक्तियों में न तो प्रत्येक में मात्राएँ समान हैं और न वर्ण ही। अतएव निर्णय करना बहुत ही कठिन है। संस्कृत के नगस्वरूपिणी में 'जरल्ल' होता है और नाराच में 'तरलग' तथा पंचचामर में 'जरजरजग' तीनों में से यहाँ एक भी नहीं है। क्योंकि प्रत्येक पंक्ति का आरम्भिक शब्द भिन्न गण वाला है। अतएव मात्रिक छन्द है, इतना तो निश्चित है।

चौपाई

इस के प्रत्येक पद में तीस मात्राएँ होती हैं। इस में चार पद तथा एक सौ बीस मात्राएँ होती हैं। किन्तु यह चार छन्दों में सोलह चरणों के योग से चार सौ अस्सी मात्राओं का छन्द कहा गया है, जिसे पण्डित ही जानते हैं।

चउपइया छंदा भणइ फणिसा चउमत्ता गण सत्ता।

पाएहि सगुरु करि तीस मत्त परि चउसख असिख निरुत्ता ॥

चउ छद लविज्जइ एककु ण किज्जइ को जाणइ एहु भेऊ।

कइ पिगल भासइ छंद पमासइ मिअणअणि अमिअ एहु ॥

प्रा० पृ०, १, ९७।

उदाहरणार्थ—

पुणि झुलाइ तहि तलि सिर करइ गरब छाड़ि विसहर घर पडइ।

बिकल भुयंग देखि मनु घरइ जोउ मारि को नर यहं पडइ ॥

यहाँ ऊपर और नीचे दोनों पंक्तियों में तीस-तीस मात्राएँ हैं। कहीं-कहीं इन दोनों पंक्तियों के साथ अन्य छन्द भी जुड़ा मिलता है। यथा—

तुम नारि निकिडी तित्तिउ झूठी झूठउ यहु परिवारु,

महु मेरिलिवि...लिवि अवरुवि कवणु वि कहऊ भत्तारु।

अरि लंपट लाइ जाइ वि लाए फोटउ होहि—

रे विभू पायर पिरखी लोए नाही कोई अम्ह पिय के रूप ॥

इसी प्रकार नाराच में प्रथम दो पंक्तियों में अट्टाईस-अट्टाईस और बाद की दो पंक्तियों में छव्वीस-छव्वीस मात्राएँ दृष्टिगत होती हैं। उदाहरण है—

सो घण चंगी बोलण लागी बावण पूछइ तोही

देखिनि सूतो निन्दा भूतो छाडि गयउ कत मोही ।

तो तहि वाली छह निरवाली ठालउ अछइ कोइ

इव (?) घरि हउ जइ हउ काल्हि सु कहिहउ जहा गयउ सोइ ।

इस प्रकार छन्दों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आलोच्यमान कथाकाव्य में नाराच के कई भेद मिलते हैं, जिन के लक्षण आज हमें नहीं मिल रहे हैं और रचना की एक ही प्रति उपलब्ध होने से तद्विषयक सम्यक् विवेचन असम्भव नहीं तो बहुत ही कठिन है। मुख्य रूप से चौपाई छन्द ही इस में है, जिस में कोई भेद नहीं मिलता। आदि से अन्त तक समूचा काव्य चौपाई छन्द में निबद्ध है। इसी लिए इस का नाम ही 'जिनदत्तचउपई' है।

भाषा और शैली

भाषा की दृष्टि से इस रचना का अत्यन्त महत्त्व है। अपभ्रंश और हिन्दी की मध्यवर्ती कड़ी को जोड़ने में इस का विशेष स्थान है। यद्यपि भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है, पर शब्द-रूपों तथा सर्वनामों एवं क्रियापदों को देखने से पता लगता है कि अपभ्रंश बोली चौदहवीं शताब्दी में किस प्रकार हिन्दी के ढाँचे में ढल चुकी थी। वाक्य-रचना और पदों पर हमें स्पष्ट रूप से उस की छाप लगी हुई मिलती है। उदाहरण के लिए—

भूख मरत देव हउ केहा करउ तइ हउ पाणु भयउ विवहउ ।

जबहि गुसाई मुडो चुडी तबहि पणाठी कुलु अरु कुली ॥

पेट अरथ देवसेबा कीज पेट अरथ देसंतर लीज ।

कतहु सा अन्नु पान सिहु भेट पाणु भयउ हौ कारण पेट ॥

अपभ्रंश में स्पष्टतः मरइ, करइ, जाइ आदि क्रियापदों का प्रयोग दिखाई देता है, किन्तु इस रचना में 'ह' प्रत्यय के स्थान में 'त' प्रत्यय वाले रूप भी मिलते हैं, जो भाषा का परवर्ती विकास है।

जिनदत्तचउपई की भाषा में अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यों की भाँति कृदन्त रूपों की बहुलता है। लुप्त विभक्तियों की प्रचुरता है। नाम-रूपों का ढलाव हिन्दी की ओर है। यथा—

दिन दोइ चारि तिहां ठहरइ पुणु उवाउ चलिवे को करइ ।

सो जिनदत्तु विमलमति कंतु नंदणवणु चलिउ वियसंतु ॥

पले, मिले, कियउ, देखत, देइ, असीस, कैसे, वहुत, कैइ, कहिउ, अउर, आयो, मो सम, जाहु, गुरन्तु, भण्ढारी, यह, बात, सुनौ, दाउ, दोनो, जोति, करउ, हम, उठि गयउ, चडे, भेट, भई, पूरा, हुवा, हारिउ, तो, तुम्ह, कहो, विचिविचि, घडो, लइ गयउ, पडिउ सन्ताप, बाडी, तेरउ दास, भलो, बुरी, आगि इत्यादि शब्द-रूप हिन्दी से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। कही-कहो मारवाडो बोली की छाप अवश्य दिखाई देती है। उदाहरण के लिए—घणी, अंजणी, न्हवणु, आमडी, आणि, कवण-कवणु, भणइ, रायणु, रुवडी, आगली, अरडहि, तारडियउ, विसाहण, घालो, नोकउ आदि। किन्तु हिन्दी की स्पष्टता भी द्रष्टव्य है। यथा—

आइ कुमारो बोलियो बोलु
रोवइ बूडी हियइ बिलखाइ

अहो जिनदस्त इकु खेलहि खेलु।
तबहि वोरु पूछइ विघसाइ।

विभक्तियों में विनिमय तथा परसर्गों का प्रयोग भी आलोच्यमान रचना में मिलता है। “को” परसर्ग का स्वतन्त्र प्रयोग हुआ है, यथा—

देखित वासुपूज को भवणु

पंचमि ताहि करायो न्हवणु।

इसी प्रकार हिन्दी की भाँति जिस के हाथ के लिए ‘जहि कै हाथ’, जाह परक्कम अदसा लहउ, तह को पोरुष केत्तउ कहउ, जहि कै हाथ अंजणी चडइ, तथा—गादह गलै रयण की माल आदि प्रयोग मिलते हैं। कही-कहो षष्ठी विभक्ति के स्वतन्त्र चिह्न का परसर्ग के बदले “को” भी दिखाई देता है। जैसे कि—

तासु वोर कौ कैसे हियउ

तहि कौ पोरुष कहियइ काहि।

इसी तरह द्रिष्ट विभक्तियों के प्रयोग भी भलीभाँति मिलते हैं।

शैली की दृष्टि से यह चौपाई बन्ध रचना है। आरम्भ से अन्त तक एक रूप या बन्ध का निर्वाह दृष्टिगोचर होता है। इस से यह भी पता चलता है कि परवर्ती काल में अपभ्रंश-साहित्य में बन्ध की दृष्टि से इस नयी विधा का जन्म हो गया था। सम्भवतः अन्य रचनाएँ भी इसी शैली में इस युग में लिखी गयी होंगी। क्योंकि इस के पूर्व चौपाई कडवक-रचनाओं में ही मिलती है; स्वतन्त्र रूप में नहीं। और स्पष्ट है कि हिन्दी में, आदिकाल में इसे सुरुचि के साथ अपनाया गया। दोहा और चौपाई का चलन ही हिन्दी में पहले पहल अतिशयता से हुआ, जो अपभ्रंश के परवर्ती साहित्य का अनुसरण एवं अनुगमन करता लक्षित होता है।

सिरिपालकहा

परिचय

पं० रङ्गू विरचित 'सिद्धचक्रकहा' या 'सिरिपालकहा' दस सन्धियों की रचना है। इस में सिद्धचक्रविधान का माहात्म्य तथा फलवर्णन रूप मैनासुन्दरी और श्रीपाल की कथा का वर्णन है। अन्य कथाकाव्यों की भाँति इस की कथावस्तु भी सोद्देश्य नियोजित है, पर साहित्यिक रुझियों का पालन नहीं है ग्रन्थ के प्रारम्भ में अत्यन्त संक्षिप्त सिद्धचक्रवन्दना करने के साथ सिद्धचक्र के माहात्म्य को कवि निर्दिष्ट करता है^१। बाद में वाटू साहू और उस के पुत्र घुरन्धर तथा करमसिंह और सोहरसिंह साहू की भक्ति की प्रशंसा करता है, जिस के निमित्त कवि ने यह सिद्धचक्र कथा कही है। तदनन्तर पौराणिक बिषि से राजा श्रेणिक के नगर में संसंध तीर्थकर महावीर का आगमन होना, राजा श्रेणिक का वन्दना करने जाना और गौतम गणधर से इस कथा-विधान का माहात्म्य सुनना वर्णित है।

कवि का जन्म-स्थान और समय

रङ्गू तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह और उन के पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल में ग्वालियर में रहते थे। उन की अधिकांश रचनाएँ ग्वालियर की लिखी हुई मिलती हैं। अपभ्रंश-साहित्य में सब से अधिक साहित्य-सृजन करने वालों में पं० रङ्गू साहित्यकार हुए। यद्यपि कवि ने अपने जीवन तथा समय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है, पर प्राप्त विवरणों से पता लगता है कि वि० सं० १४६० के लगभग कवि का जन्म हुआ होगा। क्योंकि कदाचित् रङ्गू ने पहली रचना 'सम्मत्तगुणनिहाण' वि० सं० १४९२ में लिखी थी^२। पं० रङ्गू भट्टारक यशःकीर्ति के समकालिक थे। 'मेघेष्वरचरित' में कवि ने उन्हें अपना गुरु कह कर स्मरण किया है^३। भ० यशःकीर्ति काष्ठासंवस्थित भ० गुणकीर्ति के पट्टशिष्य थे। भ० गुणकीर्ति का समय वि० सं० १४६८ के पूर्व से १५०२ तक कहा जाता है। भ० यशःकीर्ति का पट्टधर-समय वि० सं० १४८६ से १५०२ कहा जा सकता है। वि० सं० १५०२ में इन के पट्टधर मलयकीर्ति थे, जिन के मूर्तिल्ल

१. सिद्धहंसपसिद्धं नसगुणरिद्धं
अक्खमि पुणु सारउ सुहसययारउ
२. चउवहसय बाणव उत्तरालि
वनलेपसु जि जिणवय समक्खि
पुणमिदिणि कुणवारे समोहं
तिहुमासयरति पुण्णहुउ
३. मेहेसरचरित, १३.१-१०।

हिययकमलि धारेवि णिरु ।
सिद्धचक्रमाहम्पवरु ॥ १.२ ।
वरिसह गय विक्कमरायकालि ।
भव मासम्मि ससेयपक्खि ॥
सुहयारो सुहयामे जणेहं ।
सम्मत्तगुणनिहाण घुउ ॥

आहारजी में मिलते हैं। अतएव वि० सं० १४९२ के पूर्व ही कवि भ० यशःकीर्ति के शिष्य बन चुके होंगे। क्योंकि 'सम्महजिणचरित' में उल्लिखित रचनाएँ सं० १४९४ की जान पड़ती हैं। सुकौशलचरित्र सं० १४९६ की रचना है। पं० परमानन्द शास्त्री ने भी सं० १४९६ के पूर्व उन के रचे जाने का उल्लेख किया है^१। कवि प्रतिष्ठाचार्य भी थे। उन्होंने अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा की थी। वि० सं० १५२५ के मूर्तिलेख से पता लगता है कि कवि तब तक जीवित थे^२। अनुमानतः कवि का समय वि० सं० १४६० से १५४० कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक प्रमाण

मध्यकालीन इतिहास में ग्वालियर के तोमरवंशी राजाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन के समय में ग्वालियर राज्य वैभव सम्पन्न तथा सुख-समृद्धि से भरपूर था। संस्कृति और साहित्य का अच्छा प्रचार इस राज्य में था। प्राप्त लेखों के आधार पर इस वंश के पाँच प्रसिद्ध राजा हुए—वीरमदेव, गणपतिसिंह, डूंगरसिंह, कीर्तिसिंह और मानसिंह। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में इन राजाओं का शासन ग्वालियर में रहा है। ग्वालियर का प्राचीन नाम गोपाचल, गोपाद्रि या गोपगिरि लिखा हुआ मिलता है। वि० सं० १४९४ की अपभ्रंश भाषा में हस्तलिखित कवि धनपाल की 'भविष्यत्कथा' से पता लगता है कि उस समय राजा डूंगरसिंह ग्वालियर के राजा थे^३। वे तोमरवंश के राजाओं में से चतुर्थ गणपतिसिंह के पुत्र थे। उन्हें कलिकाल चक्रवर्ती कहा गया है। स्पष्ट ही डूंगरसिंह एक प्रतापी राजा थे, जिन का शासन अत्यन्त व्यवस्थित एवं विस्तृत था। उन के समय में जैनधर्म का अच्छा चलन एवं प्रभाव था। उस समय माथुरगच्छ के भट्टारकों का ग्वालियर में बड़ा प्रभाव था। राजा भी उन का यथोचित सम्मान करता था। विशेषतः माथुरगच्छ के भट्टारकों ने वहाँ पर मूर्ति-प्रतिष्ठा, शास्त्र-रचना आदि प्रभावना के कार्य किये हैं। इस प्रकार राजा डूंगरसिंह के शासन-काल में साहित्य और कला की बहुत उन्नति हुई, जिस के प्रमाण आज भी विद्यमान हैं। महाराजा वीरमदेव से ले कर मानसिंह तक बराबर यह राज्य उन्नतिकील रहा है। किन्तु जैनग्रन्थों के लेखों में डूंगरसिंह का विशेष रूप से गुणानुवाद लिखा मिलता है। विबुध श्रीधर कुत भविष्यदत्तकथा की पुष्पिका से पता चलता है कि वि० सं० १४८६

१. पं० परमानन्द जैन शास्त्री 'महाकवि रहस्य' अनेकान्त, वर्ष १९, किरण ६, पृ० ३२४।

२. वही, पृ० ३२५।

३. संवत् १४६४ वर्ष ज्येष्ठ वदि ॥० आषाढ वदि २ सोमवासरे श्रीगोपाचले अत्र तुमर राज्ये कथंभूते राज्ये च हमोरे वै राज्ये जनबाद्ध के वर्सानि प्राप्ति तुमरे दानमानतः। बंदीकृतं विशलपंच-समा शक्रेन्द्रैः राजवत् समुद्रगण गोपगिरेन्द्र दुर्ग। श्रीवीरसिंहभवनं यदि न स्वदीयं स्याज्जन्म कोपि न निमुचयितुं (समर्थ)। तस्मिन् बंशे नरेन्द्र चूडामणौ श्री गणेश्वर पुत्र कलिकालचक्रवर्ती राजा श्रीडुंगरे(द्र) कथंभूते। इत्यादि। पुष्पिका का अन्तिम भाग।

में डोंगरसिंह राज्यगद्दी पर आसीन थे^१। पं० रङ्गू के सुक्रीशलचरित की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि वि० सं० १४९६ में राजा डोंगरसिंह ग्वालियर राज्य के शासक थे^२। इसी प्रकार समयसार की एक हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति के अनुसार सं० १५१० में राजा डोंगरसिंह राज्यशासन चला रहे थे^३। डोंगरसिंह वि० सं० १४८१ (१४२४ ई०) में राज्यसिंहासन पर आरुढ़ हुए थे। १४५५ ई० में कीर्तिसिंह गद्दी पर बैठे। किन्तु वि० सं० १५२५ में पं० रङ्गू के द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति-लेख से पता लगता है कि उस समय कीर्तिसिंह राज्य कर रहे थे^४। अतएव अनुमानतः सं० १४७० के लगभग से १५२०-२२ तक डोंगरसिंह का राज्यकाल रहा होगा। इस सम्बन्ध में इतिहास के आलोक में अभी छान-बीन करना अत्यन्त आवश्यक है। लगभग वि० सं० १४९७ से १५१२ तक डोंगरसिंह ने जैनमूर्तियों का निर्माण-कार्य कराया। उन के पुत्र कीर्तिसिंह ने भी सं० १५३६ में जैनमूर्ति-निर्माण कार्य कराया।

कवि का परिचय

सन्मतिजिन चरित्र में कवि के उल्लेख से पता चलता है कि पं० रङ्गू के बाबा का नाम देवराज और पिता का नाम हरिसिंह था। उन की माता का नाम विजयश्री था। वे पद्मावती कुल-कमल के दिवाकर थे। कवि के बाबा संघ के अधिपति थे। जैनधर्म में उन की श्रद्धा अटूट थी। कवि स्वयं और उन के पिता भी जैनधर्म के अनुयायी तथा परम भक्त थे। पं० रङ्गू के पिता हरिसिंह अपने समय के बड़े विद्वान् थे। कवि का भी यश दूर-दूर तक फैल गया था। विसली और हिसार से बड़े-बड़े लोग आ कर कवि से ग्रन्थ लिखने का अनुरोध करते थे। वस्तुतः उस युग में भट्टारकी की भाँति पं० रङ्गू ने भी धर्म की बहुत ही प्रभावना की थी। राजा डोंगरसिंह का नाम बहुत दूर-दूर तक फैला हुआ था। उन के शासन से प्रायः सभी सन्तुष्ट थे। कवि ने कई स्थानों पर राजा का गुण कीर्तन किया है^५।

१. संवत् १४८६ वर्षे आपादवदि ६ गुरुदिने गोपाधन दुर्गे राजा डोंगरसिंह राज्य प्रवर्तमाने श्रीकाशा-संघे माधुरान्धवे पुष्करगणे आचार्य श्रीसहस्रकीर्तिदेवास्तत्पद्रे आचार्यगुणकीर्तिदेवास्तत्पिछम्प्य श्री-यशःकीर्तिदेवास्तौन निजछानावरणी कर्मक्षयार्थ इदं भविष्यदसप्तपञ्चमीकथा लिखापितम्। पुष्पिका का अन्तिम भाग।

२. गोवगिरि डोंगर गिरिबहु रज्जि पक्ष पालतइ अरिराय तज्जि।

३. श्री० बिद्याधर जोहरापुरकर ग्वालियर के तोमरवंश का एक नया उल्लेख, अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १०, पृ० २६६।

४. पं० परमानन्द जैन शास्त्री: महाकवि रङ्गू अनेकान्त, ११, ६। पृ० ३२६।

५. देवराय संघाहिव ण्दण्डु हरिसिंघु बुहयणं कुल आणंदणु।

पोमावइ कुलकमलदिवायरु सो वि सुणंदल एरु जसायरु।

जस धरिज रङ्गू बुहु आयल देवसत्थगुरुगय अणुरायल। २८, अन्तिम भाग।

६. तोमरवंसहु तिजयपसंसहु। उज्जोगयरु कुलसंतय धरु।

णामे डोगर अरियण खययरु। तासु जि रज्जहि मह गिरिबज्जहि। ३२६।

रचनाएँ

अपभ्रंश में पं० रङ्गू ने सब से अधिक रचनाएँ लिख कर इस साहित्य को गौरवान्वित किया। पं० परमानन्द शास्त्री ने महाकवि की बीस रचनाओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—सम्यक्त्वगुण निधान, सुकौशलचरित, बलभद्रचरित (पद्मचरित), नेमिनाथजिनचरित (हरिवंशपुराण), पार्ष्वपुराण, मेघेश्वर चरित, यशोधरचरित, शन्यकुमारचरित, पुण्याश्रव कथा, सम्मतिजिनचरित, सिद्धचक्रविधि, वृत्तसार, अणयमी-कथा, सिद्धान्तार्थसार, सम्यक्त्वकौमुदी, षोडशकारण-जयमाला, दशलक्षण जयमाला, जीवधरचरित, करकण्डुचरित और आत्मसंबोधकाव्य। इन के अतिरिक्त सुदर्शनचरित्र, सोहंमुद्रि और सम्यक्त्वभावना का पता लगता है। सम्यक्त्वभावना जयपुर के तेरा-पन्थी मन्दिर के गुटका नं० २५७१ में संकलित है। इन की एक रचना आदिपुराण भी कही जाती है जो अभी तक अनुपलब्ध है। इस प्रकार कवि रङ्गू की लिखी हुई चौबीस रचनाओं का पता मिलता है। इन में कई रचनाएँ बहुत सुन्दर हैं।

रचना-काल

कवि का रचना-काल लगभग सं० १४९० से आरम्भ माना जा सकता है। सम्मतिजिनचरित्र में उन्होंने स्वलिखित छह रचनाओं का उल्लेख किया है, जो वि० सं० १४९६ से पूर्व की रचनाएँ हैं। हरिवंशपुराण में भी छह रचनाओं के लिये जाने का निर्देश है^१। सुकौशलचरित में भी जिनदत्तचरित, पार्ष्वचरित और बलभद्र पुराण का उल्लेख है। सुकौशलचरित वि० सं० १४९६ की रचना है। अतएव उक्त तीनों ग्रन्थ निश्चय ही उन के पूर्व रचे गये थे। सम्मतिजिनचरित्र में जिन रचनाओं का उल्लेख है उन में सिद्धचक्रमाहात्म्यकथा भी सम्मिलित है^२। अतएव यही प्रतीत होता है कि वि० सं० १४९२-९६ के मध्य कवि ने कई रचनाएँ लिखी थी, जिन में 'सिरिपाल कथा' भी एक है। अनुमानतः यह सं० १४९५ की रचना जान पड़ती है।

जैनाम्नाय में श्रीपालकथा

श्रीपाल की कथा जैनाम्नाय में अत्यन्त ख्यात वृत्त रही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में यह प्रचलित रही है। दोनों में इस का महत्त्व समान है। अन्य कथाकाव्यों की भाँति इस की दोर्घ परम्परा है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश,

१. पं० परमानन्द जैन शास्त्री महाकवि रङ्गू अनेकान्त वर्ष ११, विरण ६, पृ० ३२८।

२. सिरितेसद्वि धुरिमगुण मन्दिरु
तह भरहहु सेण्णाचर चरियउ
जमहरचरिउ जीवदयपोसणु,
जीवधरहु नि पासहयचरियउ

रङ्गू महापुराण जयचंदिरु।
को मुठकह पबन्ध गुणभरियउ।
चित्तसार सिद्धत पयासणु।
विरइवि भुनणसउ जसभरियउ।

हरिवशपुराण, पुष्पिका का अन्तिम भाग।

३. सम्मतिजिनचरित, १, ६।

गुजराती और हिन्दी में शताब्दियों से इस कथा की रचना होती रही है। स्वैताम्बर परम्परा के अनुसार इस कथा में कई परिवर्तन लक्षित होते हैं, जो इस प्रकार हैं— श्रीपाल चम्पापुरी के राजा अरिदमणक और रानी कुन्दप्रभा के पुत्र न हो कर सिंहरथ और कमलप्रभा के पुत्र थे। पाँच वर्ष की अवस्था में ही बालक श्रीपाल के पिता का देहावसान हो जाता है। मन्त्री मतिसागर कुमार को सिंहासन पर आसू कर स्वयं राजकाज संभालता है। यह देख कर श्रीपाल का चचेरा काका अजितसेन षड्मन्त्र रचता है। मन्त्री अपने शुभचिन्तक से यह जान कर रातोंरात रानी को बालक के साथ नगर के बाहर भेज देता है। घने वन में सात सौ कोठियों से रानी की भेंट होती है। रानी को कथन कथा सुन कर वे उसे शरण देते हैं और राजसेवकों से झूठ बोल कर उस की रक्षा करते हैं। कोठियों के संसर्ग से श्रीपाल को भी कोढ़ रोग हो जाता है। तब माता कौशाम्बी के प्रसिद्ध वैद्य के पास चल देती है। कोढ़ी लोग श्रीपाल को राजा बनाते हैं। एक दिन उन का दल उज्जैनी नगरी में पहुँचता है।

उस समय मालवदेश के राजा प्रजापाल का बड़ा शासन था। उन के दो रानियाँ थी। पहली का नाम सौभाग्यसुन्दरी और दूसरी का रूपसुन्दरी था। सौभाग्य-सुन्दरी के सुरसुन्दरी और रूपसुन्दरी के मैनासुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। जब ये दोनों पढ-लिख कर ख्याती हो गयी तो एक दिन राजा ने सभा में पूछा—बताओ पुण्य से क्या मिलता है? सुरसुन्दरी ने धन, यौवन, सौन्दर्य और प्रियतम की प्राप्ति बतलायी और मैनासुन्दरी ने न्याय, शील, बुद्धि, आरोग्य और सद्गुरु की प्राप्ति बतलायी। राजा दोनों से सन्तुष्ट हुआ। उस ने बर माँगने को कहा। सुरसुन्दरी राजसभा में स्थित कुशजागल के राजा अरिदमन को बरती है। दोनों का विवाह हो जाता है। किन्तु मैनासुन्दरी माया चुनती है। राजा उस से प्रकाश डालने को कहता है तो वह कर्म सिद्धान्त की बातें कहती है। राजा भरी सभा में अपना अपमान समझता है। अन्त में मन्त्री बगोचे में जाने का समय होने से राजा को साथ में घुमाने ले जाता है। नगर के बाहर पहुँचते ही कोठियों का दल मिलता है। राजा के पास उन का दूत आता है जो यह कहता है कि हे राजन्! हम ने अपने राजा के लिए सब कुछ जुटा लिया है, पर एक मुशील कन्या के प्रबन्ध के लिए आप से प्रार्थना है। राजा मैनासुन्दरी का विवाह श्रीपाल-बनाम उम्बर से कर देता है। राणा उम्बर वहीं सुख से रहने लगता है। मैनासुन्दरी गुरु से सिद्धचक्र नामक यन्त्र तथा आयम्बिल की विधि ग्रहण करती है। दोनों ही गुरु के निर्देशानुसार आश्विन शुक्ल सप्तमी से पूर्णिमा तक तथा चैत्र शुक्ल सप्तमी से चैत्र शुक्ल पूर्णिमा तक नौ-नौ दिन का आयम्बिल व्रत का पालन करते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार यह व्रत कार्तिक, फागुन और असाढ़ के अन्तिम आठ दिनों में पाला जाता है।

सिद्धचक्र व्रत के पालन से श्रीपाल नीरोग हो जाते हैं। इस बीच माता भी आ जाती है। सभी लोग प्रसन्न होते हैं। श्रीपाल अपना राज्य वापस लेने के विचार

से विदेश-यात्रा करता है। क्योंकि वह ससुर की सहायता से राज्य पाना ठीक नहीं समझता। मार्ग में विद्या-साधक से कुमार की भेंट होती है। श्रीपाल की सहायता से अल्प समय में ही वह विद्या सिद्ध हो जाती है। तब वह विद्याधर जलतरणी और शस्त्र-घातनिवारिणी दो औषधियाँ आग्रहपूर्वक प्रदान करता है। विद्याधर के साथ मार्ग में श्रीपाल को रससिद्ध करने वाला धातुवादी मिला। श्रीपाल की बतलायी हुई विधि से सोना बन जाता है। वह थोड़ा-बहुत सोना कुमार के छोर से बाँध ही देता है। कुछ दिनों में दोनों भरूच पहुँचते हैं। वहाँ सोना बेच कर सुन्दर वस्त्र और शस्त्रास्त्र मोल छेते हैं।

द्वययोग से इसी समय कौशाम्बी नगरी का सेठ धवल गाड़ियो और ऊँटों पर किराना लाद कर भरूच में जाता है। उस से उसे बहुत लाभ होता है। तब वह जल-मार्ग से विदेश-यात्रा का विचार करता है। वह पाँच सौ छोटी-बड़ी नौकाएँ तैयार करता है। प्रस्थान के समय तोपें छोड़ी जाती हैं। पर लंगर टस-से मस नहीं होते। जब धवल सेठ को यह पता लगता है कि मनुष्य की बलि चढाये बिना नौकाएँ आगे नहीं बढ़ेंगी तो वह धबड़ा कर राजा के पास पहुँचता है। राजा परदेशी को पकड़ने की आज्ञा दे देता है। श्रीपाल को पकड़ने के लिए सेठ के सेवक पहुँचते हैं। पर किसी की भी सामर्थ्य नहीं होती। अन्त में धवल सेठ और राजा की सेना अग्रसर होती है। कुमार युद्ध ठान देता है। अनेक योद्धा मारे जाते हैं। औषध के प्रभाव से उस का कुछ भी बाल बाँका नहीं होता। सेठ श्रीपाल से क्षमा याचना करता है और नौकाएँ चला देने की प्रार्थना करता है। इसके लिए वह एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ देने को तैयार हो जाता है। श्रीपाल सिद्धचक्र का ध्यान कर सिंहनाद करता है। नौकाएँ चल पड़ती हैं। धवल सेठ कुमार को अपने साथ ले चलता है। वह सेठ को सौ रुपये प्रतिमास भाड़ा दे कर विदेश यात्रा करता है। मार्ग में बम्बरकुल बन्दरगाह पर रुकते हैं। राजपुरुष कर माँगने आते हैं। सेठ देने से मना कर देता है। राजा के आदेश से सेठ के हाथ-पैर बाँध कर उसे पेड़ से उलटा टाँग दिया जाता है। श्रीपाल राजा को बन्दी बनाता है और सेठ को मुक्त करता है। राजा महाकाल अपनी कन्या मदनसेना का विवाह श्रीपाल से कर देता है। बहुत दिनों तक वहाँ रहने के बाद वे रत्नद्वीप की ओर प्रस्थान करते हैं।

धवल सेठ मन ही मन बहुत क्रुद्धता है। जब श्रीपाल को उस के ओछे विचारों का पता चलता है तब वह सेठ को भाडे की दस गुनी रकम चुका देता है। कुछ दिनों में वे रत्नद्वीप पहुँचते हैं। एक दिन कुमार नाटक देख कर जब लौटता है तब एक सवार व्यक्ति रत्नसानु पर्वत पर स्थित जिनमन्दिर, रत्नसंख्या नगरी, कनककेतु विद्याधर, रानी रत्नमाला और कन्या मदनमंजूषा का परिचय देता है। श्रीपाल के प्रभाव से पर्वत के मन्दिर के द्वार खुल जाते हैं। वह दर्शन करता है। राजा अपनी पुत्री उसे परणाम देता है। धवल सेठ के कहने पर एक दिन मदनमंजूषा के साथ विदा हो कर श्रीपाल स्वदेश के लिए लौट पड़ता है। धवल उस के वैभव को देख कर चिढ़ता है। धीरे-धीरे

नयी बहू के रूप-सौन्दर्य का आकर्षण उसे अपना बना लेता है। इस लिए वह अपने चौथे मित्र को राय से कुमार को छल पूर्वक समुद्र में ढकेल देता है। किन्तु जलतरणी जड़ी और सिद्धचक्र के प्रभाव से मगर उसे अपनी पीठ पर चढ़ा कर समुद्र-तट पर पहुँचा देता है। थकावट के कारण श्रीपाल चम्पा वृक्ष के नीचे लेटते ही सो जाता है। अखि खुलने पर घुड़सवारों की भीड़ उसे बतलाती है कि इस कोंकण देश की यह ठाणापुरी नाम की राजधानी है। यहाँ के राजा वसुपाल की मदनमंजरी नामक सुन्दर कन्या है। नैमित्तिक के अनुसार आप ही उस के वर है। अतएव चलिए। इधर श्रीपाल का विवाह मदनमंजरी से होता है और उधर दोनों ही पत्नियाँ कण विलाप करती हैं। अन्त में दोनों ही समुद्र में गिरने के लिए तैयार होती हैं। इतने में ही सिद्धवाहिनी चक्रेश्वरी देवी तथा क्षेत्रपाल प्रकट होते हैं। देवी जबल सेठ के चौथे मित्र को मार डालती है और सेठ को सतियों की शरण लेने से छोड़ तो देती है, पर बुरी तरह से डाटती हैं। तीनों मित्र उस का उपहास करते हैं। किन्तु कामान्ध सेठ अपनी चाल से बाज नहीं आता। वह स्वयं स्त्री के वेश में प्रेम की याचना करता है। तब चक्रेश्वरी देवी कुछ दिनों के लिए उस की नेत्र-ज्योति हर लेती हैं। सेठ के बहुत चाहने पर भी हवा के प्रतिकूल बहाव से विवश हो दक्षिण में कोंकण देश के तट पर जा लगे। सेठ राजा के पास भेंट की बहुमूल्य वस्तुओं को साथ में ले कर जाता है। वहाँ बैठे हुए श्रीपाल को देख कर वह सूख जाता है। और भाँड़ो को एक लाख रुपये दे कर वह श्रीपाल को नीच कुल का प्रमाणित करता है। अन्त में कुमार मन्त्रियों के साथ अपनी दोनों पत्नियों को राजसभा में बुलवाता है। वे कुमार के कुल का परिचय देती हैं। जबल सेठ और भाँड़ो को शूली का दण्ड मिलता है। कुमार उन्हें बचाता है। किन्तु सेठ का पापी मन अब भी नहीं मानता। वह श्रीपाल की हत्या करने के लिए महल के सातवें खण्ड पर गोहू के सहारे चढ़ता है, पर शरीर भारी और अवस्था अधिक होने से रस्वी उस के हाथ से छूट जाती है और कमर में खोसी हुई कटारी उसी का प्राणान्त कर देती है।

एक दिन बगीचे जाते समय बनजारों का मुखिया श्रीपाल को कुण्डलपुर के राजा मकरकेतु और रानी कर्पूरतिलका की पुत्री गुणसुन्दरी का परिचय देता है। श्रीपाल सिद्धचक्र के ध्यान से देवता विमलेश्वर की सहायता से मणिमाला को पहन कर वामन का रूप धारण कर कुण्डलपुर पहुँचते हैं और कुमारों को वीणावादन में पराजित कर उस का पाणिग्रहण करते हैं। वहाँ से कुमार चल कर कंचनपुर के राजा बज्रसेन और रानी कंचनमाला की पुत्री त्रैलोक्यसुन्दरी को समस्यापूर्ति में विजित कर वरण करता है। इसी प्रकार शृंगारसुन्दरी और उस की पाँचों सखियों को भी समस्या-संवाद में विजित कर अपना लेता है। कुमार की विद्वता से प्रसन्न हो विप्र अंगभट्ट कोल्लामपुर के राजा पुरन्दर और रानी विजया की पुत्री जयसुन्दरी को बरने की राय देता है। श्रीपाल वहाँ पहुँच कर राधावेष में सफलता प्राप्त कर कन्या से विवाह करते हैं। ठाणा

के राजा वसुपाल कुमार की खोज में दूतों की भेजता है। वे यहाँ आ कर उन से मिलते हैं। मामा का सन्देश पा कर श्रीपाल रानियों के साथ वहाँ पहुँचता है। कुछ दिन वहाँ रह कर माता से मिलने के लिए स्वदेश के लिए प्रस्थान करता है। मार्ग में कई राजाओं को अधीन कर भेंट लेते हुए सोपारकपुर पहुँचते हैं। वहाँ के राजा को, सर्प-वंश से पीड़ित रावकुमारो के अग्नि-संस्कार में गया हुआ सुन कर कुमार भाग कर वहाँ पहुँचता है और कुमारी को जीवित कर देता है। उन दोनों का विवाह हो जाता है।

श्रीपाल मालवपति राजा प्रजापाल की नगरी उज्जैनी की ओर तेजी से बढ़ता है। मार्ग के अनेक देशों के राजा, जिन में मुख्य महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, मेवाड़, लाट, मोट हैं—कुमार की अधीनता स्वीकार करते हैं। उज्जैन में पहुँच कर कुमार नगर की चारों ओर से घेर लेता है। बाकी की घटनाएँ दोनों में समान हैं। हाँ, मालवपति कन्धे पर कुल्हाड़ी रख कर नंगे पैरों शिविर में आते हुए यहाँ बताये गये हैं। सभी प्रसन्न हुए। श्रीपाल ने आनन्द बढ़ाने के लिए अभिनय करने की आज्ञा दी। किन्तु नटी तैयार नहीं हुई। वह रंगमंच पर आते ही विषाद से भर गयी और माता सीमासुन्दरी के गले लग कर सिसक-सिसक कर रोने लगी। उस ने बताया कि माता जब मैं यहाँ से बिदा हो कर शंखपुर पहुँची तो प्रवेश का मुहूर्त न होने से हम नगर के बाहर बगीचे में ठहर गये। हमारे साथ के कई लोग स्वजनों से मिलने चले गये। आधी रात गये डाकुओं ने हमें लूट लिया। मैं डाकू के हाथों नेपाल पहुँच गयी। वहाँ से बिक्रम मे बबबरकुल पहुँची। वहाँ मैं वेश्या के हाथों में बिकी। वेश्या ने मुझे नदी बना दिया। राजा महाकाल के यहाँ बाध्य हो कर मुझे रहना पड़ा। मदनसेना के विवाह में राजा ने श्रीपाल के हाथों में नाटक-मण्डली भी भेंट में दी और तब से मैं इस मण्डली में हूँ। इस प्रकार लेखक ने सुरसुन्दरी और मैनासुन्दरी के विचारों और कर्मों के अनुसार इसी जीवन के दोनों पक्षों को उजागर कर दिया है। यही इस की विशेषता है। जो सुरसुन्दरी पहले गर्व से इठल रही थी और मैनासुन्दरी के दुःख पर प्रसन्न हो रही थी वही आज मैनासुन्दरी की सराहना एवं प्रशंसा करती हुई नहीं बक रही थी। अन्त में श्रीपाल दूत को शंखपुर भेज कर अरिदमन को बुलाता है और सुरसुन्दरी को उस के हाथों में सौंपता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रघू तथा पं० नरसेन की कथा से यह कथा कई बातों में भिन्न है तथा विस्तृत है। सुरसुन्दरी की यह घटना दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित नहीं है। जान पड़ता है कि यह परवर्ती विकास है, जिस में घटनाओं की विषय के अनुरूप माहात्म्य को और भी प्रभावशाली बनाने के लिए कहीं-कहीं मोड़ कर वस्तु-व्यञ्जना को अधिक स्फूर्ति एवं प्रेरक बना दिया गया है। जो भी हो, इस से इस कथा के महत्त्व और लोक-प्रसिद्धि का पता चलता है।

श्रीपालचरित्र सम्बन्धी रचनाएँ

जैन साहित्य में श्रीपाल सम्बन्धी कई रचनाएँ विभिन्न भाषाओं में लिखी हुई मिलती हैं। श्रीपाल की कथा को ले कर जितनी अधिक रचनाएँ लिखी गयीं सम्भवतः उतनी अन्य किसी कथा पर नहीं लिखी गयी। अकेले जिनरत्नकोश में इकतीस रचनाओं का उल्लेख है।^१ अपभ्रंश में ही पं० रङ्गू के अतिरिक्त कवि दामोदर कृत श्रीपालचरित्र, पं० नरसेन कृत तथा जयमित्रहल रचित श्रीपालचरित्र उपलब्ध हैं। प्राकृत में रत्नशेखर विनयविजयसूरि तथा प्रद्युम्नसूरि रचित श्रीपालचरित्र काव्यों का पता लगता है। संस्कृत में भ० सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, सोमकीर्ति, ब० नेमिदत्त, मल्लिभूषण, विद्यानन्दिन, लम्बिमुनि, जगन्नाथ कवि, सत्यसागरगणि, धर्मधोर आदि विद्वानों द्वारा लिखित श्रीपालचरित्र का पता मिलता है। संस्कृत गद्य में ज्ञानविमलसूरि, जयकीर्तिसूरि और जीवराजगणि की रचनाओं का उल्लेख मिलता है।^२ हिन्दी में भी दौलतराम कृत श्रीपालचरित्र, जिनहर्षगणि तथा ब्रह्म रायमल्ल रचित श्रीपालरास, परिमल्ल विरचित श्रीपालचरित्र तथा कई अज्ञात लेखकों की भाषा और हिन्दी गद्य में लिखी हुई रचनाएँ मिलती हैं। गुजराती में भी श्रीपाल विषयक कई रचनाएँ देखने को मिलती हैं। गुजराती का अधिकांश साहित्य रासो साहित्य है। मेरे पास लगभग सौ-सबा सौ रासो ग्रन्थ के नाम लिखे हुए हैं। उन में से गुणसुन्दर कृत श्रीपालरास; ज्ञानसागर, जिनहर्ष, विनयविजय तथा यशोविजय रचित श्रीपालरास और नयसुन्दर विरचित सुरसुन्दरीरास तथा ज्ञानसागर कृत सिद्धचक्ररास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार गुजराती, तमिल, कन्नड़ तथा अन्य भाषाओमें श्रीपालाख्यान के रचे जाने का उल्लेख मिलता है। इस से इस कथा की लोकप्रसिद्धि तथा उस के माहात्म्य का पता चलता है। उक्त रचनाओं में सब से प्राचीन कवि दामोदर विरचित श्रीपालचरित्र है। कवि की अन्य रचना 'णेमिणाहचरित' का रचनाकाल वि० सं० १२८७ है। अतएव यह भी उसी समय के लगभग तेरहवीं शताब्दी की रचना है। तेरहवीं शताब्दी का लिखा हुआ श्रीपालचरित्र किसी अन्य भाषा में अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। जिनरत्नकोश में दी हुई नामावली के अनुसार सब से प्राचीन रचना सत्यराजगणि कृत है, जो वि० सं० १४२८ की लिखी हुई है। पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व की केवल दामोदर कवि द्वारा लिखित रचना मिलती है। अधिकांश रचनाएँ तो सोलहवीं शताब्दी की हैं। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी से आज तक अविच्छिन्न रूप से श्रीपाल की कथा लिखी जाती रही है।

कथा का आधार

पं० रङ्गू की श्रीपालकथा का आधार नरसेन कृत सिद्धचक्रकथा प्रतीत होती है। यद्यपि नरसेन का समय अभी तक अज्ञात है, पर प्राप्त प्रतिलिपियों के आधार पर

१. श्री एच० डी० बेतणकर : जिनरत्नकोश, खण्ड प्रथम, पृ० ३६८।

२. वही, पृ० ३६६।

पता चलता है कि नरसेन का काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध या पन्द्रहवीं का पूर्वार्ध रहा होगा। क्योंकि आमेर भण्डार से प्राप्त प्रतिलिपि का समय वि० सं० १५९० है। किन्तु इस से पहले की एक प्रति वि० सं० १५८९ की जैनमन्दिर दोबानजो, कामा (भरतपुर) में वर्तमान है। यह रचना के प्रचलन का समय है। यदि हम कम से कम डेढ़-सौ वर्षों का अन्तराल मानें तो अनुमानतः चौदहवीं शताब्दी में उक्त रचना लिखी गयी होगी।

पं० रङ्गू कृत श्रीपालकथा का आधार नरसेन रचित सिद्धचक्रकथा को मानने के कारण निम्नलिखित है—

दोनों की कथा में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। कही-कहीं कुछ अन्तर है। जैसे कि राजा पयपाल की रानी का नाम जयश्री न हो कर नरसुन्दरी होना। मुनि समाधिगुप्त से दोनों कन्याओं का सकल शास्त्रों का अध्ययन करना। विद्यासाधन की घटना का सिद्धचक्रकथा में न होना। किन्तु शेष घटनाएँ तथा पात्रों के नाम दोनों में समान हैं। कही-कही वर्णनो में भी समता लक्षित होती है। उदाहरण के लिए श्रीपाल कुण्डलपुर में रानी चित्रलेखा की पुत्रियों की दो हुईं जिन समस्या पूर्तियों को रचता है लगभग उन्हीं शब्दों में वे ही समस्यापूर्ति के लिए समस्याएँ पं० रङ्गू ने भी दी हैं। इस प्रकार अन्य स्थानों पर भी सिद्धचक्रकथा की झलक श्रीपालकथा पर मिलती है, जिस से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि पं० रङ्गू ने उसे देखा-सुना अवश्य होगा। यदि हम यह मानें कि नरसेन की कथा रङ्गू के बाद रची गयी तो यह सम्भव नहीं जान पड़ता। क्योंकि रङ्गू की घटनाओं में विस्तार है और नरसेन में संक्षेप। फिर, श्रीपालकथा में दो-तीन घटनाएँ अधिक हैं। यदि नरसेन रङ्गू के ग्रन्थ को देख कर कथा लिखते तो उन घटनाओं को क्यों छोड़ देते? अतएव यही प्रतीत होता है कि नरसेन रचित विषय-वस्तु का पं० रङ्गू ने विस्तार से वर्णन किया है।

कथावस्तु

जम्बूद्वीप के दक्षिण में भरतक्षेत्र में मालवा नाम का सुन्दर प्रदेश था। उस में सर्जनी नाम की सुरम्य नगरी थी। वहाँ राजा पयपाल का शासन था। रानी का नाम जयश्री था। उन दोनों के दो कन्याएँ थी। बड़ी का नाम सुरसुन्दरी और छोटी का नाम मैनासुन्दरी था। जेठी कन्या कुमतिशीला थी और छोटी (छोटी) चतुर तथा धर्म के पालन में निरत थी। एक बार उस नगरी में मुनिवर समाधिगुप्त का आगमन हुआ। राजा सपरिवार उन की वन्दना के लिए गया। राजा के निवेदन करने पर मुनिराज उन दोनों कन्याओं को विद्याएँ सिखाने लगे। उन दोनों ने अमरकोश, ज्योतिष, नीति, भरतसंगीत, नाट्यशास्त्र, छन्द, अठारह लिपि, अठारह भाषाओं तथा कला-विज्ञान आदि की शिक्षा प्राप्त की। जेठी पुत्री ने पुराण, आगम, वेद, कोक, सिद्धान्तग्रन्थ, नृ-पशु-विज्ञान आदि की भी शिक्षा प्राप्त की। पढ़-लिख लेने के बाद एक दिन जेठी

कन्या राजसभा में गयी और आधे आसन से बैठ गयी। राजा ने उस के रूप-सौन्दर्य को निहार कर तथा विदुषी जान कर पूछा कि राजकुमारों में से तुम्हें जो अच्छा लगता हो उसे बताओ। हे पुत्रि, मैं तुम्हारी हवि के अनुसार उसी से तुम्हारा विवाह कर दूँगा। इतने में ही वहाँ कौशाम्बी के राजा का पुत्र हरिरथ आ पहुँचा। उस के रूप को देख कर सुरसुन्दरी मोहित हो गयी। वह बोली—मुझे सिंहरथ के सिवाय कोई अच्छा नहीं लगता। जो भाता है वही प्रदान कीजिए। राजा ने शुभ दिन तथा मूर्त में उस से उस का विवाह कर दिया। वे दोनों आनन्द से कौशाम्बी में जा कर रहने लगे।

उधर एक दिन दिपते हुए स्वर्ण की भाँति रूपवती मैनासुन्दरी गम्बोदक ले कर राजा के पास जाती है। राजा उसे ले कर असीस देता है और कहता है कि सुरसुन्दरी की भाँति तुम भी स्वयंवर माँग लो। कुमारी कहती है कि अपने-अपने पुण्य से सब प्राप्त करते हैं। राजा इन वचनों को सुन कर क्रोधित हो गया। वह बोला कि तुम जिस किसी राजकुमार को चाहती हो सो बताओ। राजकुमारी यह सुन कर खेदलिप्त हो मुँह नीचा कर बैठ गयी। तब राजा ने उस की बहुत निन्दा की। राजा के बार-बार शिक्कारने पर वह संशय में पड़ गयी। फिर कुछ विचार कर बोली कि आप किसी भी राजकुमार को परणा दीजिए। राजा इस बात को सुन कर क्रोध से भर कर कहने लगा कि यह कुलकलंकिनी है। स्वच्छन्द हाथी की भाँति मदमस्त है इस के मन में जो कुछ आता है सो कहती है। तब अत्यन्त नम्रता से मैनासुन्दरी पिताजी से बोली कि आप क्रोध न कीजिए। कुलीन घर में जन्म लेने वाली कन्या अपनी लज्जा नहीं खो देती है। आप अपनी इच्छा के अनुसार विवाह कीजिए। मेरा वही घर है जो आप सब के मन भावे। फिर, प्राणी को सुख-दुःख कर्म के विपाक के अनुसार मिलता है। कोई किसी को सुख-दुःख नहीं देता है। कर्म ही संसार में सब से प्रधान है। कर्म से ही मनुष्य शुभ-अशुभ गतियों को प्राप्त करता है, राजा-रंक बनता है। राजा इन वचनों को सुन कर बोला कि यदि कर्म ही सब कुछ करता है तो फिर प्रत्यक्ष रूप से तुम मुझ से वस्त्र, भोजन आदि विविधसुखों को क्यों प्राप्त करती हो? तब उत्तर में वह बोली कि मेरा जन्म कर्मों के उदय से आप के घर में होने से मुझे यह सब मिल रहा है। कर्मों की प्रेरणा से ही मुझे सुख-साधन मिले हैं। पुत्री की इन बातों को सुन कर राजा का मन भड़क उठा और वह बोला कि अच्छा देखता हूँ कि कर्म तुम्हें क्या फल देता है। उठो, तुम अपने घर जाओ। मैनासुन्दरी घर जा कर भोजन करती है और उधर राजा क्रोध से जल उठता है।

दूसरे दिन राजा सेना के साथ वर की खोज में निकल पड़ता है। पुर के बाहर सेना को छोड़ कर वह मन्त्रियों के साथ आगे बढ़ता है। इतने में उसे अंग देश में स्थित चम्पापुरी के राजा अरिदमणक और रानी कुन्दप्रभा का पुत्र श्रीपाल सामने आता हुआ दिखाई दिया। कुमार श्रीपाल का समूचा शरीर कुछ व्याधि से पीड़ित था। सिर पर वह ढाक (पलाश) का छत्र धारण किये हुए था। उसे देख कर राजा के मन में

सन्तोष हुआ। वह सम्मान के साथ उसे नगर में ले गया और मैनासुन्दरी के साथ उस का विवाह कर दिया। मन्त्रियो ने बार-बार समझाया; पर राजा ने किसी की भी बात नहीं मानी। अन्तःपुर में सभी विलाप करते हैं। किन्तु मैनासुन्दरी सब को समझाती है कि दुःख-शोक मत करो। शुभाशुभ कर्मों के परिणाम से संसारी जीव को दुःख-सुख लगे ही रहते हैं। अन्त में मैनासुन्दरी पति के साथ समुद्राल में पहुँचती है। श्रीपाल उस से कहता है कि तुम मेरी संगति मत करो, नहीं तो तुम्हें भी कुछ हो जायगा। किन्तु वह अपने शील को प्रकट कर पति की सेवा में निरत रहती है। गुण के प्रसाद से वह सिद्धचक्र-विधान की आराधना एवं अर्चना करती है। कुछ ही दिनों में उस के पति के तन का कुछ दूर हो कर तपे हुए सोने की भाँति रंग निखर आता है। सभी लोग हर्ष से फूले नहीं समाते। जब श्रीपाल से राज्य के लिए कहा गया तो उस ने विचार कर कहा कि दूसरे के बल से उपाजित राज्य को ले कर मैं क्या करूँगा। मैं स्वयं देशान्तरों में भ्रमण करूँ। मैनासुन्दरी भी पति की अनुगामिनी बन कर चलने की इच्छा प्रकट करती है। तब श्रीपाल उसे समझाते हैं और माता-पिता की सेवा करने के लिए कहते हैं। अन्त में बारह वर्ष के लिए श्रीपाल यात्रा पर निकल पड़ते हैं। मैनासुन्दरी विलाप करती है। माता को भी दुःख होता है। कोटिभट श्रीपाल सात सौ मित्रों के साथ द्वीपान्तरो की यात्रा समुद्र मार्ग से करते हैं।

समुद्र-मार्ग से यात्रा करने के पूर्व श्रीपाल अपने मित्रों के साथ कई नगर, उपवन, पर्वत, गाँव आदि लौघते हुए एक अत्यन्त रमणीक उपवन में पहुँचते हैं। वे वहाँ एक चम्पा वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं। इतने में कुछ राहगीर हाथ जोड़ कर उन से कहते हैं कि गुरु ने कृपा कर हमें विद्यामन्त्र दिया है, पर मन की चंचलता से हम उसे साथ नहीं पा रहे हैं। आप महानुभाव हैं इस लिए यदि आप उसे सिद्ध करने में हमारी सहायता कर दें तो हमें पाप नहीं लगेगा। कोटिभट श्रीपाल ने उन की संरक्षा की। वे विद्यामन्त्र ग्रहण कर ध्यानपूर्वक जाप करने लगे। एक दिन रात को विद्यागण सिद्ध हो गये। उन्होंने श्रीपाल को जलतारिणी, वैरिनिवारिणी तथा कितनी ही अन्य विद्याएँ प्रदान की। तब श्रीपाल बिना कही रके समुद्र-देश में पहुँचते हैं। वहाँ घबलसेठ से भेंट होती है। द्रव्य के लोभ से वह पाँच सौ जहाज तैयार कराता है। दस हजार सुभट वहाँ एकत्र होते हैं। बारह वर्ष के लिए खाने-पीने की तथा अन्य सामग्री ले कर जलदेवता का पूजन कर वे सब प्रस्थान करते हैं। किन्तु पोत टस से मस नहीं होता। सब बहुत घबड़ाते हैं। घबलसेठ को भी चिन्ता होती है। जब श्रीपाल यह देखते हैं कि जल-जन्तुओं के स्थिर हो जाने से पोत नहीं चल रहा है तो अपनी भुजाओं का प्रदर्शन करने के लिए तैयार होते हैं। किन्तु घबलसेठ जीवों की विरोधना करने से उसे रोकता है। अन्त में श्रीपाल सिद्ध मन्त्र का ध्यान करता है और पोत चल पड़ता है। तब घबलसेठ कहता है कि यदि मार्ग में पोत अड़ जायेगा तो कौन चलाने में समर्थ होगा? श्रीपाल कहते हैं कि जब तक मेरे साथ हो तब तक क्या डर? यदि प्राणों को भी माँगोगे तो

दे दूँगा। इन वचनों को सुन कर सेठ कोटिभट को धर्म-पुत्र मान लेता है। भयावह समुद्र को देख कर तथा कई दिनों तक लगातार बैठने के कारण कई लोगों की तबियत बिगड़ने लगी। हजर लुटेरे लोभ निकट आ गये। दोनों ओर के लोगों में घमासान युद्ध हुआ। घबलसेठ जीवित ही बाँध लिया गया। श्रीपाल यह सुन कर दौड़ पड़े और उन सब पर तरह-तरह के वार किये। अन्त में वे सब क्षरण में आये और हाथ-पैर जोड़ने लगे। अकेले श्रीपाल ने एक लाख चोरों को बाँध लिया और सेठ को बन्धनों से मुक्त कर दिया। युवतियो ने मंगलगीत गाये। कोटिभट श्रीपाल ने चोरो के बन्धन छोड़ कर उन्हें वस्त्राभूषण दिये और प्रेम से धर्म का उपदेश दिया। फिर पवन से प्रेरित हो कर उन का पोत अन्य किसी द्वीप में जा लगा। इस द्वीप का नाम हंसद्वीप था। इस में अठारह रत्नों की खानें थी। सब लोग यहाँ पर उतरते हैं और पोत से सब सामान उतार लिया जाता है।

इस द्वीप में कनककेतु नामक राजा राज्य करता था। उस की रानी का नाम गुणमाला था। उन दोनों के रत्नमंजूषा नाम की अत्यन्त सुन्दर तथा गुणवती कन्या थी। एक बार मुनिवर से पूछने पर उन्होंने बताया कि जो व्यक्ति सहस्रकूट चैत्यालय के किवाड़ों को अपने हाथ से खोल देगा वही इस कुमारी का वर होगा। तभी राजा वहाँ पर द्वारपाल नियत कर देता है। कोटिभट श्रीपाल जिनबन्धन के लिए उस चैत्यालय में जाते हैं। पास में पहुँच कर देखते हैं कि इतना सुन्दर मन्दिर बन्द पड़ा है, तब उस नौकर से उस के बन्द होने का कारण पूछते हैं। वह प्रमत्त सेवक कहता है कि कारण क्या पूछते हो? तुम धर्मात्मा और बलवान् एवं रूपवान् हो इसलिए वज्र के किवाड़ों को जा कर खोल लो अथवा छेदों में से दर्शन कर लो। श्रीपाल गुरु का स्मरण कर हाथों से किवाड़ों को ठेलता है। किवाड़ खुल जाता है। द्वारपाल राजा को सूचना देता है। राजा सपरिवार मंगल उद्घोषों के साथ सहस्रकूट चैत्यालय में जाता है। वहाँ श्रीपाल से भेंट कर मुनिवर का वृत्तान्त सुनाता है। सुमूर्त में राजा श्रीपाल को अपनी कन्या परणा देता है। श्रीपाल वही राज्य करने लगता है। एक दिन घबलसेठ लौटने के लिए कहता है। पोत को भलीभाँति वस्त्रों तथा रत्नों आदि से भर कर वे सब स्वदेश के लिए लौट पड़ते हैं। वस्त्राभूषणों से अलंकृत रत्नमंजूषा के अनन्य रूप को देख कर सभी वणिक् मोहित हो जाते हैं। घबलसेठ उसे देख कर मुच्छित हो जाता है और मन ही मन में धुलने लगता है। श्रीपाल उस को दशा को देख कर कारण पूछते हैं तो वह विषम व्याधि बताता है। मन्त्री लोग कहते हैं कि यह क्या रोग है कि मरणावस्था तक पहुँच गये हो। वह अपनी व्यवसा कह कर सुनाता है और रत्नमंजूषा में अपनी अनुरक्ति प्रकट करता है। मन्त्री जन उसे समझाते हैं। तीनों मन्त्रियों के चले जाने पर वह तुरन्त ही श्रीपाल के पास जा कर कूट भाषण करता है। वह कहता है कि हे स्वामी, आप के कई बैरो हैं। मैं ने मन्त्रणा कर पता लगा लिया है। कलकल कोलाहल कर कई लोग आश्चर्यजनक बोल रहे हैं। श्रीपाल तुरन्त ही बाँध पर चढ़ता

है। इतने में वह रस्सी काट देता है। श्रीपाल के समुद्र में गिरते ही हाहाकार मच जाता है। रत्नमंजूषा बिसाप करती है। बणिक् इधर-उधर बीड़ते हैं। धवल भी झूठ-झूठ रोता है। फिर सभी बणिक्बर मिल कर वहाँ जाते हैं और रत्नमंजूषा को समझाते हैं। कुछ समय बाद धवल बो दूतियाँ उस के पास भेजता है। वे रत्नमंजूषा से धवल में अनुरक्ति प्रकट करने को कहती हैं, पर वह बुरी तरह उन्हें फटकारती है और भगा देती है। तब स्वयं धवल उस के पास जाता है। वह मुख-कमल डूँक लेती है। सेठ अनुनय-विनय करता है। वह उसे धिक्कारती है। इतने में आसन कम्पित होने से जिनआसन की देवियाँ चक्रेश्वरी, अम्बिका, ज्वालामालिनी और कालिका तथा यक्ष मणि-भद्र क्रोध से प्रदीप्त हो कर आते हैं। समुद्र में चारों ओर अँधेरा छा जाता है। बनियों के जुड़े हुए हाथ अपने-आप बँध जाते हैं। अच्छी पिटाई होती है। समूचा दल रत्नमंजूषा के पास हाथ जोड़ कर पहुँचता है। सुन्दरी से सब प्रार्थना करते हैं। जिन-आसन की देवियाँ तथा अलदेवता उसे सान्त्वना देते हैं और कहते हैं कि तुम्हारा पति अवश्य मिलेगा और राज्य करेगा। रत्नमंजूषा सब को क्षमा कर देती है। सभी धवल का अपयश-कीर्तन करते हैं। वे सब बार-बार सुन्दरी का अभिनन्दन करते हुए लौटते हैं।

उधर श्रीपाल मन्त्र का स्मरण करता हुआ अनेक जलजन्तुओं को तथा दूर से बड़वानल को लौघता हुआ कोंकण द्वीप के तट पर पहुँचता है। भुजाओं से सागर को पार करने वाले सुभट को आते देख कर भट लोग उसे प्रणाम करते हैं और अपने आने का कारण सुनाते हैं। वे कहते हैं—इस कोंकण पट्टन में धरपाल नामक राजा प्रजा का भलीभाँति पालन करते हैं। उन की वनमाला नाम की रानी से उत्पन्न अत्यन्त रूपवती एवं गुणवती गुणमाला नामक कन्या है। मुनिराज ने उन्हें बताया है कि जो महापुरुष भुजाओं से समुद्र पार कर इस द्वीप में आयेगा वही इस कन्या का वर होगा। इसी लिए राजा ने हमें यहाँ नियुक्त किया है। श्रीपाल को आया हुआ देख कर राजा भेंट करता है। विवाह की तैयारियाँ होती हैं। दोनों का धूम-धाम से विवाह होता है।

इधर धवलसेठ के पाँच सौ पोत उसी द्वीप के तट पर आकर लगते हैं। सेठ धवल मोती-रत्नों के घाल भर राजा को भेंट करता है। वहाँ श्रीपाल को देख कर सभी को बड़ा अचरज होता है। राजा परिचय देता है। सेठ को बड़ी आत्मग्लानि होती है। सब उसे समझाते हैं और श्रीपाल के चरणों में शरण लेने को कहते हैं। पर वह पापी मार्तण्डों को घन देकर राजसभा में भेजता है और रत्नमंजूषा को निर्लज्ज तथा दुःशील कहला कर प्रचार करता है। पहले तो श्रीपाल को डोमों की बातों पर विश्वास हो जाता है, पर कुछ सोच कर वह गुणमाला को रत्नमंजूषा की परीक्षा लेने भेजता है। रत्नमंजूषा राजा को पूरा वृत्तान्त सुनाती है। राजा सभी को बन्दी बना कर बुलवाता है। धवलसेठ को मृत्युदण्ड देता है। किन्तु श्रीपाल धर्मपिता कह कर बचा लेता है।

फिर सभी बणिग्वरों को राजा बडरसों से बना हुआ भोजन कराता है। श्रीपाल के यश का प्रसार होता है। बहुत दिनों तक कोटिभट वहीं रहता है।

एक दिन कोई बणिग्वर राजसभा में आ कर श्रीपाल को कुण्डलपुर द्वीप में स्थित मकरकेतु राजा तथा रानी रूपरेखा से उत्पन्न चित्ररेखा के रूप और गुणों का वर्णन कर सुनाता है कि मुनिवचनों के अनुसार जो समुद्र लांघ कर गुणमाला को परणामेगा वही उस कन्या का वर होगा, अतएव आप चलिए। वह उस के साथ वहाँ जाता है और चित्रलेखा के साथ श्रीपाल का सानन्द विवाह होता है। कंचनपुर पट्टन के राजा बज्रसेन भी मुनि के वचनों के अनुसार अपनी पुत्री कंचनमाला को श्रीपाल को परणा देते हैं। वहाँ से चल कर श्रीपाल कोंकण पट्टन में पहुँचे। वहाँ के राजा जसरसि की बीरासी रानियाँ थीं। उन के जसमाला नाम की सब से जेठी कन्या थी। सब कन्याएँ सोलह सौ थीं, जिन में आठ मुख्य थी। उन्हें विद्या का अत्यन्त गर्व था। जो उन की समस्यापूर्ति कर सकता वही उन को वर सकता था। श्रीपाल ने उन्हें विजित कर सोलह सौ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कर लिया। वहाँ से वह कंचनपुर, कुण्डलपुर होता हुआ कोंकण द्वीप में लौट कर आ जाता है। इस बीच वह सोरठ से पाँच सौ, महाराष्ट्र से पाँच सौ, गुजरात से चार सौ, मेवाड़ से दो सौ और अन्य राज्यों से छिया-नवे कन्याओं को वरण करता है। पल्लिराज, खस और पुलिन्द आदि राजा लोग उस की सेवा करते हैं। उन सब को ले कर श्रीपाल उज्जैनी नगरी में आ पहुँचता है।

नगर में पहुँचने पर कोटिभट छिप कर राजमहल में जाता है और मैनासुन्दरी को देखता है। वह पति-वियोग में चिन्तित दिखलाई पड़ती है। सासू से कहती है कि आज भी वे नहीं आये। अब मैं साप्त्वी की दीक्षा ग्रहण करूँगी। बारह वर्ष का समय तो बीत गया, पर अब अधिक समय निकालना बहुत ही कठिन जान पड़ रहा है। माता समझाती है। इतने में श्रीपाल सम्बोधित हैं। पति के वचनों को सुन कर मैनासुन्दरी किवाड़ों को खोलती है। माता पुत्र को असीस देती है। पत्नी स्नेह प्रकट करती है। श्रीपाल समूचा वृत्त सुनाता है। विद्याधर राजाओं की आठ हजार कन्याओं को परणा कर लाने की बात भी वह कहता है। मैनासुन्दरी रोमांचित हो जाती है। वह प्रेमासक्ति में पति से न भुलाने का वचन लेती है। श्रीपाल सभी पत्नियों को अन्तःपुर में बुलाता है और सब का परिचय देता है। उन आठ हजार सपत्नियों से मिल कर मैनासुन्दरी आनन्दित होती है।

इतने में समर-तूर बजने लगता है। मन्त्री युद्ध को ठना हुआ देख कर श्रीपाल के पास दौड़े आते हैं और पहले दूत को भेजने की राय देते हैं। दूत राजा पयपाल के पास पहुँचता है। वह अभिनव चक्रवर्ती की आज्ञा सुनाता है कि या तो कम्बल पहन कर सिर पर लकड़ी का बोझा और कुल्हाड़ा ले कर शोभायमान हो अवधवा युद्ध करो। राजा दूत को फटकारता है, मारने की तैयार हो जाता है; पर मन्त्री बचा लेते हैं। श्रीपाल मैनासुन्दरी से दूत के अपमान की बात कहता है। वह पति को प्रियवचनों से

निवारण करती है। तब सन्धि के लिए दूत के हाथ बट भेंट भेजता है। राजा पयपाल उसे स्वीकार कर श्रीपाल से मिलने आता है। दोनों मिल कर आनन्द से गद्गद हो जाते हैं। श्रीपाल पूरा परिचय देता है। दोनों हर्ष से भरे मनासुन्दरी से मिलते हैं। उत्सव मनाया जाता है। श्रीपाल का राज्याभिषेक करने के लिए राजा पयपाल तैयार होता है, पर कोटिभट स्वीकार नहीं करता।

अन्त में सेना के साथ श्रीपाल वहाँ से चम्पापुरी के लिए प्रस्थान करते हैं। मन्त्री के वचनों से वह राजा के पास भेंट भेजता है। दूत की बातों को सुन कर राजा उसे फटकार देता है। तब श्रीपाल रण का शंख फूँक देता है। दोनों में घमासान युद्ध होता है। श्रीपाल राजा के पास पहुँच कर अपना परिचय देता है। बोरदमण श्रीपाल को देख कर चिन्तित और लज्जित होता है। अन्त में बोरदमण अपने हाथों से श्रीपाल का राज्यतिलक करता है। वह स्वयं मुनि बन जाता है। चिरकाल तक राज्यसुख भोग कर श्रीपाल भी एक दिन नागर में आगत मुनिवर से दीक्षा ग्रहण कर दुर्धर तपस्या कर निर्वाण को प्राप्त करता है।

प्रबन्ध-रचना

वस्तु-संघटना की दृष्टि से मंगलाचरण और कथा-प्रेरक की प्रशंसा के अतिरिक्त अन्य किसी काव्य-रुद्धि का पालन नहीं हुआ है। इस सन्धियों की यह रचना छोटी-छोटी सन्धियों में विभक्त है। समूची रचना प्रबन्ध काव्य के अनुरूप होने पर भी वर्ण्य विषय की संक्षिप्तता से एकार्थ काव्य की कोटि की है।

इस काव्य में अवान्तर तथा अप्रासंगिक कथाओं की संयोजना न होने से कथानक गतिशील लक्षित होता है। समूचा कथानक नायक और नायिका के पुण्य-कर्म तथा सिद्धचक्र के माहात्म्य से लिपटा हुआ मिलता है। अतएव कथा का केन्द्रबिन्दु मनासुन्दरी के वृत्त से विकसित हो कर श्रीपाल की विभिन्न देशों की यात्रा और राज्य-प्राप्ति में कार्य (फल) के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार पाँच सन्धियों का परिवेश भी स्वाभाविक रूप से मिलता है। यद्यपि घटनाओं के विकास में कवि ने अपनी कल्पना से बहुत कम काम लिया है, पर अतिलौकिक एवं अतिमानवीय बातों से कथानक को बचा कर कवि ने स्वाभाविकता की रक्षा की है। और इसीलिए विद्यासाधना का प्रसंग जोड़ कर कवि ने धार्मिक मान्यता एवं आस्था को व्यक्त कर श्रीपाल के समुद्र-सन्तरण में अन्य अद्भुत कल्पनाओं से कथा को बचा लिया है। मूल में धार्मिक भावना मुख्य होने पर भी कथा की आत्मा इस रचना में सुरक्षित है।

घटनाओं में स्वाभाविक विकास होने से रचना में क्षिप्रता और औत्सुक्य बराबर प्रभावशील है। इस में न तो पात्रों की भीड़ है और न घटनाओं का जमघट ही। इसलिए कथातत्त्व रोचक और मधुर बन पड़ा है और काव्य-रचना स्फीत एवं स्वच्छ

दिखाई पड़ती है। मुख्य रूप से इस कथाकाव्य में एक ही कथा है, जो क्रम से विकसित हो कर विभिन्न घटनाओं एवं स्थान-भेद से वैचित्र्य की सृष्टि करती है।

कथा सरल और मधुर है। रचना में कही भी जटिलता और क्लिष्टता नहीं दिखाई पड़ती। पूरी कथा एक ही सूत्र में समाहित है। इस प्रकार की कथाएँ बहुत कम मिलती हैं। क्योंकि ये सीधी-सादी कथाएँ रोषक होने पर भी अधिक प्रभावशालिनी नहीं होतीं। और इसीलिए उद्देश्य विशेष से इन का सम्बन्ध जोड़ कर अपभ्रंश-कथाकाव्य के लेखको ने प्रभावान्विति और रस-व्यंजना की दृष्टि से इन्हें पूर्ण सफल बनाने का यत्न किया है, जिस में वे बहुत कुछ सफल हुए हैं। प्रस्तुत कथाकाव्य के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है।

संक्षेप में, कुल मिला कर प्रबन्ध-रचना के रूप में यह कथाकाव्य उत्तम रचना कही जा सकती है। इस में कथा के लगभग सभी तत्त्व स्वाभाविक रूप में संयोजित हैं। यही इस की सब से बड़ी विशेषता है।

वस्तु-वर्णन

वस्तु-वर्णन में नगरी-वर्णन, विवाह-वर्णन, विद्यासाधन-वर्णन, समुद्र-वर्णन, युद्ध-वर्णन, यात्रा-वर्णन आदि वर्णन मिलते हैं। किन्तु इन वर्णनों में कोई नवीनता नहीं मिलती। वस्तुतः आलोच्यमान कथाकाव्य में वर्णन की अपेक्षा विवरण अधिक है। चलते हुए कथानक में वस्तु का वर्णन करते चलना कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति जान पड़ती है। स्वतन्त्र रूप से वर्णन इस में नहीं मिलते और न प्रसंगतः वर्णन करने में कवि की रागात्मिका वृत्ति रमी हुई लक्षित होती है। घटनाओं के वर्णन में अवश्य कथा की गतिशीलता प्रेरक एवं संवेदनीय बन पड़ी है। किन्तु वर्णनों में चमत्कार तथा अलंकरणता न हो कर भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है, जो लोक-जीवन में सर्वत्र सुनने को मिलती है। विषय के अनुरूप ही वस्तु की योजना स्वाभाविक विधान में अनुस्यूत है। लोक-जीवन की यथार्थ चेतना की अभिव्यंजना से समन्वित तथा इतिवृत्तात्मकता से वह मण्डित है। रचना विवरण-प्रधान होने से वर्णन कहीं-कहीं दब गये हैं। उन में वह स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं है जो यकायक अपनी ओर आकर्षित कर सके। कुछ अन्य वर्णन निम्नलिखित हैं।

सहस्रकूट चैत्यालय का वर्णन

कवि सहस्रकूट चैत्यालय का वर्णन करता हुआ कहता है कि उस के ऊपर कई शिखर बने हुए थे, जिन का अंग स्वर्ण दण्डों से मण्डित था। वे इतने ऊँचे थे कि उन पर लगी हुई ध्वजा-पताकाएँ मानो स्वर्ग के किसी खण्ड का स्पर्श कर रही थीं। सुन्दर घण्टों से अलंकृत वह चैत्यालय गजेन्द्र के समान ही मानो शोभायमान हो रहा था। स्थिर तथा निष्कम्प वह मानो बिनेन्द्र के सदृश था। चित्र-विचित्रित भाग मानो काव्य-

लण्ड के समान था। रत्नों से खचित चैत्य मानो अलण्ड सागर जान पड़ रहा था। नमन, आसन और जिनोक्त सुनों से शब्दायमान मानो रत्नत्रय के तीनों भेदों से युक्त था। रवि, शशि से मण्डित उस का कटिप्रदेश ऐसा प्रसीत होता था मानो मूलक पर दूसरा मेरु उत्पन्न हो गया हो। मोतियों की मालाओं (वन्दनवारों) से अलंकृत द्वार मानो दुर्गति स्त्री के प्रवेश का निषेधक था।

कणायल्लुब्ध उत्तंगसिन्धु	बहु कूडे किय न ससंगु ।
सोयण्णदंढ मंडियउ अंगु	वयवड छिवंति नं सगगसंडु ।
वरघंटालंकित णं गहंडु	अप्पंकु अकंपु नि जिणेंदु ।
मत्तालंकित णं कव्वपेंदु	रयणच्चित णं सायर अलंडु ।
णं रयणत्तड तिम्भेयजुत्तु	नमणासणु णं जिणमणिउं सुत्तु ।
रविससिणउ मंडित कडियलम्मि	णं वीजो मेरु पुणु भूयलम्मि ।
मोत्तियमालालंकिय दुवार	णं दुग्गाइ तिय पइसण णिवार । ६, ३ ।

श्रीपाल का स्वागत-वर्णन

श्रीपाल को देख कर राजा का मन मर गया। सभी लोगों ने उसे भव्य घोषित किया। राजा ने श्रीपाल को अपने गले से चिपटा कर अपने हाथों से हाथी पर बिठाया। सभी लोग जय-जय शब्द करते हुए चल पड़े। राजा की भाँति सभी ने हर्ष एवं उल्लास प्रकट किया। स्त्रियों की हतनी भीड़ हो गयी थी कि कहीं पर भी समा नहीं रही थीं। घर-घर में मणितोरण घोषित हो रहे थे। गलियाँ जनों से संकुल थीं। प्रत्येक द्वार पर पल्लवों से युक्त सोने के मांगलिक कलस सज्जित थे। स्त्री-पुरुष श्रीपाल की सागर-नार की चर्चा कर रहे थे। लोग अनुमान लगा रहे थे कि यह कोई स्वर्ण का राजा है अथवा देवता। राजा उल्लसित हो गाजे-बाजे के साथ जामाता श्रीपाल को अपने घर ले गया।

सिरिपालहु दंसणि तोसियउं	पुणु भव्वु भव्वु तें घोसियउ ।
कंठालिगणु राएँ करिवि	पुणु गवसिरि रोविउ णिय करिवि ।
जयजयसहें वरु चल्लियउ	भूयलु समंतु तहं हल्लियउ ।
दल वट्टणि खणेण पराहयेउ	णारीयण कट्ठ ण माइयउ ।
घरि घरि मणितोरण सोहियइ	रच्छा सोहहि जणक्खोहियइ ।
कव्वणकलसइ पल्लवसहिया	गहि दारि दारि णिरु सणिहिया ।
णारीणर जंपहि एहु वरु	आयउ लंघिवि सायर पवरु । इत्यादि (७, ४)

डोमों का नृत्य-वर्णन

फिर डोमों को नृत्य का अवसर मिला। उन से माँगने के लिए कहा गया। पश्चात् डोमों के मुखिया ने कई प्रकार के नाटक अपने लोगों के साथ किये। उन्होंने

कई कौतुक दिखाये, जैसे—कि बाँस पर चढ़ना, लटकना आदि । फिर, कई प्रकार के बाजों के साथ देव, मनुष्य, और विद्याधरों के मन को प्रसन्न किया ।

पुणु णट्टहो अक्सरों मणिगवि सुहृद्वर पुणु वि तेहि णांडवहु बिहि ।

आरंभिय राजवंतं सखण समानवंतं खिरिपालें पिरु अणिय बिहि ॥

कोठहलु बहुबिह दंसियत वंसारोहणु पुणु ववसियत ।

कंसालताल वहु वज्जियह मुरजरलेयर मण रंजियह (७, ९-१०)

इन वर्णनों को पढ़ने के साथ इतिवृत्तात्मकता ही अधिक उभर कर हमारे मन को चमत्कृत करती है; वर्णन की चारुता नहीं । वस्तुतः इस कथाकाव्य में अधिकतर वर्णन विवरणप्रधान हैं । उन में कल्पना की अतिशयता या श्लिष्टता न हो कर विवरण की अथार्थता है । अतएव भाव और भाषा की अभिव्यक्ति में सरलता एवं स्वाभाविकता लक्षित होती है । दूसरे, वर्णनों में संक्षिप्तता और वास्तविकता अधिक है । तीसरे, अलंकरण की प्रवृत्ति नहीं मिलती । कहीं-कहीं उत्प्रेक्षा अवश्य मिलती है । किन्तु उस में वस्तु की सम्भावना मात्र ही अभिव्यंजित है । कल्पनाओं के विभिन्न रूपों का साहचर्य या सादृश्य-विधान हमें उस में नहीं मिलता । वास्तव में यह लोक-शैली का काव्य है, जिस में कथाप्रधान है और चलते हुए कथानक में ही वर्णन का वैशिष्ट्य है । अलग से वर्णनों को ढूँढ़ निकालना बहुत कठिन है । वे कथा से पूरी तरह लिपटे हुए हैं । कहीं-कहीं वर्णन बहुत संक्षिप्त है । यथा—समुद्र-संतरण, विवाह-वर्णन इत्यादि ।

समुद्रसन्तरण-वर्णन

दोनों ओर से उठने वाली तरंगों की भँवरों को, मच्छ-कच्छ आदि जलचरों की तथा दूर से बड़बानि को लौघता हुआ व्याकुल हो बीरे-चोरे श्रीपाल तैरता हुआ समुद्र के किनारे पहुँच गया ।

उवहि तरंग भमणि लंघंतउ मच्छकच्छजलयर लंघंतउ ।

जिहंतु बीहलु तिहं गच्छंतउ एम तरंतु तरंतु जि पत्तव ॥ ७, २ ।

विवाह-वर्णन

फिर, शुभ मुहूर्त तथा लग्न में राजा ने रत्नमंजूषा श्रीपाल को परणा दी । साथ में छत्र, चमर, हाथी, घोड़ा, माणिक, रत्न, दासी, दास आदि बहुत-सी वस्तुओं को तथा वस्त्रों को दायजे में दिया, जिसे कौन गिना सकता है ?

परिणिय सुहृजोएण गुणालें छत्तचमरहमगय अप्पमाणहं ।

दिण्णइ मणिरयणइ सुहृठाणहं दासी दासइ तं बहु दिण्णहं ।

अबर वत्थु को पवर विगण्णहं वरमंदिह काराविहि दिण्णवं । (९, १२)

राजा हाथी पर बिठा कर श्रीपाल को गाजे-बाजे के साथ नगर में से घुमा कर घर ले जाता है ।

गद्य आरोहि विजयजयसहं गिहि पेसिज बर तूरणिण्डे ।

पुणु सुमुहत्ते लगुणु गणाविजं चवळु सेठि तहु जणु अणाविजं । (६, १२)

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी विवाह का वर्णन न हो कर विवरण मात्र है। सामान्यतः आलोच्यमान कथाकाव्य में वर्णन संक्षिप्त तथा इतिवृत्तात्मकता से भरित है। समुद्र-यात्रा तथा युद्ध, रूप-वर्णन आदि लोकशैली में वर्णित गिने-गिनाये वर्णन हैं, जो लोकजीवन की वास्तविकता को अभिव्यक्त करते हैं।

समुद्र-यात्रा का वर्णन

पोत के चलते ही घबलसेठ का मन प्रसन्न तथा तन रोमांचित हो गया। भुंगल, भेरी, पटह आदि कई बाजे बजाये गये। बाँसों पर बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ सजायी गयी। सभी को अत्यन्त अचरज हुआ। जयजयकार करते हुए सब आनन्दित हुए। भेरंड पक्षी के भय से लोगों ने लोहे की बनी हुई टोपरी सिर पर धारण कर ली। रात को आँखों में नींद भरी होने पर भी वे सो नहीं पाते थे। जहाज में बैठे-बैठे लोगों को चक्कर आने लगे। कई लोगों का सिर घूमने लगा। कई चक्कर खा कर गिर पड़े। कई लोगों को उलटियाँ होने लगीं। कई समुद्र में उठती हुई लहरों को देख कर डरने लगे। कुछ लोगों को कहीं भी अच्छा नहीं लगने लगा। कुछ सोचने लगे कि कब पार लगें। कुछ लोग अपने कर्मों को कोसने लगे। कुछ लोग कहने लगे कि यह मनुष्य जन्म हो व्यर्थ है, और कुछ लोग इस व्यापार को ही व्यर्थ बताने लगे। इस प्रकार कई दिनों तक जहाज में बैठे हुए लोगों की मनःस्थिति गड़बड़ रही। बाद में उन में स्थिरता आ गयी। वे सब गाते-नाचते, जल को देखते, नित्य जलचरों से विनोद करते हुए आनन्द से समय बिताने लगे (५, १९-२१)

शृंगार-वर्णन

गुणमाला आँखों के कोयों में काजल आँजती है। दर्पण को देखती हुई तिलक करती है। सोने का हार वसस्थल पर धारण करती है। जूड़े में सुगन्धित कुसुमों को खोंसती है। बड़िया मोंतियों से माँग सँभारती है। कुंकुम की पन्नावली रचती है। दाढ़ों के बीच पान का बीड़ा बरती है। सोने के आभूषणों से शरीर को सजाती है।

पुणु वत्त पत्त तहि गुणमाला जहि

णयणरेह कज्जल ठवइ ।

दप्पणु जेवँती तिलउ करँती

कणयहार उरयलि ठवइ ॥

कुसुमसुयंघु सीसि संवरइ

वरमोतिय माग समारइ ।

पत्तावलि कुंकमह समारइ

डसणअंति तंबोलु वि धारइ ।

कणमाहरण त्रिहसिय गत्ती

भणइ कावि सहि तासवि वत्ती । ७, १३

इसी प्रकार भावाभिव्यंजना में रसात्मक एवं भावपूर्ण स्थलों में लोकजीवन की वास्तविकता की झलक मिलती है। इन वर्णनों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वर्णन

स्वाभाविक और साधारण हैं। अन्य कथाकाव्यों की भाँति रोचकता और सजीवता नहीं है। कही-कही वातावरण का चित्र आँखों के सामने छा जाता है। अतएव लोकजीवन के स्वाभाविक वर्णन की दृष्टि से ही इस का महत्त्व है; पर कला के यथार्थ परिवेश में रचना का मूल रूप सटीक नहीं उतरता, केवल नखशिख, रूप-वर्णन आदि में अलंकरणता का परिचय मिलता है।

नखशिख-वर्णन

पूनम के चन्दा जैसा आधा भालपट्ट मानो कामदेव के विजय का पट्टा था। मैनासुन्दरी की मोहँ टेढ़ापन लिये हुए बिना खोरी के मानो काम का प्रचण्ड धनुष जान पड़ती थी। दोनों कानों में सोने के कुण्डल शोभायमान हो रहे थे। वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सूरज और चन्दा अपने स्निग्ध करों से प्रकाश कर रहे हों। मोहँ के अगले प्रदेश में तीक्ष्ण नासिका थी। उस से निकलती हुई साँस लक्षित नहीं होती थी। मानो कामदेव के छोड़े हुए बाणों की बड़ी कठिनाई से सहन करती हो। प्रेम को प्रकाशित करने वाले कोमल भुज युगल मानो पृथ्वी पर काम के पाश थे। उठे हुए उरोज चन्द्रमा की प्रभा के समान स्वर्ण वर्ण के ऐसे मालूम हो रहे थे मानो काम ने ही अभिवेक के कलस स्थापित किये हो। उस की कटि सिंह के समान मध्य में क्षीण थी। त्रिवली भी अत्यन्त शोभित उसी में लीन थी। मानो रति-मुख के हेतु आ कर काम ने ही आसन जमाया हो। उस सुन्दरी के—

ता यह वयणें मलहंति कण्ठ
पुणिम ससि अद्ध भालपट्ट
वंकसणु भूजुयलुहु अबलहु
सोहंति सवणजुव कुंडलेहि
अगपाएस पुणु तिकख पास
कणंति सहंति कडवख वाण
भुयजुयलु सुकोमलु पियपयासु
उरुहु उणय ससिपह निमुंभ
हरि लंक समानी मज्झि खीण
आइवि कुलणियंबुजि तहि अलीहु
उरुजुयलउ णयणाहिरम्मु
दिठ संघिवंधं जं णूरवण
रत्तुपलदल सारिच्छ पाय

चल्लिय लोएँ दिठी रवण ।
णं कामणरेसहु विजयपट्ट ।
णिगुणु वि धणुहुं णं कम्मचहु ।
रविससि णिद्धाडिया णियकरेहि ।
णउ लक्खिज्जइ णिगंत सास ।
णं कामहो ते मेलंति वाण ।
णं पयहु सु महियल कामपासु ।
णं मयणहु धिय अहिसेय कुंभ ।
तिवली तरंग पुणु तत्थ लीण ।
णं रइसुह कारणि णिहिउ पीहु ।
णं जणमण वंधण थंम जुम्मु ।
जंघाजुव पुणु वित्थर सच्छणु ।
णिम्मलु णहपह जिय दुमच्छाय ॥ २, १३ ॥

उरुयुगल देखने में इतने मनोहर थे मानो लोगो के मन को बाँधने के लिए दो खम्भे ही हों। दृढ़ सन्धिबन्धों से गठित अच्छे वर्ण वाली दोनों जाँघें मानो प्रणय के प्रच्छन्न

आसन-पीठ थे । लाल कमल के समान उस के पैर थे तथा निर्मल नखों की कांति पेड़ों की छाया जैसी फैलती हुई जान पड़ती थी ।

युद्ध-यात्रा का वर्णन

दूत की बातों को सुन कर राजा उसी क्षण क्रोध से भर कर हाथ में तलवार ले कर चल पड़ा । उस ने सेना को सम्बोधित करते हुए कहा कि उठो, मारो-मारो, शट से युद्ध के लिए सजो । शीघ्र ही हाथी, घोड़े, रथ युद्ध में पेल दो । वैरी राजा को मार डालो । ऐसा कहता हुआ श्रीपाल भी तैयार हो गया मानो हाथ में तलवार ले कर विजयश्री ही उत्कंठित हो रहो हो । उस को देख कर सामन्त भी सज गये । अर्चस्य समर-तूर बजाये गये । दोनों ओर के योद्धा दौड़ पड़े । युद्ध के मैदान में वे समा नहीं रहे थे । घोड़े होस रहे थे और मद्योन्मत्त हाथी बिधाड़ रहे थे । तीक्ष्ण तलवार को कोश से निकाले हुए दल का दल चला जा रहा था मानो प्रलयकालीन समुद्र ही उछल रहा हो । श्रीपाल सिन्धूर से अरुण किये हुए श्रेष्ठ हाथी पर बैठे हुए चले जा रहे थे । पीछे-पीछे सेवक जन रतिसुत की भांति जयश्री की कामना से अनुगमन कर रहे थे । सात सौ अंगरक्षक उस के सेवक थे । राजा वीरदमन भी उस समय तैयार खड़ा था । उस की ओर भी हाथी, घोड़ों का परिकर तथा छत्तीस सौ सुभट थे । चलो, चलो का शब्द चारों ओर गूँज रहा था । वैरी राजा श्रीपाल के सौन्दर्य को देख कर कहता है कि इस विषम रण में यह सुन्दर दिख रहा है । आज मैं इसे मृत्यु का अलिंगन कराऊँगा । कोई कहता है कि मैं अपनी भुजाओं का पराक्रम दिखाऊँगा । कोई अपने युद्ध-कौशल को दिखाने के लिए कहता है । इस प्रकार योद्धागण परस्पर वार्तालाप करते हुए युद्ध के लिए अपने मन को प्रेरित करते हैं । सभी लोग तैयार होकर हर्ष एवं उत्साह से भर कर चल पड़े । राजा भी क्रोधित हो कर बढ़िया हाथी पर बैठ कर चल पड़ा । क्षण भर में वेग से वे सब एक स्थान पर पहुँच गये (९,७) ।

युद्ध-वर्णन

युद्ध के बाजे बजने लगे । हय, निशान, डोल और भेरी के बजने से चारों ओर गूँज हो गयी । दोनों ओर की सजी हुई चतुरंगी सेना पहले दर्शन से क्रुद्ध हो कर क्षण भर में जयश्री के सुख को लूटने के लिए एक दूसरे को घायल करने लगी । पैनी धार वाली तलवारों को निकाले हुए योद्धा लोग धनुष की टंकार करने लगे । हाथ में चक्र को धारण किये हुए दल के दल गुँथ गये । एक दूसरे को ललकारते हुए हाथी के सैनिक हाथी वालों से, घोड़े के सवार घोड़ों पर चढ़े धीरों से तथा पैदल पैदलों से भिड गये । वे एक दूसरे को हकेलते हुए महाभट ऐसे जूझ गये कि रथ उछलने लगे । उस समय वहाँ कुछ भी नहीं सूझता था । दूसरों को और अपने को कोई बुझ ही नहीं रहा था । ऐसा जान पड़ता था मानो अन्धकार ने ही दो दल बाँध लिए हों । उस समय दोनों ही सेनाएँ क्रोध से उद्दीप्त हो अत्यन्त निविडतम को फैला रही थी ।

दोनों सेनाओं के समासान युद्ध को देख कर मन्त्री जनों ने विचार किया कि राजा लोग आपस में निपट लें, सेना का क्यों सर्वनाश हो। किन्तु दोनों ही राजाओं को यह बात अच्छी नहीं लगी। श्रीपाल ने राज्य पर अपना दावा किया। दोनों में डट कर युद्ध हुआ। एक प्रहर तक दोनों बराबर रहे। दोनों में से एक भी नहीं जीता। तब क्रोध में भर कर श्रीपाल ने उस के पैरों में हाथ डाल कर कपंते हुए हाथों से उसे युद्धस्थली में पटक कर गिरा दिया। उसी समय जयजयकार सुनाई देने लगा। (९, ८-१०)

राज्याभिषेक का वर्णन

मंगल गीतों और गाजे-बाजे के साथ राजा श्रीपाल को रत्नसंचित सिंहासन के पास ले गया। कुमार को उस पर बिठा कर दोनों ओर जल से भरे हुए सोने के कलसों को स्थापित कर, उस जल से कुमार को स्नान कराया और उस के मस्तक पर सेहरा बाँधा। राजा वीरदमण ने अपने हाथों से श्रीपाल के पट्टा बाँधा। तिलक कर सारा राज्य प्रदान किया। फिर, विनय से कुमार से बोला—हे कुमार, तुम अत्रिय के गुणों से युक्त हो इस लिए सम्मान व विधिपूर्वक इस राज्य का पालन करना, जिस से किसी को कोई दुःख न हो। इतना कह कर राजा ने उसे प्रणाम किया। (९, १२)

संवाद

पं० रङ्गू को इस सिद्धचक्र कथा में संवाद संक्षिप्त, मधुर, सरल तथा सरस हैं। मुख्य संवाद इस प्रकार हैं—पयपाल-सुरसुन्दरी-संवाद, पयपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-विद्यासाधक-संवाद, श्रीपाल-धवलसेठ-संवाद, मन्त्री-धवलसेठ-संवाद, चण्डाल-धरपाल-संवाद, श्रीपाल-धरपाल-संवाद, श्रीपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, दूत-पयपाल-संवाद, वीरदमन-श्रीपाल-संवाद, श्रीपाल-मुनि-संवाद आदि।

इन संवादों में भावों की सरल अभिव्यक्ति सीधे-सादे शब्दों में हुई है। युद्ध के समय वीरदमन श्रीपाल को ललकारता हुआ व्यंग्य के साथ बोलचाल की भाषा में कहता है—

तहु भासिउ णिसुणिवि पुणु पुणु विहसिवि वीरदमणपहु भासइ ।
भो भो सुंदर तुहु वडिइय मणसुहु आयउ णिरु रायासइ ॥
हुउ पुणु तुङ्गु आस हुउ पूरमि भज्जम डिभ भयवसं ।
अण्णु वि एत्थु अज्जु दंसावमि संगामहो महारसं ॥ (९, ९-१०)

इस प्रकार संवादों के साथ वर्णन भी आगे-आगे जुड़े हुए मिलते हैं। यथा—

सो जबसमसि पुणु भणइ तासु	वे कर जोडिवि पंथी जणासु ।
गुरुणामहु विज्जा भंतु दिण्णु	सो भइविउ णतं जवियउ अछण्णु ।

परमुत्तरसाहण मंतरेण	सिञ्जइ न मित्त महु चल मणेण ।
जइ तं तुहुं होसि महाणुभाउ	ता विज्जा सिञ्जइ महु अपाव ।
तं सुणिवि भणइ सिरिपालु धीर	उवयारें सोहइ णरसरीर ।
जिह रयणें सोहइ कणउ भव्वु	वेरगें सोहइ जेम भव्वु ।
जिणदाणें सोहइ पउर दव्वु	जिम सोलें सोहइ लोउ सव्वु । (५,१०)

किन्तु कही-कही संवाद स्वतन्त्र तथा लोकशैली में वर्णित है। उनमें शब्द-जाल न हो कर ठेठ भाषा और संवादों का ठाठ दिखाई पड़ता है। जैसे कि—

चलहि धवलसेठि तुल्लावइ	तासु महिम महि अण्णु ण पावइ ।
कुमरें पुच्छिय कि कारणि महु	तुल्लावइ अक्खहु तुम्हह पढ ।
तेहि भणिउ तुहुं निर मारेव्वउ	कज्जु अप्पणउ तं सारिव्वउ । (५,१६)

वस्तुतः पात्रों के अनुकूल संवादों का समावेश इस काव्य की विशेषता है। श्रीपाल के संवाद अच्छी भाषा में शिष्ट प्रयोग है, किन्तु किकर, चण्डालों के वार्तालाप अन्तर लिये हुए हैं। यथा—

सिरिपालें जंपिउ वयणु ताम ।	
अहो धवलसेठि णियकुलमयंक,	अवहारि मज्झु सरु विगयसंक ।
किं तुव पोहण चलणेण कज्ज,	किं जीववहं तुम्हहं मणुज्ज ।
तं सुणिवि भणइ वणि पोहणाहं	हउं चाउ णटिय पूरिय वणाहं ।
मारिम णउं अण्हो कारणेण	हउं तुहुं चलावम्मि विणु जितेण । (५,१८)

संक्षेप में, संवाद न तो अधिक विस्तृत है और न बिलकुल संक्षिप्त। कही-कही इन को पढ़ने से पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। प्रसंगतः संवादों की मधुरता देखी जाती है। कुल मिला कर संवाद अच्छे हैं। रचना में उन का वैशिष्ट्य झलकता हुआ लक्षित होता है।

चरित्र-चित्रण

प्रस्तुत रचना में दो वर्गों के चरित्र दृष्टिगोचर होते हैं। एक वर्ग का प्रति-निधित्व मेनासुन्दरी और श्रीपाल करते हैं तथा दूसरे वर्ग का सुरसुन्दरी और धवल सेठ करते हैं। समूचे कथाकाव्य में श्रीपाल का चरित्र ही आदि से अन्त तक पाठकों को प्रभावित एवं आकर्षित करता है। मेनासुन्दरी का वैशिष्ट्य सब से अलग है, जो सच्ची भारतीय नारी की प्रतिमूर्ति है।

श्रीपाल

श्रीपाल राजपुत्र होने पर भी दया, क्षमा, साहस, धैर्य, शील और नम्रता आदि गुणों से विभूषित दिखाई देता है। जन्म से क्षत्रिय होने के कारण उस में जातीय

स्वाभिमान, तेज और पौरुष का जहाँ दर्प मिलता है, वहीं राजोचित शालीनता, गम्भीरता और कर्तव्यपालन की गुरुता का भी परिचय मिलता है। वह स्वभाव से मधुर और शान्त है तथा मधुरभाषी है। संकट में धवलसेठ की रक्षा करता है। उस के कंजूस मन को परख लेने पर भी उस से घृणा नहीं करता है। छल से धवलसेठ के द्वारा समुद्र में गिराये जाने पर भी धर्मपिता कह कर उसे क्षमा करता है और राजा से कह कर दण्ड देने से बचाता है। उसे पिता की भाँति सब साधन-सामग्री जुटा कर प्रदान करता है। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी श्रीपाल में घमण्ड नहीं है। वह कई कन्याओं का वरण करता है। असंख्य रत्न, घन-कंचन, दासी-दासों को प्राप्त कर लेने पर भी उस के मन में तृष्णा की ज्वाला तथा व्यर्थ का अभिमान नहीं जगता। वह सब के साथ यथोचित व्यवहार तथा कर्तव्य का पालन करता है। इसी लिए कई देशों को जीत कर जब वह घर पहुँचता है तब सब से पहले माता से मिलता है और उन के चरणों में प्रणाम करता है। श्रीपाल का व्यक्तित्व इन्हीं गुणों तक सीमित नहीं है। वह समुद्र के नगर को घेर कर स्वयं राजा को अपने पास मिलने के लिए बुलाता है। जब वे नहीं आते तो आक्रमण न कर पत्नी से राय ले कर उसे सम्मान प्रदान करता है और स्वयं राजा के दर्शन करने जाता है। नयी-नयी राजकुमारियों से विवाह होने पर भी नायक माता और पत्नी के उपकारों के प्रति कृतज्ञ तथा वास्तविक प्रेम का स्फुरण करने में उदासीन नहीं दिखाई देता। वह मैनासुन्दरी और माता के हितों का पूरा ध्यान रखता है। वर्षों के बाद पहली पत्नी से मिलने पर उस के प्रति नायक का प्रेम और भी अधिक गाढ़ा हो जाता है। और विजय का सारा श्रेय वह मैनासुन्दरी द्वारा रचित सिद्धचक्र विधान और पत्नी-सेवा को देता है। इस से श्रीपाल की विनम्रता और उदात्तता का परिचय मिलता है। यही नहीं, कबि ने श्रीपाल को सुयोग्य राजा के रूप में भी चित्रित किया है। और जो बात आदि से अन्त तक उस के जीवन में परिग्याप्त दिखाई देती है वह यह कि धर्म के प्रति उस की पूरी निष्ठा है। वह धर्म के विधिवत् पालन करने से ही अपने जीवन में सफलताएँ प्राप्त करता है। यही श्रीपाल का जीवन है।

धवलसेठ

श्रीपाल जहाँ परमार्थी है वहाँ धवल स्वार्थी। इस का चरित्र श्रीपाल से बिल्कुल विपक्ष है। वह बहुत ही कंजूस और दिल का मेला है। श्रीपाल के वैभव को देख कर उसे डाह होती है। मन से वह उसे बिल्कुल नहीं चाहता। चोर, डाकुओं से रक्षा के हेतु वह श्रीपाल को अपने पोत पर रख लेता है। और धर्म पिता इस लिए बन जाता है कि पोत चला देने के लिए उसे जिस घनराशि का वचन दिया था वह नहीं देनी पड़ेगी। सेठ जाति से वणिक् है, इस लिए धन के संग्रह में और व्यय की कमी में भलीभाँति सावधान है, जो जातीय गुण है। कर न देने के लिए बन्दी बन

सकता है, श्रीपाल से सहायता की याचना कर सकता है; पर द्रव्य भेंट करते हुए उस का मन ही मर जाता है। हाँ, श्रीपाल के घन को हड़प जाने के लिए उस का बहुत बड़ा पेट है। यही नहीं, वह अपने घर्मपुत्र की बहू को भी अपनी बना कर रखना चाहता है। यहाँ उस की कामवासना का पता चल जाता है कि वह कितना नीच है। मित्र मन्त्रियों के समक्षाने पर भी वह नहीं मानता। वह काम में कितना अन्धा है, इस का कवि ने सजीव चित्र खींचा है। श्रीपाल की पत्नियों को रिश्वाने के लिए वह हर सम्भव प्रयत्न करता है, पर उसे सफलता नहीं मिलती। राजसभा में श्रीपाल से भेंट हो जाने पर भी वह कुटिलता नहीं छोड़ता। और बिना परिणाम का विचार किये श्रीपाल की पत्नियों को निन्दा करता है और ओमो को घन देकर राजसभा में प्रचार करवाता है। इस से जहाँ सेठ की अदूरदर्शिता का पता लगता है, वहीं उस के कपट पूर्ण रहस्य का भी उद्घाटन हो जाता है। इस प्रकार कवि ने श्रीपाल और धवल सेठ के चरित्र में जातीय और वैयक्तिक गुणावगुणों पर प्रकाश डाल कर दो प्रकार के चरित्रों को उभारा है। दोनों ही विरोधी चरित्र हैं। एक दूसरे से दोनों में बहुत अन्तर है।

मैनासुन्दरी

स्त्री पार्श्व में मैनासुन्दरी का चरित्र पाठकों के मन पर सबसे अधिक प्रभाव डालने वाला है। भारतीय आदर्श नारो का चित्र पूर्णतया उसमें सजीव हो उठा है। पिता के बार-बार कहने पर भी वह पति को वरने के लिए अपने को स्वतन्त्र नहीं समझती है। क्योंकि भारतीय ललनाएँ यह भलीभाँति जानती हैं कि माता-पिता कभी उन का अहित नहीं करेंगे और फिर जितना अच्छा घर वे हूँक सकते हैं कन्या उसे कहाँ खोज सकती है? केवल रूप देव्य कर मुग्ध होने में जहाँ मन को तृप्ति मिलती है, वहीं अनेक असमर्थताओं तथा कुरूपताओं को भी सोचना समझना पड़ता है। छोटी-सी अवस्था में अनुभव की वह आँखें कहाँ मिल सकती हैं, जो सदसत् का ठीक से निर्णय कर सकें। फिर, मैनासुन्दरी जिस कर्म सिद्धान्त का पाठ पढ़ती है उसे अपने जीवन में भी भली-भाँति उतारती है। उस का दृढ़ विश्वास है कि यदि मैं भली हूँ तो जग भला है। दुःख किसी के देने से नहीं अपने कर्मों से मिलता है। संसार तो उस में निमित्त मात्र है। यही हाल सुख का है। अतएव पिता के व्यवहार से असंतुष्ट नहीं होती। पिता की आज्ञा का पालन करना वह अपना परम कर्तव्य समझती है। पति के कहने पर वह कोढ़ के डर से अलग न रह कर उनके साथ रहती है और यथासंभव सेवा करती है। अपने धार्मिक विश्वास से तथा गुह्य के द्वारा निदिष्ट मन्त्र तथा विधान का पालन कर पति के कोढ़ को दूर करती है। पति-सेवा का इस से बढ़ कर अन्य उदाहरण क्या मिलेगा। यदि सीता राम का और सावित्री सत्यवान का साथ देती है तो मैनासुन्दरी भी श्रीपाल का पूरा-पूरा साथ देती है और यथाशक्य सेवा कर पति को मीरोग बनाती

है। पति के प्रति उस के हृदय में असीम प्रेम है। श्रीपाल का मन इसे भलीभाँति जानता है इसलिए वह बारह बरस से एक दिन भी अधिक नहीं बिताता है। यही नहीं, पति से मैनासुन्दरी भी विदेश ले चलने का आग्रह करती है, पर सास के समझाने पर मान जाती है। इस से पता चलता है कि उस का स्वभाव हठी नहीं है। बड़ों की आज्ञा का पालन करती है। वह विनम्र है, शीलवती है। पति के हृदय को समझती है। उसकी धर्म में अटूट श्रद्धा है। वह कर्तव्य पालन में सदैव रत रहती है।

अन्य नारी-चरित्रों में रत्नमंजूषा का व्यक्तित्व प्रभावशाली है। संकट के समय में वह धीरज नहीं खोती है। घबलसेठ के बहकावे में न आ कर अपने शील एवं सदाचार पर दृढ़ रहती है। असत्य का सामना वह सत्य से करने में हिचकिचाती नहीं है। धर्म पर उस की आस्था अडिग है। वह हिताहित का विचार करने में विचक्षण है। यद्यपि उस का जीवन फूलों की सेजों पर पला है, पर पति के साथ काँटों पर चलने के लिए भी वह तत्पर दिखाई देती है। पति को पाने के लिए वह मृत्यु से भी आलिङ्गन करने के लिए सहर्ष तैयार हो जाती है। इस प्रकार दोनों ही पति-प्रेम के रस में सराबोर लक्षित होती है।

सुरसुन्दरी स्त्री पात्रों में मैनासुन्दरी से विपरीत विरोधी चरित्र के रूप में दिखाई पड़ती है। स्वभाव से उसे रूप का दर्प एवं अभिमान है। अपने आगे वह किसी को कुछ नहीं समझती। धर्म तथा सिद्धान्त की बातों को वह बिल्कुल नहीं मानती। पढ़ने-लिखने में भी उस का मन नहीं लगता। पिता की हानि में हानि मिला कर काम निकालने में वह चतुर है। मैनासुन्दरी से उसे ईर्ष्या है। इसी लिए जब उस का विवाह कोटी से होता है तब उसे प्रसन्नता होती है। सुरसुन्दरी के इस चरित्र में कवि ने स्त्री जाति में सुलभ रूप-भद्र, ईर्ष्या, बराबरी वाले का अपमान देख कर प्रसन्न होना, मोठी-मोठी बातें बनाने में चतुर तथा अबसर से लाभ उठाना आदि गुणावगुणों का समावेश किया है।

राजा पयपाल में राजोचित स्वाभिमान का दर्प कूट-कूट कर भरा है। अतएव वह अपनी पुत्री के अपमान को सहन नहीं करता। इस से जहाँ उस के अगाभीर्य का पता चलता है, वहीं अदूरदर्शिता भी स्पष्ट हो जाती है। संक्षेप में, इस रचना में सभी प्रकार के चरित्रों की मधुर संयोजना हुई है। कुन्दरभा जैसी माता, मैनासुन्दरी जैसी पत्नी और श्रीपाल जैसे पुत्र तथा पति का चरित्र अत्यन्त सजीव एवं आदर्श रूप में चित्रित है। भाई के रूप में अवश्य किसी आदर्श चरित्र की योजना नहीं हुई।

भावाभिर्व्यञ्जना

यद्यपि आलोच्यमान कथाकाव्य में मार्मिक स्थल बहुत कम हैं, पर भावों की यथार्थ अभिव्यक्ति तथा सजीवता उन में भरपूर है। घबल सेठ जब कोंकण द्वीप के राजदरबार में श्रीपाल को पान का बीड़ा देता हुआ देखता है तो मानो निष्ठुर वज्र से

ही आहत हो जाता है। सर्वांग से पसीना बह उठता है। एकटक वह उस का मुँह देखता रह जाता है। सभी का मन विस्मय तथा सन्देह से भर जाता है। वणिग्बर विचार करते हैं, सोचते हैं कि भयानक जलचरो से युक्त समुद्र से यह कैसे बाहर आया ? धवलसेठ किसी सेवक से श्रीपाल के सम्बन्ध में पूछता है। उस की बातों को सुन कर सेठ को यह दशा होती है, मानो श्रीपाल ने ही दौड़ कर निष्ठुर वज्र का प्रहार किया हो। किसी प्रकार से लोगों ने उसे सम्हाला। हथेली पर सिर को लटकाये वह सेठ अपने स्थान पर पहुँचता है। आत्मग्लानि से उस का चित्त भर जाता है। कवि ने उस के भावों की मार्मिक अभिव्यंजना कर भावों को ही मानो सजीवता प्रदान कर दी है।

फिर, पापी सेठ मन्त्रियों के साथ बैठा हुआ क्षण-क्षण में मन ही मन दुखी होता है। पश्चात्ताप करता हुआ वह कहता है कि मैं ने पाप के वशीभूत हो क्या कर डाला। जिस से बिना किसी कारण के उसे सागर में गिरा दिया। सो वह पुण्य से बच कर अपनी भुजाओं से सागर पार कर यहाँ आ गया। मेरा पाप ही मेरे सामने आ गया है। यहाँ से बच कर अब मैं कहाँ जाऊँ ? वह देवी तो मुझे उसी समय मार डाल रही थी, पर रत्नमंजूषा ने बचा लिया।

पुणु पाविउ तहि मंति निसण्णउं
हा मइ पावें कि विरु विहियउ
सो पुणु पुणें तिघुव्वरियउ
मज्झु पाउ महु सम्मुहु आयउ
तइ या देवहि मारिवि जंतउ

चित्तइ खणि खणि मणेण विसण्णउं।
णिक्कारणि सो सायरि णिहियउ।
विहुं भुएण दुत्तर णिइ तरियउ।
कह गच्छमि हउ एत्थ वरायउ।
मंजूसइ रक्खियउ तुरंतउ। ७, ८।

सेठ की इन भावनाओं में कितनी आत्मगर्हा और ग्लानि छिपी हुई है कि वह अब जीवित ही नहीं रहना चाहता। वस्तुतः भावों की यथार्थ एवं मार्मिक अभिव्यंजना कर कवि ने पूर्ण बिम्ब ही स्पष्ट कर दिया है। यह कवि की सब से बड़ी सफलता है। भावों के उतार-चढ़ाव के कई चित्र तथा दृश्य प्रस्तुत रचना में दिखाई देते हैं। वर्णनों की अपेक्षा कवि ने भावों के यथार्थ चित्रण में अधिक रसानुभूति अभिव्यजित की है। सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाएँ इस सहजता के साथ अभिव्यक्त हुई हैं कि रस उद्दीप्त हो कर संचार करने लगता है। रचना में कथा के तत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान है। अतएव रसान्विति में प्रभावप्रत्ययंजकता बनी हुई है। धवलसेठ और रत्नमंजूषा की भावनाओं को पढ़ कर सहज में ही उन की स्थिति का बोध हो जाता है। इसी प्रकार राजा धरपाल को यह पता चलता है कि श्रीपाल डोम सरदार का पुत्र है तो वह क्रोध से संदीप्त हो नाना विरोधी भावों से भर जाता है। डोम सरदार के हाव-भावों को देख कर राजा क्षुब्ध हो उठता है। उस के भाव मलिन हो जाते हैं। किन्तु धीरे चित्त वाला श्रीपाल तनिक भी कंपित नहीं होता। राजा को चिन्तित देख कर वह धीरे से उस के

पास जाता है। तब राजा चिल्ला पड़ता है—हे कायरों, उबारो। तुम सब क्या कह रहे हो? क्यों इतना प्रेम दर्शा रहे हो? मुझे सारी बातें बताओ, नहीं तो तुम्हारे प्राणों के खण्ड-खण्ड कर दूँगा। राजा की बातें सुन कर कोई डोम स्त्री विस्तृत विवरण सुनाती है। राजा उस के वचनों को सुन कर श्रीपाल को बुला कर पूछता है। श्रीपाल कहता है कि डोम जो कुछ बकते हैं वह क्या सब है? इन वचनों से राजा की क्रोधान्ति और भी भड़क उठती है और वह चण्डाल को बुला कर कहता है कि इस पापी को मसान में ले जा कर छेद डालो। उस समय श्रीपाल मन में चिंतित होता है। उधर यह वृत्तान्त गुणमाला सुनते ही छाती पीटने लगती है, सिर धुनती है, विलाप करती है। वह दौड़ी हुई पिता के पास आती है और कहती है कि मेरा पति सच्चा है।
(७, १२-१४)

इस प्रकार एक साथ कितने भावों का संचार इस दृश्य में लक्षित होता है। भावों की सन्धि तथा शबलता में औचित्य का पूर्ण ध्यान रखा गया है। कवि ने वातावरण के बीच भावों की इतनी सुन्दर चित्रमाला अंकित की है कि उस का प्रभाव पाठक के मन पर पड़े बिना नहीं रहता। यही नहीं, उस दृश्य की अमिट छाप सहृदय के चित्त पर अंकित हो जाती है। फिर, ऐसे प्रसंगों पर लेखक ने वर्णन में कृपणता नहीं दिखाई है। निम्न-उच्च सभी वर्ग के पात्रों के विभिन्न मनोगत भावों की पूर्ण एवं सफल अभिव्यंजना इस रचना में बन पड़ी है। मुख्य बात तो यही है कि औचित्य का पूर्ण समाहार हुआ है। अतएव रसान्विति में क्लिष्टता न हो कर रस का पूर्ण आस्वादन मिलता है।

इस काव्य में मुख्य रस शान्त है। आरम्भ से लेकर अन्त तक निर्वेद भाव बना रहता है। संसार में कर्म की प्रधानता दर्शाने के लिए ही उद्देश्य रूप में कथा की संयोजना हुई है। सिद्धचक्र-विधान का अनुष्ठान तथा व्रत का माहात्म्य स्थान-स्थान पर कवि ने बताया है। हंसद्वीप में श्रीपाल के पहुँचने पर सहस्रकूट चैत्यालय की वन्दना, चारण मुनियों का आगमन और धर्मोपदेश आदि निर्वेद भाव की प्रधानता को सूचित करते हैं, जो अन्त तक अपना प्रभाव बनाये रहता है। राजा वीरदमण श्रीपाल को सिंहासन देने के साथ ही संन्यास एवं मुनि-दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। अन्त में राजा श्रीपाल भी मुनिराज से धर्मोपदेश तथा भवान्तर के वृत्तों को सुन कर मुनि बन जाता है और घोर तपश्चर्या कर निर्वाण प्राप्त करता है। अतएव स्पष्ट ही इस में शान्तरस मुख्य है।

अन्य रसों में वीर, शृंगार, रोद्र और वीमत्स का सुन्दर परिपाक मिलता है। युद्ध-वर्णन में वीररस का सहज संचार दिखाई देता है। विवाह के प्रसंग में तथा काम-भोग की अवस्था में संयोग शृंगार का चित्रण हुआ है। इसी प्रकार वियोग काल की अनुभूतियों का भी स्वाभाविक चित्रण कवि ने किया है। वियोगविधुरा भारतीय नारी

का चित्र कितने स्वाभाविक ढंग से कवि ने दो पंक्तियों में चित्रित कर दिया है कि उस का वास्तविक रूप ही आँखों के सामने घूमने लगता है। यथा—

मलिनवर तणु स्त्रीणिय पयलिय जेतवरा ।

णाह णाम घोसंती पेच्छिय ताइ परा ॥७, १४॥

अर्थात् रत्नमंजूषा पति के वियोग में मलिन वस्त्रों को धारण किये हुए मौन बैठी थी। उस का शरीर क्षीण हो गया था। नेत्रों के पलक ही नहीं झपके थे। वह गुणमाला को पति का नाम लेते हुए देख कर उसे बार-बार देखने लगी। यहाँ पर रत्नमंजूषा अपने पति का नाम नहीं लेती है। वह अपने विरह में मौन रहती है। मुख से भी कुछ नहीं कहती है। राजसभा में जा कर पतिदेव के समक्ष ही उस की वाणी का स्फुरण होता है। यह भारतीय जीवन और साहित्य की यथार्थ अभिव्यक्ति है, जो हमें अन्य देश के जीवन तथा साहित्य में इतनी कारुणिकता के साथ नहीं मिलती। यह भारतीय साहित्य और संस्कृति की अपनी विशेषता है, जिस के विभिन्न चित्र हमें आज भी देखने-पढ़ने और सुनने को मिलते हैं। अपभ्रंश के प्रायः प्रत्येक कथाकाव्य में हमें नारी की महत्ता और उस के आदर्श रूप की गाथा चित्रित मिलती है।

वियोग-वर्णन

शोपाल के सागर में गिरते ही रत्नमंजूषा मूर्च्छित हो जाती है। बड़ी कठिनाई से बहुत देर बाद वह उठती है और नाथ-नाथ चिल्लाती है। घाड़ें मार-मार कर वह ऐसा विलाप करती है मानो नभतल ही फूट गया हो। उस की वही दशा हो गयी, जो पाला गिरने से कमलनी को हो जाती है।

उठिय णाह णाह जंपंति या ।

हा विह्व काई काई इह जायउ

मुक्कद्धाहण णं णहयलु फुट्टइ

सरकमलिणि णं हिमहय सुक्किया

हा हउं इत्थु अणाहु तुरंतरि

अणुचितिउ दुक्खु संपायउ ।

कय कम्महु महि कोइ ण छुट्टइ ।

हा हा णाह णाह कहि मुक्किया ।

किम अप्पउ धारमि पोयंतरि । (६, २१)

इस प्रकार वह तरह-तरह के विचारों तथा मनोभावनाओं को प्रकट करती हुई स्वामाविक ढंग से विलाप करती है। उसे इतनी वेदना होती है कि वह अपने-आप को सम्हालने में समर्थ नहीं होती।

एक अन्य स्थल पर हमें गुणमाला का विलाप सुनाई देता है। गुणमाला शृंगार कर रही है। अपने शरीर को उध ने भलीभाँति सजा लिया है, पर सखी के मुँह से यह सुन कर कि जिस के लिए तुम सज रही हो उन्हें राजा के आदेश से मसान घाट पर चण्डाल ले जा रहे हैं, वह मूर्च्छित हो जाती है। सण भर में उठ कर वह फिर

से मूछित हो जाती है। चेतने पर आँसुओं के प्रवाह से बलस्थल सींचती है। वह कहती है कि हे स्वामी सच-सच कहो, जिस से मेरे प्राण दुःख से न निकल सकें।

पेच्छिवि णाह्ण सुंदरि मुच्छिय पडिय खणे
हाहारउ पुरि बडिउड मिलिय समणजणे ।
पुणुउ मुच्छिवि सामिहु मुच्छइ ससिवयणी
अमुपवाहें सिचिय उरयलुमयणयणी ।
जिम न पाण पमेल्लिवि महदुक्खेण पहु
तामहु वल्लह अवसहि सच्चउं वयणलहु । (७, १४)

उक्त वर्णन में हमें कवि की स्वानुभूति मूलक विरह की अतिशयता लक्षित नहीं होती, वरन् नारी जाति का स्वाभाविक हाहाकार ही मिलता है, जो सहजता के साथ अपनी कष्टावस्था का मार्मिक चित्र उद्बुद्ध करता है। अतएव इस में विरह की वह सघनता और गम्भीरता नहीं आने पायी है, जो मनुष्य के हृदय को छू कर उसे तरल तथा द्रवित बना देती है।

काव्य में रौद्र रस की अभिव्यंजना दो स्थलों पर हुई है। पहला स्थल तो वह है जहाँ राजा चण्डाल को क्रोध में भर कर श्रीपाल का वध करने का आदेश देता है— और दूसरा वह है जहाँ राजा पयपाल श्रीपाल के दूत को क्रोध के आवेश में मारने को तैयार हो जाता है। इसी प्रकार श्रीपाल के कोढ़ के वर्णन में बीभत्स रस का स्फुरण हुआ है। कुल मिला कर भावाभिव्यंजना में रचना साधारण तथा कथा की मधुरिमा से मण्डित है। इस में भ० क० की भाँति संप्रेष्य बिम्बों का विधान तथा मूर्तामूर्त-योजना तो अवश्य नहीं है, पर अनुभूति की संवेदनात्मकता भावानुभावों में मलीभाँति लक्षित होती है। यही इस कथाकाव्य की विशेषता है।

अलंकार-योजना

श्रीपाल कथा में अलंकारों का स्वाभाविक सौन्दर्य अपनी सहजता से हृदयग्राही तथा मनोरम है। सादृश्यमूलक अलंकारों का ही विधान इस में दृष्टिगोचर होता है। कुछ मुख्य अलंकार निम्नलिखित हैं।

उवयारें सोहइ णरसरीर, जिह रयणे सोहइ कणउ भव्वु । (५, १०)

(उदाहरण)

अर्थात् उपकार से मनुष्य तन बैसे ही शोभा पाता है जैसे कि रतन में लगा हुआ सोना भव्य जान पड़ता है।

यहाँ पर शरीर की शोभा उपकार से है—इस सामान्य अर्थ को उदाहरण से पुष्ट किया गया है, इस लिए उदाहरण अलंकार है। यह बोलचाल की भाषा का अलंकार है। इस का प्रयोग अत्यन्त व्यापक है। ऐसे अलंकार लोकतत्त्व को सूचित करते

हैं। उदाहरण की झड़ी ही इस रचना में लगी हुई मिलती है। यथा—जिस प्रकार से ध्रुवतारा गगनतल में द्धर से उधर नहीं चलता उसी प्रकार पानी से भरे हुए समुद्र में भी बाह्यन नहीं बहे। जिस प्रकार बिना त्याग के यश नहीं चलता, बिना पवन के पेड़ नहीं हिलता, बिना पुत्र के कुल सुखकारक नहीं होता, बिना बुद्धि के शास्त्र का विचार नहीं होता, पर स्त्री के संग से जैसे शील की रक्षा नहीं होती, गुरु की आज्ञा भग करने से जैसे ज्ञान रक्षित नहीं रहता, बिना राजा के सेना नहीं बढ़ती, बिना सत्य के व्यवहार नहीं चलता, बिना स्त्री के गृहस्थ धर्म नहीं पलता, जिस प्रकार अविवेक युक्त होने पर संयम का पालन नहीं होता उसी प्रकार बाह्यगण भी कही चलने को समर्थ नहीं हुए। (६, १३-१४)

विणु देहिं जिम धम्म सुहासिउ विणु मंतिं जिम रज्जु पउत्तउ ।
विणु बेरमों जिम तउ विसउ विणु पुत्तों जिम कुलु सुहयारउ ।

(विनोक्ति)

यहाँ धर्म आदि के बिना शरीर आदि की शोभाहीनता कही गयी है।
इय णिसुणिवि पुणु दूउं वुत्तउ देव म वोल्लहि अयणु अजुत्तउ ।
कि पंचाणणु गएण हणिज्जइ कि कम्मं जिणवर वसि किज्जइ ।

(काव्यलिङ्ग)

अर्थात् यह सुन कर दूत बोला कि हे देव, ऐसे अनुचित वचन आप मत बोलिए। क्या हाथी सिंह को पछाड़ सकता है? क्या कर्मों से जिनवर को बश किया जा सकता है? यहाँ पर वाक्यार्थमूलक काव्यलिङ्ग है।

इन के अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास, अनुमान, उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा आदि मुख्य अलंकारों का प्रयोग हुआ है। रचना में उत्प्रेक्षा की तो प्रचुरता ही दिखाई देती है। कई नयी-नयी तथा सटीक उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग कवि ने किया है। बात-बात में उत्प्रेक्षा कवि की कल्पना को उभारती ललित होती है। जैसे कि—

त सुणेवि सिरिपालु अभउ लहु ।

चडिउ बंससिरि दिसउ णिहालइ ण कम्मं रोविउ विग्घालइ । (६, २०)

अर्थात् धवलसेठ की बातों को सुन कर दिशाओं को देखता हुआ श्रीपाल उस बाँस के सिरे पर चढ़ गया मानो कर्मों ने ही विघ्नो के घर पर चढ़ा दिया हो। ऐसे उदाहरणों से रचना भरी पड़ी है। इस से की कवि लोकप्रवृत्ति तथा कल्पना की उन्मुक्तता का पता लगता है। अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यों में कल्पना की नित नूतनता और उपमानों का नया प्रयोग दिखाई पड़ता है। यद्यपि कहीं-कहीं पुरानी लीक का ही अनुसरण दृष्टिगोचर होता है, पर कवि की मौलिकता की छाप भी भलीभाँति दृष्टिगत होती है।

छन्द-विधान

अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों की भाँति आलोच्यमान कवाकाव्य में पढ़ड़िया छन्द का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। समग्र ग्रन्थ पढ़ड़ियावन्ध है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। अपभ्रंश में इस का बहुत प्रयोग देखा जाता है। संस्कृत कविता बहुत कम पढ़ड़िया या पञ्जटिका अथवा पद्धति छन्द में लिखी गयी। आ० हेमचन्द्र के अनुसार इस छन्द में पाद के अन्त में अनुप्रास का होना आवश्यक है^१। इस के कई भेद कहे गये हैं। आ० स्वयम्भू ने भी उल्लेख किया है कि पढ़ड़िया सोलह मात्राओं का छन्द होता है। यथा—

सुरसुंदरी गामा पठम उत्त सिवधम्मलीण अविबैह जुत्त ।
णिय जणणिहु सत्थे कुगुरुदेउ आराहिउ णिरु संसारहेउ । (१, ११)

यहाँ चारो चरणो में सोलह-सोलह मात्राएँ तथा पाद के अन्त में अनुप्रास है। अन्य छन्दों में चारु, मदनावतार, दोहा, गाथा, पद्यावती, मौक्तिकदाम्नी आदि मात्रिक वृत्तो का प्रयोग हुआ है। चारु छन्द में प्रत्येक चरण में दस मात्राएँ होती हैं^२। उदाहरण है—

सोहगसुंदरी, गामे गुणव्धरी । (१, १०)

यह सम द्विपदी वृत्त है। पाँचवी मात्रा पर यति है। इस का दूसरा नाम ललतक भी है। पद्यावती समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बत्तीस मात्राएँ होती हैं। इस का उदाहरण है—

तं जिणवरमंदिरु णयणाणदिरु दिठउ तें क्षपियउ णिरु ।
हा हा कि कारणु कुसइ णिवारणु जिणहरवारु जि विणु विरु । (६, ३)

मौक्तिकदाम्नी समद्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में बत्तीस मात्राएँ होती हैं। यह स्कन्धक के समान कहा गया है^३। उदाहरण है—

हा पोहणचालण तवकरपालण उग्घाडण जिणमंदिरहो ।
भो महू मणरंजणु अरियणभंजण सउज्जण णयणाणविरहो । (६, २२)

इस प्रकार प्रस्तुत काव्य में अधिकतर मात्रिकवृत्तों का ही प्रयोग मिलता है। पढ़ड़िया तो संस्कृत में अपभ्रंश से गया हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि पदान्तानुप्रास

१. 'चरणचतुष्टय पादान्तेऽनुप्रासे सति पद्धति । अपभ्रंशे चास्या भूयसा प्रयोग' ।

—छन्दोऽनुशासन, ३, ७३ ।

२. 'पौ चारु' । द्विती पंचमात्री चारु । छन्दोऽनुशासन, ७, ७१ ।

३. 'यन्मात्रचतुर्मात्रपदकं द्विमात्रचरयेभिमात्रागणैः कृतेष्वेषु स्कन्धकसामाविषु त्रिषु स्त्रीत्वं स्त्रीतिङ् शब्दाभिधेयत्वं । स्कन्धकसमा, मौक्तिकदाम्नी, नवकदलीपमा चेत्यर्थः । यति' सेब । बही, ७, २१ ।

तथा पद्धट्टियाबन्ध की रचना अपभ्रंश काव्यों की मुख्य प्रवृत्ति रही है। अधिकांश अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्य पद्धट्टिया शैली में लिखे हुए मिलते हैं। पं० रघू का यह काव्य भी इसी शैली का है। वस्तुतः अपभ्रंश काव्यों की शैली तथा अलंकारों का विधान छन्द-योजना के अन्तर्गत हुआ जान पड़ता है। अन्यानुप्रास तथा यमक और पद्धट्टिया-कडवक बन्ध की रचना से यह स्पष्ट हो जाता है। यथार्थ में अपभ्रंश की कविता में छन्दो का विशेष महत्त्व है। भावों के अनुसार, ताल और लय से समन्वित कई देशी छन्द भी इस में मिलते हैं, जिन का नाम तथा लक्षण ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता।

भाषा तथा शैली

श्रीपालकथा की भाषा सरल तथा चलती हुई है। तत्कालीन लोक भाषा का प्रभाव इस रचना पर लक्षित होता है। वाक्य-रचना और नाम-रूपों को देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाषा साहित्य से प्रभावापन्न होने पर भी लोक के निकट है। उदाहरण के लिए—णियहत्थें छोडिय गुणालें, तं सुणेवि ते चोर णिकठा, सिरि-पालहु पुण सरणि पइठा, आदि वाक्यों में लोक बोली की झलक मिलती है। रचना में छट्टइ, बोइयउ, छुटो, छुट्टइ, फुट्टइ, दोसिया, बोसिया, चडइ, चडाविया, छंडिउ, उठयउ, पुज्जियउ, आय, गय आदि क्रियाएँ लोक भाषा से मिलती-जुलती हैं। इसी प्रकार कोडिउ, छप्पयरवाला, डुल्लिय, भुल्लिय, मेल्लिय, पलोट्टइ (लोटना), खीर, अंसु, एकल्लउ, झलझलिय, फिरि, फिरि फिरि, को, जो, सो, कोइ, जहि, छिप्पइ आदि शब्द-रूपों पर देशीयन स्पष्ट झलकता है। अतएव अनुकरणात्मक शब्द भी रचना में विरल नहीं हैं। संक्षेप में, आलोच्यमान काव्य की भाषा सरल अपभ्रंश है, जिस में कहीं-कहीं लोक बोली का प्रभाव लक्षित होता है। वैसे भाषा न तो साहित्यिक ही है और न बोलचाल की। भ० क० की भाँति यह बीच की भाषा भी नहीं है। चलती से यही अभिप्राय है कि सीधी-सादी अपभ्रंश में यह रचना लिखी गयी है। शब्द-रूपों में सरलता तथा वाक्य-रचना स्वच्छ है। ग्रन्थ की श्लोकसंख्या लगभग दो हजार है। इस दृष्टि से यह आकार में बड़ी रचना नहीं है, पर वर्ण्य विषय से काव्य की समग्रता का आभास मिल जाता है। यह काव्य अपभ्रंश प्रबन्ध काव्य की प्रसिद्ध पद्धट्टिया शैली में लिखा गया है। रचना दस सन्धियों में तथा कडवकों में निबद्ध है। कडवक पद्धट्टियाबद्ध है। साधारणतः एक कडवक में दस पंक्तियाँ और एक घत्ता है। घत्ता के आरम्भ में और अन्त में भी कहीं-कहीं दोहा मिलता है। किसी-किसी कडवक का आरम्भ ही दोहे से होता है। पं० रघू की शैली प्रसाद गुण से युक्त प्रवाहपूर्ण है। अपभ्रंश के कवियों में उन का अपना अलग व्यक्तित्व है, जो स्पष्टता और सरलता लिये हुए है। कठिन से कठिन विषय को सरलता से कहने का गुण कवि का वैशिष्ट्य है। वस्तुतः प्रसाद गुण तथा वैदर्भी रीति के कारण रचना प्रभावपूर्ण बन पड़ी है।

सिद्धचक्रकथा

कवि का परिचय

कवि के सम्बन्ध में अभी तक निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। स्वयं कवि के लिखे अनुसार नरसेन रचित सिद्धचक्रकथा का प्रमाण मिलता है। जिनरत्नकोश में इस अपभ्रंश रचना के लेखक नरदेव और नरसेन को अलग-अलग कहा गया है, किन्तु वे दोनों एक ही हैं। लेखक का शुद्ध नाम नरदेव न हो कर नरसेन है। अलग से नरदेव की सिद्धचक्र या श्रीपालकथा नामक कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। अतएव हमारी समझ में दोनों लेखक एक ही हैं। रचना से तथा चौबीसी बन्दना से स्पष्ट है कि लेखक जैन था। इस रचना में वर्णित सिद्धचक्रव्रत की विधि दिगम्बर सम्प्रदाय से अनुमोदित है। सम्भवतः लेखक उत्तरप्रदेश के किसी स्थान का रहा होगा। कथा की भाषा से इतना ही अनुमान लगाया जा सकता है।

समय

इस कथाकाव्य की सब से प्राचीन प्रति वि० सं० १५१२ की मिलती है, जो जयपुर के आमेर शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है। इस से पता चलता है कि कम से कम सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ही यह रचना लिखी जा चुकी होगी। अनुमानतः कवि का समय चौदहवीं शताब्दी कहा जा सकता है। पं० रघू और नरसेन की श्रीपाल-कथा के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत रचना रघू के पूर्व की लिखी हुई है।

गुर्जर देश के कवि धनपाल द्वितीय ने “बाहुबलिचरित” में नरदेव का उल्लेख किया है। यथा—

णवयारणेहु णरदेव वुत्तु

कइ असग विहिउ वरहो चरित्तु ।

बाहुबलिचरित पन्द्रहवीं शताब्दी (वि० सं० १४५४) की रचना है। अतएव नरदेव का समय चौदहवीं शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता। कवि के नरसेनदेव, नहसेन, नरदेव आदि नाम लिखे हुए मिलते हैं।

रचनाएँ

अभी तक कवि की लिखी हुई तीन रचनाओं का पता लगा है जो इस प्रकार हैं—सिद्धचक्रकथा, बर्द्धमानकथा और जिनरात्रिविधानकथा।

१. सिद्धचक्रकविहि रघूय महं णरसेणु भणइ निय सत्तिए ।
भविण्य जण आणंदये करिणि जिणेसर भत्तिए ॥ २, ३६ ।

कथावस्तु

उज्जैन नगरी में राजा पयपाल (प्रजापाल) राज्य करता था । उस की रानी का नाम सुरसुन्दरी था । राजा की बड़ी कन्या सुरसुन्दरी और छोटी मैनासुन्दरी थी । छोटी कन्या पढ़ने में तेज और सुन्दर थी । एक बार पढ़-लिख लेने पर राजा ने बड़ी कन्या से वर माँगने को कहा । उस ने कौशाम्बी के राजकुमार सिंहस्थ को वर लिया । जब छोटी कन्या ने मुनिवर समाधिगुप्त के पास सकल शास्त्रों को पढ़ लिया तब राजा ने उसे अपने निवट बुला कर वर माँगने को कहा । पहले तो वह चुप रही, फिर काँपते मन से बोली कि जिसे आप उचित समझें उस से विवाह कर दें । कन्या तो माँ-बाप पर निर्भर रहती है । फिर, जो कर्म में लिखा होगा उसे कौन मेट सकता है । राजा उस की इन बातों से क्रुद्ध हो जाता है । क्रोध में भर कर राजा जैसे ही नगर के बाहर पहुँचता है उसे कोढ़ी राजा आता हुआ दिखाई देता है । राजा उसे मैनासुन्दरी के योग्य समझ कर मन्त्रियों को आदेश दे देता है । दोनों का विवाह हो जाता है । किन्तु विवाह हो जाने पर राजा को पश्चात्ताप होता है । उज्जैन नगरी में पाँच सौ मन्दिर थे । श्रीपाल के साथ के कोढ़ी वही रहने लगे । इसी समय सीमासन्धि का युद्ध आ पड़ा । मरहटा और सोरठ देश के युवराज सेना ले कर आ पहुँचे । किन्तु राजा उन्हें अंग देश तक खदेड़ कर ले गया, जहाँ चम्पा देश के राजा अरिदमन वासन कर रहे थे । राजा बाड़ीवाहन के कुल में उत्पन्न अरिदमन की रानी कुन्दप्रभा श्रीपाल की माता थी । माता को आया हुआ देख कर श्रीपाल ने विनय का पालन किया । एक दिन मैनासुन्दरी अपने गुरु एवं मुनिवर समाधिगुप्त से कुछव्याधि दूर करने के लिए सिद्धचक्र व्रत ग्रहण करती है । इस विधान की पूजा तथा व्रत से श्रीपाल का कुछ दूर हो जाता है । अन्य कोढ़ी भी गन्धोदक लगाने से अच्छे हो जाते हैं । लोगो को यह कहते सुन कर कि यह राजा का जमाई है, श्रीपाल मन ही मन दुखी होता है और बारह बरस के लिए विदेश-यात्रा के लिए निश्चय कर लेता है । श्रीपाल की माता तो तैयार हो जाती है, पर पत्नी उसे नहीं जाने देती । अन्त में माता का उपदेश ग्रहण कर श्रीपाल सात सौ अंगरक्षकों के साथ वहाँ से चल पड़ता है । कई देशों तथा नगरों में विहार करता हुआ वह वत्स देश में पहुँचता है । वहाँ श्रीपाल को पकड़ कर समुद्र तट पर ले जाते हैं और बलि देने के लिए चन्दन से चर्चित कर उस की पूजा करते हैं । श्रीपाल धवल सेठ के पाँच सौ जहाजों को स्थिर देख कर कहता है कि तुम्हारे दस हजार वीर हैं इसलिए यदि इतने ही सिक्के दो तो मैं इन्हे चला सकता हूँ । सेठ तैयार हो जाता है । जहाज चल पड़ते हैं ।

श्रीपाल उन सब के साथ यात्रा करता है । वे सब रत्नद्वीप पहुँचते हैं । हवा के जोर से जहाज उलटे चलते हैं, जहाँ एक लाख चोरों का बल बाधा मारता है । धवल सेठ बाँध लिया जाता है । दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध होता है । अन्त में श्रीपाल के पास सेवक दौड़ा आता है । वह सेठ को छुड़ाता है । वहाँ से माणिक-रत्नों

को ले कर वे सिंहद्वीप में पहुँचते हैं। उस समय वहाँ का राजा कनककेतु विद्याधर था। उस की रानी का नाम कनकमाला था। उस के तीन कन्याएँ थीं। सब से छोटी का नाम रत्नमंजूषा था। एक बार मुनिराज ने बताया कि जो सहलकूट चैत्यालय के फाटक खोल देगा वही इस कन्या का पति होगा। श्रीपाल वहाँ दर्शन के लिए जाता है और उन के देखते ही किबाड़ खुल जाते हैं। राजा समाचार पा कर अपनी पुत्री श्रीपाल को परणा देता है। कुछ दिन वहाँ रहने के बाद श्रीपाल साधियों के साथ जहाज में बैठ कर स्वदेश के लिए चल पड़ता है। जबल सेठ रत्नमंजूषा के लावण्य को देख कर काम से पीड़ित हो जाता है। वह मन्त्रियों से मन्त्रणा कर उन्हें राय देता है कि मैं तुम्हें लाख दाम देता हूँ तुम उछलते हुए मच्छों की घोषणा कर किसी प्रकार श्रीपाल को बाँस पर चढ़ा दो और रस्सी काट दो, जिस से वह पानी में गिर पड़े। लोग हल्ला मचाते हैं कि मच्छ आया और श्रीपाल जैसे ही उसे देखने को ऊपर चढ़ता है, नीचे से रस्सी काट दी जाती है। रत्नमंजूषा विलाप करती है। उसे मन ही मन बड़ा पश्चात्ताप होता है कि बाप ने परदेन मे मुझे क्यों व्याह दिया। सेठ उस के पास दूती भेजता है। वह दुतकार देती है। तब स्वयं सेठ हाथ जोड़ कर उस के पैरों पर गिर कर मनाता है। वह उसे भी फटकारती है। देवता का स्मरण करती है। मान-भद्र यक्ष और चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती, रोहिणी और ज्वालामालिनी आदि देवियाँ आ कर सेठ का मुँह लहलुहान कर अन्धा कर देती हैं और दोनों हाथों को पीछे बाँध देती हैं। तब रत्नमंजूषा मना कर उसे छुड़ाती है।

श्रीपाल तैरता हुआ दलवट्टण (दलपट्टन) नाम के नगर में पहुँचता है। वहाँ का राजा धनपाल अपनी रानी वनमाला से उत्पन्न गुणमाला को मुनि के बचनों के अनुसार श्रीपाल को परणा देता है। वह राजा के साथ वहीं राज्य करता है। इतने में संयोग से जबलसेठ के जहाज भी वही आ लगते हैं। सेठ राजसभा में भेंट ले कर जाता है। वहाँ श्रीपाल को देख कर लाख दाम मे डोमों को तैयार करता है। वे इन्द्रजाल दिखा कर श्रीपाल को अपना पुत्र घोषित करते हैं। राजा श्रीपाल को बध करने की आज्ञा देता है। श्रीपाल गुणमाला को रत्नमंजूषा के पास भेजता है। रत्नमंजूषा राजा को सब वृत्तान्त सुनाती है। राजा श्रीपाल से क्षमा माँगता है। राजा सेठ को मारने की आज्ञा देता है। किन्तु श्रीपाल उसे धर्मपिता कह कर बचा लेता है। उस का स्वागत किया जाता है। सेठ अपने कर्मों से पर-स्त्री लम्पट होने से अन्त मे मर कर नरक गति को प्राप्त करता है।

गुणमाला और रत्नमंजूषा के साथ श्रीपाल सुखोपभोग करते हैं। एक दिन एक बणिग्वर वहाँ आता है। कुण्डलपुर मे स्थित राजा मकरकेतु और रानी कपूर-तिलक की पुत्री चित्रलेखा के रूप तथा गुण के सम्बन्ध में विस्तार से बताता है। श्रीपाल उस की बातों से प्रभावित हो कर दूसरे ही दिन कुण्डलपुर के लिए चल पड़ता है। वह नाच-गान के साथ बाजा बजाने मे जगरेखा, सुरेखा, गुणरेखा, मनरेखा, रम्भा,

भोगमती और रतिरेखा को विजित कर चित्रलेखा के साथ सब का पाणिग्रहण करता है। कुछ समय बाद वहाँ एक व्यक्ति पहुँचता है, जो श्रीपाल को कंचनपुर के राजा वज्रसेन और रानी कंचनमाला की कन्या विलासमती के सम्बन्ध में बहुत कुछ बताता है। श्रीपाल वहाँ जाता है। कन्या विलासमती के साथ उस का पाणिग्रहण संस्कार होता है। कुछ दिन वहाँ राज्य करने के बाद श्रीपाल वहाँ से प्रस्थान करता है। वह ठाणा कोकण द्वीप में पहुँचता है। वहाँ का राजा विजय अत्यन्त प्रसिद्ध था। उस की अत्यन्त सुन्दर चौरासी रानियाँ थी। यशमाला पटरानी थी। उस राजा की सोलह सौ विदग्ध कन्याएँ थी। उन कन्याओं में गोरी सब से बड़ी थी। उन सब की समस्या-पूति में जीत कर श्रीपाल परणा लेता है। उन सभी पत्नियों को ले कर श्रीपाल उज्जैनी के लिए चल पड़ता है। मार्ग में सात सौ कुमारियाँ मल्लिवाड की, हजार तैलंग की, पाँच सौ सोरठ की, पाँच सौ महाराष्ट्र की और सवा लाख गुजरात की तथा चार सौ मेवाड़ की परणा लेता है। छियानवे कन्याएँ वह समर, पुलिद, भील, खस और बम्बर की लेता है। इस प्रकार श्रीपाल दल-बल के साथ उज्जैन नगरी में बारह बरसों के बाद लौट कर पहुँचता है।

सेना को वह कटक में छोड़ कर अकेला घर पहुँचता है। मैनासुन्दरी सास से दीक्षा-ग्रहण करने की चर्चा करती है। श्रीपाल उस की बातों को सुन कर क्षत से द्वार खोल कर भीतर प्रवेश करते हैं। फिर, श्रीपाल सभी पत्नियों को बुलवाता है। वे सास तथा मैनासुन्दरी के पैरो पर पड़ती हैं। श्रीपाल की सेना चारों ओर से नगरी घेर लेती है। राजा पयपालु के पास दूत जाता है। राजा कम्बल पहन कर कुल्हाड़ी ले कर मेंट करने जाता है। श्रीपाल सम्मान करता है। फिर, कुछ दिनों के बाद श्रीपाल चम्पानगरी के लिए प्रस्थान करता है। काका वीरदमण से उस का युद्ध होता है। श्रीपाल राजा बनता है। वीरदमण मुनि बन जाता है। बहुत समय तक राज्य करने के उपरान्त श्रीपाल भी मुनि-दीक्षा ग्रहण करता है और घोर तपस्या कर निर्वाण-लाभ करता है।

प्रबन्ध-रचना

यद्यपि पं० नरसेन की सि० क० दो सन्धियों की रचना है, किन्तु बन्ध की दृष्टि से यह लघुकाव्य प्रबन्ध काव्य है। वर्ण्य विषय पं० रघू की सि० क० के तुल्य है। वर्णन अवश्य कम और संक्षिप्त है, पर लगभग सभी मुख्य वर्णनीय बातों का समावेश हुआ है। वस्तुतः श्रीपालकथा विषयक दोनों रचनाएँ पौराणिक निबन्ध में अनुस्यूत हैं, जिन में साहित्यिक रुढ़ियों का समावेश कम, पर पौराणिक बातों का उल्लेख विशेष है। उदाहरण के लिए अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में मिलने वाली काव्य-रुढ़ियों में से मंगलाचरण और आरम्भोत्प्रेष के अतिरिक्त अन्य बातें इस काव्य में नहीं मिलती। किन्तु विपुलाबल पर स्थित महावीर स्वामी के समवशरण में राजा श्रेणिक का वन्दना

करने के लिए जाना और यथास्थान बैठ कर इस कथा को तथा माहात्म्य को सुनने का विवरण दोनों में समान है।

घटनाओं के संक्षिप्त विवरण तथा नाटकीय सन्धियों की योजना में कवि ने विशेष प्रबन्धपटुता का परिचय न देकर स्वाभाविकता को अभिव्यक्त किया है। इस लिए घटनाएँ सहज रूप में गतिशील लक्षित होती हैं। उन में कवि ने अपने प्रतिभा का उपयोग न दर्शा कर एक आख्यान को ही प्रबन्ध का रूप देने का यत्न किया है। अतएव घटनाओं में कार्य-कारण योजना तथा शृंखला रूप में कई छोटे-छोटे वृत्त जुड़े हुए मिलते हैं। आधिकारिक कथा में पूर्ण प्रवाह और गतिशीलता है। किसी प्रकार का गत्यवरोध उस में नहीं मिलता। प्रासंगिक कथाएँ तो नहीं, पर घटनाओं तथा वृत्तों की योजना अवश्य हुई है, जो मुख्य कथा के प्रेरक हैं। स्पष्ट ही पताका नायक और पताका कथाओं की संयोजना इस काव्य में नहीं है। आदि से अन्त तक नायिका और नायक कथा के केन्द्रबिन्दु हैं और विभिन्न घटनाएँ उन के जीवन की आशा-निराशाओं से संबलित एवं प्रभावोत्पादक विललाई पड़ती हैं।

इस प्रकार वस्तु एवं विषय की रचना में यह कथाकाव्य साधारण रूप से निरवयव कहा जा सकता है। कवि यदि चाहता तो इस कथा को और भी अच्छा रूप दे सकता था, पर अपने आप में यह इतनी स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है कि इस के अन्य रूप पर सहसा ध्यान आकर्षित नहीं होता।

संक्षेप में, वस्तु, विषय और संघटना की दृष्टि से अल्पकाय होने पर भी यह प्रबन्ध की कोटि की रचना है, जिसे एकार्थक काव्य कहा जा सकता है।^१

वस्तु-वर्णन

आलोच्यमान काव्य में कथा उद्देश्य विशेष से नियोजित है। कवि ने इसे सिद्धचक्र कथा कहा है।^२ इस में सिद्धचक्र के माहात्म्य एवं फल का वर्णन है।^३ चौबीसी वन्दना के अनन्तर विपुलाचल पर महावीर स्वामी का आगमन तथा राजा श्रेणिक का वन्दना के लिए जाने का वर्णन है। यथास्थान बैठने के बाद गौतम गणवर से राजा श्रेणिक सिद्धचक्र का फल पूछते हैं और उन्हें यह कथा सुनाई जाती है। वस्तु-वर्णन में सब से पहले उज्जैनी नगरी का वर्णन है। कवि उस की शोभा का तथा सुख-समृद्धि का वर्णन करता हुआ कहता है कि वह ऐसी जान पड़ती है मानो अमरावती ही जिसक कर घरती पर आ पड़े हो।

उज्जैणि णयरि तहिं पयडि धिय

कणयरयण कोडिहि जडिय ।

वलिवंडधरंतहं सुरवरहं

अमरावड्ढं खसि पडिय ॥१,४॥

१ भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्जिह्वतम् ।

एकार्थपदार्थः पद्यः सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥ सा० २०, ६, ३२८ ।

२. सा भगवद् मनु होउ पसणी

सिद्धचक्रकह कह उरवणी ॥१,१॥

३. पुछइ सेणिज और जिनेसर

सिद्धचक्रकलु कहि परमेसर ॥१,२॥

फिर, कोढ़ियों के दल का वर्णन है। किस प्रकार से अपने राजा पर चमर डुलाते हुए, घण्टा और सिंगीनाद करते हुए गलित नासा करचरणगुलि वाले कोढ़ी चले आ रहे थे—इसका स्वाभाविक वर्णन हुआ है। अनन्तर विवाह का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है।

विवाह-वर्णन

उस समय का दृश्य बड़ा विचित्र जान पड़ता है जब अन्तःपुर की स्त्रियाँ कोढ़ी राजा को देख कर रो पड़ती हैं। इधर मांगलिक गीत गाये जाते हैं, बाजे बजते हैं और उधर माता तथा बहिन आदि रोती हैं।

वज्रद मंदलु गिज्जद मंगलु णारीयणु जण करहि अमंगलु ।
माय बहिणि रोवंति णिवारइ विहिण विहियउ को किरवारइ । १, १४।
मेनासुन्दरी उन्हें समझाती है। लोग भी अमंगल का निवारण करते हैं।

शान्ति के लिए ब्राह्मण वेद-पाठ करते हैं। हवन किया जाता है। श्रीपाल के सिर पर मुकुट बांधा जाता है। मानो एक छत्र राज्य ही बाँध दिया गया है। मेनासुन्दरी का भी शृंगार किया जाता है। उत्सव के साथ विवाह होता है।

बंभण वेय पढतह संतहं अइ हव मंगल चाव करंतहं ।
सिरि सिरिपालहु मउडु णिबडउ एयछत्तु ण रज्जु णिबडउ ।
करकंकणु उरयलि हाराबलि करइ रज्जु जिम सधर घरायलि ।
मुढी वीसंगुलि विण्णिय तहु जिम विलसइ पुहविय समुहलहु ।
सिद्धचक्कफल पुण्ण पहावें परिणिय कण्णारयणच्छावें । १, १४।

यात्रा-वर्णन

श्रीपाल के यात्रा करने के पूर्व माता उपदेश देती है। फिर, मांगलिक क्रियाओं से पुत्र की अर्चना करती है, आरती उतारती है। सात सौ अंगरक्षकों के साथ चतुरंगी सेना ले कर श्रीपाल यात्रा करता है। अनेक देगो, नगरो में विहार करता हुआ, बड़े-बड़े सरोवर, नदी-घाट, पर्वत लौघता हुआ वह बत्स नगर में पहुँचता है।

माय धरिणि विण्णिवि संबोहिवि अंगरक्ख सयसत्त विबोहिवि ।
साहसकोडिभडहं आसधिवि गउ पायार सत्त नहु लंघिवि ।
णाणा वेस णयर विहरंतउ सरि सरवर पक्खय लंघंतउ ।
गउ भडु वळणयर वेसनलउ धवलु सेट्ठि जिहि अवगुणमालउ । १, २४।

समुद्र-यात्रा का वर्णन

श्रीपाल धवलसेठ के साथ समुद्र के किनारे जाता है। वह पाँच सौ जहाजों को चला देता है। बाजे बजाये जाते हैं। जलदेवता का पूजन करते हैं। तुरन्त

ही वे जहाज धरती छोड़ कर ऐसे चलने लगते हैं मानो आकाश के घुल जाने पर सूर्य-चन्द्र का तेज सहन करते हुए उड्डुगण चल रहे हों। सभी लोग मुद्गर निकाल कर संचार करते हैं। जहाज के बीचों बीच बाँस गाड़ते हैं। माथे पर लोहे की टोपरी लगाते हैं, जिससे बन्ध पक्षी माथा न नोँच सकें। आनन्द से भरे हुए वणिक् लोग चले जा रहे हैं। समुद्र में जल की किलोनों से तरंगें छूट रही हैं। हवा के बहाव में पोत बहते जा रहे हैं। इतने में ही लाख चोर उन के जहाज की ओर दौड़े आते हैं।

पंचसयई जलजाणइ रयण समानई
णं णहयलि धुलियई उड्डुगण चलियई
मुग्गर कड्डेविणु संचारिय
मज्झु बंसु रोपिउ उक्किट्टउ
लोह टोपरी मत्थे अच्छई
गहगहाइ चालहि बाणिज्जहि
चलिउ सत्थु सहु जाणा कडउ
वायूवसेण चलंति परोहण

सायर मज्झि तरंति किह।
ससिरवि तेउ सहंति जिह।
वावस पडिवाई ओसारिय।
तहि चडेवि मर जियावड्डउ।
णत भेरंड चिडउ गलगच्छइ।
रयणवीव उप्परहि मणोज्जहि।
जलकल्लोलतरंगह छूटउ।

लक्खु चोर तहि घाया मोहण । १, २६।

इन वर्णनों को पढ़ने से लगता है कि कवि ने इतिवृत्त को घटनाओं के साथ प्रसाद एवं मधुर शैली में इस ढंग से ढाल दिया है कि पढ़ते ही स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है। अतएव इतिवृत्त प्रधान होने पर भी वर्णन सरस तथा सजीव हैं। घटनाओं के बीच वातावरण उत्पन्न करने में लेखक अत्यन्त कुशल जान पड़ता है। विवरण और वर्णन का अद्भुत मेल इस रचना की पहली विशेषता है।

युद्ध-वर्णन

युद्ध-वर्णन अत्यन्त सजीव तथा प्रेरक है। पढ़ते ही हृदय उछलने लगता है। यह वर्णन मुख्य रूप से दो स्थलों पर लक्षित होता है। पहला स्थल वह है जहाँ चोरों में और धवलसेठ के सैनिकों में युद्ध होता है और दूसरे में श्रीपाल तथा बीरदमण का युद्ध वर्णित है। चोर लोग जहाज पर घावा बोल कर धवलसेठ को बन्दी बना लेते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में उसी का वर्णन है। दोनों ओर से डट कर युद्ध होता है। वर्णन सरल तथा प्रसाद गुण से युक्त है इस लिए ज्यों का त्यों उद्धृत है।

एकमेवक जुज्झंति परोप्पर
धवलु सेट्ठि संगरि सण्णद्धउ
धाणुक्किय चालिय अगवाणिय
बंघिय अंगरक्खि सण्णाहई
असिवर छुरिय फरिय चालंतई
पुण मरहट्टु पजाण उट्ठंतहं
धाइय सुहड सहारि सुछल्लहं

हक्क दिति भारंति य मनु मनु।
दह सहसहि पायक्कहि सुद्धउ।
तीरी तोमर सर संघाणिय।
टाटर सीसि देवि उण्णाहई।
धाइय मुग्गर कुंत गुणंतहं।
सन्वलसेलह थहं फक्खंतहं।

***** (१, २६)

इसी प्रकार संग्राम के लिए हर्षोल्लास से भरे हुए सैनिकों की यात्रा का अत्यन्त सजीव एवं चित्रात्मक वर्णन हुआ है। पड़ते ही रोमांच हो जाता है।

युद्ध-यात्रा का वर्णन

श्रीपाल के कहते ही लेह, लेह कहते हुए चतुरंगी सेना सज कर तैयार हो गयी। चारो ओर सेना ही सेना दिखाई देने लगी। युद्ध के बाजे बजने लगे। मलकते हुए, नाचते हुए वीर चलने लगे। कवि के शब्दों में—

लेह लेह पभण्तु पघायउ	चाउरंगु बलु कहिमि ण मायउ ।
णिग्गय घाणुक्किय किविमहंत	घणुगुणहं बाण सज्जंत संत ।
संगाम तूर काहलिय सइ	तिविलिय गुंजा काहलिय सइ ।
डव डिडिम डिम तुफ तुफ रसंति	सुणि बीर सद्ध रणमुह सवंति ।
कस घायह ताडिवि वर तुरंग	असवारहि णिज्जिय वरतुरंग ।
मल्लंतउ गय घड पेरियाउ	करडह सद्धेण सवंति याउ ।
वहु छत विघणहु छाड्याउ	तहि उभय बलइ रणि माइयाउ । (२,२२)

इसी प्रकार से संग्राम का भी शब्द-चित्र वर्णित है। भाषा भावों के पीछे यहाँ दौड़ती-सी दिखाई देती है। भाव और भाषा दोनों ही प्रवाहपूर्ण तथा वर्णन की कला से अनु-प्रेरित हैं। देखिए दो ही पंक्तियों में कवि ने संग्राम का एक छोटा, पर सुन्दर चित्र अभिव्यक्त कर दिया है—

पहंति परोप्पर सुहडमल्ल	तीरी तोमर बावलमल्ल ।
फारक्क भिडिय फारक्क एहि	घाणुक्किय सिद्ध घाणुक्क एहि । (२,२२)

इस प्रकार वस्तुवर्णन विषय तथा भावों के अनुरूप है, जिस में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

भाव-व्यंजना

यद्यपि प्रस्तुत रचना में मामिक स्थलों की कमी है, पर भावों की गम्भीर अभिव्यंजना तथा संवेदनीय मामिक चित्रण मिलता ही है। राजा कोदो श्रीपाल को आवेश में आ कर मैनासुन्दरी परणाते तो परणा देता है, पर बाद में उस के मन में बड़ा पश्चात्ताप होता है। वह अपनी मूर्खता पर और पुत्री के जीवन पर बार-बार पछताता है। वह अपनी निन्दा करता हुआ कहता है कि मैं नष्टबुद्धि क्रोधित हो कर क्या अनर्थ कर बैठा। कुमारी की रूपश्री को देख कर वह अपने आप को घिबकारने लगा। राजा कहता है कि जिसने मुझे अमृतफल दिया उसे ही मैंने विषफल दिया। मैं ने रावण की भाँति ही अपयश प्राप्त किया है। इतना मेरा यश है, पर इसे सुन कर मुनिराज ने भी मेरी निन्दा की। इस प्रकार राजा मन में पछताता है, और कहता है कि मुझ निरे गँवार ने अपनी ही मूर्खता से कन्या को मार डाला। अन्त में वह यह कह

कर सन्तोष कर लेता है कि अब्बा मेरा इस में क्या दोष है ? शुभाशुभ कर्मों के परिणामन से ही प्राणी को सुख-दुःख प्राप्त होता है । (१, १५)

इसी प्रकार राजा धनपाल को जब धवलसेठ के छल का पता लगता है तब वह कुमार से क्षमा माँगता है । श्रीपाल भी कहता है कि आपका कोई दोष नहीं है । यह तो सब अर्जित कर्मों का फल है । राजा धनपाल उस के पैरों पर गिर पड़ता है और कहता है कि हे कुमार ! क्षमा करो, विवाद मत करो । हाथ पकड़ कर वह श्रीपाल को गजेन्द्र पर बड़ाता है । मंगलवाद्य बजते हैं । नगर में उत्सव मनाया जाता है । गुण-माला प्रसन्न हो जाती है । कवि उस की प्रसन्नता का वर्णन करता हुआ कहता है कि मानो अन्धे को दो आँखें मिल गयी हों, बहरे को सुनाई देने लगा हो और बन्ध्या को पुत्र मिल गया हो (१, ५२) । रत्नमंजूषा पति से भेंट कर केशो से उन के पैरो को झाड़ती है । उन के आगे बार-बार लोटती है, प्रणाम करती है ।

मंजूसा पुण भेट्टिउ सुरंगु

बल्लह पयझाड केसभार

पयजुवल अंतघरि उत्तमंगु ।

पुणु अगों लोटिय बार बार । १, ५३ ।

श्रीपाल भी प्रेम-भाव दर्शाता है । फिर, एकान्त में वह धवलसेठ की करतूतें सुनाती है । इस प्रकार रत्नमंजूषा की पति-भक्ति और आदर्श प्रेम को चित्रित कर कवि ने भारतीय नारी के स्वत्व को भलीभाँति अंकित कर दिया है । भावनाओं की मार्मिकता, परिस्थितियों की यथार्थता एवं कठोरता तथा चरित्रों की उत्कृष्टता का संगम एवं समन्वय कर लेखक ने इस छोटी-सी रचना को प्रभावामिब्यंजक एवं मार्मिक बना दिया है । अन्य काव्यों की भाँति इस में कथा की पुनरावृत्ति नहीं के बराबर, विस्तार से नहीं हुई है । अपभ्रंश के प्रायः सभी कथाकाव्यों में दो-दो, तीन-तीन बार कथा की आवृत्ति हुई है । प्रस्तुत रचना ही इस की अपवाद है । इस में मुख्य रस शान्त है । माता का उपदेश, सहस्रकूट चैत्यालय की वन्दना, सिद्धचक्र व्रत का पालन, वीरदमण का साधु होना, मुनि से पूर्वजों का वृत्तान्त सुनना तथा मुनिदीक्षा ग्रहण कर तपस्या करना आदि शान्तरस के मुख्य स्थल हैं, जिन में आदि से अन्त तक समग्र रचना में निर्वेद का संचार लक्षित होता है । अन्य रसों में शृंगार के दोनों पक्षों का तथा वीर, रोद्र एवं बीभत्स का चित्रण हुआ है । वियोग-वर्णन बहुत ही साधारण है । रत्न-मंजूषा पति के गुणों का स्मरण कर विलाप करती है तथा बाप को कोसती है—

णाह णाह पणवंती कलु (रु) णु रुवंती रमणमजूसा बिहलगय ।

सिरिपाल णरेसर महिपरमेसर

कलुणु पलाउ करंति समुट्टिय

कहि गउ णाह कोडीमड

कहि गउ बलण परोहण चालण

कहि गउ अणपिय पिय अगसुन्दर

पड बिणु हउं जीवति मुय ।

कहि गउ णाह छाडि पभणंतिम ।

समरसूर बिहडावण गय घड ।

कहि गउ जीबदया परिपालण ।

सहसकूड उगवाडण मन्दिर ।

पाचिउ मइ विण्णिवि उसहेसहं
तेण कहिउ जं कहिउ णिमित्तिय

काहे वप्प विण्ण परएसहं ।
सो मइं तुज्झु विहायउ पुत्तिय । १,४२ ।

उस का विलाप सामान्य नारी का चीत्कार है, जो असहाय अवस्था में अपने आप फूट पड़ता है । इस में न तो अनुभूति की सघनता है और न भावों की संकुलता ही; अपितु भावों के स्वाभाविक उद्गार सरलता से अभिव्यक्त हैं । श्रीपाल जब चोरों को ललकारता है तथा राजा पयपाल जब श्रीपाल के दूत को फटकारता है तब रौद्ररस की अभिव्यंजना हुई है ।

रे रे पाविट्ठु समरिणिकिट्ठु महु पहु बंधिवि लेहु रणे । १,२७।

इसी प्रकार कोढ़ियों के कोड़ के वर्णन में बीभत्स रस का संवरण लक्षित होता है । इस प्रकार प्रभावान्विति की दृष्टि से रचना साधारण तथा सफल है । भावों की विविध स्थितियों का तथा मानव-मन का अच्छा चित्रण उक्त काव्य में वर्णित है । इतिवृत्तात्मकता होने पर भी रसात्मकता का पूरा-पूरा समन्वय है । यही इस काव्य की विशेषता है ।

संवाद

यद्यपि आलोच्यमान कथाकाव्य में संवाद कम हैं, पर रचना की दृष्टि से उन का विशेष महत्त्व है । बोलचाल की भाषा में वर्णित होने के कारण संवादों में सरलता तथा सजीवता दिखाई पड़ती है । मुख्य संवाद इस प्रकार है—

राजा पयपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-द्वारपाल-संवाद, धवलसेठ-मन्त्री-संवाद, राजा घनपाल-श्रीपाल-संवाद और मैनासुन्दरी-श्रीपाल-संवाद आदि । इन संवादों में जहाँ पात्रों के मनोविज्ञान का चित्रण है, वही कथानक में भी गतिशीलता लक्षित होती है । क्योंकि कथा में संवादों से ही गति तथा चमत्कार उत्पन्न हो जाता है । इस कथाकाव्य में आकार की दृष्टि से संवादों को कम नहीं कहा जा सकता । यदि संवादों को अलग कर दिया जाय तो कथा निष्माण ही प्रतीत होने लगती है । इस से संवाद का महत्त्व स्पष्ट है । श्रीपाल मैनासुन्दरी से कहता है कि लोग तरह-तरह की बातें करते हुए कहते हैं—यह राजा का जमाई है, इसलिए मैं चिन्तित हूँ । किन्तु मैनासुन्दरी स्त्री जाति के स्वभाव का परिचय देती हुई कहती है कि तुम्हारी चिन्ता का कारण यह न हो कर किसी कामिनी का स्मरण करना है । तब श्रीपाल उसे विश्वास दिलाता हुआ कहता है कि तुम्हें छोड़ कर अन्य स्त्री मेरे हृदय में नहीं है ।

जामायउ तुहुं णिव पयपालहु
तं णिसुणेविणु मणि विहाणउ
दुव्वलु पहु तुव चिन्त ण जा मणि

एम मणिवि स लहहि सिरिपालहु ।
मयणासुन्दरि पुच्छिउ राणउ ।
माणहि हियई छियवर कामिणि ।

भणइं कुमर तुहुँ देखि अयाणिय	अण्ण णारि महु हियइं ण माणिय ।
गुज्झु ण दिण्णउं मईं मणि भाविउ	परदारहु णिवित्ति चउसाहिउ ।
तोवि णाहु किं णिय मणि रक्खहि	गुज्झवत्त किं णउ महु अक्खहि ।
सुणु महु कोवि ण जाणइं सुंदरि	एवहिं गायण यावहिं घरि घरि ।
ता पही णाउ कोवि जाणई	सुसरहो णामें अणु वक्खाणइ ।
महु मणु वहुइ देखि सलज्जउ	करमि सेव तुव ताय णिलज्जउ । १, २० ।

इसी प्रकार रत्नमंजूषा के पूछने पर श्रीपाल संक्षेप में माता-पिता के सम्बन्ध में कहता हुआ उन के चरित्रों पर प्रकाश डालता है । यथा—

भणइं वीर पिय (इत्य) रयणमजूसहं पिय महु छइ मालवदेसहि ।	
परम सणेही मयणासुन्दरि	जो णिय रुवें जिणइ पुरन्दरि ।
मयणासुन्दरि सरिस महासइ	णत्थि तीयणउ हुइय ण होसइ । (१, ३३)

भणइं मजूस मिलिउ वरु चंगउ णेहु महाभरेण आलिगिउ । (१, ३५)

इस प्रकार संवादों में घरेलू वातावरण, संक्षिप्तता तथा चुस्ती स्पष्ट रूप से लक्षित होती है । संवादों के कारण ही पात्रों में सजीवता मुखर है । अतएव संवाद-रचना में यह रचना सफल बन पड़ी है ।

भाषा और शैली

इस काव्य की भाषा बोलचाल के अधिक निकट है । कई स्थल तो हिन्दी की ओर उन्मुखत्वस्या को स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं । अपभ्रंश के समस्त कथाकाव्यों में सिद्धचक्रकथा की भाषा सरल, देशी तथा भाषाविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस रचना की भाषा को पढ़ कर परवर्ती अपभ्रंश की हिन्दी में ढलने की स्थिति का भलीभाँति परिज्ञान हो जाता है । संवादों में तो बिल्कुल बोलचाल की भाषा लक्षित होती है । यथा—

अम्हारउ णरवइ कवणु चोज्ज	घोबी चमार घर करहि भोज्ज ।
खर कूकर सूवर गसहि मास	हमि डोम भाउ कहियहि कण्णास । (२, ३)

तथा—

ता णरवइ कुइउ भणइ विरुइउ	गहहु कहिउ तलवरहं सहैं ।
मारहु चंडालु डोम बिटालु	अम्हह भण्डबि गोउ कह ॥ (२, ३)

रचना में प्रयुक्त अधिकांश शब्द-रूप देशी भाषाओं से गृहीत हैं । उदाहरण के लिए कुछ शब्द निम्नलिखित हैं—

तलाय (तलाय), हंसि (हंसिनी), संड (सांड), बीवर, छत्तीस, बाहत्तरि, चउरासी, सत्तरि, छह, अट्ठारह, चउदह, चउसट्ठि, पासु (पास), पणिहारिय (पनहारिन), आजु (आज), मंदल, कायरा (कायर), गवार (गँवार), छार, भालय, दासी-दास, चयारि (चार), दस, दुक्खु, बारह, संकल, ठग, चोर, तीस, पहाड, आण (आन), आहि (है), पार (पार), टोपरी (टोप के आकार की लोहे की बनी हुई चपटी और गोल तथा ऊपर उठी हुई टोपी), अगवाणिय (अगवानो), वणिजारिय (बनजारा), किसानु (किसान), तीजी (तीसरी), भीतर, लगुण (लगुन), चउरी (चोरी), भावरि (भामर), कचोल, थालइ (थाली), सामु, बहिणि, दामु, छल छिदु, खोर, हत्थियाव, सुसुव, लहू लुलायउ (लहूलुहान), तिण्णि (तीन), चडियाल, विवाहु, सुपारिय (सुपारी), अब, यह, तुरन्तु, सोलह, जेठ्ठी, चउथी, छट्ठी, रोलु (रोला), रावत्त (रावत), भतीजउ (भतीजा), कटारिय (कटार), डोम, डोर, आरत्तिय (आरती), घुरंधर और दमाम इत्यादि ।

इसी प्रकार देशी क्रिया-रूपों तथा सर्वनामों की भी प्रचुरता है । भाषा ऐसे रूपों से जहाँ प्रवाहपूर्ण बन गयी है वही उस में प्रसाद गुण भी विद्यमान है । वाक्यरचना की शैली आज की हिन्दी से बहुत कुछ मिलती-जुलती है । उदाहरण के लिए—

लेहु लेहु (लेओ लेओ), लेहु देवि पहिरहु मोत्तिय सारिउ (लो देवि, मोती की साड़ी पहरो या पहनो), पाय पडिय (पाँव पड़ना), अडउ रज्जु देसु लइ बंटिवि (आधा देश का राज्य बाँट लो), अज्जु अवहिण सामिय किय पूरी (आज अभी तक स्वामी ने मनोरथ, लौटने की बात पूरी नहीं की) आदि ।

सर्वनाम के कुछ शब्द-रूप इस प्रकार हैं—जो, सो, ए, को, हुउ, हउं (हों), कवणु (कौन), मइं (मैं), हमारे, अम्हारिय, इह, यहि, किह (कैसे), इस, जिह (जैसे), तिह (तैसे), जावहिं (जब), तावहिं (तब), महारी, तुम्हारी, मोर, मेरी, जही, तहीं, इय (यह), किं, महारउ, जाम, ताम, अब, यह, यहउ, तुम्ह, अम्ह, हमि, तुम्हि, एत्तहि, तैत्तहु, जे, ता और जं इत्यादि ।

देशी क्रियापदों की विशेष प्रवृत्ति भी इस रचना में दिखाई पड़ती है । जैसे कि छुत्तउ (छूते हो), भेट्टिउ (भेंटा, भेंट की), पुकारियउ आदि । अलग से भी भेंट शब्द मिलता है, पर द्वित्व की प्रवृत्ति यहाँ विशेष है । इसी प्रकार मैं भूल गया या मुझ से भूल हो गयी—के लिए “मय भुल्ले गय” वाक्य मिलता है । अन्य क्रियापद हैं—पूछिय, आयउ, तोडिय, देखिवि, लग्ग (लगे हुए), घल्लिय, बोदय, छोडइ, पडिउ, छूटउ, हक्क दिति (हाँक देते हैं), चालावहि (चलवाये), चलु (चलो), बीसरहु (बिसरना), मारहु, सहारहु, हुवउ (हुआ), भउ (भल्लउ भउ), बिसूरियउ, फिरइ, गइय, वेइ, बुलावइ, लावति (लाता है), गय (गया), लयउ (लिया), खायइ, चवखंति, बुज्झउ (बुझा), मग्गिउ (मगा), खुल्लय (खुला हुआ) इत्यादि ।

इस प्रकार भाषा की दृष्टि से इस रचना का विशेष महत्त्व है। अपभ्रंश की ठलती हुई अवस्था का स्वरूप सरलता से इस में प्राप्त होता है। यही नहीं, उस के विभिन्न शब्द-रूपों पर उस युग की छाप लगी हुई मिलती है। इस से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह रचना आ० हेमचन्द्र के व्याकरण लिखे जाने के बाद की है। क्योंकि भाषाविषयक कुछ बातें इस में विशेष दृष्टिगत होती हैं।

प्रस्तुत काव्य नौ सौ पच्चीस श्लोकप्रमाण आकार वाला है। इस में कुल दो सन्धियाँ हैं। आश्चर्य तो यह है कि जिसे पं० रघू ने दस सन्धियों में वर्णित किया उसे कवि ने दो सन्धियों में सम्पूर्ण कथानक के साथ निबद्ध कर दिया है। वर्णन भी रघू के श्रीपालकथा काव्य से अच्छे तथा संक्षिप्त नहीं है। हाँ, वर्णनों की और भाषिक स्थलों की कमी तो है, पर कथाकाव्य की दृष्टि से यह रचना अत्यन्त सफल है। इस की शैली भी अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों की भाँति पढ़ाईया बन्ध से समन्वित लोकमूलक है। शास्त्रीय शैली का निर्वाह इस में नहीं दिखाई देता। कथा में संवाद भणुर तथा प्रसाद गुण युक्त हैं। उन में रोचकता भलीभाँति मिलती है। देश, काल और वातावरण का भी पूर्ण सामंजस्य लक्षित होता है। संक्षेप में, भाषा और शैली की दृष्टि से रचना महत्त्वपूर्ण है। कथा और काव्य के सुन्दर अंगों का भी विनियोग इस काव्य में मिलता है। यह भी इस की एक मुख्य विशेषता है।

अलंकार-विधान

आलोच्यमान कथाकाव्य में अलंकारों का सहज प्रयोग भलीभाँति लक्षित होता है। साधर्म्यमूलक अलंकार ही प्रचुर हैं। बिम्बार्थ प्रस्तुत करने में अलंकारों का योग आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। प्रस्तुत रचना में भी अमूर्त उपमाओं द्वारा सुन्दर बिम्बार्थ अनुस्यूत हैं। उदाहरण के लिए—धवलसेठ तब रत्नमंजूषा को देख कर काम से ऐसा बिध जाता है कि वह अनर्गल प्रलाप करने लगता है। उस के मन में शल्य ऐसे ही बैठ जाती है जैसे कि जीम तालु से चिपक जाती है। जिस प्रकार सरोवर सूख जाने पर मछली बिललाने लगती है उसी प्रकार उस के मन-मन की बशा हो गयी। एक ही पंक्ति में इन भावों को लेखक ने कितनी सुन्दरता के साथ अभिव्यंजित कर एक साथ दो स्पष्ट बिम्बार्थों को चित्रित कर दिया है। जैसे कि—

तालु विल्लि लगगइ मणि सल्लइ जिम सर सुक्के मच्छउ विल्ल्हइ । (१, ३७)

इसी प्रकार रूप तथा गुण-वर्णन में कवि ने उत्प्रेक्षा के माध्यम से सुन्दर बिम्ब ही खड़ा कर दिया है। यथा—

वे सुवर्तहि जाया गुणषणाइं उवयारे णं सावण षणाइं । (१, ३१)

अर्थात् विद्याधरराजा कनककेतु के अत्यन्त गुणशोला दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जो उपकार करने में मानो सावन महीने के मेघ की भाँति सजल थीं।

यहाँ पर मेघ की कल्पना में कवि ने सजलता, वर्षण तथा आनन्द-सृष्टि करने वाले गुणों की मेघ के बिम्बार्थ से अमिर्व्यजित कर राजपुत्रियों में कवणा, उपकार तथा सुख एवं हर्षप्रदायक गुणों की उत्प्रेक्षा की है। ऐसी उत्प्रेक्षाएँ बहुत कम दृष्टिगोचर होती हैं। काव्यगत मुख्य अलंकार निम्नलिखित हैं—

णिय कम्मेउज लिलाडहं लिहियउ सो को भेटइ जो बिहि बिहियउ । (१,९)

यहाँ पर कर्म से ही रंक होते हैं और कर्म से ही राजा—इस पूर्वार्द्ध का सामान्य कथन उत्तरार्द्ध के “लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः” अर्थात् “विधिना रचै न और होय”—इस विशेष कथन द्वारा वैचर्म्य से समर्थन किया गया है। अतएव अर्थान्तर-न्यास है।

णरसुन्दरि घरिणि मनोहरिया जिह कामहु रह रहवइहि सिया । (१,५)
(उदाहरण)

अर्थात् राजा पद्मपाल की स्त्री नरसुन्दरी वैसी ही मनोहर थी, जैसी कामदेव की रति और श्रीरामचन्द्र की सीता थी।

जहि सुदफलह मणिभित्ति पिक्खि करि करइ वेपु पडिबिनु देखि । (१,५)
(भ्रान्तिमान्)

अंतवह सह भणइ खंतउ कण्णारयणु ण कोडिहि जुत्तहु ।
रयणमाल जो तिहुवणु मोहइ सो किम सुणहहु बंधी सोहइ । (१,१२)
(निदर्शना)

एयहं अचारी अंग छाह, एयहं पुणु सोहइ सह अचार ।
यहु पुणु ईसर जिम फिरइ वाह, ।
सूलपाणि जिम बहइ भीख, इहु भयरउ जिम जग बेह सिक्ख । (१,१३)
(अनुमान)

यहाँ पर विभिन्न साधनों द्वारा श्रीपाल के शिवत्व, ईश्वरत्व आदि का निश्चय किया गया है, इस लिए अनुमान अलंकार है।

यद्यपि अन्य अलंकार भी ढूँढ़ कर बताये जा सकते हैं, पर मुख्यता उत्प्रेक्षा और उदाहरण की है। चलती हुई बातों में अलंकारों का प्रयोग भी रचना में कहीं-कहीं दिखाई देता है। उदाहरण के लिए—

जिम सूर ण भुलइ हत्थियाह, सिरिपालु तेम मणि णमोयार । (१,३९)

अर्थात् जिस प्रकार सूर-बीर संकट पड़ने पर हथियार से काम लेना नहीं भूलता उसी प्रकार श्रीपाल मन में ध्याये हुए णमोकार मन्त्र को नहीं भूलता।

छन्दोयोजना

समस्त रचना पदद्विधा छन्द में निबद्ध है। पूरे कड़वक की रचना पदद्विधा में हुई है। घत्ता में अवश्य भिन्न-भिन्न छन्द प्रयुक्त हुए हैं। स्वतन्त्र रूप से केवल एक स्थल पर गाथा और दोहा का प्रयोग है। घत्ता के रूप में प्रयुक्त कुछ छन्द इस प्रकार हैं—संगीत, गीत, कर्पूर (उल्लास), ललिता, उत्फुल्लक, घत्ता, अशोकपल्लवच्छाया, कुसुमायुधशेखर, कंकैलिलता, ओहल्लणक इत्यादि।

कुछ ऐसे भी छन्द हैं, जिन का नाम-लक्षण छन्दोनुशासन में नहीं है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित अतीस मात्राओं का छन्द कितना स्पष्ट है, पर इसके नाम का निश्चय नहीं हो सका है। उदाहरण है—

सिरिपालु गणैसख पुजवह जिणवह अछइ सुहु भुंजंतु महि ।
सो समरसरवउ भल्लउ हूवउ महि मंडलि जसु भमिउ तहि ॥ (१, १९)

इसके प्रथम और तृतीय चरण में अठारह तथा दूसरे और चौथे में तेरह मात्राएँ हैं, इस लिए यह घत्ता छन्द है, किन्तु जिन में अठारह और बारह तथा अठारह और चौदह मात्राएँ मिलती हैं उन का नाम स्पष्ट नहीं हो सका है। उक्त उदाहरण है—

कारणु णिवारहि हियउ सहारहि पाणिय अंजुलि देहि तहो ।
सिरिपालु अतीसउ गयउ जु बीतउ रयणमजुसा तुवहि कहो ॥ (१, ४२)

इस छन्द के प्रथम और तृतीय चरण में अठारह और दूसरे तथा चौथे चरण में चौदह मात्राएँ हैं। यह कुल चौंसठ मात्राओं का छन्द है।

प्रसंग के अनुकूल प्रयुक्त होने वाले कुछ छन्दों का प्रयोग भी इस काव्य में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए, श्रीपाल विदेश के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। माता पुत्र को उपवेश देती है। वह प्यार से बेटे को अच्छी सीख देती हुई उस का आलिंगन करती है। इस प्रसंग में कवि ने सुतालिंगन छन्द का प्रयोग कर उस के नाम को चरितार्थ कर दिया है।

सुतालिंगन अर्द्धसमचतुष्पदी छन्द है। इसके प्रथम और तृतीय चरण में सोलह तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में बारह मात्राएँ होती हैं।^१ इसका उदाहरण है—

दिभी पासंडी भवहिति(भमहि) दंडी आण आहि सुव मेरी ।
एयहं ण पतिव्वउ कहिउ ण किव्वउ चाड पहाड वसेरिय ॥ (१, २३)

इसी प्रकार धवलसेठ की चेष्टाओं, हाव-भावों को देख कर कवि ने जिन विचारों को रत्नमंजूषा के मुख से अभिव्यक्त किया है वे मन्मथविलसित छन्द में निबद्ध हैं।

१. समे द्वादश ओजे षोडश सुतालिंगनम् । छन्दोनुशासन, ६, २०-४४ ।

मन्मथविलसित अर्द्धसमचतुष्पदी छन्द है। इसके पहले और तीसरे चरण में सोलह तथा दूसरे और चौथे में चौदह मात्राएँ होती हैं।^१ उदाहरण है—

कामिहि णउ लज्जा बहिणि भणिज्ज णउ जाणहिंस स (?) अबसर ।

बहिणि ण जोबइ पाउ पलोवइ जिम वर गय तु कुक्कुल खर ॥ (१, ३८)

अन्व छन्दों में छन्दोस मात्राओं का समद्विपदी द्विपदक या दोहक तथा बाईस मात्राओं का विच्छित्ति नामक छन्द भी प्रयुक्त है। दोहक का उदाहरण है—

सिद्धचक्रविहि रइय मई णरसेणु भणइ निय सत्तिए ।

भविणजण आणंदयरे करिवि जिनेसर मत्तिए । (२, ३६)

विच्छित्ति के अन्तिम पद में जगण का प्रयोग नहीं होता।^२ यहाँ भी उस का ध्यान रखा गया है। उदाहरण है—

पुणु अक्खमि भव्व जंगणु भउ सिरिपाल जहं ।

आयणहु तं पि सेट्ठिहि दुट्ठ पवंच कहा ॥ (२, १)

इस प्रकार आलोच्यमान रचना में छन्दों की नियोजना सुव्यवस्थित है।

अन्य कथाकाव्य

सतवसणकहा

अज्ञात रचनाओं में पं० माणिक्यचन्द्र कृत 'सतवसणकहा' सात सन्धियों की रचना उपलब्ध है। यह रचना लेखक को भरतपुर के जैनमण्डार से मिली है। इस की प्रत्येक सन्धि में एक-एक कथा वर्णित है। उपदेशात्मक कथा होने से इस में इतिवृत्तात्मकता की अतिशयता है। इस का रचना काल वि० सं० १६३४ है।^३ लेखक जैसवाल कुल के थे। इस कथा की रचना टोडर साहू के पुत्र वृत्रभवास के निमित्त हुई थी।^४ कवि मलयकीर्ति भट्टारक के वंश में उत्पन्न हुआ था। भ० मलयकीर्ति सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य थे। वे भ० यशकीर्ति के पट्टचर थे।^५ अतएव निश्चय ही पं० माणिक्यचन्द्र उन के बाद में हुए।

१. समे चतुर्थश ओजे षोडश मन्मथविलसितम् । वही, ६, २०, १२।

२. वही, पृ० ३३७।

३. अह सोलह सइ चउतीस एण

आइव्ववार तिहि पचमीहि

४. मंदल सिरिपाला साहुणहु (मंदु)

सो टोडरसाहु पसिद्ध भव्वु

जसु णामे कीउ एहु कव्व

५. सिमिलयफित्ति बंसे अग्निदु

६. पं० परमानन्द शास्त्री, 'काफासंघ' स्थित माधुरसंघ गुवागिरी, अनेकान्त, वर्ष ११, क्रि.पू. २, पृ० ८१।

चइतहु उज्जलपक्खे सुहेण ।

इहु गंधु सउरणु हुउ विहीहि । (७, ३२)

सकुर्द्धं सहिउ णियकुलसुचंदु ।

तसु रिखहुदास मंदमु अउव्व ।

सो मंदल सकुर्द्धं अउव्वु । (७, ३२)

मंदल कइयणु माणिक्यचंदु (७, ३२)

‘सत्तवसनकहा’ (सप्तव्यसनकथा) को पढ़ने से दो बातें स्पष्ट रूप से समझ में आती हैं। पहली तो यह कि यह कथा प्रबन्ध की शैली में लिखी गयी है। दूसरी यह कि इस में वस्तु-वर्णन न हो कर कथा का विवरणमात्र है। किन्तु कथा के लगभग सभी गुण इस में मिलते हैं। संवाद-योजना भी मधुर है। भाषा सरल और स्पष्ट है। रावण और सीता का बार्तालाप सुनिए—

हउ खयरराउ तुह उबरि तुदु	महु पाणपियारी होहि सद्दु ।
हउ सुणि रावणहु वि कहइ सीय	काउवि आयासि निव उडीय ।
गच्छइ सीहु वि पुण भूमि भाइ	ता सीहुहु समकिउ काउयाइ । (७, १६)

यहाँ पर सीता की बात अत्यन्त संक्षेप में कह दी गई है। राम के विरह में भारतीय नारी सती सीता का एक चित्र देखिए—

सा रामु रामु आलवइ मंतु	णियचिन्ति धरिउ राघउ सुकंतु ।
णवि खाइ अण्णु णवि पिबइ णीस	मलमलिणवत्थ दुव्वलु सरीस ।
भयभीय सीय अच्छइ सुत्तिथु	रामहु लक्खणहु वि णियइ पंघु । (७, १७)

इस प्रकार वर्णन नाम मात्र के बहुत छोटे-छोटे हैं। उदाहरण के लिए रावण और जटायु का युद्ध चार पंक्तियों में ही वर्णित है, जो इस प्रकार है—

रावणहु भिडिउ अइसिन्धु जाम	विह्यालें किउ संगामु ताम ।
ता रावणेण तहु विज्जछेउ	करिऊण पुणुवि आउह समेउ ।
छारिउ समुद्धि पुण्णाउ सोवि	णिवडिदि गउ वुडिउ खयस जोवि ।
तत्थाउ धलें आएवि तेण	बंघिउ सुबत्थु तहि वंसएण (७, १६)

किन्तु युद्ध-यात्रा तथा राम-रावण युद्ध का विस्तृत वर्णन भी मिलता है। यथा—

सब सेण सहिउ सिरिरामयंदु	सण्णिद्धिदि बल्लिउ णं सुरेंदु ।
सो रावणोवि भेरी सुणेवि	सण्णज्झिउ सम्मुद्धतिणु गणेवि ।
इंदजउ मेहसउ कुंभयणु	रक्खसवंशो खेयरहु गणु ।
लंकाउ दसाणणु सेण लेवि	बल्लिउ गयणंगण तूर देवि ।
खोहिणि चत्तारि सहस्स जुत्तु	दसकंधरु आइवि गयणि पत्तु ।
किवि भूयलेहि किवि णहि ठिएहि	सव्वत्थ विवलु पूरिउ दिएहि । (७, २४)

युद्ध-वर्णन

ता उहय बलहि संगामु जाउ	भड भडहि रहहु भिडिउ ताउ ।
गउ गयहि पुणु हउ हयहि वग्गु	खण खण करंत करिबार अग्गु ।
वरसहि समरंगण वाणपंति	णावइ धाराहर षणहु जुत्ति ।
रणभूमें भडहिमि भडु णिण्डु	गउ गयहि तुरिउ तुरएहि कुद्धु । (७, २४)

बाण-बरसा का कितना सुन्दर चित्र उक्त पंक्तियों में प्रतिबिम्बित है। इस के आगे रावण और लक्ष्मण का संवाद तथा युद्ध का वर्णन है। लेकिन ये वर्णन बहुत कम हैं। इन में बुरी आदतों से बचने के लिए कथा कहना ही कवि का उद्देश्य है और इस लिए कथा ही मुख्य है। किन्तु रचना में रसात्मकता भी परिव्याप्त है। उदाहरण के लिए, सुन्दरी के अनुभावों का सुन्दर चित्र द्रष्टव्य है—

संकोइवि णियतणु धीरिवि पुणु मणु घूषटपट मुहु गोवियउ ।

भीउ विवलयंतो बहु गुणवंतो तहि दिठ सो णिरु कोवियउ । (१, १४)

इस कथाकाव्य में वस्तुतः प्रबन्धमूलक कथाएँ हैं, जिनमें विवरण और वर्णन समान रूप से मिलते हैं। विवरण की प्रधानता होने पर भी वर्णन कहीं न कहीं ललित होते ही हैं और वे किसी भी प्रबन्ध के रसात्मक अंश भलीभाँति कहे जा सकते हैं। कृष्ण और जरासिन्धु का युद्ध, नेमीश्वर का विवाह, द्यूतकीड़ा आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है। इन वर्णनों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यह एक कथाकाव्यात्मक संग्रह है, जिस में सात व्यसनों को अलग-अलग कथाओं का काव्यात्मक वर्णन है। भाषा की दृष्टि से भी इस रचना को महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। लोकोक्तियों तथा देशी शब्दों की प्रचुरता और भाषा के प्रवाह की एक झलक इस में ललित होती है। उदाहरण के लिए—

घूषट, देवर, खीर, भेट, खंभु, खेल, दाख, मिठाई, खील, सिंधारे (सिंघाड़ा), गोद, गलु, कंख, छह, बारह, बालु (बालू, रेत), धी आदि शब्द हिन्दी के बिलकुल निकट हैं। शब्द-रूपों पर ही नहीं क्रिया-रूपों पर भी सतरहवीं शताब्दी की बोलचाल की भाषा की छाप लगी हुई मिलती है। इस रचना को ध्यान से देखने पर निश्चय हो जाता है कि अपभ्रंश भाषा का युग और तत्कालीन देशी भाषा एवं साहित्य से पूरा-पूरा सम्बन्ध बना रहा है। कुछ क्रिया-पद इस प्रकार हैं—फिरिउ, फाडेवि, उडिउ, सुणिउ, दियउ, खेलहि, मारिउ, मरहि, करिय, आयउ, आवेहि, यिरि, भरि, रिहउ (रहा), कहिउ, सहइ, जाइ, कहइ, चउइ, देइ, लाइ इत्यादि।

इस कथाकाव्य में क्रियार्थक क्रिया के रूपों में संश्लिष्ट तथा विश्लिष्ट दोनों प्रकार की योजना मिलती है। यथा—‘झाडिबि कालिमि पुणु करिय दूरि’ (५, २) तथा—“तहि करि भोयणु भुजियउ तेण”। इस से पता चलता है कि अपभ्रंश के परवर्ती युग में ‘भोजन कर’ आदि में प्रयुक्त होने वाले ‘कर’ का विकास हो गया था। क्योंकि अन्य कथाकाव्यों में इस का प्रयोग नहीं मिलता। इसी प्रकार—अन्य परसगों का विकास भी विकसित रूप में इस काव्य में दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए छत्तीसगढ़ में ‘खाने के लिए’ प्रयोग है—‘खाये वर’ और इस काव्य में इस के स्थान पर ‘विर’ प्रयोग मिलता है।

खेले विर जावइ बालयाह । (२, ३)

इसी प्रकार प्रेरणार्थक क्रियाओं में—खिल्लावइ, पट्ठाविउ, छोडावइ, जणावइ आदि मिलते हैं। इस रचना की सब से बड़ी विशेषता देशज प्रयोगों में लक्षित होती है, जिन को देख कर स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी भाषा तथा उस की बोलियों का विकास जनपदों की बोलियों के प्रवाह में अपभ्रंश की परवर्ती विकसित धारा से हुआ है।

छुहु दाख मिठाई खील सार सिंधारे मोयय वोर चार ।
 बणकाइ गोद भरि गयउ तत्थ संज्ञा अवसर सिसु रमहि अत्थ । (२,३)
 छीणी दिक्खा जिणउत्त जोवि । (२,३)
 सिसु लेइ एउ चोरिवि दवक्कि गलु मोडिवि लावइ कंख चप्पि ।
 सो बंधिउ णिह बहु बंधणेहि पुणु लट्ठि मुट्ठि भारिउ बणेहि । (२,३)

अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों की भाँति ही यह कथाकाव्य पढ़ा दिया बन्ध एवं कड़वक शैली में निबद्ध है। कड़वक-रचना घटों के रूप में हुई है। इस काव्य की मुख्य विशेषताएँ हैं—

(१) केवल आधिकारिक कथाओं को संयोजना। प्रासंगिक वृत्तों का निर्देश मात्र।

(२) सात सन्धियों में सात कथाओं की रचना। इस प्रकार प्रबन्ध की शैली में सन्धिवद्ध काव्य-रचना।

(३) चलती भाषा में वर्णन करते चलना। वर्णन और विवरण में प्रवाह।

(४) वर्णनों का रोचक तथा संक्षिप्त होना और संवादों में मधुरता।

(५) पौराणिक शैली पर कथा-रचना। प्रत्येक कथा का निर्गमन गौतम गणधर से राजा श्रेणिक के पूछने पर महावीर स्वामी से मानना।

(६) काव्य-कड़ियों का पालन-मंगलाचरण, साहु टोडर के अनुरोध से कथा रचने का उल्लेख तथा आत्मपरिचय।

(७) यद्यपि कथाएँ उद्देश्य मूलक हैं और उन में सप्त व्यसनों से होने वाली हानि का वर्णन है, पर बीच-बीच में सूक्तियों तथा लोकोक्तियों से रचना और भी अधिक प्रभावशाली बन गयी है।

ता सीरें जंजिउ रे णिकिट्ठु बालु बहि तेलु कत्थइ वि दिट्ठु । (३,२२)

(८) छन्दों में वैविध्य होना। घट्टा के रूप में कई छन्दों का प्रयोग होना।

(९) भाषा में हिन्दी की प्रारम्भिक विकसित अवस्था के साथ अपभ्रंश से उस के साहचर्य का पता मिलना।

कि कज्ज लिइ डोलेहि अंध । मा रुसहि हुउ जाणेवि वोर । (३,२१)
 पाणी पीवहि मुह हत्थि लेहि । जीविय भरणहु रामु वि सहाय । (३,२१)

भो राम एहु रावणहु भाइ
कैकेय चछी रामहु वि अंत

आयउ तुहु सेवा करण राह । (७, २३)
वंदे कैकेयहु करि पणामु । (७, ५)

संक्षेप में, रचना छोटी-छोटी कथाओं का संकलन होने पर भी कहीं-कहीं काव्यात्मक अंश से सरस एवं मधुर है। अपभ्रंश की काव्य-धारा का विकसित रूप किस प्रकार कथाओं की रचना में निहित है—इस की एक झलक मात्र इस काव्य में मिलती है। यद्यपि यह रचना शुद्ध कथा मात्र है, पर इतिवृत्तात्मक तथा रसात्मक स्थलों की संयोजना से स्पष्ट ही कथाकाव्य की कोटि में देखी जाती है। निश्चय ही कई बातों में इस कथाकाव्य का महत्त्व है।

सुदंसणचरित

सत्तवसणकहा की भाँति सुदंसणचरित भी अप्रकाशित रचना है। यह बारह सन्धियों की रचना है। इसके लेखक कविवर नयनन्दी है। इस का रचना-काल सं० ११०० है।

णिब विक्कमकालहो ववगएसु
तहि केवल चरित अमच्छरेण

एयारहु संवच्छर सएसु ।
णयणंदी विरइउ वित्थरेण ।

इस में पंचनमस्कार के माहात्म्य स्वरूप मुदर्शन की कथा का वर्णन है। घटनाओं की योजना प्रसंगतः मार्मिक, स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादक है। अपभ्रंश के उपलब्ध कथाकाव्यों में यह एक विशिष्ट कथाकाव्य कहा जा सकता है। यद्यपि इसकी बाह्य रचना अलंकृत एवं शास्त्रीय प्रतीत होती है, किन्तु अन्तरंग में भाषा और शैली की मधुरता तथा लोकजीवन का पूरा पुट मिलता है। भाषा की दृष्टि से इस रचना का अत्यन्त महत्त्व है। सूक्तियो तथा लोकोक्तियो से यह काव्य अत्यन्त संप्राण तथा प्रसाद पूर्ण बन पड़ा है। इसके वर्णनों में परम्परागत प्रवृत्तियों की झलक मिलने पर भी नवीनता दृष्टिगोचर होती है। श्लिष्ट तथा अलंकृत शैली में जहाँ कवि एक ओर बाण-भट्ट के निकट दिखाई देता है, वही लोक जीवन के यथार्थ चित्रण में स्वयंभू का स्मरण हो आता है।

छन्दों की दृष्टि से भी इस काव्य का विशेष महत्त्व है। अपभ्रंश के कवियों में से कदाचित् नयनन्दी ने सब से अधिक छन्दों का प्रयोग किया है। कवि की अन्य रचना सकलविधिविधान काव्य है, जिस में सौ से भी अधिक छन्दों का प्रयोग है। सुदंसण-चरित में भी लगभग साठ छन्द प्रयुक्त हुए हैं। समूचा काव्य पद्धटियाबन्ध शैली में वर्णित है। अलंकारों की भी प्रचुरता इस रचना में दिखाई देती है। कहीं-कहीं कथा में अलौकिक बातों का भी समावेश है। मानवीय स्वभाव का अच्छा चित्रण इस काव्य में हुआ है। अपभ्रंश की अन्य कथाओं की भाँति इस में साहित्यिक रुढ़ियों का पूर्ण-

तथा सन्निवेश नहीं है। किन्तु मंगलाचरण तथा आत्मशक्ति का कीर्तन अवश्य है। आत्म-विनय का भी प्रदर्शन है।

सुकवित्ते ता हउं अप्पवीणु
मुहडत्तु तवह दूरें णिसिद्ध

चाउ वि करेमि किं दविणहीणु।
एवं वि होंवि हउं जस विलुद्धु।

कवि की रचना में मानवसुलभ प्रेम तथा उस के विपाक का अतिरंजित वर्णन है। इस लिए कहीं-कहीं घटनाओं में अस्वाभाविकता प्रतीत होती है; किन्तु ऐसी कथाएँ भारतीय साहित्य तथा लोक-जीवन में विरल नहीं हैं, जो सामान्य नायक के आदर्श रूप तथा जीवन के यथार्थ तथा विद्रूप का चित्रण करने वाली हो। वस्तुतः ऐसी कथाओं का आधार लोकजीवन है, जिसे कवि ने अपने अनुकूल ढाल कर साहित्यिक बन्ध में अनुस्यूत किया है।

इस काव्य में जहाँ प्रेमारूपानक की काव्य प्रवृत्तियाँ मूल रूप में लक्षित होती हैं, वही रीति-परम्परा की सामान्य बातें—नायिका-भेद, सुरतक्रीड़ा, नव्यशिल्प, नायिकाओं की वेदा-भूषा, उद्दीपन रूप में प्रकृति-वर्णन, षड्व्रत-वर्णन आदि भी मिलती हैं। स्पष्ट हो कई प्रकार से नायिकाओं के भेद दर्शा कर कवि ने रीति-वृत्ति का परिचय दिया है।

वर्णनों में संस्कृत के साहित्यिक ग्रन्थों की झलक स्पष्ट रूप से मिलती है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में यह रचना विशेष रूप से संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यों से प्रभावित जान पड़ती है। किन्तु इसके साथ ही नये-नये उपमानों की रचना और गीत-पद्धति का मेल करना भी कवि नहीं भूला है। परन्तु अधिकतर उपमान और वर्णन-शैली प्राचीन परम्परा का अनुसरण करती दिखाई पड़ती है। डॉ० कोष्ठड़ ने कुछ उद्धरणों के साथ संस्कृत की रचनाओं में और सुदंशज चरित्र में भाव-साम्य दर्शाया है^१ और भी कई स्थल ऐसे हैं जो संस्कृत के साथ ही हिन्दी के विद्यापति, केशव और जायसी आदि में भावों तथा शैली की दृष्टि से कहीं-कहीं बहुत अधिक समान दिखलाई पड़ते हैं।

अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यों की भाँति ही इस काव्य में भी शृंगार, वीर और शांत रस का मधुर परिपाक लक्षित होता है। प्रभावान्विति और रस-व्यंजना की दृष्टि से काव्य उत्तम एवं शास्त्रीय नियमों से परिपोषित है। किन्तु प्रबन्ध-रचना में अवश्य घटनाओं के विस्तार में तथा अन्य प्रासंगिक वृत्तों की संयोजना में कुछ शैथिल्य जान पड़ता है। इसका कारण अति लौकिक बातों का समावेश ही जान पड़ता है। कुल मिला कर रचना प्रभावपूर्ण और सुन्दर है।

इस काव्य में भाषा भावों के अनुकूल सजीव एवं सप्राण है। भाषा में पदों की सुष्ठु योजना और लालित्य एवं अलंकरणता से जहाँ रचना मधुर बन पड़ी है वही कहीं-कहीं कृत्रिमता भी स्पष्ट रूप से झलकने लगी है। किन्तु जहाँ मुहावरों-सूक्तियों एवं

लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है वहाँ रचना अत्यन्त स्फूर्ति एवं मधुर बन पड़ी है। लोकोक्तियों का इस काव्य में अधिक प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए—

करे कंकण किं आरिसे दीसए । (हाथ कंगन को आरसी क्या ?)
 एक्कै हृत्थे तालं किं वज्जइ (क्या एक हाथ से ताली बजती है ?)
 किं मारवि पचमु गाइज्जइ । (क्या ठमाका दे कर पंचम स्वर गाया जाता है)
 जं जसु रुच्चइ तं तसु भल्लउ । (जो जिसे रचता है उस के लिए वही भला है)
 पर उवएसु दिन्तु वहु जाणइ । (पर उपदेश कुशल बहुतेरे)

भाषा में अनुकरणात्मक शब्दों की प्रचुरता अन्य कथाकाव्यों से विशेष मिलती है। इसी प्रकार पद-योजना में सौष्ठव तथा लालित्य कवि की निजी विशेषता है। यथा—

किं कुसुमें गन्ध विवज्जिएण	किं सूरें समर परज्जिएण ।
किं भिच्चे पेसण संकिएण	किं तुरए उरुठउ किएण ।
किं दब्बें किविण करासिएण	किं कव्वे लरुल्लण दूसिएण ।
किं पीरसेण णच्चिय णडेण	किं साहुहु इंदिय लंपडेण ।

अनुप्रास एवं सालंकार भाषा में प्रसाद गुण युक्त रचना समूचे काव्य में दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं तो बहुत ही सुन्दर रचना हुई है। जैसे कि—

तो उल्ललइ चलइ खलइ तसइ ल्हसइ णीससिह पणासइ ।

णिसियर वलु णिव साह्णहो णव बहु जेम ससज्जए दोसइ ॥

किन्तु ऐसे स्थलों पर भाषा एवं रचना में कृत्रिमता ही अधिक लक्षित होती है। छन्दों की दृष्टि से इस रचना का अत्यन्त महत्त्व है। अपभ्रंश के अन्य काव्यों की भाँति इस में भी मात्रिक वृत्तों की मुख्यता है, किन्तु वाणिक वृत्त भी कम नहीं मिलते। लगभग साठ छन्दों का प्रयोग इस काव्य में हुआ है, जिस में चालीस-बयालीस मात्रिक छन्द हैं। जि० क० की भाँति वसंतचक्रचर, मन्दारदाम, मानिनी, कुवलयमालिनी, मणिशेखर, उण्हिया और आनन्द आदि कई नये छन्द भी इसमें प्रयुक्त हैं।

लोक-जीवन और समाज-संस्कृति की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण रचना है। इस में वसन्तमास में चाँचर खेलने, हिंडोले झूलने और वन-उपवन में विहार करने तथा गीत आदि के उल्लेख में सामन्तकालीन भारतीय जीवन की एक झलक मिल जाती है। कवि की भूगोल विषयक जानकारी का पता भी इस रचना से मिल जाता है। स्वयं कवि ने अपने काव्य के सम्बन्ध में कहा है—

कोमलवयं उदारं छन्दाणुवरं गहारमत्पट्टं ।

हिय इच्छिय सोहगं कस्स कलत्तं च इह कव्वं ॥

अर्थात् अमिलवित्त सौभाग्यशालिनी स्त्री की भाँति इस काव्य में उदार कोमल वचन तथा श्रेष्ठ छन्द है।

पउमसिरोचरित

दिव्यदृष्टिकवि धाहिल विरचित 'पउमसिरोचरित' (पद्मश्रीचरित) चार सन्धियों की रचना है। यद्यपि कवि ने इसे घर्मकथा कहा है, (१,१) किन्तु यह एक प्रेम कथाकाव्य है; जिस में समुद्रदत्त और पद्मश्री के प्रेम-व्यापारों का सुन्दर वर्णन है। इस काव्य के अध्ययन से दो बातें बिलकुल स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह कि कथाबन्ध अस्वाभाविक है; क्योंकि पूर्व जन्म की घटना को ले कर कथा आगे बढ़ती है, जो पूर्वाह्न से विच्छिन्न जान पड़ती है। दूसरे यह कि समुची कथा घामिक वातावरण से लिपटी हुई है। यदि इन दोनों प्रसंगों से विदिलष्ट कर कथा पर विचार करें तो शुद्ध प्रेमकथा लक्षित होने लगती है। रचना छोटी होने पर भी काव्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भावानुभावों का बहुत ही सुन्दर चित्रण इस काव्य में हुआ है। वस्तु-वर्णन अलंकृत होने पर भी स्वाभाविक है। लोक-जीवन की झलक भी इस में मिलती है। वर्णन विस्तृत तथा मधुर है। समुद्रदत्त और पद्मश्री का प्रथम मिलन वसन्तमास में उद्यान के माधवीलता के मण्डप में होता है। धीरे-धीरे स्नेह बढ़ता है। पद्मश्री के सात्त्विक भावों तथा अनुभावों का कवि ने बहुत ही सुन्दर चित्र अभिव्यंजित किया है।

पउमसिरि ससज्जस तरलनयण ठिय लज्जोहामिय नमिय वयण ।
नीसास समीरण चंचलाई गणयन्ति कैलि पंरुयदलाई । २, ८ ।

वह समुद्रदत्त को अपने हाथों से प्रचुर कपूर से भरित पान देती है, अपने हाथों से गूँथी हुई मौलश्री की माला अर्पित करती है।

कपूर पउर विरहय सणेहु पउमसिरि देइ तंबोलु तेहु ।
मयराणंदिय भमर जाल निय हृत्य गुत्थ वर बउलमाल ।
साणंद लेवि घण नीलकेसि आणेवि निबेसिय तेण सीसि ।

कवि ने इन प्रेम-व्यापारों को स्वच्छन्द रूप से नहीं दर्शाया है। इस का कारण भारतीय सामाजिक चेतना है, जो असंयत प्रेम का बन्धन दूभरता से स्वीकार करता आया है। नैतिक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक भी था कि मनुष्य की वासनात्मक प्रवृत्तियों को न उभागा जाय। किन्तु घामिक कथाओं में भी मूल रूप में प्रेम का ही बीज अंकुरित दिखाई देता है, जिन में वासना का भी संयोग है; किन्तु घामिक प्रभाव का आवरण डाल कर कवि ने उन्हें आदर्श रूप प्रदान कर दिया है। यदि ध्यान से देखा जाय तो ऐसी रचनाओं में हमें रीतिकालीन भूमिका के बीज बिखरे हुए मिलते हैं। इन में नखशिख-वर्णन, स्त्रियों के भेद, दूती द्वारा प्रेम-निवेदन, उपवन-विहार, जलक्रीड़ा, कामावस्थाओं का वर्णन आदि मुख्य हैं।

अन्य कथाकाव्यों में हरिभद्रसूरि कृत 'णेमिणाहचरित' के अन्तर्गत सनत्कुमार चरित भी प्रेम कथाकाव्य है, जिस में कुमार के रोमांटिक तथा साहित्यिक कार्यों की

गाथा का वर्णन है। शृंगार के दोनों पक्षों का इस में विशद चित्रण है। यह काव्यात्मक अंश तीन सौ तैतालीस रङ्गा छन्दों में निबद्ध है।^१

धम्मपरिक्खा

श्री हरिषेण रचित 'धम्मपरिक्खा' (धर्मपरीक्षा) पदद्विधाबंध ग्यारह सन्धियों की रचना है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों की भाँति इस काव्य में भी जंबूद्वीप, वैजयन्ती नगरी, उज्जैनी नगरी, राजा, वन-उपवन आदि के वर्णन हैं। वन-वर्णन में परिगणनात्मकता लक्षित होती है। साहित्यिक रुढ़ियों में मंगलाचरण, पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख, आत्म विनय, बुद्धि का उपयोग, गुरु-स्मरण, कथा का आधार तथा काव्य-रचना का कारण कहा गया है। समूची कथा धर्म तथा उपदेश से भरित है। कथा कल्पित है, जो वैष्णव धर्म पर एक व्यंग्य मात्र है। किन्तु पवनवेग और मनोवेग प्रचलित धर्म से मन को सन्तुष्ट न कर वास्तविकता का रहस्य खोलते दिखाई देते हैं। कथा का विकास संवादों से होता है। कथा को पढ़ते ही हरिभद्रमूरि के 'धूर्ताख्यान' का स्मरण हो आता है। संभव है उसी रचना के ढाँचे पर कवि ने यह काव्य लिखा हो। समूची काव्य शैली संवाद में वर्णित है। कहीं-कहीं अलङ्कृत वर्णन भी दृष्टिगोचर होते हैं।

समया इय जाय अहो समया
अरिहो सण राम रपू अरहो

रिसहो पुण्ण णाहि सुओ रिसहो।
विजिणोवि बिहंडणु सोवि जिणो ॥१०, ११॥

रचना कई छन्दों में निबद्ध है। गीति शैली में भी वर्णन हुआ है। लोकजीवन की अच्छी झलक इस में मिलती है। भाषा में प्रवाह तथा माधुर्य है। अनुरणनात्मक शब्दों की प्रचुरता है। कवि ने रासा छन्द का भी उल्लेख किया है।

इय पर रइय पुराणि ण सच्चउ मइं मुणियं,
रासय छंडु वियाणहु एरिसु मइ भणितं ॥५, १६॥

कथानक अल्प होने से तथा वाद-विवाद की प्रधानता से रचना का सौन्दर्य फीका पड़ गया है। कथा कथा न होकर घामिकवार्त्ता बन कर रह गयी है। इसलिए इसे कथाकाव्य कहने में संकोच होता है। वस्तुतः, यह उपदेशात्मक पद्यबद्ध कथा है, जिसे प्रबन्ध के ढाँचे में ढाल कर कहा गया है। 'करकण्डवरित' दस सन्धियों में निबद्ध अपभ्रंश का पौराणिक काव्य है, जिस में एक कथा के अन्तर्गत कई कथाएँ वर्णित हैं। यद्यपि रचना में कथानक-रुढ़ियाँ मिलती हैं, पर अवान्तर कथाओं की भरमार से आधिकारिक कथा का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया है। काव्यात्मक दृष्टि से रचना

प्रभावोत्पादक तथा विभिन्न काव्यांगों से समन्वित है। भावानुभावों की सुन्दर अभिव्यंजना काव्य का अपना वैशिष्ट्य है^१। इसी प्रकार 'जंबूसामिचरित' और 'जसहरचरित' भी पौराणिक काव्य है, किन्तु 'णायकुमारचरित' चरितकाव्य है। महाकवि पुष्पदन्त ने कथावस्तु की योजना श्रुतपंचमी व्रत के माहात्म्य के व्याज से नागकुमार के सुन्दर चरित्र के वर्णन के लिए की है।^२ कथानक को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि काव्य की अन्तिम सन्धि के पूर्व श्रुतपंचमी व्रत का कही भी उल्लेख नहीं है। केवल नागकुमार के लक्ष्मीमती से प्रगाढ़ प्रेम और अन्य जन्म में उसे व्रत के फलस्वरूप पाने का कारण निर्दिष्ट है, जो ऊपर से थोपा हुआ जान पड़ता है, जिस का प्रभाव पाठक के मन पर नहीं पड़ता। डॉ० होरालाल जैन ने नागकुमार का सम्बन्ध नागजाति तथा नागराजाओं से जोड़ा है, जिस से उस की ऐतिहासिकता का पता लगता है^३। सम्भव है नागकुमार राजा को किसी गाथा को अथवा चरित को कवि ने देखा-सुना हो और उस में कल्पना का पुट दे कर अतिलौकिक घटनाओं से समन्वित कर दिया हो। इस प्रकार नागकुमार का चरित तथा श्रुतपंचमी व्रत का फल अति-लौकिक तथा पूर्व जन्म की घटनाओं से संबद्ध है, जब कि कथाकाव्यों में व्रत का फल इसी जन्म में जिस ने उस व्रत का पालन किया उसे प्राप्त हुआ, दर्शाया गया है। अतएव हमारे विचार में नायकुमारचरित कथाकाव्य न हो कर पौराणिक शैली में लिखा हुआ चरितकाव्य है। अपभ्रंश ४ मुख्य चरितकाव्य इस प्रकार है—१. सुकु-मालचरित—विबुध श्रीधर, २. जेमिणाहचरित (अमरकोतिगणि), ३. महावीरचरित—(अमरकोतिगणि), ४. जसहरचरित (अमरकोतिगणि), ५. सुलोयणाचरित (देवसेनगणि), ६. पञ्जुणचरित (सिंह कवि), ७. पासणाहचरित (देवदत्त), जेमिणाहचरित (लक्ष्मण), बाहुबलिचरित (धनपाल), चन्दप्पहचरित (भ०-यशःकीर्ति), पासणाहचरित (श्रीधर), संभवणाहचरित, वरागचरित (तेजपाल), सुकुमालचरित (मुनि पूर्णभद्र), अमरसेनचरित नायकुमारचरित (कवि माणिक्यराज) जंबूसामिचरित (सागरदत्तसूरि), सातिणाहचरित (शुभकीर्ति), पासणाहचरित (पद्मकीर्ति), वरागचरित (देवदत्त), सुलोयणाचरित (देवसेनगणि), पासणाहचरित (असवाल) सुभद्राचरित (अभयगणि), वज्रसामिचरित (जितप्रभसूरि), जेमिणाहचरित, चन्दप्पहचरित (दामोदर), पामणाहचरित (देवचंद), सातिणाहचरित (महिन्दु), पासचरिय (तेजपाल), वर्द्धमानचरित्र (श्रीधर), सुकुमालचरित्र (श्रीधर) सातिणाहचरित (कवि ठाकुर) तथा मल्लिणाहकव्व (जयमिवहल), इत्यादि। पं० रघू के अधिकांश काव्य चरितकाव्य या पौराणिक है।

१ डॉ० हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश-साहित्य, पृ० १८१-१६।

२ आहासमि सुयपंचमिहे फलु नायकुमारचारुचरित ११, ११।

३. देखिए, नायकुमारचरित की भूमिका, पृ० ३६-३७।

धुल्लक कथाएँ

अपभ्रंश-साहित्य में कथा-साहित्य प्रभूत राशि में उपलब्ध है। छोटी-छोटी कथाएँ अनेक भण्डारों में दबी हुई पड़ी हैं। इन में से अचिकांश कथाएँ धार्मिक हैं, जिन में उपदेश तथा व्रत-माहात्म्य वर्णित हैं। सभी कथाएँ पद्यबद्ध हैं। अमरकीर्तिगणि की 'पुरन्दरविहाणकहा', लाखू की 'चंदणछट्टीकहा', रयधू की 'अणथमीकहा' आदि ऐसी ही कथाएँ हैं, जो पद्यबद्ध होने पर भी विवरणात्मक हैं। भ० ललितकीर्ति चरचित 'जिगरत्तिकहा' में रात्रिभोजन का निषेध तथा उस के फल का वर्णन है। ये कथाएँ आकार में छोटी तथा इतिवृत्तात्मक हैं। इन कथाओं में कुछ विधान कथाएँ भी हैं, जो व्रतों के विधान से समन्वित हैं। विमलकीर्ति कृत 'सोखवइविहाणकहा' तथा भ० विनयचन्द्र रचित 'गिज्जरपंचमीविहाणकहा' आदि, ऐसी ही रचनाएँ हैं। अपभ्रंश में कई कथाकोश भी मिलते हैं। श्रीचन्द कृत 'कहाकोसु' अपभ्रंश का सब से बड़ा कथा-कोश है। इस में तिरपेण सन्धियाँ हैं। इन्हीं का 'रयणकरउसावयायार' इक्कीस सन्धियों की रचना है, जिस में सम्यग्दर्शन के विभिन्न अंगों में प्रसिद्ध होने वालों की कथाएँ संकलित हैं। पं० रयधू कृत 'पुण्णासवकहाकोसु' में पुण्य का बन्ध, करने वाली कथाएँ तेरह सन्धियों में वर्णित हैं। इसी प्रकार 'अणुवयरयणपईव' में लक्ष्मण कवि ने आठ सन्धियों में पाँच अणुव्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) से सम्बन्धित कथाओं के माध्यम से गृहस्थों की सदाचार पालन करने का उपदेश दिया है। इन के अतिरिक्त और भी कथाएँ, विधान, कथाकोश तथा उपदेशात्मक विविध रचनाएँ हैं, जो मनुष्य जीवन की विभिन्न घटनाओं पर प्रकाश डालती हुई हमें सम्मार्ग पर चलने का उपदेश देती हैं। स्पष्ट ही इन कथाओं का उद्देश्य मनोरंजन न हों कर रीति-नीति की शिक्षा प्रदान करना है।

अपभ्रंश की कई कथाएँ स्वतन्त्र रूप में या अन्य भाषाओं में लिखित कथाओं के साथ छोटे-बड़े गुटकों में लिखी हुई मिलती हैं। धूलियागंज, आगरा के जैन मन्दिर में स्थित भण्डार के कथाकोशों का विवरण इस प्रकार है—प्रथम कथाकोश में निबद्ध कथाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों में हैं। दूसरे कथाकोश में अपभ्रंश में लिखित कथाएँ हैं—जिनपूजापुरन्दरविधान (पट्कर्मोपदेश से लिखित), चन्दनपट्टी (लाखू) निर्भरपंचमी (विनयचंद), पाखवइ (करकण्ठ से लिखित), पाखवइकथा, सुख-सम्पत्ति विधान कथा, अनन्तविधान, दुधारसि मरगउतारी विधान कथा, सुगन्धदशमी विधान, रोहिणीचरित, निर्दुल्लससमी विधान, जिनरात्रिविधान कथानक और जयमाल। ये कथाएँ छह कड़वकों से लेकर बीस कड़वकों तक में लिखित मिलती हैं। रोहिणी चरित दो परिच्छेदों की रचना है। साधारणतया ये कथाएँ विवरण मात्र हैं, जिन में साधारण रूप से कथा वर्णित है।

१. पं० परमानन्द शास्त्री 'अपभ्रंश भाषा का जैन कथा साहित्य' अनेकान्त, वर्ष ८, किरण ६७, पृ० २५३-७८ तथा—देवैन्द्रकुमार जैन : 'अपभ्रंश कथाकाव्य', 'शोध-पत्रिका' १२, ४।

इन कथाओं में काव्य तत्त्व मुख्य न हो कर इतिवृत्त की प्रधानता है। इस लिए वर्णनों में चमत्कार या विच्छित्ति न हो कर कवन मात्र है। उदाहरण के लिए नगर, वन-उपवन, उद्यान, प्रकृति आदि के वर्णन इन में नहीं मिलते। विधान-पूजा का वर्णन देखिए—

चमरकलस चंदोय ध्यावलि बंदणमाल रंभ सोहावलि ।
गीय णट्ट मंगल णिरघोसहि कोट्टय अक्खय पुंज सुतोसहि ।

जल चन्दण तंदुल बहु फुल्लहि, चर दीवावलि धूव महल्लहि । (त्रिकालवउवीसी, ब्रह्मसाधारण, ३) ऐसे वर्णन भी इन रचनाओं में बिरल हैं। नगर-वर्णन में—

मागहूदेस मज्झि कंबणपुर राउ पसिद्धउ पिगलु णं सुर । (वही, ४)

जैसी पंक्तियाँ ही मिलती हैं। ये कथाएँ आकार-प्रकार में इतनी छोटी हैं कि वस्तु किसी न किसी घटना का प्रकाशन मात्र है। इसलिए उन में वैविध्य नहीं मिलता। वे धार्मिक वृत्तों से नियोजित तथा कल्पित जान पड़ती हैं। संक्षेप में, कथा इन में मुख्य है और काव्य तत्त्व गौण।



पंचम अध्याय

अपभ्रंश-कथाकाव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

कथावस्तु

अपभ्रंश के प्रायः सभी कथाकाव्यों की कथावस्तु लोकजीवन से उद्धृत है। उन में कवि की कल्पना का मेल तथा धार्मिकता का आवरण किन्हीं पौराणिक रुढ़ियों के साथ लक्षित होता है। कथाकाव्यों की अपेक्षा चरितकाव्यों पर पौराणिक प्रभाव अधिक है। आलोचित कथाकाव्यों में कथावस्तु उद्देश्य विशेष से नियोजित है। ऐसी कथाएँ किसी व्रत-माहात्म्य का फल प्रकाशित करती हैं। भ० क० में यदि श्रुतपंचमी व्रत का फल दर्शाया गया है तो श्रीपालकथा में सिद्धचक्र विधान का माहात्म्य और उस का फल वर्णित है। जो कथाएँ किसी उद्देश्य विशेष को ले कर नहीं लिखी गयी वे मूल रूप में लोककथाएँ हैं, जिन पर धार्मिक वातावरण तथा सामाजिक विधान का रंग-रूप चढ़ा दिया गया है। जि० क० और विलासवती की कथाएँ मूलतः लोककथाएँ ही हैं। इन कथाओं में लोकजीवन की वास्तविकता तथा कथाभिप्रायो का सुन्दर योग दिखाई देता है। अतएव वस्तु की प्रथम सामान्य प्रवृत्ति लोक-जीवन की उद्धारणी है, जो किसी न किसी धार्मिक अथवा मानवीय आस्था से सम्बद्ध है।

उक्त कथाएँ शृंखलाबद्ध रूप से वर्णित हैं, जिन में कई कहानियाँ एक साथ जुड़ी हुई हैं। अतएव कई स्थानों पर कथाओं की पुनरावृत्ति किसी न किसी पात्र के विवरण से हुई है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त भविष्यानुकूपा को व्यापार के लिए भाई के साथ घर से निकलने, भाई से छले जाने और भटकते हुए तिलकद्वीप में आ पहुँचने की कहानी सुनाता है। इसी प्रकार घर लौट कर माँ से मिलने पर वह समूचा वृत्तान्त सुनाता है। इसी प्रकार जि० क०, श्रीपालकथा तथा अन्य कथाकाव्यों में कवि स्वयं या किसी पात्र के मुख से एक से अधिक बार कहानी को दुहराते लक्षित होते हैं। अतएव यह भी कथाकाव्यों की एक सामान्य प्रवृत्ति है।

वस्तु संस्कृत कथाओं की भाँति सरस होने पर भी गद्य में वर्णित न हो कर पद्य में वर्णित है।^१ नाटकीय सन्धियों का निर्वाह भी महाकाव्यों की भाँति इन कथाकाव्यों में देखा जाता है। कहानियों की भाँति कुतूहल, ओत्सुक्य और घटनाओं का चमत्कार आदि से अन्त तक इन कथाकाव्यों में मिलता है।

कथानक का विकास मानव-जीवन की पूर्णता को ध्यान में रख कर क्रमशः होता है, जिस में नायक-नायिका संयोग-वियोग के आवतों में झूल कर अन्त में संसार से निवृत्त हो कर पारमायिक प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होते हैं। भारतीय जीवन का लक्ष्य अन्ततोगत्वा परम पुरुषार्थ की प्राप्ति है। अतएव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों की क्रमशः साधना तथा अवाप्ति के लिए नायक-नायिका का प्रयत्न तथा सफलता-प्राप्ति का वर्णन ही उक्त कथाकाव्यों में दृष्टिगोचर होता है।

राजशेखर ने प्राचीनों की दृष्टि से तीन तथा निजी मत से सात प्रकार की कथावस्तु का उल्लेख किया है। दिव्य, दिव्यमानुष और मानुष ये तीन भेद प्राचीन काल से ही साहित्यशास्त्र में वर्गीकृत हैं, किन्तु पं० राजशेखर पातालीय, मर्त्यपातालीय, दिव्यपातालीय और दिव्यमर्त्यपातालीय के भेद से सात प्रकार मानते हैं^१। यही नहीं, दिव्यमानुष के उन्होंने चार उपभेद माने हैं^२। वस्तुतः अर्थव्याप्ति विषयक यह भेद पात्रों की दृष्टि से वर्गीकृत है, जिस में नायक को केन्द्र में रख कर वस्तु की योजना की जाती थी। और इसी प्रकार संस्कृत-साहित्य में नायकों की कोटि के अनुसार प्रबन्ध-मंषटना तथा उस की अभिधा का विधान होता था। किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य में यह व्याप्ति पूर्णतया चरितार्थ नहीं मिलती। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में स्पष्ट रूप से नायक के नर से नारायण बनने की गाथा गभित है। इस लिए नायक के उदात्त-अवदात्त होने के कठोर बन्धन का उन में प्रतिपालन नहीं हुआ है। परन्तु नायक में औदार्य, शौर्य, क्षमा, तितिक्षा, वैर्य, साहस और विवेकशीलता आदि गुणों का समावेश अवश्य दर्शाया है।

अपभ्रंश के कथाकाव्यों की वस्तु उत्पाद्य अर्थात् कल्पित है, क्योंकि लोककथाएँ प्रायः कल्पित ही मिलती हैं। भले ही उन में वर्णित या कही जाने वाली घटना सच्ची हो, पर जनश्रुतियों के रूप में प्रचलित होने से कई प्रकार के परिवर्तन और परिवर्धन उन में देखे जाते हैं। लेकिन ये कथाएँ सच्ची मान कर कही गयी हैं, क्योंकि धार्मिक व्रत तथा अनुष्ठानों में आस्था उत्पन्न करने के लिए कथाओं का स्वाभाविक तथा गतिशील होना आवश्यक है। इन में लोकमनोविज्ञान तथा जन-जीवन की यथार्थता का भलीभाँति समावेश दिखाई देता है। इस लिए अपभ्रंश के कथाकाव्यों में लोकमानस, सामाजिक रीति-नीति तथा रूढ़ियों की प्रबलता लक्षित होती है। प्रथम शताब्दी में ही जैन कथाओं में कथानक-रूढ़ियों का समावेश हो गया था, जिन में लोक-जीवन तथा

१. "स त्रिधा" इति द्रोहिणिः । दिव्यो, दिव्यमानुषो, मानुषश्च । "सप्तधा" इति यायावरीयः ; पातालीयो, मर्त्यपातालीयो, दिव्यपातालीयो, दिव्यमर्त्यपातालीयश्च । काव्यमीमांसा, नवम अध्यायः ।

२. दिव्यमानुषस्तु चतुर्धा । दिव्यस्य मर्त्यगमने, मर्त्यस्य च स्वर्गगमन इत्येको भेदः । दिव्यस्य मर्त्यभावे, मर्त्यस्य च दिव्यभाव इति द्वितीयः । दिव्येतिब्रह्मपरिकल्पनया तृतीयः । प्रभावाविर्भूतदिव्यरूपतया चतुर्थः । वही नवम अध्यायः ।

लोक-विश्वासों का जीता-जागता स्वरूप मिलता है।^१ और इस का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि आज भी ये कथाएँ किसी न किसी रूप में उन्हीं अभिप्रायों तथा घटनाओं के साथ देश-विदेशों में सुनी जाती हैं।

कथा-रूप

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में प्रयुक्त सभी कथाओं का रूप ऐकिक कहानी की भाँति है, जिस में कई सरल कथाओं से मिल कर एक बृहत्कथा बनती है। मूल रूप में कथा बहुत छोटी रहती है। किन्तु वस्तु-वर्णन विभिन्न अभिप्रायमूलक घटनाओं के योग से समूचे जीवन का चित्र चित्रित करने वाले प्रबन्ध काव्य का रूप ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्तकथा में भविष्यदत्त की कथा के साथ तीन अन्य उपकथाएँ जुड़ी हुई हैं। मुनि के आशीर्वाद से भविष्यदत्त का उत्पन्न होना तथा पाँच सौ व्यापारी एवं भाई बन्धुदत्त के साथ यात्रा के लिए जाना और छल से भाई के द्वारा मैनागद्वीप में भविष्यदत्त को छोड़ दिया जाना, वहाँ से भविष्यदत्त का तिलकपुर में पहुँचना और भविष्यानुरूपा से मिलना, बन्धुदत्त के लौट कर आने पर उसी द्वीप में फिर से मिलने और छल से पुनः भाई को अकेला छोड़ कर भाभी के साथ घर पहुँचने की कथा एकसूत्र में बद्ध है। किन्तु पूर्व विदेह क्षेत्र में देवेन्द्र का यशोधर नाम के मुनिराज से पूर्व भव के मित्र धनमित्र की कथा का पूछना और मुनिदेव का इस भव में भविष्यदत्त का वर्णन करना और विपत्ति में पड़ा हुआ बताना, जिसे सुन कर सुरेश्वर का तिलकपुर में आना और भविष्यदत्त को सोता हुआ देख कर भीत पर अक्षर लिख कर मणिभद्र यशेश्वर को कह कर जाना, एक दूसरी कथा है; जो उपवास्य की भाँति आधिकारिक कथा से जुड़ी हुई है। इसी प्रकार भविष्यानुरूपा की कथाएँ तथा विजयार्धवामी मनोवेग विद्याधर की कथा भिन्न कथाएँ होने पर भी उपकथाएँ हैं। कही-कही शृङ्खलित कहानी के रूप भी मिलते हैं। जैसे कि, जिनदत्त सिंहलद्वीप पहुँच कर मालिन से राजकुमारी श्रीमती की कथा सुनता है और वहाँ पहुँचकर जिनदत्त कुमारी को कहानी सुनाता है। उस कहानी का आधिकारिक और प्रासंगिक कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव वह कहानी के भीतर की कहानी है, जो विकसनशील कथातत्त्वों से उद्भूत हुई है। अन्य कथाओं में भी शृङ्खला रूप में कथाएँ आबद्ध हैं, जिन में मुख्य रूप से विलासवती कथा में एक कथा से दूसरी और दूसरी से तीसरी कई कथाएँ एक के बाद एक उपजती चली जाती हैं। संक्षेप में, इन कथाकाव्यों का कथा-रूप ऐकिक तथा शृङ्खलाबद्ध रूपों में दृष्टिगोचर होता है, जो बन्ध की दृष्टि से कसा हुआ तथा प्रभावपूर्ण है।

१. सी० एस० मणिनाथन् : तामिल भाषा का जैन साहित्य, पृ० १०।

कथा-प्रकार

विषय की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्य तीन प्रकार के मिलते हैं। ये तीन प्रकार हैं—प्रेमाख्यानक, व्रतमाहात्म्य प्रदर्शक तथा उपदेशात्मक। विलासवती, जिनदत्त-कथा और पद्मश्रीचरित (पद्मसिरीचरित) प्रेमाख्यानक कथाकाव्य हैं; जिन में विभिन्न संकटों एवं आपत्तियों में डूबते-उतरते नायक-नायिका वियुक्त हो कर सच्चे प्रेम के कारण अन्त में एक-दूसरे से मिलते हैं। इन दोनों ही कथाकाव्यों में नायक-नायिका बिल्कुल कर एक-दूसरे से मिलने की आशा छोड़ बैठते हैं, किन्तु किसी ऋषि या माधु के कहने से मिलने का उपक्रम करते हैं और अन्त में संयोग हो जाता है। सनत्कुमार और विलासवती का प्रेम तो विवाह होने से पूर्व ही स्थिर हो जाता है। नायिका नायक की मृत्यु का झूठा समाचार सुन कर सती होने का उपक्रम करती है, किन्तु असफल हो कर कई स्थानों में ले जायी जाती है और अन्त में एक आश्रम में पहुँच जाती है, जहाँ नायक भी भटक कर पहुँचता है। जिनदत्त का प्रेम भी पुतली के रूप में उत्कीर्ण विमलमती के रूप को देख कर उस पर इतना आसक्त हो जाता है कि काम की दसवी अवस्था तक उस का मनःसन्ताप बढ़ जाता है और उस के साथ विवाह होने पर ही वह शान्त होता है। इस प्रकार इन दोनों कथाकाव्यों में विवाह के पूर्व ही प्रेम-भाव का उदय होना, मूर्ति-दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन से प्रेम का बीज अंकुरित होना, किसी बगीचे में या वाड़ी में नायिका के मिलने पर उस का वृद्धिगत होना तथा दूती के माध्यम से पुष्पित होना और विघ्न-बाधाओं रूपी झकोरों से पुष्प का टूट कर गिरना, पर अन्त में दैवी-पवन से पुष्प का खिल कर वृक्ष रूपी नायक से संयोग हो जाना आदि बातें समान रूप से विलासवती, जिनदत्त और पद्मश्रीचरित में वर्णित हैं।

व्रतमाहात्म्य के फल वर्णनस्वरूप भविष्यदत्त, सिद्धचक्रकथा और सुदर्शन-चरित आदि कथाकाव्य वर्णित हैं। भ० क० में यदि श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य प्रदर्शित है तो सिद्धचक्रकथा में सिद्धचक्र विधान का माहात्म्य वर्णित है और सुदर्शन-चरित में पंचनमस्कार का माहात्म्य-वर्णन के फलस्वरूप सुदर्शन की कथा वर्णित है।

उपदेशात्मक कथाकाव्यों में धर्मपरीक्षा और सप्तव्यसनकथा ही उपलब्ध हैं। इन दोनों ही कथाकाव्यों में असत्प्रवृत्तियों, बुरी आदतों तथा बुरे मार्ग को छोड़ कर जैनधर्म के अनुकूल आचरण करने का उपदेश अभिहित है। अतएव इन में कथा अत्यन्त अल्प अथवा अत्यन्त सक्षिप्त है और इतिवृत्तात्मकता तथा उपदेश की प्रधानता है। इनमें वर्णन की प्रवृत्ति विशेष न हो कर विवरण ही मुख्य है। इस लिए कथा के व्याज से धर्मका उपदेश ही इनका मुख्य प्रतिपाद्य है।

उक्त कथा-प्रकारों में से उपदेशात्मक कथाओं को छोड़ कर दोनों में आधिकारिक कथा के साथ अन्य प्रासंगिक कथाओं की भी योजना मिलती है। कही-कही अवा-न्तर कथाओं तथा पूर्व भव की कथाओं का भी विस्तृत वर्णन दृष्टिगत होता है।

प्रबन्ध-संघटना

अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यों की वस्तु सन्धिबद्ध है। प्रबन्ध-संघटना में सभी काव्यों में नाटकीय सन्धियों, अर्थ-प्रकृतियों एवं कार्यावस्थाओं का निर्वाह देखा जाता है। किन्तु वि० क० को छोड़ कर पताका-रचना अन्य कथाओं में नहीं मिलती है। साधारणतया इन कथाकाव्यों में नायक के द्वारा नायिका तथा राज्य की प्राप्ति का वर्णन है, इसलिए कथा का उठान नायक की द्वीपान्तर-यात्रा से आरम्भ हो कर राजा बनने तक चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर ढल जाता है। अतएव राज्य करने और उस के बाद की अन्य घटनाओं में मुनि के नगरागमन और साधु बनने की घटनाओं को छोड़ कर अन्य कोई घटना इन कथाकाव्यों में नहीं मिलती। और न उस के बाद के अंश की कथा में कसाबट, गति और उतनी रोचकता निहित है, जितनी की कथा के इस अंश के पहले के भाग में लक्षित होती है।

इन कथाकाव्यों की वस्तु का आरम्भ कतिपय साहित्यिक रूढ़ियों के साथ होता है। काव्य-रचना के आरम्भ में मंगलाचरण, आत्मविनय-प्रदर्शन, कथा लिखने का प्रयोजन, कथा-प्रेरक का संकीर्तन, सज्जन-दुर्जन-वर्णन, आत्म-परिचय, श्रोता-वक्ता का उल्लेख तथा प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में या अन्त में ईश्वर-वन्दना (जिनस्तुति) और रचना के अन्त में आशीर्वाद आदि काव्य-रूढ़ियों का पालन हुआ है। उक्त कथाओं में इन में से मंगलाचरण, आत्मपरिचय तथा कथा लिखने का प्रयोजन एवं कथा लिखवाने वाले का उल्लेख अवश्य आगे-पीछे देखा जाता है।

कथाकाव्यों का नामकरण घटना विशेष पर आधारित न हो कर पात्रों के नाम पर ही अधिकतर अभिहित है। यद्यपि व्रतकथाएँ घटना विशेष पर आधारित हैं, पर कथा का नाम प्रायः नायक के नाम पर प्रसिद्ध रहा है। व्रतकथाओं के नाम पर सिद्ध-चक्रकथा और श्रुतपंचमीव्रतकथा कहा गया है। किन्तु श्रुतपंचमीकथा के नाम से प्रसिद्ध न हो कर भ० क० भविष्यदत्त के नाम से आख्यात है। हाँ, सिद्धचक्रकथा अवश्य लेखक ने घटना विशेष के आधार पर नाम दिया है। किन्तु यद्यर्थ में इस का नाम श्रीपालकथा है। अन्य कथाकाव्यों में ससव्यसनकथा घटनाओं के आधार पर दिया हुआ नाम है। गीत रचनाओं जैसे जिनदत्तकथा, भविष्यदत्तकथा, सुदर्शनचरित तथा विलासवतीकथा और पद्मसिरीचरित आदि के नाम नायक-नायिकाओं के आधार पर रखे गये हैं। परन्तु धर्मपरीक्षा की घटनाएँ कार्य विशेष से सम्बद्ध होने के कारण धर्म की श्रेष्ठता दर्शाने के फलस्वरूप उस का नाम धर्मपरीक्षा रखा गया है। इस प्रकार घटना, कार्य तथा नायक-नायिकाओं के नामों के आधार पर इन कथाकाव्यों के नाम अभिहित हैं।

विषय की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्य तीन रूपों में मिलते हैं—प्रेमाख्यानक, व्रतमाहात्म्यप्रदर्शक तथा उपदेशात्मक। इन में से उपदेशात्मक कथा को छोड़ कर

दोनों प्रकार की कथाओं में आधिकारिक कथा के साथ ही अन्य पार्श्विक कथाओं की भी योजना मिलती है। आधिकारिक कथा का सूत्र आदि से अन्त तक परिव्याप्त रहता है। किन्तु इन का सम्बन्ध घटनाओं के क्रमिक विकास में न हो कर कथा-सूत्रों को जोड़ने तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार पूर्व भव की कथा से सम्बन्ध स्थापित करने में है। इस प्रकार सभी कथाकाव्यों में कथावस्तु लोक-जीवन से गृहीत होने पर भी अन्त में कवि की कल्पना उद्देश्य विशेष से उस का सम्बन्ध पूर्व भव की घटनाओं से जोड़ती लक्षित होती है।

यद्यपि अपभ्रंश के कथाकाव्यों की वस्तु ख्यातवृत्त है, पर लोक कथाओं के रूप में उन का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि ये लोक कथाएँ हैं, जिन पर धार्मिक आवरण काव्य-रुद्धियो तथा कथानक के अभिप्रायो के साथ आवेष्टित है। अतएव आलोकित कथाएँ प्राकृत-साहित्य से गृहीत होने पर भी स्पष्ट रूप से एक ही कथा जितनी भाषाओं में लिखी मिलती है उन सब में कुछ न कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, और दूसरे इन कथाओं को लोक से सुन कर लिखे जाने के संकेत मिलते हैं। तीसरे, इन में लोकजीवन का पूरा पट है। लावू ने स्वयं लिखा है कि मैं ने जिनदत्त-कथा को अर्हदत्त (जिनदत्त) से सुन कर लिखा है।

वणि अरुहदत्त कह कहहि तेम

अहिणव विरद्वि महु पुरउ जेम । जि० क० १, ३ ।

तथा—

कीलिय उववणे अरुहदत्तो घणे ।

तहि सदयागउ सवल जिय दिग्गउ । वही, ३, ९ ।

जिनदत्त का दूसरा नाम अर्हदत्त लिखा है। इस प्रकार विबुध श्रीधर ने किसी आचार्य के मुख से सुन कर भविष्यदत्तचरित्र लिखा था।

चन्द्रप्रभस्य जगतामधिपस्य तीर्थाज्जातेयमद्भुतकथा कविकण्ठभूषा ।

विस्तारिता च मुनिनाथगणक्रमेण ज्ञाता मयाप्यपरसूरिमुखाम्बुजैभ्यः ।

भ० क० (श्रीधर), १, ५२ ।

अतएव अपभ्रंश के कथाकाव्यों की कथावस्तु पूर्ववर्ती काव्य-साहित्य के अनुरूप लिखी जाने पर भी किसी आचार्य या व्यक्ति के मुख से सुन कर लिखी गयी है अथवा प्राकृत की कथाएँ जनश्रुतियों के रूप में प्रचलित कथाओं का आधार ले कर लिखी गयी हैं। यही कारण है कि इन कथाओं में प्रयुक्त वस्तु तथा कथानक रुद्धियाँ अन्य लोक कहानियों से बहुत मिलती-जुलती हैं।

संक्षेप में, ये मनुष्य लोक की कथाएँ हैं, जिन में चमत्कारपूर्ण बातों का

समावेश पाठकों के मन पर पूरा-पूरा प्रभाव डालने के लिए किया गया है। कथानक की संयोजना में धार्मिक व्रत का महात्म्य तथा मनुष्य जीवन के क्रमिक विकास की सरणि का रूप पूर्ण रूप से समाहित है। साथ ही लोक-जीवन से सम्बद्ध होने के कारण इन में सामाजिक व्रत-विधानों तथा रीति-नीति का विवरण मिलता है। सभी कथाओं में घटनाओं का क्रमिक विकास दिखाई पड़ता है। वि० क० में यदि कथा का आरम्भ यकायक नाटकीय दृश्य की भाँति चित्रित है तो भ० क० में पौराणिक विधि से और जि० क० में अलंकरणमूलक। लगभग सभी रचनाओं में पूर्व भव की कथा तथा अन्य अवान्तर कथाओं की भी योजना हुई है। आधिकारिक कथा छोटी-छोटी कई कथा-कहियों के मेल से शृंखला रूप में निबद्ध है। अतएव कथा-संघटना जटिल न हो कर सरल है। भ० क० जायसी के पद्मावत की भाँति पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो विभिन्न खण्डों में विभक्त है। इसी प्रकार वि० क० भी दो खण्डों में विभक्त जान पड़ती है। आधिकारिक कथा में घटनाओं के उठाव में वातावरण तथा संयोग का अद्भुत सामंजस्य है। कही-कही दैवी संयोग से भी काम लिया गया है। वि० क० में और जि० क० में नायक के जीवन में बाह्य संघर्ष और आन्तरिक संघर्षों की मुख्यता होने से घटनाओं में कई मोड़ दृष्टिगोचर होते हैं, जिन से कथानक में आकस्मिक गतिशीलता आ गयी है। सामान्य रूप से सभी कथाकाव्यों में बाह्य और आन्तरिक संघर्ष का मेल प्रतिपादित है। घटनाएँ धीरे-धीरे आगे बढ़ती हैं और संघर्षों की क्रिया-प्रतिक्रिया में उग्र बन कर चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं तथा अन्त में बड़ी तीव्रता से निगति की अवस्था में दिखाई देने लगती हैं। वस्तुतः कथानक की इन स्थितियों का सम्बन्ध फलागम एवं फलप्राप्ति से है। जहाँ कार्य सिद्ध हुआ वही कथा की घारा विरत हो कर बिखर जाती है। अतएव इन कथाओं के अन्त में मिलने वाली पूर्व भव की कथाओं का सम्बन्ध मुख्य कथा से न हो कर हेतु रूप में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्थापित करने तथा जन्म-जन्मान्तरो के कथासूत्रों से जोड़ने में है। अतएव इन में घटनाओं का विकास न दिखा कर उस का विवरण मात्र का उल्लेख मिलता है। किसी-किसी कथा में मुनिव्रत के पालन तथा तप करने का वर्णन है और जि० क० में तीनों लोकों की रचना का विस्तृत वर्णन है। ये वर्णन कथा के अन्त में होने से कथा की गतिशीलता में कोई व्यवधान या बाधा उपस्थित नहीं हुई है। प्रयोजन की निवृत्ति के पश्चात् ही ऐसा हुआ है। वस्तुतः साहित्यिक प्रयाजन लौकिक सुख की प्राप्ति होने पर ही हो जाता है। किन्तु इन सभी कथाकाव्यों में पारलौकिक सुख (स्वर्ग एवं मुक्ति-प्राप्ति) भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त तथा धार्मिक व्रत-कथाओं के फल रूप में वर्णित है। इस प्रकार दुहरे प्रयोजन इन काव्यों में भलीभाँति निहित है। यथार्थ में कथा की संयोजना धार्मिक व्रत का महात्म्य तथा मनुष्य जीवन के क्रमिक विकास को समक्षने के निमित्त हुई है। और इसी लिए ये सभी कथाएँ कथानक-रूढ़ियों से समन्वित हैं, जिन में मध्यकालीन भारतीय जीवन की सामान्य शलक झलमलाती लक्षित होती है।

वस्तु-वर्णन

इन कथाकाव्यों में वस्तु-वर्णन परम्परामुक्त, श्लिष्ट और परम्परामुक्त तीनों रूपों में मिलता है। परम्परागत वर्णनों में रूढ़ उपमानों, एक ही प्रकार से वस्तु का वर्णन तथा रूढ़ कल्पनाओं का परिपालन दृष्टिगोचर होता है। नगर, राजा, समुद्र, विवाह, युद्ध, कुमार-जन्म, मत्तपान-मोछी और रूप-वर्णन आदि परम्परित हैं, जिन में अधिकतर रूढ़ कल्पनाओं तथा उपमानों का प्रयोग हुआ है। परन्तु संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में उल्लिखित कवि-समय का पूर्णतया पालन इन में नहीं हुआ है। फिर भी, काव्यगत कुछ रूढ़ बातें प्रयुक्त हैं। उदाहरण के लिए, समुद्र को परम गम्भीर कहना, सुन्दर नगरी को स्वर्ग का एक खण्ड बताना, वसन्त में कोयल का कूजना और वन-वर्णन में वृक्षों को नामावली प्रस्तुत करना आदि। श्लिष्ट वर्णनों में कुमार जिनदत्त तथा समुद्र के वैभव की तुलना, वनवर्णन तथा सन्धारजनीवर्णन आदि स्थल दृष्टिगत होते हैं।

मीनमयरिल्लओ मंगलसमिल्लओ
णं सुकइसच्छओ दंसियपयच्छओ
कण्डूव सल्लोणओ संखसिरिमाणओ
वेयलपधारओ णं सुपडिहारओ
कसणकज्जल अलसिकुसुमयलि
घणतमालदलपडलवणज्जं

तममोहिउ सुन्दरयरुवि
खलसंगेलि चित्तु इउ

णीलरुविणिच्छरो वोमुव सविच्छरो ।
पेयपयमुण्णओ मीवयणिट्ठणओ ।
विअगिरिसणिहो पोसियसमयइहो ।
मेट्टवकपारवो कंठुव सहारओ । (४, २०)
अलिसिमिर मसिसम सरिस ।
वह्दिसिवहूपसरियउ तिमिर तेण भुवणयलु
छण्णउं ।

भुवणु बहूउ रउदु ।
सउज्जण होइ जु खुदु ॥ (३, २४)

इन वर्णनों में श्लेष अलंकार तथा उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार लक्षित होता है। अलंकृत वर्णनों में जि० क० मुख्य है, जिस में राजा, नगरी आदि का वर्णन अलंकृत है। ऐसे वर्णनों में अलंकारों की ही विच्छित्ति देखी जाती है। यदि उन्हें अलंकारनिर-पेक्ष देखा जाय तो वर्णन में सौन्दर्य नहीं रह जाता है। वस्तुतः अपभ्रंश के कथाकाव्यों में श्लिष्ट एवं अलंकृत वर्णन बहुत कम है। कहीं-कहीं प्रकृति की पृष्ठभूमि में तथा वातावरण के बीच अवश्य सुन्दर चित्र दिखाई देते हैं।

परम्परामुक्त वर्णनों में तेल चढ़ाना, शकुन-अपशकुन, बरात, पंगत (पंक्तिभोज), समस्यापूर्ति करना तथा पूजा-स्तवन आदि के वर्णन निहित हैं। इन वर्णनों में लोकगत उपमानों का प्रयोग होने से तथा शैली की सरलता और सरसता से वर्णन अत्यन्त सजीव बन पड़े हैं। लोकमूलक गीति शैली में वर्णित होने से इन में माधुर्य और प्रवाह है। ये वर्णन सर्वत्र प्रसाद गुण से युक्त हैं।

भाव-व्यंजना

भाव-व्यंजना की दृष्टि से मानवीय प्रेम की प्रतिष्ठा तथा लोकव्यापी सुख-दुःख मय घात-प्रतिघातों के बीच संयोग और वियोग की विवृति एवं परमपद की प्राप्ति समान रूप से सभी कथाकाव्यों में वर्णित है। भ० क० में यदि माता और पुत्र का अमित स्नेह आप्यायित है तो विलासवती में नायक और नायिका का सच्चा एवं पवित्र प्रेम की उत्कृष्टता तथा श्रीपाल और सिद्धचक्रकथा में मनुष्य की भोगलिप्सा और नारी के अवदात प्रेम की गाथा वर्णित है। अतएव संयोग और वियोग की विभिन्न स्थितियों में मानसिक दशाओं का सहज चित्रण हुआ है। आत्मगर्ही, श्लानि, पदचात्ताप, विस्मय, उत्साह, क्रोध, भय आदि अनेक भावों का संचरण विभिन्न प्रसंगों में लक्षित होता है।

कई वर्षों के बाद बेटे से मिलने पर सेठानी की आँखें आँसुओं से गीली हो जाती है। वह उसे गोद में उठा लेती है। मातृस्नेह उमड़ पड़ता है। स्तनों से दुग्ध की धारा बह उठती है। वह बेटे का सिर चूमती है और आलिंगन करती है।

सेट्टिणि पुणु असुजलद्वय	उच्छंने करेवि सुउ लवइ वत्थ ।
तुहुं जायउ अज्जवि मज्झु पुत्त	महुलीरपवाहें भरिय सोत्त ।
सिरि चुंवेवि आलिंगिवि बहुत्तु	आणंद सुय सिवियउ पुत्तु । (६, ११)

इस प्रकार पुत्र के संयोग से हर्षातिरेक में माता का वात्सल्य भाव यहाँ अभिव्यंजित है। इसी प्रकार जिस समय भविष्यदत्त भाई के साथ वाणिज्य के लिए द्वीपान्तर की यात्रा करने का विचार करता है तब माता कमलश्री का मन भय और आशंका से भर जाता है। वह कहती है—एक तो द्रव्य कमाने के लिए बाहर जाने की इच्छा विचित्र है और दूसरे दैव का चारित्रिक विधान कौन जानता है? यदि सरूपा दुष्टता से बन्धुदत्त को सिखा-पढ़ा दे तो वह तुम्हारा अमंगल करेगा और लाभ की चिन्ता में मूल भी गँवा बैठेगा।

एक्क दग्धि अहिलासि विचित्तइ	को जाणइ दाइयहं चरित्तइ ।
जइ सरूव दुट्ठत्तणु भासइ	बन्धुवत्तु खलबयणहिं वासइ ।
तो तउ करइ अमंगलु जंतहो	मूलु वि जाइ लाहु चित्तंतहो ।

भ० क०, ३, ११ ।

पुत्र के प्रति माता की यह शंका स्वाभाविक ही है। माता और पुत्र को विविध मनःस्थितियों की इन सभी कथाकाव्यों में स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। प्रिय के दुःख की आशंका तथा सुख का अनिश्चय संकल्प-विकल्पों में ही नहीं अनुभूत मानवीय भावों में अभिव्यक्त है। सौत की मनोदशा का परिज्ञान तथा अमंगल की शंका इन्हीं भावों में उच्छ्वसित है, जिन से कमलश्री के अनुभवजन्य ज्ञान का पता लगता है। किन्तु भविष्यदत्त छल से बन्धुदत्त के साथ भविष्यानुषा के चले जाने पर जहाँ उस का मन

प्रिया के वियोग में सन्तप्त हो उठता है, वियोग की आँच को नहीं सह पाता है, वहाँ प्रियतमा के सम्बन्ध में नाना संकल्प-विकल्पों से भर जाता है। उस में भय, आशंका, तिरस्कार और नारी विषयक शील सम्बन्धिनी आशा तथा त्रास के भाव संचार करने लगते हैं। वह कहता है—मेरी प्रियतमा मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी है। न जाने उस की क्या गति होगी? अथवा जिसने उसे ग्रहण कर लिया है वही उसे त्रास देगा। मुझे छल से, जो पोत चलवा कर अकेला छोड़ गया है—भला उसे अन्त तक वह क्यों छोड़ेगा? यदि किसी प्रकार बलात्कार किया जायेगा तो निश्चय ही वह प्राणों का विसर्जन कर देगी अथवा दुःख शील के बल से छूट जायेगी।

अणुवि आसि महादिहिगारउ	पियकलत्तु पाणहंमि पियारउ ।
ण मुणहं तहिमि कावि गइ होसइ	अह जं जेण गहिउ तं तासइ ।
मइ वंचिवि जो पोयइ पिल्लइ	सो अवसाणि सावि किं मेल्लइ ।
इच्छइ जइवि णाहि तो फिट्ठइ	दिढ सीलहु वलेण जइ छुट्ठइ ।

भ० क०, ७, ७ ।

अपनी पत्नी के छोड़े जाने पर इस प्रकार के शंका, वितर्क, भय और त्रास आदि भावों से भरित संकल्प-विकल्पो का उठना स्वाभाविक ही है।

पति श्रीपाल के समुद्र में गिरा दिये जाने पर वियुक्त रत्नमंजूषा जहाँ पति के गुणों का स्मरण कर उनकी याद करती है, वही माता-पिता और अपने भाग्य की कोसती है। वह कहती है—मेरे पिता ने निमित्तज्ञानी के कहने से मेरा विवाह-परदेश में क्यों किया?

पाविउ मइं विण्णिवि उसहेसहं	काहे वप्प विण्ण परएसह ।
तेण कहिउ जं कहिउ णिमित्तिय	सो मइं तुज्झु विहायउ पुत्तिय ।

सि० क०, (नरसेन), १, ४२ ।

किंतु श्रीमती अपने शरीर और हृदय को कोसती है और निर्लज्ज बता कर उन की निन्दा करती है। उस का कथन है कि संयोगावस्था में रतिविषयक सुख को प्राप्त कर जिस शरीर और हृदय ने आनन्द लूटा है उसे अब लज्जित हो कर तड़ाक से फूट जाना चाहिए।

तें तुव भमउं समउं रहरससुहु सेवताहं वट्टए ।

कुण्णिषे मे सरीरि लज्जाहुव हियउ तडत्ति फुट्टए ॥ जि० क०, ४, २५ ।

यहाँ पर नायिका का वियोगाधिक्य तथा पति के प्रति वास्तविक रति-भावना और विवशता के भावों का एक साथ उदय हो कर श्रीमती को मथता-सा लक्षित हो रहा है। कई प्रसंगों में भावों की सबलता तथा एक से अधिक भावों का संचार एक साथ अभिव्यक्त हुआ है। भावों की तीव्रता में मनुष्य की विभिन्न मनस्थितियों का स्पष्ट चित्रण मिलता है। भ० क०, जि० क०, वि० क० और सि० क० (नरसेन)

रचनाओं में भाव व्यञ्जना में कवियों की भावोत्कर्ष की अभिव्यक्ति में निश्चय ही सफलता मिली है।

बालोचित कथाकाव्यों में विभिन्न मार्मिक स्थलों की सुन्दर संयोजना हुई है, जिन में से कुछ मुख्य हैं—बन्धुदत्त के छल से भविष्यदत्त को द्वीप में अकेला छोड़ देने पर साथ के लोगों का मन ही मन संताप करना, अपने आप को चिन्तित करना, भविष्यदत्त को अकेला छोड़ कर बन्धुदत्त के घर लौटने पर कमलश्री की व्याधा का बढ़ जाना, भविष्यानुष्ठा के सात-समुद्र के सम्बन्ध में पूछने पर माता की ममता का स्मरण कर भविष्यदत्त के हृदय का द्रवित हो जाना, श्रीपाल का मैनासुन्दरी से वियुक्त हो कर द्रव्यार्जन के लिए द्वीपान्तर की यात्रा करना, श्रीपाल और जिनदत्त का समुद्र पार करना, विलासवती और सनत्कुमार तथा पद्मश्री और समुद्रदत्त का उद्यान में मिलन, हंस और हंसी का वियोग वर्णन और माता का पुत्र से मिलना इत्यादि। मार्मिक स्थलों से कथा की रसात्मकता का संचार होने के साथ ही पात्रों की मन-स्थिति का भी परिज्ञान हो जाता है। मार्मिक दशाओं में वात्सल्य, दाम्पत्य और पति-भक्ति आदि में निहित रति भाव, क्रोध, भय, हास, उरसाह, जुगुप्सा और निर्वेद नामक स्थायी भावों तथा विविध संचारी भावों और अनुभावों का विधान हुआ है।

सभी कथाकाव्यों का पूर्वार्द्ध शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों से अनुरंजित है, किन्तु उन का पर्यवसान शान्त रस में होता है। इस लिए शृंगार और शान्त सामान्यतः दो ही रस मुख्य हैं। लेकिन भ० क०, सिद्धचक्र कथा और विलासवती कथा में वीररस का भी मधुर परिपाक हुआ है। अन्य रसों में हास्य, करुण, रोद, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत का सन्निवेश यत्र-तत्र हुआ है।

रसाभिव्यञ्जना में अपभ्रंश-कवियों ने औचित्य का पूर्ण ध्यान रखा है। कहीं भी विरोधी रसों तथा विरुद्ध बातों की एक साथ अभिव्यक्ति नहीं हुई।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण में अपभ्रंश कथाकाव्यों के लेखकों में धनपाल, लाखू और साधारण सिद्धसेन को जितनी सफलता मिली है, उतनी अन्य किसी कथाकाव्यकार को नहीं। इस कथाकाव्य के लेखकों ने सामान्य व्यक्ति को नायक बना कर उस के जीवन के चरम उत्कर्ष की सरणि प्रदर्शित की है। कथाकाव्यों में जहाँ यथार्थ से आदर्श की ओर बढ़ने तथा जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का संदेश निहित है, वही जन सामान्य की मांगलिक भावनाओं की मधुर अभिव्यञ्जना है। सामान्य रूप से इन कथाकाव्यों में जीवन के घोर दुःखों के बीच उन्नति का मार्ग प्रदर्शित है, जिस पर चल कर कोई भी व्यक्ति सुख एवं मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि इन कथाकाव्यों के नायक राजर्षि वंश के अथवा प्रख्यात नहीं हैं, पर राजोचित आन-बान तथा उदात्त गुणों से युक्त हैं। वे धीर-वीर ही नहीं क्षमाशील और उदार भी हैं। उन से जहाँ एक ओर दाक्षिण्य तथा आत्मविनम्रता है, वही दूसरी ओर साहस तथा सात्रोचित आत्मतेज एवं दर्प का उज्ज्वल प्रकाश है। वे स्वामिमान से भरे-पूरे तथा अग्न्याय का प्रतिकार करने वाले हैं। उन में मधुरता और सरलता का अद्भुत मिश्रण है। जीवन की कठोरताओं का अनुभव कर वे वास्तविकता से परिचित होते हैं। और इसी लिए जहाँ नायक उदात्त गुणों से समन्वित हैं, वही यथार्थ के धरातल पर असहाय, दीन, विवश, क्लिप्तव्यविमूढ़ और संकटों से भरपूर हैं। उन के जीवन में जहाँ पिता का तिरस्कार, भाई का छल-कपट, धर्मपिता का विश्वासघात, आधि-व्याधि आदि बिघ्न-बाधाओं की भरमार है, वही माता का स्नेह, प्रियतमा की सेवा-शुश्रूषा और पुण्यजनित सुख-वैभव तथा दैवी संयोगों की मधुरता परिव्याप्त है। स्पष्ट ही अपभ्रंश के कथाकाव्यों में सामान्य व्यक्ति को नायक स्वीकार कर कदाचित् भारतीय साहित्य में पहली बार शास्त्रीय विधान से जलग कथाकाव्य की रचना का प्रचलन हुआ। कहने का अभिप्राय यही है कि कथा-काव्य में चित्रित नायक दुःख और सुख दोनों से आपूरित हैं। किन्तु उन का जीवन दुःख से आरम्भ होता है और अनेक संकटों को झेलने के अनन्तर कही सुख की झलक मिलती है। वास्तव में दुःख ही उन के जीवन को सुख की ओर बढ़ने के लिए उज्ज्वल आशा एवं प्रकाश करता है। और दुःख के बाद ही वे वियोग की आँच में तंच कर सुख-संयोग प्राप्त करते हैं।

यदि इन कथाकाव्यों को ध्यान से देखें तो सामान्य व्यक्ति के नायक होने पर भी वे वणिक् या राजपुत्र ही होते हैं, माली, बर्दई या चमार नहीं। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि ये कथाएँ सौदागर या व्यवसायी वणिक्पुत्रों तथा प्रेमी राजकुमारों के आख्यानों को ले कर लिखी गयी है। अतएव इन का प्रतिपाद्य विषय भी उक्त दोनों से सम्बद्ध है। द्वीप-द्वीपान्तरो की यात्रा के लिए वणिक् कुमारों का सार्यवाहों के साथ नाना इतिहास प्रसिद्ध है। इसी प्रकार अधिकतर प्रेमकथाएँ राजकुमारों से सम्बन्धित मिलती हैं। मनुष्य-जीवन की भाँति प्रबन्ध एवं कथा में मानव का चरित्र ही मुख्य होता है। कवि या लेखक विभिन्न चरित्रों को प्रकाशित कर हमारे जीवन की परतें खोल कर रख देता है। अतएव कई प्रकार के चरित्र हमें काव्य और कथा-साहित्य में देखने को मिलते हैं। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में मुख्य रूप से वर्गगत और वैयक्तिक चरित्रों का चित्रण हुआ है। वर्गगत चरित्रों में हम विरोधी प्रवृत्तियों वाले पात्रों तथा चरित्रों को कई कोटियों (Types) में वर्गीकृत देख सकते हैं, जिन में भविष्यदत्त, कमलधरी, मैनासुन्दरी और बिलासवती का चरित्र मुख्य है। प्रवृत्तियों में प्रवृत्त पात्रों के वर्गगत चरित्रों में भी कई अन्तर दृष्टिगत होते हैं। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त सीधा-सरल, निर्भय और साहसी है, पर उस की माता कमलधरी चालाकी की, छल-कपट को जानने वाली भय और आशंका से सदा त्रस्त रहती है। इसी प्रकार अन्य वर्गगत चरित्रों में जहाँ

हमें सख्या, राजा पयपाल, रानी अमंगवती आदि में व्यक्तिगत तथा जातिगत स्वभाव, संस्कार एवं चारित्रिक मिलापन दिखाई देता है, वही वे असत् प्रवृत्तियों के समवेत धर्म में पृथक् रूप से ललित है।

कुल मिला कर आदर्श और सामान्य दोनों रूपों में कथाकाव्यों में चरित्रांकन हुआ है। आदर्श चरित्रों में सामान्य वणिक् पुत्र, साहसिक कुमार, सफल सेनापति, प्रशासक और महापुरुष एवं स्वर्ग प्राप्त करने वाले मुनि के रूप में भविष्यदत्त का चारित्रिक स्वरूप तथा इसी रूपा में जिनवत्त का रूप दिखाई पड़ता है। कथाकाव्य में चित्रित सभी प्रमुख पात्र सामान्य से विशेष की ओर उन्मुख होते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वे आदर्शोन्मुख यथार्थ का प्रतिनिधित्व करते हुए चित्रित किये गये हैं। इस दृष्टि से ये भिन्न प्रकार के चरित्र हैं, जो विशेष रूप से अपभ्रंश प्रबन्धकाव्यों में चित्रित हैं।

प्रत्येक काव्य की सफलता-असफलता का बहुत कुछ श्रेय पात्रों के चरित्र पर निर्भर रहता है। जो चरित्र हमारे जीवन के अधिक निकट होते हैं तथा जिन में मानवीय गुणों का समावेश रहता है वे हमारे जीवन पर अधिक प्रभाव डालते हैं। किन्तु वैयक्तिक गुणों के साथ ही उन में कुछ सामाजिक संस्कार निहित रहते हैं, जो रुढ़ियों तथा धर्म-विश्वास आदि में परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए—जैनधर्म में कर्म-सिद्धान्त व्यवहार तथा आध्यात्मिक दोनों ही रूपों में सब से मुख्य सिद्धान्त है। इस लिए इस सम्प्रदाय के लोगों के द्वारा लिखित कथा या प्रबन्ध आदि में नायक-नायिका में संस्कार या शिक्षा के रूप में अवश्य ही कर्म-सिद्धान्त पर विश्वास या आस्था प्रकट की जायगी। यदि हम ध्यान से कथाकाव्यों में वर्णित सभी कथाओं का अवधान-पूर्वक अध्ययन करें तो हमें अचरज होगा कि सभी कथाओं के मूल में कर्म पर विश्वास विशेष अभिप्राय के रूपा में निहित है।

डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य के विचार से भारतीय साहित्य अत्यन्त प्राचीन काल से धार्मिक गाथाओं एवं कथाओं में सामान्य विश्वासों से बँधा हुआ है। कर्म और भाग्य विषयक मान्यता युग-युगों से ऐसा ही सामान्य विश्वास है। देवी-देवताविषयक कुछ विश्वास तथा यक्ष-यक्षिणियों की पूजा के संकेत इन कथाकाव्यों में मिलते हैं। इस प्रकार कथाओं का धरातल सामान्य जीवन से सम्बद्ध है, जिस में धवल सेठ, डोम, बन्धुदत्त, सपूद्रदत्त आदि सामान्य चरित्र तथा उन के साथ ही श्रीपाल, विद्याधर, भविष्यदत्त, जिनदत्त आदि आदर्श नायक तथा चरित्रों की अवतारणा हुई है।

यद्यपि कथाकाव्यों में गृहीत नायक बिल्कुल आदर्श नहीं हैं, पर उन का जीवन एवं चरित्र आदर्शोन्मुख है। अतएव हम उन्हें सामान्य चरित्र का नहीं कह सकते। वस्तुतः उन के जीवन का क्रमिक विकास सत्प्रवृत्तियों के कारण ही होता है। इस

लिए भले ही वे राजर्षि या अवतार न हों, पर सामान्य व्यक्ति के रूप में उन का चरित्र शुद्ध माननीय है। पात्रों का विचार करते हुए हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि नायक दिव्य न होने पर भी अपने असाधारण कार्यों से दिव्यमानुष अवश्य हैं जो अन्त में दिव्यता को प्राप्त करते हैं। सभी कथाकाव्यों के नायकों का चरित्र उदात्त एवं भव्य है, इस लिए उन्हें सामान्य नहीं कहा जा सकता। हाँ, वे सामान्य जीवन के व्यक्ति हैं। काव्य में प्रत्येक असाधारण एवं अवतारी पुरुष तक को सामान्य व्यक्ति के रूप में चित्रित करना ही पड़ता है, नहीं तो रस-रङ्ग में साधारणीकृत कैसे हो सकेगा? इस प्रकार कथाकाव्य में तो नहीं, पर चरितकाव्य में अवश्य नायक दिव्य देखा जाता है। इस दृष्टि से चरित और कथाकाव्य में वही अन्तर है, जो नाटक और प्रकरण में है। नाटक में राजर्षिवंश का चरित होता है जो दिव्यता से युक्त रहता है,^१ किन्तु प्रकरण में न तो नायक उदात्त होता है और न दिव्यचरित।^२ यहाँ इतना विशेष है कि कथाकाव्य का नायक उदात्त ही होता है।

संक्षेप में, नायक धीर, वीर, क्षमाशील, विनयी आदि उदात्तगुणों के रूप में बिजित तथा सद्गुणों का प्रकाशक दृष्टिगत होता है। यह सच है कि संस्कृत काव्य-परम्परा की मान्यता के अनुसार अपभ्रंश के काव्यों में नायक का स्वरूप नहीं दिखलाई पड़ता है, किन्तु जाति के रूप में या वंश के रूप में नहीं, अपितु प्रवृत्ति और चरित्र के रूप में नायकोचित गुणों की प्रतिष्ठा तथा उस का स्वरूप अपभ्रंश के कथाकाव्यों में भली-भाँति लक्षित होता है।

संवाद-संरचना

अपभ्रंश के कथाकाव्यों में संवाद-संरचना कई रूपों में मिलती है। यदि जि० क० के संवाद अलंकृत हैं और गीति गौली में कही-कही वर्णित हैं तो भ० क० में सरल, स्वाभाविक और सजीव हैं। प्रायः सभी कथाकाव्यों में संवादों की मधुरता और सरसता लक्षित होती है। किसी-किसी में हाव-भावों का पददर्शन तथा व्यंग्य का भी उचित संनिवेश हुआ है। बड़े और छोटे दोनों प्रकार के संवाद इन कथाकाव्यों में मिलते हैं। वि० क० में कुछ संवाद कहानी बन गये हैं और कुछ संवाद अधिक लम्बे हो गये हैं। किन्तु सि० क० में संवाद संक्षिप्त और मधुर हैं। इन सभी कथाकाव्यों में वातावरण तथा दृश्यों के बीच संवादों की योजना हुई है। भाषा भी संवादों के अनुकूल है। इन संवादों में नाटकीयता, वाक्चातुर्य, कसावट तथा भावों का पूरा प्रदर्शन परिलक्षित होता है।

१. प्रत्यातवस्तुविषये प्रत्यातोदात्तनायकं चैव ।

राजर्षिवंशचरितं तथैव दिव्याधयोपेतम् ।

नानाभिभूतिसंयुतमृद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव ।

अद्भुतवैशकार्यं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥ नाट्यशास्त्र, १८, १०-११ ।

२. नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसंभोगः । वही, १८, १०० ।

अकेली भ० क० में मनोवैज्ञानिक चरित्र, नाटकीयता, प्रवाह एवं क्षिप्रता तथा हाव-भावों का प्रदर्शन संवादों में सुनियोजित है। किसी-किसी कथाकाव्य में स्थानीय रंगीनता (Local Colours) भी देखी जाती है।

कउण काज बेरी आरडहि, काहे कारण पलावे करहि ।
 किसि कारण दुख घरहि सरीर बेगि कहेहि इउ जंपड वीर ॥
 जि० चउ०, २०६ ।

तथा—

अम्हारउ णरवइ कवणु चोज्ज, घोबी चमार घर करहि भोज्ज ।
 खर कूकर सूवर गसहि मास हमि डोम भाउ कहियहि कण्णास ॥
 —सि० क० (नरसेन), १, ४९ ।

कथानक के विकास में भी इन संवादों का महत्वपूर्ण योग है। संवादों के कारण ही पात्र सजीव बन गये हैं। नरसेन कृन सि० क० में धरेलू वातावरण, सक्षिप्तता तथा कसावट संवादों में ही लक्षित होती है। संक्षेप में, अपभ्रंश के कथाकाव्यों में निहित संवादों में निम्न-लिखित सामान्य बातें दिखाई पड़ती हैं—

संवादों के बीच चलते हुए वर्णनों का समावेश, वातावरण, दृश्य एवं चित्रों के बीच संवाद-योजना, संवादों में कथा की आवृत्ति, चलती हुई भाषा में मधुर तथा सरस संवादों की रचना और सरलता, सरसता तथा सजीवता की अभिव्यक्ति। इसी प्रकार सामान्यतः संवादों में कसावट, वाग्वैदग्ध्य और प्रसंगानुकूल भावों के उतार-चढ़ाव लक्षित होते हैं। कुल मिला कर संवादों की संयोजना उक्त कथाकाव्यों में विषयानुरूप विभिन्न मनःस्थितियों में उत्तम बन पड़ी है।

कलात्मक संविधान

भाषा

जिनदत्तकथा को छोड़ कर अपभ्रंश के कथाकाव्यों की भाषा सरल तथा शास्त्र और लोक के बीच की मिश्रित भाषा है। प्रयुक्त भाषा में बोलचाल के शब्द, मुहावरे लोकोक्तियों एवं सूक्तियों के समावेश के साथ ही संस्कृतनिष्ठ अथवा संस्कृत से बने या बिगड़े हुए शब्दों की प्रचुरता है। जि० क० में शब्दों की तोड़ मरोड़ अधिक मिलती है। लेकिन विकृत शब्दों में संस्कृत से आगत शब्दों का ही बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द निम्न-लिखित हैं—

अवमत् (अर्भक), सम्पसूण (सप्रसून), णाडणिलए (नाकनिलये), इच्छाइ (इत्यादि), वहुव (बभूव), इहा (इमा-द्विनी), बिडोउ (विडौजा-इन्द्र), उवायण (उपायन), छम (छद्म), तण्ग (तन्वंगी), णिसाडय (चन्द्रमा), आकूवारवीइव (आकूपारवीचीइव), फगु (फल्गु-व्यर्थ), वग्गु (वर्ग), दोहियइ (दोषिका), णिरवेहि (निर्वापः), अरियण (अरिजन), रण (अरण्य), अलविय (अलपित-मौन), अडइ (अटवी), संभंत (संभ्रान्त), मइ (मम), अवुवा (अवुवाणा), इंगिव (इंगित), आसेसण (आश्लेषण-आलिंगन), विमुउ (विश्रुत), कणिलउ (कनिलय-जलस्थान, समुद्र), वत्तु (वक्त्र), मुइयउ (मुदित), विट्टु (वृद्ध) और कोय (कोक) इत्यादि ।

कुछ शब्द-रूप तो ऐसे हैं जिन को सहज में समझ लेना सरल नहीं है । कई आवृत्तियों के पश्चात् तथा कवि की उक्त प्रवृत्ति से भलीभाँति परिचित हो लेने पर ही ये शब्द-रूप समझ में आते हैं, जो इस प्रकार हैं—

खेउ (खेद), कउक्के (कुतोत्कृष्टे), तप्पर (तत्पर), सीयरियइ (स्वीकृत), पउत्त (प्राप्त), सेउ (श्रेय), उत्त (युक्त), पंचास (पचास्य), सारय (शारद, शरदकालोन) जलघर) आदि । जि० क० में ही कहीं-कहीं संस्कृत के शब्द ज्यों के त्यों प्रयुक्त हैं और कहीं-कहीं वाक्य रचना पर स्पष्ट रूप से संस्कृत का प्रभाव लक्षित होता है । संस्कृत के कुछ शब्द हैं—महाविष् (आकाश), भूषणु (भूवनुप), मेहिलो (मेघिलो), मेठु (मेष्ठ), अइ (अह्नि, दिन), ख (आकाश), णोड (नौड), वेस (वेश), रव, दल (पत्ता), को (कौन), आलय, कंठ, सेमल, सरल, साल (शाल), देवद्रुम और देवदार इत्यादि । इसी प्रकार गणिया (गणिका), विड (विट), खामोयिर (खामोदरी), कर (हाथ), वासर (दिन), उदर आदि शब्द भी दृष्टिगत होते हैं । इन शब्द-रूपों का देखने से स्पष्ट हो जाता है कि जि० क० की भाषा पर निश्चय ही संस्कृत का प्रभाव है । यही नहीं, लाखू ने संस्कृत के शब्दों को अपभ्रंश की प्रकृति में ढाल कर उन्हें विकृत रूप में अपनाने की चेष्टा की, जिस से भाषा में कृत्रिमता झलकने लगी है । केवल शब्द-रूपों पर ही नहीं क्रिया-रूपों पर भी संस्कृत का प्रभाव देखा जा सकता है । जैसे कि—पिच्छंती (प्रेक्षयन्ति), पायडिय (प्रकटित), संकमिल्लु (संकमित), उण्णमिय (उन्नमित), परिणिय (परिणीता), आणिउ (आनीत), वहुव (बभूव), अंचित, संपाइउ (संप्राप्त), विरएव (विरचित), जति (यान्ति), संतविय (संतप्त), वहेइ (वहति), बट्टए (वर्तते), पमणिउ (प्रमणित), पयासइ (प्रकाशते) और णिवसंति (निवसन्ति), विरइउ (विरचित) इत्यादि ।

इसी प्रकार वाक्य-रचना पर भी कई स्थलों पर संस्कृत की झलक भलीभाँति दृष्टिगोचर होती है । विभक्त्यर्थ प्रयोगों में संस्कृत की तृतीया विभक्ति का प्रयोग स्पष्ट रूप से कई स्थलों पर हुआ है । उन के उदाहरण हैं—

सुणेइ तं जिणाइदत्तिणा पयंपिउ । उट्टिउए—ऊर्ध्वं दृष्टि से
णवकारें जलणिहि बुद्धु वोर उच्छलित ण अब्भुउ गुणगहीर ।
आवीलिनि संसालें जणसंसालें ताहि रोलु सुणि जुविजुवा ।

जिणयत्त विवाहुच्छवरसिणा णं णडंतु चालिय भुवहिं ।
चित्तइ मणेण जणि विणु धणेण होइ ण असोउ जणवरउ भोउ ।
गोघूलिय वेलए लेव हारि परिणिय जिणयत्तें सा कुमारि ।

सर्वनाम शब्दों का प्रयोग भी किसी-किसी स्थान पर संस्कृतनिष्ठ दिखाई देता है । किन्तु ऐसे प्रयोग विरल ही हैं । उदाहरण के लिए—

ता दिट्ठ तेण सजणिय रोस । एककेण तेण रणरंगधीर ।
अहिमाणसालि जे णर ससोए । उट्टायउ केणवि धरिवि चेल ।

यदि जि० क० की भाषा साहित्यिक एवं अस्वाभाविक है तो जि० चउ० में प्रयुक्त भाषा बोलचाल की है । सिद्धचक्रकथा की भाषा भी बोलचाल के अधिक निकट है । नाम-रूप तथा क्रियाओं पर स्पष्टतः देशी पानी चढ़ा हुआ मिलता है । और इसी लिए 'सप्त-व्यसनकथा' में घूघट, सिंघ, चोली, तारा, भाइ, पास, पंखि, गुटिया, चारि, बारह आदि शब्द-रूप तथा फाटी, जडो, बोलिउ, मारिउ, आयउ, चल्लिहि, मरहि, उट्टिउ, पडिय, झूरइ, जाणइ, आणइ इत्यादि देशी हैं । इसी प्रकार जि० चउ० में भी चउरी, चउकु, पाण जूवा, दामु, तहाँ, जहाँ, कापर, नीक, तुरंतु, तबहि, मोतो, बार, बरात, बाखर, डाडो, डोला, जुहाइ, हीरा, सोना, जुवारी, पूरा, झूउ, असोस, वाडो, बहूत, सीग, टेव, जूडउ, डोकरी, पापी, पाप, पोटीली, खोड (खोट), समदहि (समदो), छुरी, विमाणु काकर (कंकड), भुणसार (भिनसारा, भुनसारा), आदि शब्द-रूप देशज मिलते हैं । क्रिया-रूपों में फाटी, काटि, झाडे, झुलाइ, छाडि, फेरियउ, मारउ, चाहइ, चडो, काडि, भेटियउ, नीसरउ, देइ, काटा, जाउ, करि, बूह्यो, भई, गई, दिखालइ, खेलत, चंपिउ, खूउ, दीनी, पहिरइ, खायइ आवहु, बिलखाइ, पडो, चडाइ, चालिउ, चले, लइ जाइ, लीयउ, कियो, कराउ, कीए, निकले, उठाइ, पुछियउ, आवइ, हुय, देखत, आगइ, रडियउ इत्यादि देशी क्रियाओं के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं ।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अपभ्रंश के कथाकाव्यों में जहाँ एक ओर संस्कृत से प्रभावापन्न भाषा मिलती है, वही दूसरी ओर बोलचाल की भी वानगी मिलती है, जिसे देख कर सहज में ही यह निश्चय हो जाता है कि अपभ्रंश समय-समय पर लोक बोलियों का आंचल पकड़ कर विकसित हुई है । अपभ्रंश-युग में संस्कृत और प्राकृत-साहित्य की बहुमुखी उत्पत्ति होने से यह स्वाभाविक ही था कि अपभ्रंश के (संस्कृत भाषादि) कवि संस्कृत के शब्द-रूपों से अपभ्रंश को समृद्ध बना कर उस का साहित्य संस्कृत-साहित्य के समकक्ष रचते । वस्तुतः अपभ्रंश भाषा में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव और देशज शब्दों का प्राधान्य है ।

शैली

अपभ्रंश के कथाकाव्य प्रबन्ध काव्यों की भाँति सन्धिबद्ध है। कम से कम दो तथा अधिक से अधिक बाईस सन्धियों में निबद्ध कथाकाव्य उपलब्ध होते हैं। इन में सन्धियों की रचना कड़वकों में हुई है। कड़वक के अन्त में घत्ता देने का विधान मिलता है। यद्यपि अपभ्रंश-काव्य सन्धियों में कड़वकबद्ध मिलते हैं, किन्तु कड़वकों की रचना में नियत पंक्तियों का परिपालन नहीं देखा जाता है। आ० स्वयम्भू के अनुसार एक कड़वक में आठ यमक एवं सोलह पंक्तियाँ होनी चाहिए।^१ लेकिन आठ पंक्तियों से लेकर चौबीस पंक्तियों तक के कड़वक आलोचित कथाकाव्यों में प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार प्रबन्ध काव्य के लिए कड़वको की संख्या का न तो कोई नियम मिलता है और न विधान ही। किन्तु सामान्यतः एक सन्धि में दस से चौदह के बीच कड़वकों की संख्या मिलती है। अपभ्रंश के उक्त कथाकाव्यों में कम से कम चारह और अधिक से अधिक छियालीस कड़वक प्रयुक्त हैं।

यद्यपि कड़वक के अन्त में ध्रुवक के साथ द्विपदी, चतुष्पदी और षट्पदी का विधान है,^२ पर अधिकतर दुवई, गायी, उल्लाला आदि द्विपदी तथा अड्डिला, घत्ता और वस्तुक आदि चतुष्पदी छन्दों का प्रयोग घत्ता के रूप में दृष्टिगत होता है।^३ इन के अतिरिक्त कई छन्द घत्ता के रूप में प्रयुक्त कथाकाव्यों में देखे जाते हैं।

‘कड़वक’ शब्द प्राकृत के तथा देव्य ‘कडप्प’ शब्द से बना है, जिस का अर्थ समूह है।^४ अपभ्रंश में इसे ‘कडव्व’ कहा जाता है। नियत पंक्तियों में समान छन्द की योजना करने के कारण ‘छन्दों के समूह’ की रचना विशेष को कड़वक कहना सार्थक जान पड़ता है। अतएव ‘कड़वक’ अलग से किसी छन्द का नाम न हो कर काव्य की प्रबन्धात्मक रचना विशेष है, जिस से वस्तु समान पंक्तियों में वर्णित होने के कारण प्रबन्ध-रचना में कसावट तथा संश्लिप्त-रचना में सुन्दरता आ जाती है। फिर, मुख्यरूप से एक ही छन्द तथा एक ही शैली में लिखे जाने से विषय-वर्णन तथा भावों की अभिव्यक्ति सरलता और सरसता से अभिव्यंजित लक्षित होती है।

१ स्वयम्भूछन्द, ८, १५

२. ता तिविहा छपई वउपई य दुनई य सासु पुण्ण दुण्णि ।
छ-चउप्पईउ कडप्पय-निहणे छड्डुगिय नामा वि ॥क० ६०, २, ३२ वृत्ति ।
मयणपराजयचरित की भूमिका से उद्धृत ।

३. सन्धिहिं आइहिं घत्ता दुवई गाहाडिल्ला ॥
घत्ता पड्डिआए छड्डुगिया वि पड्डिल्ला ॥स्वयम्भूछन्द, ८, २०

४ एते बरवार' शब्दा निकरवाचका' । कडप्पो कटप्रशब्दभवोऽप्यस्ति । स च कवीनां नातिप्रसिद्ध इति निबद्ध' । 'गिअरे कडप्पकअंका' ।

अलंकार-विधान

आलोचित कथाकाव्यों में साधर्म्य या औपम्यमूलक तथा लोकव्यवहारमूलक अलंकारों की मुख्यता है। सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, प्रतिवस्तुपमा, निदर्शना, श्लेष, व्यतिरेक, स्मरण और रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग लक्षित होता है। उपमा को छोड़ कर प्रायः सभी अलंकारों में स्पष्टरूप से औपम्य गम्यमान है। लोकव्यवहारमूलक अलंकारों में उदाहरण, विनोक्ति, स्वभावोक्ति, सम और समाधि आदि का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार तर्कन्यायमूलक अलंकारों में अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग और अनुमान उक्त काव्यों में प्रयुक्त हैं। अन्य अलंकारों में परिसंख्या, यथासंख्य, विभावना, विशेषोक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा विषम आदि अलंकार दृष्टिगत होते हैं। प्रयुक्त अलंकारों में जहाँ परम्परित रूढ़ उपमानों का प्रयोग है, वही लोकगत उपमानों से सजीवता आ गयी है। रूढ़ उपमान भी कही-कही कथन की शैली से तथा परिवर्तनगत वैविध्य से कुछ नवीन से हो गये हैं। उदाहरण के लिए—तयनो की उपमा सामान्यतः मृग, मीन, रक्त कमल से तथा कही-कही खंजन पक्षी से दो जाती है। किन्तु इन काव्यों में किसी स्थल पर आँखों को कमल के पत्तों के समान कहा गया है। इसी प्रकार है—केश-कलापो को मदन की डोरी का बना हुआ पाश कहना, माये को काम का विजयपट्ट बताना, कपोलों पर लटकती हुई अलको को कामदेव के घनुप् और बाण कहना, स्तनो की उत्प्रेक्षा कामदेव के स्नान करने के दो कलसों से करना, जाँघों को कामदेव की शरण में आने वालों के लिए बैधने का लम्भा कहना इत्यादि सभी नवीन उपमान हैं।

लोकगत उपमानों में कुछ कवि की कल्पना से प्रसूत हैं तथा कुछ लोक से ग्रहण हुए हैं। उदाहरण के लिए—रोमावलि को बीटी की पंक्ति से उपमा देना, सन्ध्या के पश्चात् फैलते हुए अन्धकार को सौत की डाह का कालापन बताना, जूनी पगडण्डी को जैनधर्म की पुरानी पोथी कहना, बड़वानल से युक्त समुद्र को अकायर कहना, खाइयों से वेष्टित तथा रत्नों से निबद्ध हाट-मार्ग को मोक्ष-मार्ग कहने को कल्पना करना, तथा उपकार करने में सावन के मेघ की कल्पना करना, इत्यादि। लोकप्रसिद्ध बातों में वियोगिनो को ग्रीष्मकालीन वृक्ष की भाँति सूखती हुई बताना, बिना पानी के तड़पती हुई मछली से साम्य दर्शाना, विरह-काल में नयनों की उपमा पाला मारी हुई कमलिनी से देना, शूर-वीर के हृषियार को णमोकार मन्त्र के न भूलने की भाँति सदैव स्मरण करते रहना कहना, कोढ़ी श्रीपाल को भिसा-ग्रहण करने वाले शूल-पाणि की भाँति द्वार-द्वार घूमते-फिरते बताना तथा क्रोधित बन्धुदत्त को कोपाग्नि से प्रज्वलित होने पर वणिकों की बातों को अग्नि पर धी छिड़कने की भाँति कहना, इत्यादि।

छन्दोयोजना

अपभ्रंश के इन कथाकाम्यों में मुख्य रूप से मात्रिक छन्द प्रयुक्त हैं। यद्यपि वैदिक छन्द ताल और संगीत पर आधारित हैं, पर उन में अक्षर प्रधान हैं। उन का आधार गण, मात्रा और स्वराघात है। और इसी लिए नियत अक्षरों में आकलित होने से उसे 'वृत्त' कहा जाता है। किन्तु नियत मात्रा वाला पद्य 'जाति' कहा गया है।^१ आ० हेमचन्द्र के मत में छन्द का अर्थ बन्ध और एक अक्षर से ले कर छत्तीस अक्षर तक की जाति की सामान्य संज्ञा "छन्द" है।^२

आ० भरतमुनि ने पात्रों की भाँति वृत्तों के भी तीन गण माने हैं^३—दिव्य, दिव्यतर और दिव्यमानुष। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती और पंक्ति को उन्होंने दिव्य कहा है।^४ वस्तुतः लोक में तीन प्रकार के छन्द प्रचलित हैं—गणछन्द, मात्रा-छन्द और अक्षरछन्द। यह कहना बहुत कठिन है कि सब से पहले मात्रिक छन्द का जन्म हुआ अथवा वर्णिक का। किन्तु वैदिक और अवेस्ता के छन्दों को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संगीत और लय के आधार पर वृत्त का जन्म हुआ था। क्योंकि आधुनी वृत्त और गाथाएँ यजुर्वेद तथा अवेस्ता में समान हैं।^५ समस्त सामवेद गीतिमन्त्रों से भरपूर है।

यथार्थ में छन्द और संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी लिए यह स्वाभाविक है कि संगीत के अनुरूप छन्द में भी स्वरों तथा अक्षरों की नियत योजना एवं संविधान हो। शब्द स्वर और अक्षरों का संयोग ही होता है। अतएव स्वर और अक्षर के भेद से छन्दों के भी मात्रिक और वर्णिक दो भेद कहे जा सकते हैं। गणछन्द वास्तव में अक्षरों के समुदाय की संहति है, इस लिए उसे अलग से नहीं मान कर अक्षरछन्द में गमित मानना चाहिए। और इस प्रकार शब्द-रचना के मूल स्वर और अक्षर के अनुसार वैदिक वृत्त वर्णमय है। मुख्य वैदिक छन्द है—गायत्री, अनुष्टुप्, जगती, त्रिष्टुप्, पंक्ति और बृहती तथा उष्णिक्। ये सभी वर्णवृत्त हैं। गायत्री में आठ-आठ अक्षरों के तीन चरण होते हैं। अनुष्टुप् के चारों चरणों में समान रूप से आठ-आठ अक्षर होते हैं। जगती में चार पाद तथा प्रत्येक पाद में बारह अक्षर प्रयुक्त होते हैं। त्रिष्टुप् के एक पाद में ग्यारह और कुल मिला कर चत्वारिंश अक्षर कहे गये हैं। पंक्ति

१. पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा ।

वृत्तमक्षरसंख्यात जातिमात्राकृता भवेत् ॥ —नारायण ।

२. छन्दः ॥ आशास्त्रपरिसमाप्तेः छन्द इत्यधिकृत वेदितव्यम् । इदानीमेकाक्षराद्या षड्विंशत्यक्षरावसानाश्छन्दोजातीराह । छन्दोऽनुशासन, २.१-२ ।

३. सर्वेषामेव वृत्तानां तज्ज्ञेयं गणास्त्रयम् ।

दिव्यो दिव्यतरश्चैव दिव्यमानुष एव च ॥ नाट्यशास्त्र, १४.६२ ।

४. गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पंक्तिरेव च । बहो, १४.६२ ।

५. आदौ तावद् गणछन्दो मात्राच्छन्दस्ततः परम् ।

नृतीयमक्षरच्छन्दश्छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम् ॥ छन्दःशास्त्र, ५०.४६ ।

६. रुसियाराम कश्यप . वैदिक ओरिजिन्स ऑफ ओरास्ट्रियानिज्म, ५०.१४ ।

छन्द के पहले के दो पाद बारह-बारह अक्षरों के तथा शेष दो चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। जिस में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पाद आठ-आठ अक्षरों का तथा तृतीय पाद बारह अक्षरों का होता है वह बृहती छन्द है। उष्णिक् में अट्ठाईस अक्षर होते हैं। इस में आदि और अन्त का चरण आठ-आठ अक्षरों का होता है और मध्यम बारह का। इन में तनिक-तनिक परिवर्तन कर देने से एक ही वृत्त के कई भेद हो जाते हैं। इस से स्पष्ट है कि वैदिक वृत्त वर्णिक है। उन में अक्षर-परिमाण की संहति मुख्य है।

साधारणतः यह कहा जाता है कि लौकिक छन्दों की उत्पत्ति वैदिक वृत्तों से हुई है, किन्तु अध्ययन करने से पता लगता है कि समय-समय पर शास्त्रीय वृत्त एवं जाति बन्धों से हट कर नये-नये छन्द तथा बन्धों का प्रयोग साहित्य में होता रहा है। अतएव भाषा और बोलियों की भाँति ही विभिन्न लयों और देशी राग-रागिनियों में प्राकृत के छन्द साहित्य में देशी भाषा के साथ ढलते रहे हैं तथा विविध नाम-रूपों से प्रसिद्ध एवं प्रचलित रहे। उदाहरण के लिए—सोरठा, मरहट्टा, चर्चरो, वसंतचच्चर, संगीत, गीत और रास आदि लोकप्रसिद्ध छन्द हैं, जो धीरे-धीरे अपभ्रंश-कविता के प्रचलन के साथ ही काव्य में प्रयुक्त किये गये। अपभ्रंश-काव्यों में इस बात का उल्लेख है कि उस युग में महापुरुषों के नाम के साथ ही लोकगीत प्रचलित थे। पुष्पदन्त के महापुराण में धवल गीतों का उल्लेख है जिन का सम्बन्ध कृष्ण-चरित से कहा जाता है। आद्य मराठी में इस प्रकार के गीत 'धवलगीत' कहे जाते हैं^१। आ० हेमचन्द्र ने धवलमंगल, फुल्लडक तथा सम्बटक आदि ऐसे ही गीतों का उल्लेख किया है, जो विभिन्न प्रसंगों में देवगान आदि विविध मांगलिक कार्यों तथा उत्सवों के अवसर पर गाये जाते थे।^२ इसी प्रकार के अन्य छन्दों को अपभ्रंश-काव्यों तथा छन्दशास्त्रों में ढूँढ़ा जा सकता है, जिन का लोक-जीवन से पूर्ण सम्बन्ध रहा है। डॉ० द्विवेदी ने बंगाल में पाये जाने वाले मंगलकाव्य तथा पंजाब में गाये जाने वाले रुक्मिणीमंगल नामक ऐसे ही लोकगीतों का उल्लेख किया है, जो भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में देवताओं के यशःगान अथवा मांगलिक कार्यों में प्रचलित रहे हैं।^३ हिन्दी के प्रबन्धकाव्यों की चौपाई-बोहवा वाली शैली की भाँति अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में कडवक शैली मिलती है, जिस में पद्मडिया (चौपाई की जाति का छन्द) तथा दुवई, गाथा आदि (सामान्यतया दोहे की जाति के छन्द) की रचना होती है। किन्तु कहीं-कहीं कडवक के आरम्भ में और अन्त में भी पद्मडिया छन्दों से दुवई जुड़ी हुई मिलती है। इस प्रकार प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से अपभ्रंश-कथाकाव्यों में कडवक शैली प्रयुक्त है। यह अपभ्रंश की अपनी शैली है जो संस्कृत, प्राकृत में नहीं मिलती।

१. डॉ० वेवेन्द्रकुमार जैन, एम० ए०, पी० एच० डी०, साहित्याचार्य 'अपभ्रंश साहित्य', होलकर कालेज मैगडोन, इन्दौर, १९६७-६८, पृ० १११।

२. धर्मदोऽनुशासन, ६, ४०-४२।

३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-साहित्य का आधिकार, पृ० १११।

यदि साहित्यिक रचना-शैलियों की दृष्टि से विचार किया जाय तो कई प्राकृत की तथा लोकप्रचलित गीत एवं संवादमूलक शैलियाँ अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में देखी जा सकती हैं। केवल शैलियों पर ही स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना हो सकती है। क्योंकि अभी तक इस पर किसी विद्वान् का ध्यान ही नहीं गया। अपभ्रंश के प्रत्येक कथाकाव्य में कई प्रकार के गीत मिलते हैं, जो लोकप्रचलित शैली में लिखे गये जान पड़ते हैं। अतएव इस प्रकार के गीतों में भाव और भाषा की बनावट न हो कर लोक-गीतों का माधुर्य और प्रवाह लय पर आधारित है। उदाहरण के लिए—

रसंत कंत सारसं	रमंत नीर माणुस
सु उच्छलंत मच्छयं	विसाल नील कच्छयं
विलोल लोल नवकयं	फुरंत चारु चक्कयं
खुडंत पत केसरं	पलोदयं महासरं । (वि० क० ५, १५)

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में वसन्त में गाये जाने वाले तथा चर्चरी आदि गीतों का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः ध्रुवक का प्रयोग गीत के अन्त में होता है। कडवक के अन्त में घन्ता के रूप में ऐसे कई छन्दों का प्रयोग उक्त कथाकाव्यों में दिखाई पड़ता है। घन्ता के कई भेद हैं। ये किसी न किसी लोक शैली के ही विविध रूपान्तर प्रतीत होते हैं।

यद्यपि संस्कृत और प्राकृत के साहित्य में भी गीतों की सृष्टि हुई है, किन्तु अपभ्रंश में गीतों की मुख्यता है। गीत नाम से कई रचनाएँ इस साहित्य में मिलती हैं। संस्कृत के विक्रमोर्वशीय नाटक में अपभ्रंश के प्रसिद्ध चर्चरी गीत का उल्लेख ही नहीं उदाहरण भी मिलता है। यथा—

चर्चरी गीत—

गन्धुम्माइ अमहुअरगीएहि
 वज्जतेहि परहुनूरेहि ।
 पसरिअ पवण्डुव्वेलिअ पल्लवणिअरु
 सुललिअ विविह पआरेहि णच्चड कप्पअरु । (४, १२)

इस गीत की विशेषता यह है कि अपभ्रंश में ही लिखा गया है। संस्कृत के अन्य ग्रन्थों में भी इस प्रकार बिखरे हुए अपभ्रंश के गीत मिलते हैं। आ० अभिनवगुप्त के तन्त्रसार में प्रयुक्त गीत का एक उदाहरण देखिए—

सोच्चिअमासइ
 भवतरुविसरउ ।
 सअलउअद्धजालु—
 निअ घअणि परिमरि मेहहरो । ९, १० ।

इस प्रकार अपभ्रंश-कथाकाव्यों की शैली का सम्बन्ध मुख्य रूप से छन्द एवं गीत-रचना से है। कही-कही तो इन की शैली इतनी सरल और मधुर है कि लगता है आपस में बात कर रहे हों। जैसे कि—

केतु वि बराहाहं	वलवंत देहाहं
मह बग्धु आलगु	रोसेण परिभग्गु
केतु वि विरालाहं	दिट्ठइं करालाहं
केतु वि सियालाहं	जुज्झंति थूलाहं
ताहे पासे णिज्झरइं सरंतइं	गिरिकंदर विवराहं भरंतइं ।

(भ० क०, विबुध श्रीधर)

संक्षेप में, जि० क० और वि० क० को छोड़ कर अपभ्रंश के कथाकाव्यों की शैली प्रसाद गुण से युक्त तथा मधुर है। संवादों में अवश्य सभी कथाकाव्य लोक-शैली को प्रकाशित करते हुए लक्षित होते हैं। यथा—

बहु दिवस काई तुह पुत्त हुआ ।
 मा रुवहि धीए धीरत्तु घरि णिंभरु ह्रीइवि महु वयणु करि ।
 सो लितु दितु तहिं दिण गमइं जहिं रुच्चइ तहिं फिरि फिरि रमइं ।(वही)

साधारणतया जि० क० और वि० क० में वर्णन-शैली अलंकृत है। सन्धिबहुला तथा समस्त पदावली में वाक्य-रचना की प्रवृत्ति इन दोनों रचनाओं में मिलती है। किन्तु संवादों में शैली स्वच्छ तथा मधुर है। जि० क० का ही एक उदाहरण देखिए—

हउं एक पुत्तु कुलजलहि पोउ महु विणु ण जियइ पिय जणिलोउ ।
 तथा— जई मज्झु सीलु संजमु अपाउ ता बुद्धिबि पोहणु एहु जाउ ।

अतएव कुल मिला कर शैली की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्यों की रचना स्फीत एवं प्रेरक है।



षष्ठ अध्याय लोक तत्त्व

लोककथा के रचना-तत्त्व

भारतीय साहित्य में लगभग दो सहस्र वर्षों से भी अधिक समय से दृष्टान्त रूप में लोक कथाओं का प्रचलन रहा है, जिन में रीति-नीति की शिक्षा चिन्तानुरंजन से समन्वित एवं प्रेरक रही है। डॉ० हर्टेल के विचार में पंचतन्त्र की कथाएँ इक्कीस सौ वर्षों से भी अधिक प्राचीन हैं।^१ ये कथाएँ कल्पित होने पर भी लोक-जीवन में व्याप्त हैं। यो तो भाषा और साहित्य लोक-जीवन से ही अनुप्राणित रहता है और इस लिए यदि यह कहे कि साहित्य जीवन की अनुकृति है तो अनुचित न होगा। परन्तु साहित्य में लोक-जीवन का चित्र अपने वास्तविक स्वरूप में अभिव्यंजित न हो कर लेखक की कल्पना, भाषा और शैली के विविध रूपों तथा घटनाओं से प्रभावित हो कर कई रूपों तथा आकारों में लक्षित होता है। अतएव लोक का वास्तविक रूप उस में उभरने नहीं पाता। लेकिन लोककथा या लोक साहित्य में वह अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित होता है, इस लिए हम उसे 'लोक' शब्द से सम्बद्ध मानते हैं। क्योंकि साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन, उपदेश या नीति-रीति की शिक्षा प्रदान करना ही नहीं है, बरन् अपने युग या जीवन की झाँकी प्रस्तुत करना भी है। इस का कारण यही है कि साहित्य, समाज और संस्कृति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसी लिए हम समाज तथा संस्कृति से विश्लिष्ट कर साहित्य का यथार्थ मूल्यांकन नहीं कर सकते। लोक साहित्य का सब से अधिक वैशिष्ट्य इसी बात में है कि वह परम्परागत तथा लोक युगीन भारतीय जीवन तथा संस्कृति का यथार्थ रूप वास्तविक परिवेश में युग-युगों के बाद भी सजीव बनाये रहता है। इस से यह स्पष्ट है कि उस में लोक-मानस का सहज समावेश लक्षित होता है। अतएव इस में क्या आश्चर्य कि रूढ़ि तथा परम्परा के रूप में देश-विदेशों में विविध मान्यताएँ तथा विश्वास समान रूप से सहस्र वर्षों से काई की भाँति जमे हुए चले आ रहे हैं। लोक तत्त्व से समन्वित रचनाओं में हमें लोक-जीवन से सम्बन्धित सामाजिक संस्कार, त्योहार, मागलिक कार्य, लोक प्रचलित रूढ़ियाँ, क्रीड़ाएँ, वेशभूषा, खान-पान, विश्वास और समाज-रीति एवं राजनीति का समावेश रहता है।

१. डॉ० जोन्स हर्टेल : पंचतन्त्र का सम्पादित संस्करण, प्रस्तावना, पृ० १३।

डॉ० सत्येन्द्र ने लोक-कहानी के निर्माणतत्त्व में निम्न-लिखित बातों का उल्लेख किया है—लोक-मानस (Folkmental-element), कथा-रूप (Tale-form), पात्र (Personages) अभिप्राय, कथानक रूढ़ि या कथा-तन्तु (Molif), सामान्य घटना (Incidents), संघटना (Organisational sections of a tale) अक्षर कथा या कथामानक Tale type), उपयोग दृष्टि (Utility point of view) अलंकरण (Ombellishment) और वातावरण ।

लोक-मानस

लोक-कथा का सबसे बड़ कर तथा प्रथम अनिवार्य तत्त्व है—लोक-चेतना की अभिव्यक्ति । लोक-कथा एवं गीतों में ही हमें स्पष्ट रूप से जन-मानस की अन्तः सलिला प्रवहमान लक्षित होती है । अतएव युग-युगीन लोक-संस्कृति के विविध रूपों की स्पष्ट छाप उन पर लगी हुई दिखाई देती है । कहीं-कहीं यह जातीयता से ओतप्रोत होती है तथा कहीं-कहीं सामान्य लोक-जीवन से प्रभावित एवं चित्रित । उदाहरण के लिए, पं० नरसेन कृत सि० क० में भाँवर के साथ ही चौरी का भी उल्लेख है, जो केवल बुन्देलखण्ड के जैन लोगों में ही प्रचलित है । भाँवरें पड़ जाने के बाद यह निश्चय-सा हो जाता है कि वर-वधू प्रणय-सूत्र में बंध गये हैं । किन्तु इस के बाद भी चौरी में सात भावरें पड़ने का अर्थ यही समझ में आता है कि यदि भाँवरों के समय कोई छल या धोखा हो गया हो तो वर-वधूको एक बार और अवसर दिया जाता है । इसी लिए इस के पहले गुडा का खेल भाँवर और चौरी पड़ने के बीच खेला जाता है, जो एकान्त में होता है और जिस का यही उद्देश्य जान पड़ता है कि वर-वधू परस्पर एक-दूसरे को परख कर मन भर लें । उस के बाद चौरी में सप्तपदी की आवृत्ति होने पर वह सम्बन्ध सदा के लिए निश्चित एवं पक्का हो जाता है ।

जि० चउ० में भी चउरी का उल्लेख मिलता है ।

चउरी रचीय हरिए वास अरु तह थापे पुष्प कलास । जि० चउ०, १२५ ।

चउरी रची घरे हरे वास तोरण थापे पूर्न कलास ॥वही, ४४६ ।

अपभ्रंश के प्रायः सभी कथाकाव्यों में चौक पूरना, मण्डप सजाना, मडवा गाड़ना, जल-देवता या किसी अन्य देवता का पुष्प-अक्षत आदि से पूजन करना, यात्रा की मंगल-कामना के लिए वधि, दूर्वा, अक्षत या जौ आदि को सिर पर डालना, मंगल कलास सजाना और बरात का सजाना तथा नगर में वर वधू की फेरी फेरने आदि

१ डॉ० सत्येन्द्र 'लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २१३ से उद्धृत ।

चउरी भावरि सत्त दिवाबिय रयणमजूस तासु परिणाबिय । सि० क०, १,३३ ।

बुन्देलखण्ड में चउरी या चौरी को चौडो मारना कहते हैं, जो एक रस्म के रूप में जैनियों के यहाँ अभी तक प्रचलित है । किन्तु धीरे-धीरे अब यह चलन उठता जाता है । साधारणतया 'चउरी' का अर्थ कटनी या बेरी होता है ।

वर्णनों में लोक-मानस की स्पष्ट झाँकी दृष्टिगोचर होती है। अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आलोचित कथाकाव्यों की कथाएँ लोक-कहानियाँ हैं, जो जातीय जीवन एवं वातावरण के परिपाख में लोक-चेतना से परिभ्यात हैं।

लोक-गाथा कहें या लोकाख्यान ?

संभव है कि कुछ विद्वान् अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों को पद्यबद्ध देख कर इन्हें परम्परा से प्रचलित लोक-गाथा या कथागीत कहना उपयुक्त समझें; किन्तु ये लोककथाएँ हैं, जो श्रुतियों के रूप में युग-युगों से प्रचलित रहती हैं। प्रायः सभी देशों में ऐसी लोक-कहानियाँ सुनी जाती हैं, जिन में हजारों वर्षों के जन सामान्य के विश्वास तथा रीति-रिवाज निहित रहते हैं। अतएव पद्यबद्ध या कुछ गीतों से युक्त होने के कारण हम इन्हें लोक-गाथा नहीं कह सकते। क्योंकि मूल रूप में इन से मिलती-जुलती अधिकांश कहानियाँ आज भी बंगाल प्रान्त में सुनी जाती हैं। अपभ्रंश की कथाओं का पद्यबद्ध होना तत्कालीन साहित्य के लिए कोई नयी बात नहीं थी। गुणादय की 'बृहत्कथा' तो बहुत पहले ही पैशाची भाषा में लिखी जा चुकी थी। आर्यशूर (चौथी शताब्दी) कृत जातकमाला तथा शिवार्य रचित (ई० पू० प्रथम) भगवती आराधना एवं हरिवंश विरचित बृहत्कथाकोष आदि पद्य में लिखी हुई कथाएँ हैं, जिन में छोटी-बड़ी सभी प्रकार की कथाएँ दृष्टिगत होती हैं। भारतवर्ष में ही नहीं अफगान देश में भी अवदान या लोकाख्यान (Legends) पद्यबद्ध मिलते हैं।^१ फिर, लोकगाथा कथात्मक गीत कही जाती है, जिस का रचयिता अज्ञात होता है तथा उद्भव की दृष्टि से इस का इतिहास सन्दिग्ध रहता है।^२ यद्यपि लोक-कथा का रचयिता भी अज्ञात रहता है, पर गाथा तथा कथा का मुख्य अन्तर गीति तत्त्व है; इतिहास नहीं। लोकगाथा वर्षों से जिस रूप में मौखिक प्रचलित रहती है उसी रूप में लोक में सुनी तथा गायी जाती है; किन्तु कहानी में घटना ही सामान्य रहती है, जिस में कई प्रकार के कथा-मानक तथा अवान्तर प्रसंगों की लेखक उद्देश्य विशेष से संयोजना कर विषय के अनुरूप कथा को ढाँचा प्रदान करता है। उदाहरण के लिए, आल्हा को लोक-गाथा माना जा सकता है; पर मधुमालती या विलासवती को नहीं। लोक-गाथा में इतिहास का भी थोड़ा-बहुत अंश समाहित रहता है, लेकिन कथाकाव्य के लिए वह आवश्यक नहीं है। स्पष्ट ही गाथा इतिहास तथा विश्व-रचना के विचारों से सम्बद्ध होती है और कथा जीवन की सामान्य घटनाओं को अभिव्यक्त करती है। इन्हें हम धर्मगाथा भी नहीं मान सकते। क्योंकि इन में बाल-देव के रूप में न तो अतिलौकिक घटनाओं का समावेश है और न

१. डेम्स एम० एल० : पाण्डुर पोद्द्री आब द बेलोसिस।

रायल एशियाटिक सोसायटी, द्वितीय जिन्द, लन्दन, १९०७।

२. डॉ० सत्यव्रतसिन्हा : भोजपुरी लोक-गाथा का अध्ययन, हिन्दी-अनुशीलन, वर्ष ६, अंक ४, पृ० ३६।

बालक को जन्म से ही असाधारण दशनि का यत्न। अपभ्रंश के चरितकाव्यों में अवश्य ऐसे वृत्तों की संयोजना दृष्टिगोचर होती है, जैसे कि प्रद्युम्न के जन्म होने पर दैत्य द्वारा हरण (प्रद्युम्नचरित-निवृत्ति), करकण्डु का जन्म दन्तिपुर के श्मशान में होना (करकण्ड-चरित-मृनि कनकामर), देवताओं का मर्त्यलोक में आ कर बालक नेमिनाथ का अभिषेक आदि संस्कार करना (नेमिनाथचरित-लक्ष्मण देव) इत्यादि।

भविष्यदत्तकथा का लोक-रूप

यद्यपि अपभ्रंश की कथाएँ सच्ची मान कर लोगो के मन पर धार्मिक प्रभाव डालने के लिए लिखी गयी हैं और उन का उद्देश्य मनोरंजन नहीं है; किन्तु कथा के अन्तर्गत वर्णित घटनाएँ तथा कथाभिप्राय आज भी हमें लोक-कहानियों में लक्षित होते हैं। भ० क० भी मूलतः लोककथा है, जो उद्देश्य विशेष से धार्मिक वातावरण के बीच वर्णित है। इस तरह की कहानी आज भी हमारे यहाँ गाँवों में कही जाती है। कही पर यह कहानी राजा-रानी और राजकुमारों के रूप में कही जाती है और कही सौदागर के रूप में। अधिकतर लोक-कहानियों में राजकुमार की कहानी इस से मिलती-जुलती सुनी जाती है। बंगाल में प्रसिद्ध लोककथाओं में 'कलावती राजकन्या' की कहानी ऐसी ही एक रूपकथा है, जिस में पाँचो राजकुमार ईर्ष्यावश सब से छोटे दोनो राजकुमारों को छोड़ कर कलावती को पाने के लिए जहाज में बैठ कर यात्रा करते हैं। किन्तु दोनो भाई भी डोंगी में बैठ कर प्रस्थान कर देते हैं। तीन बुढ़ियों के देश में पहुँच कर दोनो भाई पाँचो भाइयों को (बुढ़िया के चंगुल से फँसे हुआ को) छुड़ाते हैं। लेकिन फिर भी दोनो की उपेक्षा की जाती है। मार्ग में दिशा-भ्रम की दशा में दोनो भाइयों में से बड़ा बुढ़ू पाँचो की सहायता करता है, पर अन्त में तूफान आने से पाँचो भाई डूब जाते हैं। बुढ़ू कलावती के नगर में पहुँच कर देखता है कि पाँचो भाई बन्दीगृह में हैं। उसे भी बन्दी बना लिया जाता है। किन्तु वह कला-कौशल से पाँचों भाइयों तथा कलावती को साथ में ले कर छोटे भाई समेत पीत में बैठ कर यात्रा के लिए आगे बढ़ता है। पाँचो भाई कलावती को बुढ़ू के पास बेल कर जल-भुन जाते हैं और उन दोनो भाइयों को समुद्र में फेंक देते हैं। कलावती को कैद कर अपने नगर में ले जाते हैं। राजा कलावती से राजकुमार के साथ विवाह करने के लिए कहता है, पर वह तैयार नहीं होती। तब राजा मार डालने की धमकी देता है। वह एक महीने का व्रत धारण करती है। इसी बीच दोनों राजकुमार आ कर कलावती से मिलते हैं। राजा को जब सारा रहस्य ज्ञात होता है तब वह बुढ़ू का विवाह कलावती के साथ धूम-धाम से कर देता है; और उस के छोटे भाई की किसी अन्य राजकुमारी से। पाँचों भाइयों को अपने किये का दण्ड मिलता है।

यदि भ० क० की घटनाओं का विचार किया जाये तो निम्नलिखित घटनाएँ मुख्य लक्षित होंगी—

(१) सेठ धनवद् का कमलश्री को त्याग कर दूसरा विवाह सरूपा से करना और उससे बन्धुदत्त का जन्म होना । भविष्यदत्त का नमिहाल में पालन-पोषण होना ।

(२) पाँच सौ व्यापारियों तथा बन्धुदत्त के साथ भविष्यदत्त की कंचनद्वीप यात्रा, मार्ग में मैनागद्वीप में भविष्यदत्त को अकेला छोड़ कर बन्धुदत्त की आज्ञा से जहाज का कंचनद्वीप के लिए प्रस्थान करना ।

(३) भविष्यदत्त का उजाड़ नगर तिलकपुर में प्रवेश करना, अपने साहस से राक्षस को प्रसन्न कर राजकन्या भविष्यानुरूपा का पाणिग्रहण कर बारह वर्षों के बाद अपने नगर के लिए प्रस्थान कर समुद्र-तट पर पहुँचना । संयोग से बन्धुदत्त का मिल जाना । छल पूर्वक भविष्यदत्त को छोड़ कर भविष्यानुरूपा के साथ अनुल संपत्ति ले कर बन्धुदत्त का स्वदेश-गमन करना । मार्ग में जल-देवता के प्रभाव से तूफान का आना और भविष्यानुरूपा की शील-संरक्षा होना । एक मास की अवधि में पति से मिलने का स्वप्न देखना । घर पहुँच कर विवाह की तैयारी होना, इतने में ही भविष्यदत्त का लौट कर घर पहुँचना । राजा को सच्चा वृत्तान्त ज्ञात होने पर बन्धुदत्त को दण्ड देना ।

(४) राजा का भविष्यदत्त के साथ सुमित्रा को ब्याहने का प्रस्ताव रखना, धनवद् का स्वीकृति देना । पांचालमरेश चित्राग का सुमित्रा को माँगना और सकल राज्य को बश में करने का प्रस्ताव रखना । भविष्यदत्त का युद्ध के लिए तैयार होना और चित्राग को बन्दी बना कर सुमित्रा से विवाह करना, सुखोपभोग करने के बाद सन्यास में दीक्षित होना तथा परमपद प्राप्त करना ।

ये मुख्य घटनाएँ क्या हैं अपने आप में छोटी-छोटी चार लोक-कहानियाँ हैं, जो अलग-अलग आज भी कई रूपों में कही-सुनी जाती हैं । जहाँ तक कथा की पहली मुख्य घटना एवं कहानी का सम्बन्ध है वह सौतेली माँ की कहानी से सम्बन्धित है, जिस में एक ही राजा या सेठ की कई रानियों या दो पत्नियों में से सब से छोटी के साथ और उस के पुत्र के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है और बड़ी की तथा उस के पुत्र को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है । दोनों ही सौतेले भाई कुछ तो स्वभाव से और कुछ माता के सिलाने से विमाता के पुत्र को धोखा दे कर मार डालने की चेष्टा करते हैं, पर अपने इस कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिलती । इतना ही नहीं, विमाता का पुत्र अपने भाइयों की सहायता या संकट से उन की रक्षा करता है अथवा दुष्कृत्य के लिए उन्हें क्षमा कर देता है । किन्तु वे ही भाई फिर से धोखा दे कर उस का अनिष्ट करने की चेष्टा करते हैं, पर उन्हें सफलता नहीं मिलती ।

पहली मुख्य घटना से सम्बन्धित एक अन्य घटना है—माता का पुत्र से न मिलने के कारण पुत्र-प्राप्ति के लिए व्रत-धारण करना और परिणामस्वरूप पुत्र से भेंट

होना। ऐसी कई व्रत-कथाएँ हैं, जिन में बाहर गये हुए अथवा किसी प्रकार बिछुड़े हुए पुत्र या पति की प्राप्ति के लिए व्रत-विधान निर्दिष्ट हैं तथा जिन के पालन से अभीष्ट सिद्धि दर्शायी गयी है। स्कन्दपुराण के अन्तर्गत गणेशचतुर्थी की कथा ऐसी ही है, जिस में इस व्रत के पालन से रानी दमयन्ती ने सात महीने में पुत्र और पति से भेंट की थी। इसी प्रकार 'ठाकुरमारझुलि' में संकलित 'कलावती राजकन्या' नाम की कहानी में भी कलावती एक महीने के व्रत के फलस्वरूप पति को तथा बुद्धू और भुतुम को माता जल-देवता की आराधना से पुत्र को यात्रा से लौट कर वापिस प्राप्त करती है।^१ भ० क० तथा इन सब कहानियों में संकटों में डूबते-उतराते पुत्र एवं पति का वर्णन है। ऐसी और भी अन्य कथाएँ हैं जिनमें पुत्र या पति के बिछुड़ने तथा वर्षों बाद मिलने की कहानी वर्णित है। किन्तु ये कथाएँ व्रतविशेष से सम्बद्ध न हो कर साहित्यिक राजकुमारों तथा सौदागरों की कहानियाँ हैं, जिन में संकटों को पार कर कंचन-कामिनी एवं अतुल वैभव प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इस दृष्टि से अपभ्रंश की जि० क० और सि० क० में समानता लक्षित होती है। वस्तुतः संकट-निवारण के लिए व्रत-उपवास का पालन करना भारतीय जीवन की चिर प्रचलित लोक-रूढ़ि है। अतएव लोक-कथाओं में उस का निर्देश होना स्वाभाविक ही है।

इसी प्रकार किसी उजाड़ नगरी या गन्धर्वों के देश में अथवा पातालपुरी में किसी बहुत सुन्दर राजकुमारी का अकेला रहना और नायक का साहित्यिक कार्यों द्वारा उसे प्राप्त करने या प्राप्त हो जाने की घटना का भी लोक-कथाओं तथा भ० क० में वर्णन है। बंगला की 'धुमन्तपुरी' नामक दादी की सुनायी हुई कहानी ऐसी ही है, जिस में एक राजा का पुत्र माता के बार-बार मना करने पर भी पिता की आज्ञा से देश-भ्रमण के लिए निकल पड़ता है और निर्जन एवं निःशब्द वन में किसी राजभवन में पहुँच जाता है। भ० क० की भाँति उस नगरी को भी राक्षसों ने उजाड़ दी थी।^२ न जाने क्यों राजकुमारी को छोड़ कर राक्षसों ने सब का प्राणान्त कर दिया था। अन्त में राजकुमार राजकन्या को प्राणान्तक नीद से जगा कर, बुद्धिबल से राक्षसों का अन्त कर देता है। मूल रूप में अपभ्रंश की ये कथाएँ छोटी-छोटी लोक-कहानियाँ हैं, जिन में मुख्य घटनाओं तथा लोकवार्त्ताओं में अत्यन्त साम्य लक्षित होता है। उदाहरण के लिए, जिनदत्त की कथा की कई घटनाएँ अलग-अलग कहानियों में तथा स्वतन्त्र कहानी के रूप में मिलती हैं। 'कथासरित्सागर' में वर्णित विदूषक-ब्राह्मण की कथा और जिनदत्त की कथा में मूलभूत कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। जि० क० की पूर्वार्द्ध की घटना मित्रों के साथ सहलकूट चैत्यालय में जिनदत्त का जाना और वहाँ पुतली के रूप को देख कर मोहित हो जाना तथा उसी कुमारी से विवाह करने का उल्लेख

१. सं० दक्षिणार जनमित्र . ठाकुरमारझुलि, भांगला रूपकथा, मगान्व १३५६, पृ० १६।

२. वही, पृ० ५६।

राजवल्लभ कृत 'पद्मावतीचरित' में भी मिलता है।^१ वस्तुतः चित्र या मूर्ति को देख कर मोहित होने का उल्लेख प्राकृत तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में विशेष रूप से प्रकाशित हुआ है। इस कहानी (कथा) का साहित्यिक रूपान्तर इस प्रकार है—

कथासरित्सागर

जिनदत्तकथा

१. भद्रा को डूँडता हुआ विदूषक पौण्ड्रवर्धन नामक नगर में पहुँच कर किसी बुढ़िया के यहाँ शरण लेता है। वह अपनी उदासी एवं व्यथा का कारण उसे सुनाती है।
२. इस नगर के राजा देवमेन को दुःख-लक्षिका नाम की अत्यन्त रूपवती कन्या है। कच्छपदेश के राजा से उस का विवाह हुआ था। किन्तु घर में प्रवेश करते ही वह तथा एक अन्य राजा मर गया। तब से कोई राजकुमार उस से विवाह करने के लिए तैयार नहीं होता। राजा की आज्ञा से उस के शयनागार में प्रति-दिन एक ब्राह्मण या क्षत्रिय पुरुष भेजा जाता है। आज मेरे बेटे की पारी है। उस के मरने पर मैं भी प्रातःकाल आग में जल मर्हूंगी। इसलिए मैं तुम्हें सारा घर दान में दे रही हूँ।
३. विदूषक राजकन्या के पास रात भर पहरा देता है और राजस की भुजा काट कर अपनी वीरता का परिचय देता है। राजा कटी हुई भुजा देख कर प्रसन्न हो विदूषक के साथ राजकुमारी का विवाह कर देता है।
१. जिनदत्त सागरदत्त तथा व्यवसायियों के साथ सिंहलद्वीप में पहुँचने पर मालिन के यहाँ जा कर रुकता है। वह अपनी व्यथापूर्ण कहानी कहती है।
२. मालिन कहती है—इस नगर के राजा घनवाहन की रानी विजया की श्रीमती नामक अन्यन्त सुन्दर कन्या है। रात में जो भी उस के पास रहता है उसे वह विष की पत्ती की भाँति खा जाती है। राजाज्ञा से उस की रक्षा के लिए प्रतिदिन एक मनुष्य भेजा जाता है। मेरे एक ही पुत्र है उस की आज पारी है। इसलिए मैं रो रही हूँ।
३. मालिन के बेटे के बदले जिनदत्त राजकुमारी के महल में पहरा देता है और आधी रात में कुमारी के मुख से निकलते हुए भुजंग को देख कर सावधानी से प्रहार कर मौत के घाट उतार देता है। राजा अपनी कन्या का विवाह जिनदत्त के साथ कर देता है।

१. अगरचन्द्र नाहटा • “नया राजवल्लभ कृत पद्मावतीचरित और जायसी के पद्मावत की कहानी एक ही है।”, नागरीव्याकरण पत्रिका, वर्ष ६६, अंक १, सं० २०११, पृ० ६३।

४. विदूषक एक रात चुपचाप उठ कर ताम्रलिप्ता चला जाता है। वहाँ स्कन्ददास व्यापारी से मित्रता कर उस के जहाज पर यात्रा करता है। बीच समुद्र में फँसे हुए जहाज को विदूषक चला देता है। स्कन्ददास घोषणा के अनुसार सम्पत्ति का आधा भाग और कन्या नहीं देना चाहता है। और धन के लोभ से विदूषक के शरीर में बँधी हुई रस्सी को काट कर समुद्र में गिरा देता है। किन्तु कटे हुए पुरुष की जाँघ के सहारे समुद्र पार कर वह समीपवर्ती कर्कोटक नगर की राजकन्यासे विवाह कर आगे बढ़ जाता है।
५. भद्रा को ढूँढ़ निकालता है और उस के साथ सुखोपभोग करता है।
४. जि० क० में पूर्वार्द्ध में जिनदत्त एक उद्यान में सागरदत्त से मिलता है। सागरदत्त अनफूले बगीचे को अपने चमत्कार से प्रफुल्लित कर देने के उपलक्ष्य में जिनदत्त को धर्मपुत्र बना लेता है।
५. सिंहलद्वीप से लौटने पर सागरदत्त मोती-रत्न आदि सम्पत्ति तथा राज-कन्या के लोभ से जिनदत्त को छल पूर्वक समुद्र में उतार देता है। निमित्तज्ञानी के कथनानुसार विद्याधर वहाँ आते हैं और समुद्र पार करते हुए जिनदत्त को विमान में बैठा कर ले जाते हैं तथा विद्याधर-कन्या का विवाह उस के साथ कर देते हैं। जिनदत्त सभी पत्नियों को साथ में ले कर अपने घर जाता है और वसन्तपुर में राज्य करता है।

वस्तुतः यह घटना ज्यों की त्यों श्रीपालकथा अथवा सिद्धचक्रकथा से मिलती-जुलती है। श्रीपाल का वत्स नगर जाना, सार्यवाह धवलसेठ के अटके हुए जहाजों को चलाना। सेठ का वायदे के अनुसार श्रीपाल को धन न देना, तथा धन और स्त्री के लोभ में श्रीपाल को समुद्र में गिरा देना; किन्तु मन्त्र के तथा देवी के प्रभाव से सुन्दर नगर में पहुँचना और निमित्तज्ञानी के कहे अनुसार राजा की कन्या से विवाह हो जाना, आदि।

विलासवतीकथा का लोक-रूप

अपभ्रंश की लगभग सभी कथाएँ लोक-जीवन में घुली-मिली मिलती हैं। ये कथाएँ केवल भारतवर्ष में ही नहीं इजिप्ट, मिथ, चीन, रूस और जर्मन आदि देशों में भी लोक-कथाओं के रूप में प्रचलित हैं। देश-देशान्तरो में भ्रमण करने से कहीं-कहीं रूप में तथा घटनाओं में अन्तर आ गया है, नाम भी बदल गये हैं; पर मूल रूप में उन का उद्देश्य तथा अभिप्राय आज भी ज्यों का त्यों सुरक्षित है। विलासवती की कथा भी ऐसी ही एक प्रेमकथा है, जो रूपान्तरों के साथ देश-विदेश में प्रचरित एवं प्रचलित रही है।

हिन्दी के प्रेमाख्यान तथा अपभ्रंश के प्रेमाख्यानक कथाकाव्यों में वस्तुविषयक यह सामान्य प्रवृत्ति पायी जाती है कि राजकुमारी किसी राजकुमार को वातायन में से देख कर उस पर रीझ जाती है। पहली बार दोनों उद्यान में नियत समय पर मिलते हैं। एक दूसरे के सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर प्रेम-पाश में बँध जाते हैं। धीरे-धीरे प्रेमाङ्कुर स्फुट होने लगता है। दासी या मालिन दोनों की सहायता करती है। किन्तु दोनों के समागम होने के पूर्व ही ऐसी कोई विघ्न-बाधा आ पहुँचती है कि दोनों बिछुड़ जाते हैं। दोनों को समुद्र यात्रा करनी पड़ती है। जहाज के डूब जाने पर नायक काष्ठ-फलक के सहारे समुद्र पार करता है। अपनी प्रेमिका से मिलने में उसे कई प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ता है। और बड़ी कठिनाई से अन्त में जा कर दोनों का मिलन होता है। किन्तु प्रेमिका का कुछ समय बाद ही हरण होता है और नायक को युद्ध कर उसे जीत कर लाना पड़ता है। इस प्रकार समूचा कथानक राजकुमार के साहसिक कार्यों से तथा विपत्तियों से भरा हुआ रहता है। अनेक संकटों को पार करने के बाद ही राजकुमार अपने कार्य में सफलता प्राप्त करता है।

इस प्रकार की प्रेमकथाओं में दुखहरनदास की 'पुहुपावती' महत्वपूर्ण प्रेमाख्यान है, जिस में राजकुमार और पुहुपावती की प्रेमकथा वर्णित है। संक्षेप में कथासार इस प्रकार है^१—

राजापुर देश के प्रजापति नामक राजा के एक सुन्दर राजकुमार था। जन्म के समय ही ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि यह बीस वर्ष की अवस्था में योगी बन कर सुन्दर राजकुमारी का वरण कर कई देशों के राजाओं को जीतेगा। बीसवें वर्ष में राजकुमार ने पिता से युद्ध की आज्ञा माँगी, किन्तु उनके मना करने पर असन्तुष्ट हो कर वह अनुपगढ़ पहुँच गया। वहाँ के राजा अम्बरसेन तथा रानी वसुधा के पुहुपावती नाम की अत्यन्त रूपवती राजकन्या थी। एक दिन राजकुमार योगी के वेश में राजमहल के कोट के निकट से जा रहा था। पुहुपावती अपनी खिड़की में से उस के रूप को देख

१. रामचन्द्र तिवारी : 'हिन्दी-प्रेमाख्यानों की परम्परा में एक नवीन प्रयोग', हिन्दी-अनुशीलन वर्ष ६, अंक १-४, पृ० ४६-६१।

कर मोहित हो गयी। राजकुमार भी उस के सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर उद्यान में चिन्ता पूर्वक बैठ गया। पुट्टपावती ने मालिन को दूती बना कर राजकुमार के पास भेजा। दोनों प्रेम-साधना में रत हो गये। दूती के प्रयत्न से दोनों का मिलन हुआ। किन्तु यह प्रतिज्ञा की कि जब तक विवाह न हो जायगा तब तक समागम नहीं करेंगे।

एक दिन राजा अम्बरसेन के साथ राजकुमार शिकार खेलने गया। वीहड़ वन में वह विछुड़ कर मार्ग भटक गया। राजकुमार सिंहलद्वीप जा पहुँचा। राजकुमार का मामा उसे ढूँढ़ता हुआ सिंहलद्वीप में पहुँच कर कुमार को लौटा लाया। उस के पिता ने राजकुमार का विवाह काशीनरेश की पुत्री चित्रसेनी से कर दिया। किन्तु कुमार पुट्टपावती को न भूल सका। पुट्टपावती ने दूती को राजापुर भेजा। वह राजकुमार को साथ में लिवा कर चल दी। मार्ग में धर्मपुर नगर में राजकुमार को दानव हर ले गया। दानव सात समुद्र के बेगमपुर के बेगमराय की पुत्री रंगीली से राजकुमार का विवाह करा देता है। किन्तु अबसर पा कर वह रंगीली को साथ ले कर अनूपगढ़ के लिए चल देता है। मार्ग में दोनों बियुक्त हो जाते हैं। रंगीली की पार्वती सहायता करती है। उधर भटकते हुए राजकुमार को धर्मपुर में स्थित दूती सहायता प्रदान कर उसे अनूपगढ़ लिवा जाती है।

एक दिन राजकुमार पुट्टपावती को साथ में ले कर राजापुर के लिए प्रस्थान करता है। मार्ग में उज्जैन का राजा रौठर्गवार मार्ग रोक कर खड़ा हो जाता है। दोनों में युद्ध होता है। राजकुमार की विजय होती है। राजापुर पहुँचने पर कुमार का विधिवत् राजसिंह होता है। सुखपूर्वक राजसुख का उपभोग करते हैं। भगवान् राजकुमार की कीर्ति को सुन कर परीक्षा के लिए आते हैं। राजकुमार दान के रूप में पुट्टपावती को देने के लिए तैयार हो जाता है। इस महान् त्याग को देख कर चतुर्भुज भगवान् अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जाते हैं।

कथागत साम्य

विलासवती और पुट्टपावती दोनों के ही कथानक में कई बातें समान हैं, जो निम्न-लिखित हैं—

(१) राजकुमार के उत्पन्न होने पर ज्योतिषी का भविष्यवाणी करना। वि० क० में सनत्कुमार के विद्याघरो के राजा बनने की भविष्यवाणी है और पुट्टपावती में रूपवती राजकन्या तथा राजा से युद्ध करने और विजय-लाभ की घोषणा है।

(२) दोनों ही कथाओं में राजकुमारी राजकुमार को वातायन में से देख कर मोहित होती है। विलासवती तो प्रेमोपहार में मौलथी की गूँथो हुई माला राजकुमार के ऊपर गिराती है। दोनों ही अपनी-अपनी दूती भेज कर उद्यान में पहली बार राजकुमार से मिलती हैं। मिलने का यह उपक्रम नायिका की ओर से होता है।

(३) दूती की सहायता से राजकन्याएँ बराबर प्रेमोपहार भेजती रहती हैं और एक-दूसरे से मिल भी लेती हैं। किन्तु विवाह किये बिना समागम नहीं करतीं। नायक इस के लिए तैयार नहीं होता। दोनों इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं।

(४) प्रेम की रस-दशा में पहुँचने तथा विवाह की तैयारी के पूर्व ही नायक नायिका से वियुक्त हो सिंहलद्वीप की यात्रा करता है। वि० क० में इस यात्रा का कारण राजा-रानी का लंछन कहा गया है और पुहुपावती में मृगया में भटक जाने से राजकुमार उस द्वीप में जा पहुँचता है। पोत भग्न होने पर नव दम्पति-युगल बिछुड़ जाता है और देवी की कृपा से अन्त में मिल जाते हैं।

(५) नायक-नायिका का विवाह हो जाने पर वि० क० में विलासवती का हरण बताया गया है और पुहुपावती में हरने की तैयारी। अभिप्राय यह है कि दोनों में नायिका की संरक्षा के लिए नायक को युद्ध करना पड़ता है और किसी अतिलौकिक शक्ति के बल से वे उस बड़े युद्ध में विजय-लाभ करते हैं।

वि० क० में नायक के वियुक्त हो जाने पर स्वयं विलासवती उस की खोज में निकल पड़ती है। किन्तु पुहुपावती में दूती नायक को ढूँढ़ कर लाती है। यह दोनों में विशेष अन्तर है। इस के अतिरिक्त राजकुमार चित्रसेनी और रंगीली से भी विवाह करता है, किन्तु वि० क० में केवल विलासवती से विवाह का वर्णन है। जि० क० और सि० क० में अवश्य नायक कई विवाह करते हुए दिखाई देते हैं।

इस प्रकार की अधिकतर कथाएँ काल्पनिक जान पड़ती हैं। इन में लोक-जीवन में व्याप्त प्रेम की महत्ता तथा सच्चे प्रेम के निर्वाह में विपत्तियों का यथोचित निर्देश हुआ है। प्रेमकथा की सामान्य विशेषता है—चित्र, मूर्ति या प्रत्यक्ष-दर्शन द्वारा नायक-नायिका के सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर उसे पाने की चेष्टा करना। किसी-किसी कथा में स्वप्न में किसी सुन्दरी के रूप से आकर्षित हो उसे पाने का प्रयत्न उल्लिखित है। वस्तुतः इन कथाओं की वस्तु-योजना दो रूपों में मिलती है। पहले के अनुसार नायक या नायिका की खोज कर प्राप्ति का सामान्य वर्णन है। जि० क० में चित्रकार को बुला कर सेठ कुमारी के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करता है और सुन्दरी के पिता के पास उसे भेजता है। किन्तु इस प्रकार एक-दो, चार या आठ विवाह करने में विशेष कोई चमत्कार लक्षित नहीं होता। किन्तु प्रेम का जो बीज धीरे-धीरे भूमि में जड़ जमा कर विकसित होता है और आँधी-तूफानों को भी झेल कर जो अटल और अचल खड़ा रहता है वस्तुतः विशेष महत्त्व उसी का है। यथार्थ में वि० क० दूसरे प्रकार के प्रेमा-स्थानक कोटि की रचना है, जिस में दुःख, संकट, विग्रह की तपन एवं ऊष्मा सह लेने के बाद सुख, शान्ति, शीतलता तथा बरसात की वास्तविक नमी की तरावट है, जो जीवन को अधिक समय तक सक्षम बनाने में समर्थता व्यक्त करती है। नूरमुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' भी इस से कुछ-कुछ मिलती हुई रचना है, जिस में अनेक कठिनाइयों के पश्चात् राजकुंअर समुद्र से प्रणमोत्ती निकालने में सफल होता है और फलस्वरूप

इन्द्रावती से उस का विवाह होता है। यदि इन कथाओं को ध्यान से देखा जाय तो विलासवती, इन्द्रावती और पुहुपावती आदि राजकुमारी झरोखे में से राजकुमार को देख कर ही कामासक्त हो जाती हैं और दासी आदि की सहायता से मिलने का उपाय ढूँढ़ निकालती हैं और मिलन भी हो जाता है; किन्तु प्रायः सभी लेखकों ने किसी न किसी बहाने से सभी राजकुमारों को समुद्र-यात्रा और विशेष कर सिंहलद्वीप की यात्रा का वर्णन किया है।

श्रीपालकथा का लोक-रूप

ब्रज की लोक-कहानियों में भाग्य की प्रधानता प्रदर्शक कई कहानियाँ हैं, जिन में किसी राजा की सात कन्याओं में से सब से छोटी पुत्री के यह कहने पर कि 'मैं अपने भाग्य का खाती हूँ' राजा उस का विवाह अत्यन्त असमर्थ अथवा कुष्ठगलित किसी व्यक्ति से कर देता है। किन्तु राजकुमारी रोग का कारण जान कर सेवा-शुश्रूषा से अपने पति का रोग-निवारण कर लेती है। अन्त में उस का पति पिता के समान ही वैभवशाली बन जाता है।^१ गाँवों में यह कहानी लकड़हारे के रूप में सुनी जाती है। राजा छोटी राजकुमारी से चिढ़ कर उस का विवाह किसी लकड़हारे से कर देता है। किन्तु धीरे-धीरे वह सम्पन्न हो जाता है और जंगल में राजमहल बनवा लेता है। समय के फेर से राजा दरिद्री हो जाता है और अन्त में भित्तारी बन कर कन्या के दरवाजे पर पहुँचता है। श्रीपालकथा में अन्तिम घटना को कम्बल और कुल्हाड़ी लेकर राजा को बुलाने में यही लोकतत्त्व लक्षित होता है, जिसे कथानक के अनुसार कुछ बदल दिया गया है। इस प्रकार की कहानियों में कथा का मुख्य अभिप्राय एक ही है कि 'होनी होय सो होय'।

बुन्देली और अवधी लोक-कहानियों में भी भाग्य से सम्बन्धित कई कहानियाँ मिलती हैं। इन कहानियों में राजा सात पुत्रियों में से सब से छोटी लड़की का विवाह 'अपने भाग्य की कमाई खाते हैं' कहने पर कोढ़ी के साथ कर देता है। कोढ़ी व्यक्ति शापित गन्धर्व रहता है। अतएव विवाह होते ही उस का कोढ़ अच्छा हो जाता है। अन्त में इन्द्र की कृपा से विश्वकर्मा उस के लिए राजमहल बनाता है और वह उस महल में सुखी जीवन बिताता है।^२ इसी प्रकार इस से मिलती-जुलती कई कहानियाँ मिलती हैं। एक भोजपुरी कहानी में कोई स्त्री कोढ़ी पति की सेवा कर देवता के वरदान से अनेक वर्षों के उपरान्त उस के शरीर में चुभे हुए हजारों काँटों को अलग कर रोग से मुक्त करती है।^३ इस प्रकार इन सभी कहानियों में पत्नी सेवा के बल पर अपने

१. डॉ० सत्येन्द्र . ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४६६।

२. डॉ० गंगाधर त्रिपाठी . अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन, अप्रकाशित, पृ० १४७।

३. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० ४१६।

पति का रोग-निवारण करती हुई दिखाई देती है। अतएव कर्म या भाग्य की प्रधानता मुख्यरूप से इन सब लोक-कहानियों में व्याप्त है।

कथा-मानक-रूप

अपभ्रंश के कथाकाव्यों में प्रयुक्त लगभग सभी कथाएँ छोटी-छोटी कई सरल कहानियों से मिल कर बनी हैं, जो उपवाक्यों की भाँति मुख्य वाक्य से जुड़ी हुई लक्षित होती हैं। ये कथाएँ सामान्य पशु-पक्षी या मनोरंजन की कहानियाँ न हो कर अभिप्राय गभित लोककथाएँ हैं, जिन में व्रत तथा अनुष्ठान के अंग सोद्देश्य नियोजित हैं। किन्तु मूल रूप में ये ही कथाएँ देश-विदेशों में पावों के नाम, स्थान और क्षेत्रीय भिन्नता के साथ कई रूपों में प्रचलित रही हैं। अतएव विभिन्न कहानियों के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा प्रारम्भिक कथा का सामान्य रूप सरलता से निश्चित किया जा सकता है। वस्तुतः कथा-मानक की प्रणाली से छोटी बड़ी सभी प्रकार की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्ष से ही कथाओं की वास्तविकता की पहचान हो सकती है। इस लिए कथा के मानक रूपों का निर्धारण करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

एक ही कहानी युग-युगो तक विभिन्न देशों में निर्गमन करती हुई विविध रूपान्तरों के साथ आज भी हमें सुनने को मिल सकती है। प्रत्येक देश के रीति-रिवाज तथा सामान्य विश्वास इन कहानियों में तथा कथाओं में भलीभाँति निहित रहते हैं। अतएव उन के मूल रूपों को ढूँढ़ निकालना अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। कथा-मानक-रूपों के निर्धारित हो जाने पर सरलता से उस के मूल तक पहुँच सकते हैं। और इसी लिए कहानी के अध्ययन में उस के मूल रूप को पहचानने तथा समझने के लिए कथा के मानक रूपों का अत्यन्त महत्व है।

यथार्थ में कथा-मानक-रूप विभिन्न कथाओं में निहित वह अन्तराष्ट्रीय रूप होता है, जो सामान्य रूप से कई कहानियों में समान रूप से निबद्ध लक्षित होता है। क्योंकि क्षेत्रीय तथा जातीय भिन्नता के कारण विभिन्न देशों की भाषा, साहित्य और संस्कृति में मौलिक अन्तर होने पर भी उन में कुछ ऐसे सामाजिक संस्कार तथा सामान्य विश्वास युग-युगो से प्रचलित रहे हैं, जो सर्वव्यापक तो नहीं पर अधिकतर देशों में सर्वमान्य रहे हैं। इस प्रकार इस अध्ययन के द्वारा जनपदीय ही नहीं देश-विदेशों की लोक-संस्कृति तथा लोक-रूढ़ियों का पता लगता है। इतिहास और भूगोल जहाँ हमें विभिन्न संस्कृतियों के उदय और विकास की कहानी समझाता है, वहीं कथा के मानकरूप लोकगत सामान्य विश्वासों का विश्लेषण कर किसी भी देश की संस्कृति और सभ्यता का प्राचीनतम ऐतिहासिक या भौगोलिक रूप का विचार कर निष्कर्ष रूप में सामान्य भाव-भूमि को निर्धारित करते हैं। यही इन की सब से बड़ी विशेषता है।

उक्त तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ही कई विद्वान् यह मत निश्चित कर सके हैं कि कहानियों का वास्तविक जन्म भारतवर्ष में आर्यवंश से हुआ है।^१

अकेली भ० क० में निम्नलिखित कथा मानक-रूप हो सकते हैं—

१—सौतेला भाई

१. दो भाई व्यापार करने के लिए जहाज पर बैठ कर यात्रा करते हैं। माता की सीख से सौतेला भाई बड़े भाई को मार्ग में किसी निर्जन द्वीप में छोड़ कर आगे बढ़ जाता है।
२. बड़ा भाई संकट में पड़ जाता है। घने जंगल में हो कर वह उजाड़ नगरी में पहुँचता है। वहाँ राक्षस के अधीन किसी सुन्दरी से उस का विवाह हो जाता है।
३. लौटते समय छोटे भाई से भेंट हो जाती है। वह छल से फिर उसे निर्जन द्वीप में छोड़ कर भाई की पत्नी के साथ घर आ कर विवाह रचता है।
४. बड़ा भाई राजा के पास पहुँचता है। छल का रहस्य खुल जाता है।

बंगला कथाओं में से 'धुमन्तपुरी' और 'कलावती राजकन्या' का कुछ-कुछ अंश इस कथा से मिलता-जुलता है। धुमन्तपुरी में उक्त भ० क० की भाँति माँ के मना करने पर पिता की आज्ञा से एक राजकुमार वीहड़ वन में अकेला चल देता है। जंगल में उसे एक उजाड़ नगरी तथा राजमहल दिखाई देता है। उस में सौती हुई राजकुमारी मिलती है। राजकुमार उस मरणान्तक नौद से जगा देता है। दोनों का विवाह हो जाता है। 'कलावती राजकन्या' में सौतेले भाइयों की कहानी है। छोटे भाई कलावती के देश से उसे प्राप्त कर लाते हैं। किन्तु मार्ग में बड़े भाई उन्हें समुद्र में गिरा देते हैं और घर पहुँच कर ब्याह की तैयारियाँ करते हैं। इतने में छोटे भाई पहुँच जाते हैं और छल-कपट का भेद खुल जाता है।

राक्षस या राक्षसिन के अधिकार में राजकुमारी के रहने का वर्णन अनेक कहानियों में मिलता है। 'सोनेर काटी रूसार काटी' नामक बंगला कथा में राक्षसिन के अधिकार में राजकुमारी का विवरण है। इसी प्रकार 'पातालपुरी' नाम की बंगला लोक-कथा में शून्य (उजाड़) नगरी और उस में राजमहल में राक्षसिन के अधीन रहने वाली राजकुमारी का वर्णन है। 'एण्ड्रोमीडा' में सर्प के रूप में दैत्य का देश उजाड़ना वर्णित है। वह राजकुमारी को अपने वश में इसलिए रखता है कि वह उस से विवाह करना चाहता है। अपभ्रंश की इस कथा में व्रज की कहानियों की भाँति सर्प-दैत्य का राजकुमारी से विवाह करने की चाहना का उल्लेख नहीं है।^२ किन्तु इस प्रकार की अन्य

१. डॉ० सत्येन्द्र . लोक साहित्य विज्ञान, विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है।

२. डॉ० सत्येन्द्र . लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २४१।

कथाओं में राक्षस से युद्ध कर उस के अधीन राजकुमारी से नायक के विवाह करने की घटना का उल्लेख मिलता है।

५—लोभी वणिक्

१. एक धनी-मानी सेठ धन कमाने की इच्छा से समुद्र की यात्रा करता है। किन्तु समुद्र की पूजा करने पर भी जब जहाज टस से मस नहीं होता तो किसी राजकुमार को एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ देने को तैयार हो जाता है।
२. राजकुमार जहाज चला देता है और साथ ले चलने की अपनी इच्छा प्रकट करता है। वणिक् सेठ इस लोभ से कि इस को एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ न देनी पड़ें कुमार को धर्मपुत्र के रूप में मान कर साथ में ले जाता है।
३. लौटते समय राजकुमार की नई बहू के रूप को देख कर तथा साथ में अबतुल धन-राशि को देख कर वणिक् राजकुमार को समुद्र में गिरा देता है।

‘कथासरित्सागर’ में भी ‘विदूषक-ब्राह्मण’ कथा के अन्तर्गत विदूषक ताम्रलिप्ती नगरी में पहुँच कर स्कन्ददास व्यापारी से मित्रता करता है और उस के फँसे हुए जहाज की सम्पत्ति के आधे भाग और कन्या के विवाह के बदले पुरस्कार स्वरूप चला देने में समर्थ होता है। किन्तु बनिया धन के लोभ से उसे समुद्र में गिरा देता है।^१ अपभ्रंश, प्राकृत तथा अन्य लोक-कथाओं में यह वृत्त सामान्य है। ‘ढोला’ में मोतिनी के लालच में सेठ मामाओं के द्वारा नल को समुद्र में गिरा देने का उल्लेख है।

६—सहस्रकूट चैत्यालय का फाटक खोलना

- १ एक राजकुमार पाँच सौ पोतों के साथ समुद्र की यात्रा के लिए चल पड़ता है।
२. किसी अच्छे द्वीप (हंस या रत्न) में जा कर जहाज रुकते हैं। राजकुमार जिन मन्दिर में देव-दर्शन के लिए जाता है। किन्तु सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को बन्द देख कर ठिठक जाता है।
३. द्वारपाल के बताने पर वह फाटक को छूता है। हाथ लगाते ही फाटक खुल जाता है। इस वृत्त को जान कर राजा अपनी कन्या का विवाह राजकुमार के साथ कर देता है।

ढोला में भी भौमासुर दाने के महलों की शिला सरकाता है।^३ इसी प्रकार भ० क० में भविष्यदत्त के घक्का देने पर वर्षों से बन्द पड़ा हुआ मन्दिर खुल जाता है। और भी अन्य जैन कथाओं में हाथ लगाते ही मन्दिर के खुल जाने का वृत्त मिलता है।

१ पं० केदारनाथ शर्मा कथासरित्सागर, प्रथम खण्ड, हिन्दी अनुवाद सहित, मूल लेखक महाकवि सोमदेन भट्ट, तृतीय खण्डक।

२ डॉ० सत्येन्द्र - ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४१०।

३. वही, पृ० ४४०। तथा-मध्य युगीन हिन्दी साहित्य का नोक्तात्त्विक अध्ययन, पृ० २१३।

सि० क० या श्रीपाल कथा में निम्नलिखित कथा के मानकरूप कहे जा सकते हैं। यथा—

१—करम बड़ी संसार में

१. एक पिता की दो पुत्रियाँ हैं। पिता राजा है। उन की योग्यता की परीक्षा लेता है। बड़ी पिता को और छोटी कर्म को बड़ा बताती है। राजा छोटी बेटी पर क्रुद्ध हो कर उस का विवाह कोढ़ी से कर देता है।

२. कोढ़ी का रोग दूर हो जाता है। वह अत्यन्त प्रतापी राजा बनता है।

३. दामाद समुर को अपने प्रताप तथा वैभव से चमत्कृत कर देता है। वह कर्म का माहात्म्य स्वीकार कर लेता है।

श्वेताम्बर-साहित्य में श्रीपाल की कथा में बड़ी पुत्री का संकटों में पड़ कर छोटी पुत्री यानी बहन के शरण में आने का उल्लेख भी मिलता है। 'लीअर' में छोटी पुत्री के विशेष प्रेम प्रकाशित न करने पर पिता उसे अपने घर से निकाल देता है। शेक्सपियर के 'किंगलियर' नाटक में भी इस का उल्लेख है। वस्तुतः राजा का भूल स्वीकार करना और पुत्री के सम्मान करने की बात कई कहानियों में मिलती है।^१ इजिप्ट देश की कथा में भी 'भाग्य विषयक' कहानी 'द स्टार ऑव इसिस' नाम से मिलती है जिस में देवी के प्रसाद से भाग्योदय बतलाया गया है।^२ बुन्देली और अवधी में भाग्य से सम्बन्धित कई कहानियाँ मिलती हैं। अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोक-साहित्य में पुत्रियों के प्रेम की परीक्षा में सब से छोटी पुत्री को देश से निकालने का चित्रण है।^३ किसी-किसी कहानी में कोढ़ी से विवाह करने का भी उल्लेख मिलता है। कोढ़ी अथवा लुंज या अंगहीन से विवाह होने का वृत्त देश-विदेश में अनेक कहानियों में है।^४

२—असाध्य रोग से मुक्ति

१. किसी कन्या का पति कुष्ठ रोग से पीड़ित है। विवाह होने पर पति पत्नी को पास में आने से रोकता है, पर वह नहीं मानती।

२. मन्त्र पूर्वक व्रत-विधान के पालन से तथा रात-दिन सेवा-शुश्रूषा करने से वह पति को निरोग बना लेती है।

३. कुष्ठ रोग दूर होने पर पति का भाग्य चमक उठता है।

१. डॉ० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २२८।

२. आफ्टरमाथ ए सप्लेण्ट टु द गोव्दन वाउ, पृ० ३६०।

३. डॉ० गंगाधरन त्रिपाठी अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित), पृ० १८६।

४. डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतार्किक अध्ययन, पृ० २१३।

बुन्देल और अवधी कहानियों में किसी राजा की सात पुत्रियों का वृत्तान्त मिलता है। सब से छोटी लड़की का विवाह कोढ़ी के साथ होता है। व्यक्ति शापित गन्धर्व होता है। अतएव विवाह होते ही कोढ़ दूर हो जाता है और इन्द्र की कृपा से विश्वकर्मा उन दोनों के लिए राजमहल बना देता है।^१ अपभ्रंश की उक्त कथा में कुमार शापित तो नहीं है, पर दैवी शक्तियों की सहायता से ही उस का अम्युदय होता है। भोजपुरी कहानी में भी कोई स्त्री अपने कोढ़ी पति की सेवा कर देवता के वरदान से अनेक वर्षों के उपरान्त उस के शरीर में चुभे हुए हजारों काँटों को अलग कर उसे रोग से मुक्त करती है।^२ सम्बुल जातक में भी स्वामी एवं पतिभक्त पत्नी के द्वारा पति के कोढ़ को दूर करने का उल्लेख है।^३

३—अटके हुए जहाज को चलाना

१. एक कुमार सार्यवाह-यात्रा के लिए जाता है। मार्ग में एक नगर में ठहरता है।
२. किसी सार्यवाह के जहाज तभी समुद्री द्वीपों की यात्रा के लिए सजते हैं। सार्यवाह प्रस्थान करता है, पर जहाज अटक जाता है।
३. मनुष्य की बलि के लिए परदेशी कुमार को राजा की आज्ञा से पकड़ लिया जाता है। कुमार मन्त्र की शक्ति से जहाज चला देता है।

ब्रज की कई कहानियों में अटके हुए जहाज को चला देने का उल्लेख मिलता है।^४ कथासरित्सागर में भी विदूषक द्वारा फँसे हुए जहाज को चलाने का उल्लेख है।^५

४—डाकुओं से मुठभेड़

१. कोई कुमार सार्यवाह-संघ के साथ समुद्री यात्रा करने के लिए चल पड़ता है।
२. किसी समुद्री-तट पर एक लाख डाकू मिल कर पोछा करते हैं और सार्य-वाहों के मुखिया को पकड़ लेते हैं।
३. सार्यवाहों का अधिपति लोभ से डाकुओं के हवाले खुद चला जाता है। वे उसे बाँध कर पेड़ से कस देते हैं।

१. डॉ० गंगाचरण त्रिपाठी : अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित प्रबन्ध), पृ० १४७।

२. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन, पृ० ४१६।

३. सं० प्री० ई० सी० कानेत : जातक आर स्टोरीज ऑव द बुद्धाज फार्मर वर्थ्स, पाँचवीं जिल्द, पृ० ४८।

४. डॉ० सत्येन्द्र ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४४०।

५. ५० कैदारनाथ शर्मा : कथासरित्सागर, हिन्दी अनुवाद सहित, प्रथम खण्ड, तृतीय लम्बक के अन्तर्गत 'विदूषक-जालान' की कथा।

४. कुमार इस वृत्तान्त को सुन कर डाकुओं को ललकारता है और डट कर उन का सामना करता है। सब डाकू लोग उस के पैरों पर गिरते हैं। डाकुओं से समुद्र-यात्रा करते समय मुठभेड़ होने का वृत्त कई जातक कथाओं में मिलता है। डॉ० सत्येन्द्र ने दूसरे प्रसंग में संकट काल में डाकुओं से मुठभेड़ होने का उल्लेख किया है।^१ इस प्रकार इस वृत्त को अन्य लोक-कहानियों में भी ढूँढा जा सकता है।

जि० क० के कथा मानक-रूप इस प्रकार है—

१—पुतली-दर्शन से प्रेम

१. एक वणिक् पुत्र एक दिन अष्टाह्निका के दिनों में किसी चैत्यालय की वन्दना करने के लिए मित्रों के साथ जाता है।
२. चैत्यालय के ऊपरी भाग में उत्कीर्ण पुतलियों के रूप को देख कर किसी एक पुतली पर मोहित हो जाता है। घर में आ कर काम की दशों अवस्थाएँ क्रमशः प्रकट होने लगती हैं।
३. वणिक् सेठ चित्रकार को बुला कर उस कन्या के पिता के पास उसे भेंटता है। दोनों का विवाह हो जाता है।

राजवल्लभ कृत 'पद्मावतीचरित्र' में भी राजपुत्र चित्रसेन का मन्त्रीपुत्र रत्नसार के साथ अष्टाह्निका में ऋषभदेव के मन्दिर में किन्नरियों का गान सुनने और पुतलिका के रूप पर मोहित हो जाने का वृत्त मिलता है।^२ चित्र-दर्शन और मूर्तिदर्शन से प्रेम होने का वृत्त अन्य कहानियों में भी ढूँढा जा सकता है। सूफी कहानियों में स्वप्न-दर्शन और चित्र-दर्शन से सम्बन्धित कई कहानियाँ मिलती हैं।

२—जिनदत्त की यात्रा

१. जिनदत्त माता-पिता के मना करने पर भी घन कमाने के लिए घर से बाहर निकल पड़ता है। पत्नी को समुराल के नगर के उद्यान में छोड़ कर जड़ी के प्रभाव से अदृश्य हो जाता है। वहाँ से चल कर वह दशपुर के वन में पहुँचता है।
२. वन के सूखे फल-फूलों को हरा-भरा कर देने से वणिक् समुद्रदत्त जिनदत्त को अपना धर्म-पुत्र बना लेता है। वह उसे अपने नगर में ले जाता है।
३. नगर की स्त्रियाँ जिनदत्त के रूप-सौन्दर्य को देख कर मुग्ध हो जाती हैं। जादू की वस्तुओं में कई चीजों का उल्लेख अनेक कहानियों में मिलता है। स्टिय थॉमसन ने ऐसी अनेक वस्तुओं का निर्देश किया है।^३

१ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३०८।

२. अमरचन्द नाहटा 'बया राजवल्लभ कृत पद्मावतीचरित्र और जायसी के पद्मावत की कहानी एक ही है *', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष १६, अंक १, पृ० ५३।

३. डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २४४-२४६।

३—श्रीमती

१. किसी नगर में एक राजकुमारी अकेली महल में रहती थी। रात को जो भी उस के पास रहता था सबेरे वह मरा हुआ मिलता था। इस लिए राजा ने पारी से एक-एक व्यक्ति प्रतिदिन के लिए नियत कर दिया।
२. एक दिन एक वणिक्पुत्र उस नगर में मालिन के यहाँ जा कर ठहरता है। उसी दिन मालिन के पुत्र की बारी होने से वह अत्यन्त विलाप करती है।
३. वणिक्पुत्र बुढ़िया को समझा कर उस के स्थान पर स्वयं जाता है।
४. वह रात भर राजकुमारी श्रीमती के महल में पहरा देता है। आधी रात को कुमारी के मुँह से निकलने वाले भुजंग को तलवार के बार से मार कर कुमारी के साथ विवाह करता है।

इस प्रकार उक्त कथा में राजकुमारी सर्प के अधीन वर्णित है। किन्तु कथा-सरित्सागर में तथा जगदेव की कथा में सब बातें समान हैं; पर सुन्दरी राक्षस के अधीन है। जगदेव के अन्य वृत्तो में अवश्य एक राजकुमारी के मुँह से रात को नागिन निकलने और एक मनुष्य को रोज उसने का उल्लेख मिलता है।^१ इसी प्रकार बंगला 'डालिम-कुमार' कथा के अन्तर्गत ऐसी ही राजकुमारी का वर्णन है, जिस के साथ रोज एक मनुष्य का विवाह होता है और रोज उस के मुँह से निकलने वाला सर्प रात में उसे मार कर खा जाता है। डालिम कुमार सर्प को मार कर राजकुमारी से विवाह करता है।^२

४—छलिया धर्मपिता

१. एक वणिक्सेठ किसी कुमार को धर्मपुत्र बना कर द्वीपान्तरो की यात्रा करता हुआ सिंहलद्वीप में पहुँचता है।
२. कुमार साहसपूर्ण कार्यों से वहाँ के राजा की पुत्री से विवाह कर लेता है।
३. मार्ग में लौटते समय धर्मपिता कुमार की सुन्दर पत्नी को देख कर उस पर आसक्त हो जाता है। वह छल से कुमार को समुद्र में गिरा देता है।

ब्रज-कहानी में नल अपने दो मामाओं के साथ सोने की गोठ की खोज में जहाज से किसी द्वीप की यात्रा करता है। मामा दोनों जहाज पर रहते हैं। नल मोतिनी से विवाह कर लाता है। मामाओं की दृष्टि बदल जाती है। वे नल को समुद्र में फेंक देते हैं।^३ उक्त अपभ्रंश-कथा में भी धर्मपिता जहाज पर रह कर समुद्र-तट पर क्रय-विक्रय करता है। बुन्देलखण्डी कथा 'सब से बड़ा पुण्य कौन' में भी राजकुमार को

१. डॉ० सरयेन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३४९।

२. सं० दक्षिणार्जन मित्र मञ्जुमदार : ठाकुरमारकुलि, पृ० १६४।

३. डॉ० सरयेन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २३०।

एक व्यापारी द्वारा समुद्र में फेंक देने तथा महादेवजी के प्रसाद से अपने नगर में पहुँचने का वृत्त मिलता है। अपभ्रंश कथाओं की भाँति अन्त में राजकुमार सब को क्षमा कर देता है।^१ पाश्चात्य देशों की लोक-कथाओं में भी वीरता और साहसपूर्ण कार्यों की कहानियाँ मिलती हैं, जिन में समुद्र में गिरने और बच कर समुद्र के तट पर आने का वृत्त भी है।^२ वि० क० में भी उक्त वृत्त मिलता है।

५—साहसी कुमार

१. जिनदत्त अपने जीवन में अनेक साहसपूर्ण कार्य करता है।
२. राजकुमारी के मुँह से निकलने वाले सर्प को मारता है। समुद्र में गिराये जाने पर सूखे लकड़ी के टुकड़े के सहारे समुद्र पार करता है।
३. विद्याधरों के देश में कई प्रकार की विद्याएँ सीखता है।

अवध में भी साहसी राजकुमारों की कई कथाएँ प्रचलित हैं, जिन में से एक कहानी में राजकुमार डायन को अपनी तलवार से काट कर उस के अधीन राजकुमारी से विवाह करता है।^३

६—भविष्यवाणी की संपूर्ति

१. किसी नगर का राजा ज्योतिषी से पृच्छता है कि इस कन्या का वर कौन होगा? वह बतलाता है कि जो व्यक्ति अपनी भुजाओं से समुद्र पार कर इस द्वीप में आयेगा वही इस का पति होगा।
२. राजा अपने अनुचरों को समुद्र-तट पर नियुक्त कर देता है। एक दिन एक कुमार अपनी भुजाओं से समुद्र पार करता हुआ दिखाई पड़ता है। राजा को सूचना दी जाती है।
३. उन दोनों का विवाह हो जाता है।

इस वृत्त का उल्लेख कथासरित्सागर तथा प्राकृत-अपभ्रंश कथाओं और भारतीय लोक-कथाओं में भी मिलता है।

७—कौतुकी जिनदत्त

१. विद्याधरों के देश में रह कर जिनदत्त कई प्रकार की विद्याएँ सीख लेता है।
२. एक दिन कौतुकवश पत्नी को बिमान में बिठा कर विहार करता हुआ अकृत्रिम चैत्यालयों की जा कर वन्दना करता है।

१. शिशुसहाय चतुर्वेदी गौने की विद्या, पृ० १२७-२८।

२. स० थॉमस जे० सहान 'ए डुक ऑव फेमस मिथ्स एण्ड लीजेंड्स', १९४४।

३. शिवमूर्ति सिंह बरस 'अवध की लोक कथाएँ', भाग २, पृ० ३६।

३. लौटते समय चम्पा नगरी के चैत्यालय में त्यक्त पत्नियों को देख कर रात वही के वन में बिताता है। सुबह होने के पहले ही वह विद्या से रूप बदल कर नगर में चला जाता है।

४. जिनदत्त उस नगर में भी कई कौतुक दिखाता है; जैसे कि—शिला को हँसाना, मदोन्मत्त हाथी को वश में करना, इत्यादि।

मदोन्मत्त हाथी को वश में करने का वृत्त 'क्षत्रचूडामणि' आदि कई जैन कथाकाव्यों में मिलता है।

८—प्रिय-मिलाप

१. जिनदत्त अपनी पहली पत्नी चम्पा को उपवन में अकेली छोड़ कर अदृश्य हो जाता है, जो निकटवर्ती चैत्यालय में जा कर शरण लेती है।

२. श्रीमती सार्यवाह के साथ चंपापुर में पहुँचने पर अबसर पा कर चैत्यालय की ओर पुर के बाहर उद्यान में चली जाती है। वहाँ विमलमती से भेंट हो जाती है और उसी के साथ रहने लगती है।

३. श्रृंगारमती को स्वयं जिनदत्त विमान में बिठा कर वहाँ के उद्यान में छोड़ देता है। जब सुबह वह विमान और पति को नहीं देखती है तो विलाप करती है। उस का कण क्रन्दन सुन कर विमलमती श्रीमती को भोजती है। वह भी उन के साथ में रहने लगती है।

इस प्रकार सब पत्नियों के एक स्थान पर मिलाप होने का वृत्त 'प्रियमेलकतीर्थ' में संकलित कई कहानियों में मिलता है, जिन में वियुक्त पत्नियाँ व्रत, अनुष्ठान कर प्रवसित पति को प्राप्त करती हैं^१। अन्य भारतीय धार्मिक कथाओं में भी व्रत के परिणामस्वरूप प्रवसित पति को प्राप्त करने का वृत्त मिलता है। वि० क० के कथा मानक-रूप निम्नलिखित हैं—

१—पिता से अपमानित राजकुमार

१. एक दिन कोतवाल कुछ चोरों को पकड़ कर लिये जा रहा था। चोरों ने राजकुमार को सामने देख कर क्षमा-याचना की। उन के गिड़गिड़ाने पर राजकुमार ने उन्हें मुक्त कर दिया।

२. कोतवाल ने जा कर राजा से शिकायत की कि जनता की राय के विरुद्ध कुँवर ने चोरो को छोड़वा दिया। राजा ने आज्ञा दी कि बिना कुँवर के जाने चोरो को शूली पर चढ़ा दो।

३. जब राजकुमार को इस घटना का पता चला तब वह पिता से सष्ट हो कर उस के राज्य की सीमा से बाहर चला गया।

१. डॉ० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २१४।

उक्त वृत्त पिता से रुष्ट हो कर नगर छोड़ना, दुखहरनदास की 'पुष्टपावती' नामक कथा में भी मिलता है ।

२—विलासवती का प्रेम

१ एक दिन वसन्त के समय राजकुमार सनत्कुमार मित्र के साथ उद्यान की ओर जा रहा था । विलासवती झरोखे में से उस के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो अपने हाथ से गूँथी हुई मौलसिरी की माला उस के ऊपर गिराती है, जो सिर पर गिरती है । मित्र गले में डाल देता है ।

२ दोनों बगोचे में मिलते हैं । परस्पर वार्तालाप होता है ।

३ सनत्कुमार परदेश चला जाता है । विलासवती को पता चलता है कि उसे शूली पर चढ़ा दिया गया है तो वह भी आधी रात में अकेली श्मशान की ओर चल देती है । अनेक संकटों के बाद वह अपने प्रेमी को प्राप्त करती है ।

यह प्रेमाश्रयानक वृत्त है, जो सूफी तथा प्रेम-कथाओं में किसी न किसी रूप में मिलता है । इसी का एक अंश 'पउमसिरीचरित' में है ।

३—राजरानी का लाछन

१ किसी राजकुमार को उद्यान में देख कर रानी उस पर रोस जाती है ।

२ राजकुमार उस की पुत्री से प्रेम करता है । एक दिन वह वहाँ से निकलता है तो रानी अपने पास कुँवर को बुलाती है । वह उस के सामने प्रेम-प्रस्ताव रखती है । राजकुमार उसे ठुकरा देता है ।

३. राजा के आने पर रानी कुमार पर आरोप लगाती है । राजा कुँवर को शूली पर चढ़ाने का आदेश देता है ।

४. चिर काल के पश्चात् रहस्य खुलता है । रानी पश्चात्ताप करती है । कुँवर से क्षमा माँगती है ।

लाछन लगाने और झूठे पढ़ने की कई कहानियाँ लोक में प्रचलित हैं । किसी-किसी कहानी में अलग-अलग तथा किसी में दोनों वृत्त एक साथ मिलते हैं ।

४—जादू की चादर

१. सनत्कुमार ताम्रलिप्ती से चल कर श्रीपुर पहुँचता है । वहाँ उसे अपने नगर का मनोरथदत्त नामक मित्र मिल जाता है ।

२. मित्र के यहाँ कई दिनों तक ठहर कर वह सिंहलद्वीप की यात्रा करता है ।

३. चलते समय मित्र उसे 'मोहन पट' नाम की जादू की चादर भेंट करता है, जिसे ओढ़ लेने से मनुष्य अदृश्य हो जाता है ।

लोक-कहानियों में चादर, टोपी, खड़ाऊँ आदि ऐसी कई जादू की वस्तुओं के नाम मिलते हैं, जिन के उपयोग से मनुष्य अदृश्य हो सकता था ।

५—निर्जन में सुन्दरी

१. राजकुमार समुद्र की यात्रा में पोत के भग्न हो जाने से किसी निर्जन वन के समुद्रीय तट पर पहुँचता है ।
२. उस वन में सहसा किसी सुन्दरी को देख कर उसे आश्चर्य होता है । वह अपनी प्रेमिका में प्रेम व्यक्त करता है ।
३. वह सुन्दरी उस की प्रेमिका ही निकलती है ।

६—सार्थवाह का धोखा देना

(१) सार्थवाह

१. कोई राजकुमार अपनी प्रेमिका पत्नी के साथ भग्नध्वजा वाले पोत पर बैठ कर स्वदेश वापिस लौटना चाहता है ।
 २. सार्थवाह उसे अपने जहाज पर बुला लेता है ।
 ३. मार्ग में कुमार की सुन्दर पत्नी के रूप के आकर्षण से उस की नियत बदल जाती है । वह धोखे से कुमार को समुद्र में गिरा देता है ।
 ४. कुमार-पत्नी के सामने वह प्रेम-प्रस्ताव रखता है । वह अस्वीकार कर देती है । पोत भग्न हो जाता है ।
 ५. नायक-नायिका काष्ठफलक के सहारे बहते हुए किसी एक ही द्वीप में थोड़ी दूर पर किनारे लगते हैं । दोनों परस्पर मिल जाते हैं ।
- नौका डूबने, नायक-नायिका के अलग-अलग बह जाने की घटना प्रेम-गाथाओं में समान रूप से मिलती है । इसी प्रकार समुद्र में नायक को गिराने और नायिका की ओर आकृष्ट होने का वृत्त ब्रज के ढोला में तथा अन्य कहानियों में मिलता है ।^१

(२) भविष्यदत्त

१. एक माँ पुत्र चाहती है । पुत्र उत्पन्न होता है । पति पत्नी को छोड़ देता है ।
२. बेटा साहस, चतुराई और बुद्धिमत्ता से कई साहसपूर्ण कार्य करता है ।
३. सौतेले बेटे के वैभव को देख कर पति पत्नी से क्षमा माँगता है और प्राणों से अधिक प्यार करता है ।

'टॉमथम्ब (Tomthumb) में तथा ब्रज की किसी कहानी में भी इसी प्रकार माँ के चाहने पर पुत्र की प्राप्ति तथा उस के अनेकों साहसपूर्ण कार्यों का उल्लेख मिलता है ।^२

१. डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २१६ ।

२. वही, पृ० २४१ ।

(३) सरूपा

१. सौतेली माँ अपने सौत के पुत्र की बढ़ोत्तरी न देख कर अपने लड़के को उन्नत बनाना चाहती है, इस लिए वह सौतेले भाई को द्वीप या समुद्र में छोड़ देने के लिए कहती है ।

२. किन्तु सौतेला पुत्र कई संकटों को पार कर अतुल धन और वैभव से सम्पन्न हो जाता है । और सौतेली माँ के पुत्र को अपनी करनी पर सब के सामने नीचा देखना पड़ता है ।

३. सौतेली माँ और पुत्र को दण्ड मिलता है ।

‘जुनीपर वृक्ष’ में भी सौतेली माँ सौत के पुत्र से घृणा कर मरवा डालती है । किन्तु तरह-तरह के चमत्कार के बाद सौतेली माँ को दण्ड मिलता है । उक्त कथा-रूप की भाँति ब्रज में भी कुनाल और प्रनमल के वृत्त ऐसे ही कहे जाते हैं ।^१

(४) बहादुर कुमार

१. एक वणिक्पुत्र अपने साहस तथा चतुरतापूर्ण कार्यों से राजा को प्रसन्न कर लेता है ।

२. वह राक्षस का सामना कर और राजाओं से युद्ध कर सुन्दरी तथा राज-कुमारी से विवाह करता है ।

‘बहादुर दर्जी’ में भी दर्जी के दानवों और मनुष्यों को जीत कर राजकुमारी से विवाह करने का उल्लेख है ।^२

७—सुन्दरी का अपहरण

१. सनत्कुमार मलयपर्वत की किसी गुफा में विद्या-सिद्ध करने के लिए जप करता है । विद्याधर राजा विलासवती को हर कर ले जाता है ।

२. मित्र वसुभूति विलासवती का पता लगाता है और सनत्कुमार को बताता है ।

३. सनत्कुमार को विद्या सिद्ध हो जाती है । पत्नी का वृत्त जान कर वह दूत को भेजता है । किन्तु विद्याधर युद्ध के लिए तैयार हो जाता है ।

४. दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध होता है । सनत्कुमार की विजय होती है । नायक-नायिका परस्पर मिलते हैं ।

यह वृत्त देश-विदेश की अनेक कहानियों में मिलता है ।

१. डॉ० सरयेन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २२६ ।

२. वही, पृ० २३० ।

८—सर्प-दंश

१. सनत्कुमार और विलासवती समुद्र में बहते हुए एक द्वीप के किनारे पहुँचते हैं ।
२. घूमते हुए सनत्कुमार को कण्ठगत प्राणाधीन विलासवती दिखाई देती है । नायिका प्यास से व्याकुल होती है । नायक कमल के दोने में निकटवर्ती जलाशय से पानी लेने जाता है ।
३. जब वह पानी ले कर वापिस लौटता है तो बड़ के पेड़ के नीचे प्रेयसी की नही देख कर बहुत हैरान होता है । कुछ दूर पर सनत्कुमार विलासवती को चादर की लोलते हुए अजगर को देखता है । वह मरने के विचार से अजगर के सिर पर पैर मारता है । अजगर सिकुड़ जाता है ।
४. सनत्कुमार को विश्वास हो जाता है कि विलासवती नहीं रहती ।

ब्रज की नल और मोतिनी तथा बंगाल की फकीरचन्द कहानी में भी सर्प-दंश की घटना का उल्लेख है ।^१ डोला-मारू रा दोहा में भी नव विवाहिता मारवणो को पीवणे साँप द्वारा डँसे जाने का वृत्त मिलता है ।^२ इसी प्रकार चन्दायन तथा उस के बंगला अनुवाद 'सती मयना ओ लोर चन्द्रानी' (दीलत काजी) में भी निद्रित चन्द्रानी को किसी पेड़ के नीचे साँप के डँसने की घटना मिलती है ।^३

५. कमलश्री

१. पुत्र यात्रा पर बाहर व्यापार करने जाता है । माता अकेली रहती है ।
२. व्रत पूर्वक प्रतीक्षा करती है ।
३. बरसों के बाद पुत्र लौट कर घर आता है ।

इसी प्रकार रविव्रत कथा में पुत्र के वियोग में मुनि से व्रत ग्रहण कर सेठ-पत्नी सबिधि पालन करती है । परिणामस्वरूप पुत्र सकुशल लौट कर घर आ जाता है । भारतीय धर्मकथाओं में ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं, जिन में किसी व्रत के पालने से पुत्र धन-मान से युक्त हो घर वापिस लौटता है । वियुक्त पुत्र को प्राप्ति के लिए कई व्रतों का उल्लेख मिलता है^४ । जैसे कि—संकष्ट चतुर्थी (भाद्रपद कृ० ४), वैशाख शु० षष्ठी और श्रावण शु० १५, आश्विन या कार्तिक का व्रत ।

१. डॉ० सरयेन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३१८ ।

२. डोला-मारू रा दोहा की भूमिका, पृ० ३०, प्रकाशित काशी ना० प्र० सभा, काशी ।

३. श्री निरव्यानन्द तिवारी : 'लोरिक-चन्दा-पद' द्वारा में सर्प-दंश का अधिप्राय ।

हिन्दुस्तानी, भाग २३, अंक १, पृ० ४६ ।

४. सं० प० जगन्नाथ शास्त्री : व्रतकोश, प्रथम भाग, पृ० ८१, ४४ और ८३ ।

६. ईर्ष्यालु पिता

१. एक पिता के एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न होता है।

२. युवक होने पर उस का पिता एक दिन उसे माँ का अत्यन्त स्नेह मिलते देख अपनी पत्नी से रुष्ट हो जाता है और उदासीन हो कर पत्नी को छोड़ देता है।

‘बुल्लधम्मपाल’ नामक जातक कहानी में भी रानी का पुत्र के प्रति अत्यन्त स्नेह देख कर राजा पुत्र को सरवा डालता है, जिस से वह मरक में जाता है^१। उक्त कथा में पिता पुत्र को न मार कर पत्नी का त्याग कर देता है। अन्त में पिता को दण्ड मिलता है। वह बन्दी बनाया जाता है, पर पुत्र उसे छुड़ा लेता है।

७. सुकृत का फल

१. पूर्व जन्म में मित्र का उपकार करने से इस जन्म में यश या विद्याधर पद को प्राप्त कर मित्र संकट के समय में आ कर कुमार की सहायता करते हैं, जिस से उस का जीवन घन-मान तथा वैभव से समृद्ध हो जाता है।

२. पूर्व जन्म के सुकृत से वह अन्त में राजा बन जाता है। प्रजा उस से सन्तुष्ट रहती है। वह चिर काल तक राजसुख का उपभोग करता है।

८. भविष्यवत् की समुद्र-यात्रा

१. भविष्यवत् पाँच सौ वणिकों के साथ व्यापार करने के लिए समुद्र-यात्रा करता है। मैनागद्वीप में वह छूट जाता है।

२. वह उजाड़ नगरी में पहुँचता है। वहाँ सुन्दरी मिलती है।

३. भविष्यवत् का विवाह उस सुन्दरी से हो जाता है। अपनी इस यात्रा में उसे सुन्दरी और अतुल सम्पत्ति मिलती है।

‘सिन्धुबाद अहाजी की दूसरी यात्रा’ में भी भविष्यवत् की भाँति सिन्धुबाद के किसी टापू में छूट जाने की घटना का उल्लेख मिलता है। वह द्वीप भी उजाड़ होता है। सिन्धुबाद कुछ दिनों तक अकेला वहाँ भटकता है और अन्त में हीरे की घाटी में पहुँच जाता है।^२ इसी प्रकार लोक-कथा के ‘बेजान नगर’ जैसे ‘बेगम नगर’ में दानव समूचे नगर को तो उजाड़ देता है, पर रंगीली नाम की राजकुमारी के सौन्दर्य से अभिभूत हो कर उस का संरक्षक बन जाता है। वह राजकुमार से उस का विवाह कर देता है^३। भ० क० से यह घटना बिलकुल मिलती-जुलती है।

१. सं० प्रो० ई० बी० काबेल : द जातक आर स्टोरीज ऑफ द बुद्धाज फार्मर बर्ष, तृतीय जिण्ड, १६५७, पृ० ११७।

२. द अरबियन नाइट्स, हिन्दी अनुबाद, रामनारायणनाथ, इलाहाबाद, १६२२, पृ० १६०।

३. डॉ० सरयेन्द्र मधुसुग्रीन हिन्दी साहित्य का लोकोपनिषत् अध्ययन, पृ० ३३८।

१—सुन्दरी के लिए युद्ध

१. भविष्यदत्त के अपूर्व साहस तथा बल एवं बुद्धिमत्ता से प्रसन्न हो राजा अपनी पुत्री सुमित्रा से उस का विवाह तय कर देता है ।
२. सिन्धुनरेश कर तथा राजकुमारी की माँग करता है । भविष्यदत्त दूत को फटकार देता है ।
३. दोनों में युद्ध होता है । भविष्यदत्त विजयी घोषित होता है । राजकुमारी से उस का विवाह हो जाता है ।

मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की यह लोकप्रिय घटना है । कई लोक-कथाओं में युद्ध पूर्वक सुन्दर स्त्रियों की रक्षा और उन के साथ विवाह करने का वृत्त मिलता है । इसी प्रकार पाँच सौ वणिकों या पाँच सौ पोतों के साथ समुद्रीय यात्रा करने का वृत्त अपभ्रंश तथा कई जातक कथाओं में मिलता है^१ । अपभ्रंश की अधिकतर कथाओं में सिंहलद्वीप की यात्रा का वृत्त वर्णित है, जो लोक-साहित्य और साहित्य में अत्यन्त लोकप्रिय अभिप्राय रहा है ।

अन्य कथा-मानक-रूप है—

१—छिप कर सुनना

१. किसी स्त्री का पति बारह बरस के लिए वन कमाने परदेश में जाता है ।
२. बारह बरस पूरे हो जाते हैं, पर उस का पति लौट कर नहीं आता ।
३. पातिव्रत्य की रक्षा करती हुई वह पति की प्रतीक्षा करती है ।
४. एक दिन पति चुपचाप आ कर दरवाजे से सट कर सास-बहू की बातों को ध्यान से सुनता है । अन्त में प्रकट हो जाता है ।

इस वृत्त का एक अंश 'पेनीलोप', कथासरित्सागर की उपकोशा तथा लोक-कथाओं में मिलता है ।^२ लोकगीतों में तो इस की बहुत चर्चा मिलती है ।

२—पुण्य का फल

१. भटकते हुए निर्जन द्वीप में यक्ष द्वारा सहायता पहुँचाना ।
२. विमान में बिठा कर यक्ष या विद्याधर द्वारा अभीष्ट स्थान पर ले जाना ।
३. काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करना ।
- ४ निर्जन वन में या उजाड़ नगरी में सुन्दरी की प्राप्ति होना, इत्यादि ।

१. सं० बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स, प्रथम भाग, पृ० १०८ ।

२. डॉ० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २२१-२४ ।

भारतीय कथाओं में पूर्व जन्म के पुण्य से इस जन्म में सुख-सम्पत्ति प्राप्त करने की कई घटनाओं का उल्लेख मिलता है। बरलिगमे ने इस का विस्तारपूर्वक विचार किया है।^१

३—छह मास की आन या अवधि

१. धर्मपिता नायक को घोखे से समुद्र में गिरा देता है।
२. नायक की पत्नी को अपनी बनाना चाहता है।
३. सुन्दरी उसे उपदेष्टा देती है, पर डर के मारे जहाज पर अकेली होने से पति के वियोग में या अन्य कोई बहाना बता कर छह मास की अवधि के बाद धर्मपिता के प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए कहती है।

अपभ्रंश के कथाकाव्यों में किसी में नायिका छह मास की आन ले लेती है कि यदि पति से भेट नहीं हुई तो प्राण त्याग देंगी। किसी में जलदेवी स्वप्न में एक मास की अवधि देती है। और किसी में जलदेवी स्वयं प्रत्यक्ष हो कर पति के पास पहुँचाने का आश्वासन देती है। बड़े भाई द्वारा छोटे भाई को हत्या का प्रयत्न करना और उसे मार कर उस की पत्नी को अपनी बना लेने की चेष्टा का वृत्त अवधी और भोजपुरी लोक-गीतों में भी मिलता है।

इस प्रकार अपभ्रंश के कथाकाव्यों में कई छोटे-बड़े कथा मानक-रूप मिलते हैं। इन में से कुछ कथा-मानक-रूप तो बहुत ही अधिक प्रचलित हैं और कुछ रूपान्तरों के साथ देश-विदेश की कहानियों में मिलते हैं। उदाहरण के लिए—बर्न महोदया के कथा-रूपों में मैनासुन्दरी के कोठी के साथ विवाह होने के बदले किसी राजा के पुत्री के गर्व से क्रोधित हो कर भिखारी के साथ उसे ब्याह देने का वृत्त मिलता है।^३ किन्तु ब्रज की कहानी में 'राजा विक्रमाजीत परदुख भंजनहार' अंगहीन व्यक्ति को राज-कुमारी बरती है।^४ इसी प्रकार प्रेमिका की प्राप्ति में अनेक संकटों का विधान प्रेमाख्यानक एवं सूफीकाव्यों में मिलता है। ब्रज और बंगला कहानी की भाँति मिस्र और इजिप्ट की कहानियों में भी समुद्र में जहाज के टूटने पर नायक-नायिका के अलग-अलग बहने की घटनाएँ मिलती हैं। इसी प्रकार सर्प के अधीन सुन्दरी का वृत्त भारतीय लोक-कथाओं की भाँति मिस्र की कहानी में भी मिलता है।^५

१. इंग्लिश वेदसन् बरलिगमे बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स, प्रथम भाग, १९२१, पृ० २६।

२. डॉ० गंगाचरण त्रिपाठी 'अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० ६७।

३. डॉ० सरयेन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २३४।

४. डॉ० सरयेन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २१३।

५. डॉ० सरयेन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३०६।

हाँ० सावित्री सरीन के द्वारा उल्लिखित अभिप्रायों में से अधिकतर उक्त कथा-मानक-रूपों में डूबे जा सकते हैं। वस्तुतः भारतीय लोक-कथाओं तथा अपभ्रंश की इन कथाओं में बहुत अधिक साम्य है। केवल हेतु कथाओं तथा घटनाओं के मोड़ में अन्तर मिलता है। इस अध्ययन से यह निश्चय हो जाता है कि अपभ्रंश के कथाकाव्यों की वस्तु कल्पित एवं लोक जीवन से उद्भूत है। और इन कथाओं में भी आदिम जाति की सम्यता और संस्कृति के प्रारम्भिक रूप प्रतिष्ठित पाये जाते हैं। अतएव लोक-साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से इन का अध्ययन महत्वपूर्ण है, क्योंकि मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य की धारा का विकास इसी लोकसंजीवनी प्राप्त अपभ्रंश-काव्य-धारा से हुआ है। इसी लिए चिर काल से प्रबन्ध एवं कथाकाव्यों में अपनायी गयी कथानक-रूढ़ियों का समावेश परवर्ती काल की रचनाओं में भी ज्यों का त्यों लभित होता है।

कथाभिप्राय

कथा के मूल अभिप्राय

कथा का मूल तत्त्व अभिप्राय है। क्योंकि कथा में प्रयुक्त होने वाले प्रतीक तथा काव्यगत कथानक-रूढ़ियों की संयोजना किसी मूल अभिप्राय या भाव की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए निहित रहती है। ये मूल अभिप्राय या मूलभाव परम्परागत लोक-रूढ़ियों या सामान्य विश्वासों की उपज होते हैं, जिन में आदिम संस्कार के बीज प्रतीक रूप में सन्निहित रहते हैं। अतएव अभिप्रायों के साथ ही स्थानीय वातावरण तथा जातीय संस्कारों की पूरी-पूरी छाप लोक-कथा पर लगी हुई मिलती है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त की कथा पर स्पष्ट रूप से राजपूती रंग चढ़ा हुआ मिलता है। इसी प्रकार अन्य कथाओं पर भी स्थानीय रंग-रूप चढ़ा हुआ दिखलाई पड़ता है।

स्टिथ थॉमसन के अनुसार 'मोटिफ' में लोकवार्ता (Folklore) के किसी अंग (Item) का विश्लेषण किया जाता है।^१ वस्तुतः लोकवार्ता में मौखिक रूप में लोक-परम्परा से गृहीत देव-कथाएँ या पुराण-कथाएँ (Myths), त्योहार, गीत, अन्ध-विश्वास तथा जनसामान्य की कहानियाँ विहित रहती हैं। इस शब्द का सब से पहला प्रयोग विलियम जे० थॉमसन ने सन् १८४६ में किया था।^२ वस्तुतः अपभ्रंश के कथा-

१ "In folklore the term used to designate any one of the parts into which an item of folklore can be analyzed. In folk art there are motifs of design, forms which are repeated or combined with other forms in characteristic fashion," Stith Thompson, Dictionary of Folklore, Mythology and Legend, Volume 2, Page 753.

२ "The common orally transmitted traditions, myths, festivals, songs, superstitions and stories of all peoples. The term was first used by William J. Thoms in 1846,"—Dictionary of Anthropology, Page 216

काव्यों में लोकावधान (Legends) ही मिलते हैं; देव या पुराण कथाएँ नहीं। इन में जातीय अभिप्राय लोक-जीवन के सामान्य संस्कारों के रूप में तथा देश-विदेशों के सामान्य विश्वास मूल अभिप्रायों के रूप में दृष्टिगत होते हैं। कथा-मानकरूपों में तो सामान्यतः प्रदेश विशेष की परम्परागत कथाओं का मानक-रूप निर्धारित किया जाता है, किन्तु मानकरूपों के तुलनात्मक विश्लेषण से निष्कर्ष रूप में जो मुख्य बात लक्षित होती है वही विश्व के सामान्य अभिप्राय के रूप में प्रकाशित होती है। इस प्रकार मोटिफ या अभिप्राय प्रकार या मानक प्रणाली का स्वाभाविक परिणाम है, जो परस्पर अत्यन्त सम्बद्ध हैं।^१

ये अभिप्राय कई प्रकार के हो सकते हैं। स्टिथ थॉमसन ने मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में अभिप्रायों को विभक्त किया है^२—पौराणिक (Mythological), चामत्कारिक एवं अतिलौकिक तथा विविध। यथार्थ में कथा के मूल में कोई न कोई भाव या अभिप्राय अवश्य निहित रहता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि किसी कहानी में एक ही अभिप्राय हो। एक कहानी में कई अभिप्राय हो सकते हैं। जिन घटनाओं के आधार पर कथा की रचना होती है सम्भव है कि उन सब में कोई न कोई अभिप्राय अभिव्यक्त हो। यही नहीं, एक घटना में कई अभिप्राय दूँदे जा सकते हैं। अभिप्रायों में कथानक के प्रायः सभी मुख्य अंग लिपटे रहते हैं। डॉ० सरीन के मत में कथानक घटना, चरित्र और कार्य के मेल से बनता है। इस लिए घटना चरित्र और कार्य के भी अभिप्राय हो सकते हैं।^३

अपभ्रंश के कथाकाव्यों में कथा के अन्तर्गत निहित मूल अभिप्राय इस प्रकार हैं—(१) भाग्य तथा कर्म, (२) सौतेली माता की ईर्ष्या, (३) भाई का विश्वासघात, (४) भाग्य का पलटना, (५) उम्राड नगरी, (६) राक्षस से मुठभेड़, (७) आपत्ति की सूचना, (८) सत की तौल, (९) राक्षस या साँप के अधोन राजकुमारी, (१०) भविष्य-वृत्त की बुद्धिमत्ता, (११) राज्यसभा में चतुराई, (१२) शील-परीक्षा, (१३) पति का भूल स्वीकार करना और पूर्व त्यक्त पत्नी को अपमाना (१४) पुरस्कार तथा दण्ड, (१५) योग्यता की परीक्षा, (१६) युद्धपूर्वक राजकन्या से विवाह करना, (१७) वैवाहिक जीवन, (१८) भविष्यनिर्देशन, (१९) विमान में बैठ कर आकाश-मार्ग से जाना, (२०) धार्मिक विश्वास—श्रुतपंचमी व्रत के पालन से परवेश को गये हुए पुत्र की अवधि के भीतर प्राप्ति, पुनर्जन्म, सत्य की रक्षा, करनी का फल, तपस्या कर कर्मों के

१. डॉ० सावित्री सरीन लोक साहित्य विज्ञान के अन्तर्गत 'अभिप्राय-अध्ययन का इतिहास,' पृ० २७३।

२. स्टिथ थॉमसन 'स्टेण्डर्ड डिक्शनरी ऑन फोकलोर माइथासॉजी एण्ड लीजेंड्स; जिन्व द्वितीय, पृ० १६४६।

३. डॉ० सावित्री सरीन लोक साहित्य विज्ञान के अन्तर्गत 'अभिप्राय-अध्ययन का इतिहास,' पृ० २७४।

क्षय कर देने से मोक्ष-प्राप्ति, सम्यक् आचरण तथा व्रतों के पालन से स्वर्ग-प्राप्ति, मोक्ष को परमपद मानना, इत्यादि ।

अकेली भ० क० में उक्त अभिप्राय निहित है । इन में से अधिकतर अभिप्राय स्टिच थॉमसन के द्वारा वर्गीकृत अभिप्रायों से मिलते-जुलते हैं । भारतीय लोक-कथाओं में तो सामान्य रूप से ये अभिप्राय अत्यन्त व्यापक हैं ।

इसी प्रकार वि० क० में निम्नलिखित कथाभिप्राय मिलते हैं—

(१) विद्याधरों के द्वारा राजा होने की भविष्यवाणी, (२) प्रेयसी की प्राप्ति में विभिन्न बाधाएँ, (३) जादू की चादर, (४) नव विवाहिता पत्नी को सर्प का काटना, (५) नाग का विचारशील होना, (६) नववधू का अपहरण, (७) विद्या-सिद्धि, (८) अपहृत स्त्री के लिए युद्ध, (९) विमान में बैठ कर आकाश-मार्ग से जाना, (१०) भविष्यवाणी की संपूर्ति, (११) सार्यवाह का घोड़ा देना, (१२) काष्ठफलक के सहारे तीन या पाँच दिन में समुद्र पार करना, इत्यादि ।

जि० क० में प्रयुक्त मुख्य अभिप्राय इस प्रकार हैं—

(१) मूर्ति दर्शन से प्रेम, (२) जादू की जड़ी से अदृश्य होना, (३) सूखे बगीचे को हरा-भरा करना, (४) साँप के अधीन राजकुम्या, (५) राजकुमारी के मुँह से साँप का निकलना, (६) शयन-कक्ष में सर्पदंश, (७) साँप को मार कर राजकुमारी से ब्याह करना, (८) धर्मपिता का घोड़ा देना, (९) समुद्र पार करना, (१०) छह मास की आन, (११) शील-रक्षा, (१२) विद्या-सिद्धियाँ प्राप्त करना, (१३) विमान में बैठ कर उड़ना, (१४) विद्या से रूप-परिवर्तन, (१५) पत्थर की शिला को हँसाना, (१६) मन्दोन्मत्त हाथी को वश में करना, (१७) प्रेम-परीक्षा, (१८) किये हुए का फल पाना, (१९) विवाह के लिए परीक्षा, (२०) कठिन कार्य को करना आदि ।

मुख्य रूप से सि० क० में निम्नलिखित अभिप्राय प्रयुक्त हैं—

(१) कर्म और भाग्य, (२) स्वामीभक्त पत्नी, (३) सच्चिवी सेविका, (४) विद्या-प्राप्त करना, (५) बारह वर्ष की अवधि, (६) निम्न घातु का सोना बनाना, (७) मनुष्य की बलि, (८) अटके हुए जहाज को चलाना, (९) बाकुओं से मृगभेड़, (१०) धर्मपिता का विश्वासघात, (११) सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को खोलना, (१२) मन्त्र के प्रभाव से समुद्र पार करना, (१३) जिनशासन की देवियों का प्रत्यक्ष होना, (१४) दण्ड देना, (१५) कर्मफल का भोगना, (१६) दूरदर्शिता, (१७) पहचान के लिए प्रमाण देना, (१८) भविष्यवाणी का चरितार्थ होना, (१९) छिप कर सुनना, (२०) पिता से बड़ी पुत्री, (२१) कोढ़ी से राजा बनना, (२२) गया हुआ राज्य वापिस युद्ध में जीत कर लेना, इत्यादि ।

इन के अतिरिक्त बिछुड़े हुए पुत्र से मिलना, एक मास या छह मास की आन, यक्ष या विद्याधर का सहायक होना, समुद्र में तूफान आने से या किसी के घोड़ा देने

पर काष्ठफलक के सहारे पार उतरना, स्वप्न-दर्शन, छोटे से बड़ा होना, विमान में बैठ कर आकाश में उड़ना, पुरस्कार तथा दण्ड और कर्म तथा भाग्य सम्बन्धी मुख्य अभिप्राय अपभ्रंश के प्रायः सभी कथाकाव्यों में लक्षित होते हैं।

अभिप्रायों का अध्ययन

१. सर्प-दंश का अभिप्राय

यह एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिप्राय है। कई देशों में विवाह होने के पश्चात् प्रथम समागम इतना भयावह और अपवित्र कार्य समझा जाता है कि सुहागरात को पति या तो अपने बदले किसी व्यक्ति को नियुक्त करता है अथवा अन्य कोई कन्या के कौमार्य की रक्षा करता है।^१ वस्तुतः सर्प और सम्भोग में अद्भुत साम्य माना जाता है। अतएव नवविवाहिता को सर्प का डसना काम सम्बन्धी अभिप्राय से सम्बन्धित है। जैन-साहित्य में काम का रूपक नाग से व्यक्त किया जाता है।^२ पेंजर महोदय के विचार से सर्प पुरुष के लिंग का प्रतीक है।^३ सर्प किसी न किसी रूप में पुण्यवती होने की अवस्था और संस्कार से सम्बन्ध रखता है। दक्षिण-पूर्वी बोलिविया के चिरिगुआनों में मिलने वाली प्रथा में साँप को मार कर झूठमूठ बूढ़ी स्त्रियाँ पुण्यवती कन्या को समझाती हैं।^४ कुछ लोग इस का सम्बन्ध नागजाति से जोड़ते हैं। और कई विद्वान् शिव की पूजा शिवन के रूप में होने से द्रविड और जंगली कबीलों से इस का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। संहिता, स्मृति तथा सूत्र-ग्रन्थों में सर्प की पूजा का उल्लेख मिलता है। मिश्र में भी सर्पपूजा के प्रमाण मिलते हैं। बाबू धनपति बनर्जी के मत में प्राचीन मिश्र में भी शिवनपूजा का प्रचार था। बनर्जी के मत को उद्धृत करते हुए तिवारीजी ने लिखा है कि लिंग चिह्न, अशोभन पूजा-विधि और बैल-पूजा के तत्त्वों के आधार पर बाबू धनपति बनर्जी ने शिव के स्वरूप तथा विकास पर मिश्र का प्रभाव बताया है। उन का कथन है—भारतीय द्रविड़ों और मिश्र के लोगों का सम्पर्क ३०००-४००० वर्ष ई० पू० के लगभग हुआ होगा और तभी एक-दूसरे की सामाजिक रीति-नीतियों से प्रभावित हुए होंगे।^५ अतएव यह कहा जा सकता है कि सर्पदंश का अभिप्राय मिश्र या द्रविड़ जाति के लोगों की रीति-नीति-पद्धति से सम्बन्धित है। इसलिए ऐतिहासिक

१. टॉनी पेन्जर . द ओसन ऑन स्टोरी, ब्रितीय जिल्द, पृ० ३०६।

२. कामनाग विषयाम नाश को गरुड कहे हैं, क्षुधामहाद्वज्वाल तातु को मेघ लहे हैं।—बृह-ज्जिननवाणीसंग्रह, पृ० ४६।

३. टॉनी पेन्जर . द ओसन ऑन स्टोरी, ब्रितीय जिल्द, पृ० ३०७।

४. जेम्स जार्ज फ्रेजर . गोल्डन बाउ, छठा भाग, पृ० ६०७।

५. बाबू धनपति बनर्जी . द इक्युव्वाशन ऑन रुद्र आर महेश इन हिन्दूइज्म, 'द नवार्दरली जर्नल ऑन मिथिक सोसायटी', जिल्द १०, अंक ३, १९२०, पृ० २२१। श्री निरयानन्द तिवारी 'सौरिक-चन्द्रा-पर्वनाग में सर्प-दंश का अभिप्राय', हिन्दुस्तानी, भा० २३, अंक १, पृ० ६३ में उद्धृत।

दृष्टि से उक्त अभिप्राय ई० पू० तीन हजार वर्ष के लगभग मिस्र और भारत में प्रचलित था। 'स्टिथ थॉमसन ने भी इस प्रकार के मूल अभिप्रायो का संकेत किया है। ये अभिप्राय मूलरूप में आदिम मानस की यथार्थ प्रतीति को अभिव्यक्त करते हैं।

२. सर्प के अधीन सुन्दरी

यह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिप्राय है। किसी साँप, डायन या राक्षस के अधीन रहने वाली कन्या का उल्लेख तथा तत्सम्बन्धी अभिप्राय मिस्र और रूस की कहानियों में भी मिलता है। रास्तन ने 'रशियन फोक-टेल्स' नामक पुस्तक में 'द विच गर्ल' नाम की रूसी कहानी की तुलना एक पोलिश कहानी से की है, जिस में भक्षक की भुजा काट कर कन्या की रक्षा का वृत्त मिलता है। मिस्र की कहानी में नागदेवी के राजा के अधीन रहने वाले किसी सुन्दरी को घटना का उल्लेख मिलता है। अतएव यह अभिप्राय ई० पू० २०००-१७०० की मिस्र की कहानी के पूर्व का कहा जा सकता है।

३. उजाड़ नगरी

यह अभिप्राय भी प्राचीन प्रतीत होता है। भारतीय लोक-कथाओं में तथा 'अरेबियन नाइट्स' में उजाड़ नगरी या द्वीप का उल्लेख मिलता है। यह भी एक अन्ध-विश्वास है कि राक्षस या डायन चाहे तो किसी नगरी को उजाड़ सकते हैं। वस्तुतः यह भारतीय सामान्य विश्वास है, जो देश-देशान्तरो में पहुँच गया है। क्योंकि राक्षस, भूत, पिशाच आदि योनियाँ भारतीय धर्म-पुराण एवं शास्त्रों में भी वर्णित हैं। जैन ग्रन्थों में भी व्यन्तर, किन्नर, किपुरुष, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस आदि को अलग-अलग जाति का माना गया है।^१

४. सुन्दरी का अपहरण

सर्प के वेश में किसी पुरुष द्वारा सुन्दरी के अपहरण का अभिप्राय व्यापक है। प्रायः नवविवाहिता सुन्दरी का ही रूप-परिवर्तन कर हरण किया जाता है। यह अभिप्राय 'लौरिक-चन्दा-पर्वारा' में भी मिलता है।^२ वस्तुतः इस अभिप्राय का सम्बन्ध प्राचीन अनार्य जाति से है, जो आदिम मानस को प्रकाशित करती है। वैसे भी साहित्य में तथा लोक-कथाओं में सुन्दरी का अपहरण एक व्यापक अभिप्राय माना जाता है।

१. देखिए, द ओशन आब स्टोरी, दूसरी जिन्द, पृ० ७१।

२. डॉ० सत्येन्द्र . लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३०६।

३. अन्तरा किन्नरकिपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचा । तत्त्वार्थसूत्र, ४, ११।

तथा-ओं गोमुखमहायशस्त्रिमुखयशनायकतुम्बरकुसुममार्तगविजयअजितव्रतयक्षराजकुमारधनुष-पातालकिन्नरगुरुगन्धर्वयक्षराजकुम्भैरवरुणभृकुटिगोमेषपार्श्वब्रह्मशान्ति एते वर्तमान जिनयक्षा । बृहद्भरतरगच्छ पंचप्रतिक्लमणभूतार्थ, पृ० ८८।

४. निल्यानन्द तिवारी 'लौरिक-चन्दा-पर्वारा' में सर्प-वंश का अभिप्राय 'हिन्दुस्तानी', भाग २३, अंक १, पृ० ६१।

५—मनुष्य की बलि

मनुष्य की बलि का उल्लेख अपभ्रंश की धीपाल तथा सि० क० में मिलता है। हिन्दू पौराणिक साहित्य में भी इस का वृत्त मिलता है। मनुष्य की बलि चढ़ाने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन ज्ञात होती है। यह प्रथा कई देशों में प्रचलित रही है।^१ अतएव यह सामाजिक अभिप्राय सम्मता तथा संस्कृति का सूचक है।

६—जादू की जड़ी

स्टिथ थॉमसन, पेन्जर तथा ब्लूमफोल्ड ने जादू की कई वस्तुओं का उल्लेख किया है। वस्तुतः इन का एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिप्राय है। यूरोप में तो नहीं, पर मोरक्को में अवश्य कुछ यवनों में यह अन्धविश्वास है कि कुछ पौधे विशेष रूप से चमत्कारी होते हैं। वे ग्रीष्म ऋतु में उन जादू के पौधों को तोड़ते हैं।^२ अपभ्रंश की जि० क० में वसन्त में जड़ी मिलने का उल्लेख है। अतएव यह अत्यन्त प्राचीन अभिप्राय जान पड़ता है।

७—विमान में बैठ कर यात्रा करना

स्टिथ थॉमसन ने ऐसे अभिप्रायों को चमत्कारी (Magic) नाम दिया है।^३ इस अभिप्राय का सम्बन्ध पुराणों तथा धार्मिक गाथाओं से है। जैन पुराणों में ऐसी कथाएँ मिलती हैं, जिन में स्वर्ग का लालच दे कर विमान में बिठा कर स्वर्ग भेजने के बहाने यज्ञ तथा बलि का समर्पण और उस के महत्त्व का उल्लेख है। वास्तव में इस मान्यता का जन्म सब से पहले भारत में ही हुआ होगा।

८—शिला को हँसाना

पेन्जर महोदय का कथन है कि इस प्रकार की जादुई की बातें लोक-गीतों में भी पायी जाती हैं।^४ यूरोप और एशिया में भी इस प्रकार के विश्वास जन सामान्य में प्रचलित रहे हैं। किन्तु इन का मूल स्थान भारतवर्ष है।^५ इसी प्रकार जादू की चादर, देवियों का प्रत्यक्ष होना, रूप-परिवर्तन आदि अभिप्राय जादुई तथा चमत्कारिक बातों से सम्बन्धित हैं, जिन की जड़ भारतीय जनता के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में निहित है। अतएव इन का इतिहास आदिम जातीय रीति-पद्धतियों एवं अतिप्राकृतिक शक्तियों में विश्वास रखने से सम्बद्ध है।

१. सर जेम्स जॉर्ज फ्रेजर 'गोल्डन बाउ, छठा भाग, १९४१, पृ० २७६।

२. वही, भाग ७, जिन्द २, पृ० ४१।

३. स्टिथ थॉमसन 'मोटिफ-इन्डेक्स ऑव फोक लिटेरेचर, पहली जिन्द, १९४४।

४. एन० एम० पेन्जर 'द ओसन् ऑव स्टोरी, पहली जिन्द, १९२४, पृ० २६।

५. वही, भूमिका।

९—सिंहलद्वीप की यात्रा

सिंहलद्वीप की यात्रा का अभिप्राय केवल भारतवर्ष की कथाओं में मिलता है। यहाँ की जनता में शताब्दियों से यह सामान्य विश्वास रहा है कि समुद्र पार किसी द्वीप में कोई अत्यन्त सुन्दरी रहती है, जिसे पाना बहुत कठिन है। प्राकृत तथा अपभ्रंश कथाओं में अधिकतर सिंहलद्वीप का नाम मिलता है। किसी-किसी में कंचन-द्वीप या कनकद्वीप का भी उल्लेख हुआ है। जायसी के पदमावत में सात समुद्रों का उल्लेख है—खीर, खार, दधि, उदधि, सुरा, किलकिला और प्रेम-समुद्र।^१ येस त्तो स्पष्ट ही प्रतीक रूप में प्रयुक्त हैं। परन्तु जि० क० में कवि ने रचिपूर्वक सात समुद्रों का वर्णन न कर हिम, कुंडल, मैनाग, तिलक, सहजावड, छोहार, पावाल, नीलमणि और सिंहलद्वीप का उल्लेख किया है।

वेणातहु चड हिमदीउ गउ ।

भंभा पट्टणु वामंति किउ

मयणाउदीउ छंडिवि चालिया

तं छंडिवि सहजावड वरिया

पुणु मेच्छदीउ संखंतरिउ

णीलामणि दीवें पुणु गइया

तं पत्तउ सिंहलदीउ जहि ।

वोहित्पु वि कुंडलदीवि णिउ ।

पुणु तिलयदीवि ते पइसरिया ।

छोहारदीवि ते अणुसरिया ।

पावालदीउ खणे आसरिउ ।

जहिं वणुहु पंचसय पडिम ठिया ।

जि० क०, ३, २५ ।

मुनि कनकामर के 'करकण्डचरिउ' में भी सिंहल द्वीप का उल्लेख है। वास्तव में मध्ययुगीन भारतीय साहित्य में सिंहलद्वीप की यात्रा करना कथा की रूढ़ि के रूप में प्रचलित हो गया था। जोगेन्द्रचन्द्र घोष ने इस पर विचार करते हुए लिखा है कि कई रचनाओं में सिंहलद्वीप समुद्र से घिरा हुआ वर्णित है।^२ इस प्रकार सिंहल-द्वीप की यात्रा एक सामान्य अभिप्राय के रूप में शताब्दियों से साहित्य में प्रचलित है। साहित्यिक तथा लोकाख्यान की परम्परा हिन्दी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में मध्य युग के पूर्व लिखे गये साहित्य से प्राप्त होने के कारण मध्ययुगीन साहित्य में भी कथाकाव्यों में तथा प्रबन्धकाव्यों में सिंहलद्वीप की यात्रा करना कथानक-रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त मिलती है। जातक-कथाओं में अवश्य अत्यन्त प्राचीन काल में सार्थबाह पाँच सौ व्यापारी या पोतों के साथ यात्रा करने के लिए प्रवाल, रत्न, नीलमणि आदि की खान वाले द्वीपों में जाते थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। गुम्बियाजातक में पाँच सौ व्यापारियों की यात्रा का उल्लेख है।

१ खार खीर दधि जलउदधि मूर किलकिला अकृत ।

को चडि नाथै समुद्र ए, है काकर अस वृत :—राजा-गजपति-संवाहखण्ड

२ जोगेन्द्रचन्द्र घोष, 'सिंहल इन सेण्ट्रल इण्डिया', न्यु इण्डियन एग्जिक्विरी, पहली जिन्द, अक्टूबर १९३८, पृ० ४६३ ।

निष्कर्ष

अभिप्रायों के अध्ययन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश-कथाएँ केवल भारतवर्ष की सीमा में ही नहीं, अपितु उन के विभिन्न वृत्त एवं घटनाएँ देश-विदेशों की लोक-कथाओं में भी प्रचलित रही हैं। उदाहरण के लिए, पेट में साँप प्रवेश करने का अभिप्राय बंगला, अवधी और ब्रज आदि की लोक-कथाओं में ही नहीं, शेक्सपियर के नाटकों में भी मिलता है^१। इसी प्रकार चमत्कारिक बातें तथा जादुई की वस्तुओं वाली कहानियाँ भारतवर्ष में ही नहीं, संसार के उन सभी देशों में प्रचलित रही हैं, जिन में जादुई शक्तियों का प्रचार रहा है। अतएव प्रत्येक प्रकार के अभिप्राय संसार के सभी भागों में पाये जाते हैं। सरल से सरल कहानी में भी सभी प्रकार की जादुई में से किसी न किसी का समावेश पाठकों का मन अपनी ओर आकर्षित करने के लिए किया जाता है^२। वैदिक काल की कहानियों में उन का उपयोग अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन के लिए होता था। पौराणिक युग में रूढ़ि के रूप में उन का प्रयोग किया जाने लगा था। अतएव धार्मिक कथाओं पर उन का प्रभाव आज तक ज्यों का त्यों लक्षित होता है। कथासरित्सागर से मिलती-जुलती यूरोप और पश्चिम एशिया की कथाओं की समता बताते हुए पेन्जर महोदय ने कहा है कि यदि इन कथाओं का मूल स्थान भारतवर्ष है तो कथासरित्सागर से भी प्राचीन कथाएँ भारत में मिलनी चाहिए, जो कि हमारे यहाँ मिलती हैं^३। विचार करने पर उन का यह कथन निराधार प्रतीत होता है। क्योंकि वेदों में वर्णित देवासुर-संग्राम की भाँति जातक-कथाओं में देवासुर का युद्ध और प्राकृत, अपभ्रंश कथाओं में विद्याधरो तथा राजाओं का युद्ध वर्णित है। राम और रावण का युद्ध दो व्यक्तियों का युद्ध न हो कर देव और असुर जाति की प्रवृत्तियों का संघर्ष था। वि० क० में अनंगरति विद्याधर का विलासवती को हरण कर ले जाना और विद्याधरियों के बीच उद्यान में सहकार वृक्ष के नीचे रखना, आदि बातें रामायण से मिलती-जुलती हैं। अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में पाँच सौ व्यापारिधों के संघ की यात्रा करना भी एक कथानक-रूढ़ि है, जो बौद्धकालीन भारतवर्ष की व्यावसायिक स्थिति से संबद्ध है। अतएव सिंहलद्वीप का अभिप्राय दो हजार वर्षों से अधिक प्राचीन निश्चय रूप से कहा जा सकता है।

पुरस्कार तथा दण्ड और कर्म तथा भाग्य सम्बन्धी अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय हैं। बरलिगमे महोदय ने हिन्दू और यूरोपियन कथाभिप्रायों की समता में जातक कथाओं में

१. डॉ० सत्येन्द्र : मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकोत्पत्तिक अध्ययन, पृ० २१३।

२. रिचर्ड थॉमसन स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑन फोक्लोर माइथालॉजी एण्ड सीलेज, दूसरी जिल्द, १६४६, पृ० ७१३।

३. एम० एम० पेन्जर : द ओसन ऑन स्टोरी की भूमिका, पृ० २२।

‘But some of his parallels in Europe and Western Asia are very old, and if the idea at the root of the all is Indian it must be very old also, much older than the ‘KATHA-SARISAGAR’ as we have it.’ The Ocean of Story, Vol. I, foreward XXII.

से जिन अभिप्रायों को प्रकाशित किया है, उन में से अपभ्रंश के कथाकाव्यों में मिलने वाले अभिप्राय निम्नलिखित हैं—पिता से जेठी पुत्री^१, कर्मफल^२, निम्नधातु को सोना बनाना^३, पुनर्जन्म^४, सौत का ईर्ष्यालु व्यवहार और जादू की चिड़िया^५ इत्यादि ।

श्रीपाल कथा में पिता से जेठी पुत्री और कर्मफल दोनों अभिप्राय एक साथ प्रयुक्त हैं । इसी प्रकार निम्न धातु को सोना बनाने का अभिप्राय भी उस में निहित है । पुनर्जन्म का सम्बन्ध तो प्रत्येक अपभ्रंश-कथा में हेतु कथाओं के रूप में प्रकाशित किया गया है । वस्तुतः पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त भारतीय दार्शनिक भूमि की देन है । विशेष रूप से कर्म-सिद्धान्त जैन, बौद्ध और भीमासकों में प्रचलित रहा है । इस सिद्धान्त पर जितना अधिक विचार और बल जैनों ने दिया है, कदाचित् उतना अन्य मतों ने नहीं दिया है । क्योंकि समूचा जैन-दर्शन कर्म-सिद्धान्त पर आधारित है । व्यवहार पक्ष में वही अहिंसामूलक आचार-विचार की संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित है ।

इस प्रकार अपभ्रंश के कथाकाव्यों में निहित अधिकतर अभिप्राय आर्य और अनार्य संस्कृति के सूचक हैं । इनमें लोक-गीतों की भाँति प्राचीन रीति-रिवाज, सामान्य विश्वास, मान्यताएँ और अन्धविश्वास आदि आदिम मानस को प्रकट करते हुए लक्षित होते हैं । जेम्स हेस्टिंग्स के विचार में लोक-गीतों में इस प्रकार के अभिप्राय किसी राष्ट्र के जीवन की अभिव्यक्ति होते हैं, जो परम्परा के रूप में प्रचलित रहते हैं^६ । किन्तु अपभ्रंश की इन कथाओं में मिलने वाले अभिप्राय जातीय अभिप्राय के रूप में ही नहीं, अन्तराष्ट्रीय रूप में भी मिलते हैं । अतएव इन की प्राचीनता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है ।

अभिप्रायों का वर्गीकरण

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में कई प्रकार के कथाभिप्राय मिलते हैं, जिन सब का पूर्ण विवेचन करना संभव नहीं है । फिर भी, स्टिथ थॉमसन की वर्गीकरण की पद्धति के आधार पर प्रमुख अभिप्रायों को वर्गीकृत किया गया है । थॉमसन महोदय ने जिन

१. इयुगेने वेल्सन बरलिगमे बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स, ग्रन्थ भाग, १६२९, पृ० ३४ ।

२. वही, पृ० ३४ ।

३. वही, पृ० ३६ ।

४. वही, पृ० ३६ ।

५. वही, पृ० ३४ ।

६. जेम्स हेस्टिंग्स हन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड इथिक्स, खण्ड ६, तृतीय संस्करण, १९६४, पृ० १७ ।

'Folklore consists of customs, rites and beliefs belonging to individuals among the people, to group of people, to inhabitants of districts or places, and belonging to them apart from and often times in definite antagonism to the accepted customs, rites, and beliefs of the State or the nation to which the people and the groups of people belong.' Encyclopedia of Religion and Ethics By James Hastings, Vol. VI 1955, Page 57.

वर्णनात्मक अभिप्रायों का उल्लेख किया है,^१ उन्हें सरल समझ कर छोड़ दिया गया है। वर्गीकृत अभिप्रायों में मुख्य हैं—

पशु सम्बन्धी, जादू सम्बन्धी, चमत्कारी, मनुष्यमक्षी राक्षस, परीक्षाएँ, बुद्धिमान और मूर्ख, पोखे, भाग्य का पलटना, भविष्य-निर्देशन, अवसर तथा भाग्य, पुरस्कार तथा दण्ड, कर्म का फल, धार्मिक विश्वास, सामाजिक, चारित्रिक, यौन, मनुष्य-जीवन तथा प्रतीक अभिप्राय।

उक्त अभिप्रायों में से 'कर्म का फल' और 'धार्मिक विश्वास' नामक दोनों अभिप्रायों को थॉमसन के अनुसार 'धर्म' शीर्षक के अन्तर्गत एक ही माना जा सकता था, किन्तु कर्म सिद्धान्त होने से धर्मविषयक न हो कर सिद्धान्तपरक है। पहले कहा जा चुका है कि कर्म-सिद्धान्त जैन, बौद्ध और मीमांसकों की वैचारिक मान्यता से सम्बन्धित है। यद्यपि कर्म शब्द कई रचनाओं में प्रयुक्त मिलता है, पर उन विभिन्न मतों से सम्बन्धित प्राचीन रचनाओं में रचनाकारों ने कई अर्थों में उस का प्रयोग किया है, इस लिए विविध दार्शनिक तथा पौराणिक ग्रन्थों में वह पारिभाषिक शब्द बन कर रह गया है।

अभिप्रायों का अध्ययन और वर्गीकरण करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थों के सामान्य विश्वास, रीति-रिवाज भारतवर्ष में ही नहीं, संसार के कई देशों में पाये जाते हैं; जिन की झलक हमें कथाभिप्रायों के रूप में लोक-कथाओं में मिलती है। प्रो० मैक्समूलर के मत में धार्मिक वाक्यानों में तथा लोक-कथाओं में रूपकत्व के साथ प्रकृति-पूजा भी मिलती है, पर अब इस मान्यता का खण्डन हो चुका है।^२

पशुसम्बन्धी अभिप्राय

(द) नाग का विचारशील होना

(१) सनत्कुमार को देख कर पैरों से कूँचे जाने पर भी अजगर का कुंडली सिकोड़ कर कर्तव्य बुद्धि का परिचय देना।

१. थॉमसन स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑफ़ फोकलोर माइथालॉजी एण्ड लीजेंड, दूसरी जिण्ड, १९४६, पृ० ७५३।

२. इन्साइक्लोपीडिया मिटेनिका, जिण्ड ६, १९५७, पृ० ४४६।

"But the work of E. B. Tylor, followed by that of Sir James Frazer, whose 'GOLDEN BOUGH' extended to the lower Cultural customs of the peasantry of Europe, and made popularly effective by the adroit pen of Andrew Lang, demelished there theories by demonstrating that analogies to these supposed survivals of 'ARYAN' religion among the European peasantry were to be found also among primitive people in all parts of the world." Encyclopaedia Britannica Vol 9, Page 446.

(अ) जादू सम्बन्धी अभिप्राय

- (१) विलासवती का अपहरण । सनत्कुमार जिस जादू की चादर को विलासवती को ओढ़ा कर गया था उसे अजगर का उगलना । उसे देख कर सनत्कुमार को विश्वास हो जाना कि विलासवती मर गई है ।
- (२) जड़ी पा कर जिनदत्त का अदृश्य हो जाना ।
- (३) जादू की चादर ओढ़ लेने पर विलासवती का दिखाई नहीं पडना ।
- (४) जिनदत्त का राजसभा में पत्थर की शिला को हँसाना ।

(ब) जादुई पशु

- (१) राजकुमारों के मुँह से साँप निकलना ।

(स) मनुष्य का रूप-परिवर्तन

- (१) जिनदत्त का वामन रूप धारण करना ।

(३) चमत्कारी

- (१) विमान में बैठ कर यात्रा करना ।
- (२) मणिभद्र यक्ष का भविष्यदत्त की सहायता करना ।
- (३) सपरिवार भविष्यदत्त को मनोवैद्य विद्याधर के द्वारा विमान में बिठा कर तिलकद्वीप की यात्रा कराना ।
- (४) सनत्कुमार का विमान में बैठ कर ससैन्य विद्याधरों से युद्ध करना ।

(ब) असाधारण शक्ति वाले मनुष्य

- (१) श्रीपाल का सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को खोलना ।
- (२) मुजाओ से समुद्र को पार करना ।
- (३) काष्ठफलक के सहारे समुद्र को तैर कर किनारे पर पहुँचना ।
- (४) मदोन्मत्त हाथी को बश में करना ।

(स) अन्य लोक की यात्रा करना

- (१) जिनदत्त का विमान में बैठ कर अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करने जाना ।

(द) देवी-देवता का प्रत्यक्ष होना तथा सहायता करना

- (१) श्रीपाल तथा सि० क० मे पद्मावती आदि देवियाँ आकर रत्नमंजूषा की सहायता करती हैं और धवल सेठ को दण्ड देती हैं ।
- (२) जि० क० में तथा भ० क० में जल-देवता के द्वारा नायिका के सतीत्व को रक्षा होना ।

(य) असाधारण घटनाएँ

- (१) श्रीपाल का अटके हुए जहाज को मन्त्र के बल से चलाना ।
- (२) डाकुओं से श्रीपाल की मुठभेड़ होना और एक लाख डाकुओं को बश में कर लेना ।

(४) मनुष्यभक्षो राक्षस

- (१) पूरे नगर के लोगो को मार कर खा जाने वाले राक्षस का वर्णन भ० क० में है । केवल राजकुमारी ही उस में जीवित है ।

(५) परीक्षाएँ

- (१) भविष्यदत्त के कहने पर राजा भूपाल भविष्यानुरूपा की शील-परीक्षा के लिए जयलक्ष्मी और चन्द्रलेखा नामक दो दासियों को भेजता है ।

(ब) विवाह के लिए परीक्षा

- (१) जि० क० में चम्पा नगरी का राजा जिनदत्त को वामन के रूप में देख कर शंकित होता है और अपनी कन्या का विवाह जिनदत्त से करने को तैयार नहीं होता । मन्त्रियों के कहने पर कि यह प्रच्छन्न विद्याधर जान पड़ता है, राजा उस की परीक्षा लेता है और जिनदत्त से परिचय पूछ कर उसकी जीव-पड़ताल करता है ।
- (२) भविष्यदत्त सुमित्रा से विवाह करने के लिए सिन्धुनरेश से युद्ध कर अपने रणकौशल की परीक्षा देता है ।

(स) पहेलियाँ

- (१) श्रीपाल पहेलियों को बुझा कर विभिन्न राजकुमारियों से विवाह करता है ।

(द) योग्यता की परीक्षा

- (१) श्रीपाल कथा में राजा अपनी दोनों कन्याओं की योग्यता की परीक्षा लेता है ।

(य) पहचान के लिए परीक्षा

- (१) श्रीपाल कथा में कौंकण का राजा डोमों के कहने से श्रीपाल पर अविश्वास कर उसे डोम समझता है । तब गुणमाला के पूछने पर श्रीपाल रत्नमंजूषा को समुद्र तट से बुला कर अपना परिचय देने को कहता है । राजा उसे पहचान लेता है कि यह तो मेरा भानजा है । इस प्रकार परिचयपूर्वक पहचान होती है ।

(र) साहस के कार्य

- (१) सनत्कुमार का विद्या-सिद्ध करना ।
- (२) भविष्यदत्त का राक्षस से युद्ध करने के लिए तैयार होना ।
- (३) श्रीपाल का काका से युद्ध कर राज्य वापिस लेना ।
- (४) विलासवती का साहसपूर्वक आधी रात को पति के मृत्यु के समाचार को सुन कर मसान में सती होने के लिए जाना ।
- (५) धनवद् का साहस बटोर कर युद्ध के लिए सजना ।
- (६) जिनदत्त का समुद्र पार करते समय विद्याधरो को ललकारते हुए युद्ध के लिए आह्वान करना ।

६. बुद्धिमान और मूर्ख

- (१) सनत्कुमार का विलासवती को मरा हुआ समझ कर फाँसी लगा कर मरने की चेष्टा करना ।
 - (२) ऋषि का सनत्कुमार को समझाना । विलासवती की प्राप्ति का उपाय बताना ।
 - (३) भविष्यदत्त का माता को नाग-मुँदरी दे कर भविष्यान्तरूपा के पास यह कह कर भेजना कि माता के साथ राजसभा में मिलो ।
- (ब) राजसभा में चतुराई
- (१) भविष्यदत्त का अप्रकट रूप से राजभवन में बैठना । राजा का धनवद् और बन्धुदत्त को बुला कर सच्चा वृत्तान्त पृच्छना । ऐन मौके पर भविष्यदत्त का प्रकट होना ।

७. धोखे

- (१) धोखे से सारथवाह का सनत्कुमार को समुद्र में गिराना ।
 - (२) धोखे से बन्धुदत्त का भविष्यदत्त को मैनागद्वीप में अकेला छोड़ जाना ।
 - (३) समुद्र में रत्नों की पोटली गिर गयी है, कह कर समुद्रदत्त का जिनदत्त को समुद्र में उतार देना ।
 - (४) धवल सेठ का श्रीपाल को चकमा दे कर जहाज में बँधी हुई रस्सी काट कर समुद्र में पटक देना ।
- (ब) डोमों के द्वारा राजा को धोखा देना
- (१) धवल सेठ श्रीपाल को समुद्र पार कर राजा के यहाँ आया हुआ देख कर डोमों को धन दे कर राजा के पास भेजता है । वे नृत्य-गान करने के पश्चात् श्रीपाल को अपना खोया हुआ पुत्र घोषित करते हैं । वृद्धा डोम

वात्सल्यपूर्ण वचनों के द्वारा पुत्र के प्रति वास्तविक स्नेह हाव-भावों से प्रकट करती है।

८. भाग्य का पलटना

(१) सब से छोटी पुत्री मैनासुन्दरी का रानी बनना।

(२) श्रीपाल को कोढ़ी से राजा होना।

(३) वणिक्पुत्र जिनदत्त का राजा बनना।

(ब) दुर्बल की जीत

(१) भविष्यदत्त की सिन्धुनरेश के संग्राम में अल्प साधन-सेना के होते हुए भी विजय होना।

(२) सनत्कुमार को विद्याधरों के युद्ध में विजय मिलना।

(३) मैनासुन्दरी के द्वारा प्रतिपादित कर्म की जीत होना।

(स) घमण्डी का सिर नीचा

(१) सनत्कुमार का दूत भेज कर विलासवती को वापिस माँगना। किन्तु घमण्ड में आ कर विद्याधर अनंगरति का युद्ध करना और युद्ध में हार जाना।

(द) शील का पुरस्कार

(१) भविष्यानुरूपा शील की रक्षा करती हुई पति के न मिलने से निराश हो कर भी अपने को स्थिर रखती है। फलस्वरूप पति को राजा के रूप में पाती है।

(२) जि० क० में भी शील की रक्षा करती हुई जिनदत्त की पत्नियाँ अन्त में पति और राजमुख के वैभव को प्राप्त करती है।

९. भविष्य-निर्देशन

(१) जो सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को खोल देगा वही इस कन्या का पति होगा।

(२) जो भुजाओं से समुद्र को पार करता हुआ इस द्वीप के तट पर आयेगा वही इस राजकुमारी का वर होगा।

(३) जो मदोन्मत्त हाथी को बश में करेगा वही इस कन्या का पति हो सकेगा।

(ब) शत रखना

(१) यदि तुम अटके हुए जहाज को बला दोगे तो एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ दूँगा।

(स) वायदा करना

(१) श्रीपाल मैनासुन्दरी से बारह बरस में लौटने का वायदा कर व्यापार करने जाता है ।

(द) वचन देना

(१) जिनदत्त मालिन को वचन दे कर उस के बेटे के स्थान पर स्वयं राजकुमारी के महल में पहरा देने जाता है ।

(य) आदेश देना

(१) राजा ईशानचन्द्र रानी के आरोप लगाने पर सनत्कुमार की शूली का आदेश दे देता है ।

१०. अवसर तथा भाग्य

(१) भाग्यवश कन्दा लगाते समय ऋषि का वहाँ आ पहुँचना और सनत्कुमार को मरने से बचा लेना ।

(२) मित्र का मिल जाना । नायक की सहायता करना ।

(ब) दुर्भाग्यपूर्ण घटना

(१) निर्जन वन में विलासवती को साँप का डस लेना ।

(२) समुद्र में नायक को गिरा देना ।

(स) विद्याधरो के देश में विद्याएँ सीखना

(१) जिनदत्त विद्याधरो के देश में कई प्रकार की विद्याएँ सीखता है । राजा स्वयं पुत्री के साथ आकाशगामिनी और परशस्त्रनिवारिणी नाम की दो विद्याएँ उसे प्रदान करता है ।

(द) विद्या की सिद्धि

(१) सनत्कुमार मलय पर्वत की गुफा में विद्या की साधना कर सिद्धि प्राप्त करता है ।

११. पुरस्कार तथा दण्ड

(१) राजा भूपाल भविष्यदत्त के साथ धोखा-धड़ी करने से बन्धुदत्त को और साथ में धनवद् को दण्ड देता है तथा भविष्यदत्त को आधा राज्य सौंपता है ।

१२. कर्म का फल

- (१) समुद्रदत्त जिनदत्त के साथ विश्वासघात करने से कुष्ठ से गल-गल कर अल्प आयु में ही प्राण त्यागता है ।
- (ब) पूर्व जन्म की करनी का फल
- (१) सनत्कुमार ने पिछले जन्म में हंस और हंसी को कौतुक से वियुक्त किया था, इस लिए इस जन्म में उसे विलासवती का बार-बार वियोग सहन करना पड़ता है ।
- (२) पूर्व जन्म के कर्म के विपाक से ही श्रीपाल को कुष्ठ हुआ ।
- (स) पुण्य-फल
- (१) पुण्य-फल से पूर्व जन्म के दो मित्रों ने संकट के समय में भविष्यदत्त की सहायता की ।
- (द) पूर्व जन्म का संस्कार
- (१) पूर्व जन्म में विलासवती का प्रेम सनत्कुमार से होने से तथा संस्कार विद्यमान होने से परस्पर प्रथम दर्शन में ही एक-दूसरे के अनुरागी तथा ग्राहक बन गये ।

१३. धार्मिक विश्वास

- (१) वि० क० में बट के वृक्ष के नीचे विलासवती को साँप का डसना कहा गया है । अतएव पीपल की भाँति बट के नीचे साँप का निवास करना धार्मिक विश्वास कहा जा सकता है ।
- (२) सिद्धचक्र विधान से श्रीपाल का कुष्ठ दूर होना ।
- (३) मन्त्र की शक्ति से समुद्र पार करना ।

१४. सामाजिक

(अ) प्रथाएँ

- (१) श्रीपाल कथा में मनुष्य की बलि का अभिप्राय मिलता है ।
- (२) भाई (फूफा का लड़का)—बहन (मामा की लड़की) का विवाह ।
- (३) गान्धर्व विवाह ।

इसी प्रकार चारित्रिक, यौन, मनुष्य-जीवन तथा प्रतीक रूप में अभिप्राय अपभ्रंश के इन कथा-काव्यों में प्रयुक्त है । प्रतीक रूप में प्रेमियों का सन्देश ले जाने के लिए तोता, मैना, चील, कौआ आदि पक्षियों का नाम मिलता है । भ० क० में कमलश्री व्यापार के लिए परदेश गये हुए पुत्र को घर लौटाने का सन्देश कौबे को दे कर भेजती है ।

लोकजीवन और संस्कृति

धार्मिक विश्वास

अपभ्रंश के सभी कथाकाव्य जैन कवियों के द्वारा रचित है। इस लिए यह स्वामात्रिक ही है कि इन में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन तथा उन के द्वारा निश्चित धर्म का स्वरूप एवं मोक्ष-प्राप्ति का उपाय वर्णित हो। किन्तु मध्यकालीन देवी-देवता विषयक मान्यताओं का उल्लेख भी इन काव्यों में मिलता है। यही नहीं, जल (वरुण)—देवता का पूजन, जल-देवता का प्रत्यक्ष होना, संकट पड़ने पर देवी-देवताओं द्वारा सकट-निवारण आदि धार्मिक विश्वास उक्त कथाओं में लिपटे हुए लक्षित होते हैं।

जैन शास्त्रों में स्पष्ट रूप से देवी-देवताओं की पूजा-मान्यता का निषेध है। केवल जिन या अर्हन्त की पूजा विहित है। जिन या अर्हन्त चौबीस कहे गये हैं, जिन्हें तीर्थंकर कहते हैं। इन के अतिरिक्त किसी देवी-देवता को मानना 'देव-भूढ़ता' कहा गया है। भूढ़ता का अर्थ है—मूर्खता। भूढ़ता का पालन करने वाला मिथ्यात्वी कहा गया है और मिथ्यात्वी कभी सम्यक्दृष्टि बने बिना मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। इस लिए सम्यक्त्व बनने के लिए भूढ़ता को छोड़ना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। किन्तु परवर्ती काल में मत-मतान्तरो के अधिक प्रभावशील होने पर बौद्धों की भाँति जैनो ने भी जिनशासन की देवियों की कल्पना की, जो जन-सामान्य में चौबीस तीर्थंकरों की अधिष्ठात्री देवी के रूप में चौबीस संख्या में आठवीं शताब्दी के लगभग प्रचलित हो गई थी। परन्तु जैन ग्रन्थों में अधिकतर पद्मावती, रोहिणी और ज्वालामालिनी के नाम मिलते हैं। पद्मावती अत्यन्त प्रसिद्ध देवी है। मुस्लिम-युग में जैनो में इस की मान्यता का इतना अधिक प्रचार हुआ कि लोग मूर्ति बना कर उसकी पूजा करने लगे।

जैनो का सामान्य विश्वास है कि जिन या तीर्थंकर न तो किसी को कुछ देते-लेते हैं और न किसी का कुछ बना-बिगाड़ सकते हैं। जो कुछ अच्छा-बुरा फल मनुष्य प्राप्त करता है वह अपने-अपने कर्म के उदय से। तीर्थंकर-मूर्ति तो उन आदर्शों की अनुकृति मात्र है, जिन्हें अपने जीवन में उतार कर हम भी कर्म-बन्धनों से रहित हो जिन या शिव की अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। अतएव तीर्थंकरों की पूजा पारमार्थिक दृष्टि को छे कर प्रचलित है। और इसी लिए जैन-मन्दिरों में भोग लगाने और प्रसाद ग्रहण करने की प्रथा कभी नहीं रही है। किन्तु लोक-जीवन में धर्मकारिक बातों से प्रभावित होने पर जैन समाज में जिनशासन की देवियों का प्रचार लोक-सम्पदा, प्रभुत्व और ऐश्वर्य पाने के निमित्त हुआ। कहा जाता है कि सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन एवं वाद-विवाद में बौद्धों की ओर से जब तारा देवी घट में प्रस्थापित की गयी थी तब

१. इत्यन्तरि सुमुहुत्सु समारिउ किउ चउवकु बंद्धु बदारिउ।

पुजिज्य जलदेवय विरधारि पुक्कवखय बलिदीबंगारि। भ० अ०, ७, ३।

आइवि पूजिय जलदेवयाइ पडवाई पोहण बावसाइ। सि० क०, १, २६।

जैनों की पद्मावती ने आ कर सहायता की थी। देवियों की मान्यता के पश्चात् ही कदाचित् यक्ष और यक्षणियों की कल्पना की गयी। और जिनशासन की देवियों की भाँति ही यक्ष-यक्षणियों की संस्था भी चौबीस मानी गयी।

कवि रत्न ने चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना के पश्चात् चक्रेश्वरी, रोहिणी, ज्वालामालिनी, क्षेत्रपाल, अम्बिका, पद्मावती और चौबीस यक्ष-यक्षणियों की वन्दना की है।

चक्केसरि रोहिणी जयसाह
अंविमाइ तुव नवऊ सभाइ

जालामालिणि अरु खेतपालु
पद्मावति कह लागउ पाइ ॥

जि० चउ०, १०।

जे चउबीस जखजखिणी
कुमइ कुवुषि देवि महु हरहु

ते पणमउ सामिणि आपुणो।
चउविह संघह रक्षया करहु ॥वही, ११।

चौबीस यक्ष और यक्षणियों की तथा जिनशासन की देवियों की मूर्तियाँ जयपुर के पाटोदी मन्दिर की भित्ति पर उत्कीर्ण हैं।

यही नहीं, पद्मावती के पति धरणेन्द्र और रोहिणीपति चन्द्र का भी स्मरण कवि ने किया है।

इंद दहण जमणेरि उजाणु
पणमउ पोमिणिवइ धरणिदु

वरुणु वाय घणवि ईसाणु।
रोहिणे कंतु जयउ णहिचंदु ॥वही, १२।

जिन-सरस्वती के प्रसाद से तो धनपाल और रत्न दोनों ने ही काव्य की रचना की। इसी प्रकार नवग्रहों का भी रत्न ने सादर स्मरण किया है। संकट के समय नायिकाओं को या तो जलदेवता-देवी आ कर बचाते हैं अथवा ज्वालामालिनी और पद्मावती देवी आ कर रक्षा करती हैं। इस प्रकार देवी-देवता विषयक धार्मिक विश्वास अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यों में मिलता है। और इसी प्रकार मणिभद्र यक्ष के द्वारा भविष्यदत्त का सकट-निवारण और विमान में बिठा कर गजपुर पहुँचाने का उल्लेख हुआ है। यही नहीं, पुनर्जन्म की मित्रता के कारण मनोवेग विद्याधर के साथ गजपुर से विमान में बैठ कर तिलकद्वीप जाने का उल्लेख भी इस काव्य में वर्णित है।

पं० नरसेन की सि० क० में स्रष्ट रूप से जल-देवता के रूप में मानभद्र यक्ष और जल-देवी के रूप में पद्मावती का उल्लेख है। यक्ष के साथ क्षेत्रपाल देवता और देवियों के गण में चक्रेश्वरी, अम्बिका, रोहिणी, ज्वालामालिनी, व्यन्तरेन्द्र आदि का आगमन, घबलसेठ पापी के हाथों को पीछे बाँधना, मुँह को लहलुहान करना और रत्नमंजूषा के शील की रक्षा का वर्णन भी इस काव्य में हुआ है।

अहो जलदेवय तुम्हि णिरिक्खहु
वहु दुक्ख णिरंतर अण्ण भवंतर
परलाउ करंतहं एम रुवंतहं

इहि पापि यहि पासि मुहि रक्खहु।
कामु कियहो णाह मडं।
जलदेविहि गणु आउ तहि ॥

माणिभदु सायह हल्लोलिउ	पोहणु धरि करिउ मुहुं बंमोलिउ ।
चक्कसरिय चक्क जिय फेरिय	वणि आउलिय परं परिफेरिउ ।
हरिदंसण अंवाइय आइय	कुक्कुड सप्पइ इह पोमाइय ।
खेतवालु सुणहहं रह घायउ	घवलसेट्टि मुहुं लहू लुलायउ ।
धूमायह किमउ तब रोहिणि	अग्गि पज्जालिय जालामालिणि ।

ज्वालामालिनी देवी के द्वारा अग्नि प्रज्वालित करने और व्यंतरो के द्वारा उपसर्ग करने के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन जैन-साहित्य में अतिमानवीय शक्तियों के अलौकिक प्रदर्शन में भारतीय जनता की आस्था सबल हो चुकी थी। भारतीय साहित्य में तथा स्वापत्य कला में यक्ष और यक्षणियों के स्पष्ट निदर्शन मिलते हैं। यक्षों की मान्यता में हिन्दू और जैन लोगों के पौराणिक विचार बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। क्योंकि यक्षों की मान्यता अलग से न हो कर देवताओं के साथ सम्बद्ध है। इस लिए मूर्तियों में तीर्थंकर की प्रतिमा के दोनों ओर यक्ष या यक्षिणी चित्रित मिलती हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा में देवी पद्मावती अपने सिर पर उन्हें धारण किये हुए कहीं-कहीं लक्षित होती हैं। वस्तुतः इन्हे जैन धर्म की संकट-काल में रक्षा करने वाले देवी-देवताओं के रूप में माना गया है। अतएव इन्हे शासनदेवता कहा जाता है। तीर्थंकरों से ये निम्न-कोटि के माने जाते हैं। इन का सम्बन्ध पूजा और पुजापे से ही अधिक है; जब कि तीर्थंकर राग और द्वेष से रहित माने गये हैं। इसी लिए वैष्णव और जैन देवी-देवता किन्हीं बातों में मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार यक्ष-यक्षणियों तथा देवी-देवताओं की मान्यता का ही नहीं, सि० क० में चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, अम्बिका और पद्मावती तथा दस दिशपाल गोमुख और मानभद्र यक्ष तथा व्यंतरेन्द्र की स्तुति-पूजा का भी उल्लेख है।

शकुन-अपशकुन

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में शकुन-अपशकुन तथा स्वप्न-सम्बन्धी विदवास लगभग सभी रचनाओं में मिलते हैं। भ० क० में जब भविष्यदत्त मैनागद्वीप में अकेला छोड़ दिया जाता है तब वह वन में भटकता हुआ थक कर सो जाता है। दूसरे दिन वह फिर आगे बढ़ता है तभी उसे शुभ शकुन होने लगते हैं (भ० क० ३, ५)। वि० क० में भी शकुन का वर्णन है।

एतहि सारमु रवु बित्थरियउ ।

इय चित्तंनहं मुमिण पओयणु

सउण सत्थु अणुकूलउ दोसइ

इसी प्रकार अपशकुन-वर्णन भी मिलता है।

तह फुरिय वामलोयण असुहं

दाहिणु वाहु फुरिउ तह लोयणु ।

रन्ने वि कन्नय लाहु पयासइ । (५, २४)

उप्पन्न कुमारह चित्ति दुहं । (५, २४)

१, शाशिकात्ता जैन सम कामन एलीमेंट्स इन द जैन एण्ड हिन्दू पेरिथियन्स-यक्षज्ञ एण्ड यक्षिणीज, जैन एण्टिक्वेरी, जिल्द १८, अंक २, पृ० ३३ ।

ज्योतिषियों की भविष्यवाणी

शकुन-अपशकुन तथा स्वप्न-दर्शन की सार्थकता की भाँति नैमित्तिक या ज्योतिषों की भविष्यवाणी में भी सामान्य विश्वास इन कथाकाव्यों में निहित है। सनत्कुमार को बचपन में किसी नैमित्तिक ने बताया था कि तुम बिद्याधरों के राजा बनोगे और सुन्दर कन्या-रत्न से पाणिग्रहण होगा। अतएव विजयन वन में स्वप्न आने पर सनत्कुमार नैमित्तिक की बातों का स्मरण कर उस पर अपनी आस्था प्रकट करता है।

ता कुमार चित्तइ मणे एरिसु रिसिहि न वयणु होइ अन्नारिसु । (५, २४)

इसी प्रकार घबल सेठ के लोभ देने पर जब डोम लोग राजा जनपाल को सभा में जा कर श्रीपाल को अपना पुत्र बताते हैं तो राजा को बहुत क्रोध आता है। वह मन ही मन सोचता है कि नैमित्तिक के कहने से अपनी भुजाओं से समुद्र-संतरण करने वाले इस श्रीपाल के साथ गुणमाला को ग्याह कर मैं सचमुच लोगों की दृष्टि में गिर गया। किन्तु श्रीपाल के द्वारा वास्तविक रहस्य के प्रकाशन करने पर राजा श्रीपाल से क्षमा माँगता है। श्रीपाल नैमित्तिक की भविष्यवाणी को दुहराता है।

णिमित्तिउ जं कहइ णरेसर सो किअ सम्बु होइ परमेसर ।

सि० क० (नरसेन)

इसी प्रकार सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक खोलने, समुद्र पार करने और भुजाओं से या काष्ठफलक के सहारे समुद्र तैरते हुए बिद्याधरों के देश में पहुँच कर नैमित्तिक के अनुसार नायक के विवाह होने में भविष्यवाणी की संपूर्णता का सामान्य विश्वास चरितार्थ मिलता है।

दूरस्थ देश में कौआ उड़ा कर सन्देश भेजना

भ० क० में कमलश्री पुत्र भविष्यदत्त को द्वीपान्तर से बुलाने के लिए कौआ को सन्देश दे कर उड़ाती है और कहती है कि मेरे भविष्यदत्त को घर के आँगन में लिवा लाओ (भ० क० ६, १)।

जाति सम्बन्धी

अपभ्रंश की इन कथाओं में जातिविषयक सामान्य विश्वास भी मिलते हैं। इन विश्वासों में से मुख्य हैं—रात को भोजन न करना, बिना देव-दर्शन एवं पूजन के सुबह उठ कर भोजन न करना, विविध देव-देवियों की पूजा करना और व्रत-विधान का पालन करना, मद्य, मांस और मधु का भक्षण नहीं करना और अकृत्रिम चैत्यालय की वन्दना करना, इत्यादि। इसी प्रकार बालक के जन्म के एक महीने के पश्चात् जिन-मन्दिर में जा कर बालक की माता का आनन्दोत्सव मनाने का वर्णन भ० क० (१, १६) में

है। वस्तुतः यह जातीय सामाजिक आचार है कि प्रसूति होने के बाद माता एक महीने तक मन्दिर जा कर देव-दर्शन नहीं कर सकती और एक महीने के बाद देव-दर्शन ही कर सकती है; पूजन-विधान नहीं। इसी प्रकार यह भी एक जातीय सामान्य विश्वास है कि स्त्री मूर्ति का अभिषेक नहीं करती तथा पुष्प ही मुक्ति प्राप्त करता है; स्त्री नहीं। स्त्री की मुक्ति के लिए उसे पुरुष-पर्याय धारण करना अनिवार्य है। इसी प्रकार किसी भी जीव को मारने से नरक-गति मिलती है और सताने से वैसा ही कर्मों का फल भोगना पड़ता है। उदाहरण के लिए, सनत्कुमार ने पिछले जन्म में हंस मिथुन में से कौतुक से हंसी को पकड़ लिया था, जिस से हंस उस के वियोग में कण्ठगत हो गया था। परिणामस्वरूप इस जन्म में सनत्कुमार को प्रेमिका विलासवती का कई बार वियोगजन्य दाहण दुःख सहन करना पड़ा। माणिक्यचन्द्र कृत 'सत्त्वसनकहा' में ऐसी ही कथाओं का वर्णन है, जिस में इस जन्म में जुआ, चोरी आदि बुरी आदतों के शिकार लोगों को दुर्गति प्राप्त हुई और अगले जन्म में उन्हें नरक या नरक जैसी यातनाएँ भोगनी पड़ी। इसी प्रकार अच्छे कर्म करने वाले, न्याय-व्यय पर आरुढ़ लोगों को स्वर्ग व क्रम से मोक्ष-प्राप्त होने का सामान्य विश्वास सभी कथाकाव्यों में व्याप्त है।

सामाजिक आचार-विचार

इन कथाकाव्यों में सामाजिक आचार-विचारों का जहाँ-तहाँ समावेश हुआ है। दोहला होने पर स्त्री की मनोकामनाएँ पूर्ण की जाती थी। भविष्यान्तरूप के दोहला होने पर वह तिलकद्वीप जाने की इच्छा प्रकट करती है और भविष्यदन्त परिजनो के साथ उसे तिलकद्वीप ले जाता है। नैमित्तिक लोग गर्भ के लक्षणों को देख कर बालक या बालिका के होने की पहले से ही सूचना दे देते थे। कमलश्री के बालक होगा, इस बात को बहुत से लोगों ने पहले ही जान लिया था (भ० क० १, १५)। पुत्र के जन्म होने पर बहुत उत्साह के साथ उत्सव मनाया जाता था। घर के बाहर द्वार पर तोरण बाँधे जाते थे। मंगल कलश सजाये जाते थे। मोतियों की रंगावली पूरी जाती थी। राजमहल में बधावा जाता था। बाजे बजते थे। दान दिया जाता था। युवतियाँ अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणों को धारण कर एकत्र होती थी। मंगलगीत गाये जाते थे (भ० क० १, १५-१६)। जन्म से छठे दिन बालक का छट्टी का उत्सव मनाया जाता था। जिनदत्त के उत्पन्न होने के छठे दिन आनन्दपूर्वक प्रमुख उत्सव मनाया गया था। उस दिन रात भर जागरणपूर्वक उल्लाह मनाया गया था (जि० क० १, २३)।

बालक के जन्म के दसवें दिन नामकरण नामक संस्कार किया जाता था (जि० क० १, २३)। बालक के एक महीने के हो जाने पर माता युवतियों के समूह के साथ पुत्र को गोद में ले कर देव-दर्शन के लिए जिन-मन्दिर जाती थी (भ० क० १, १६)। छठे या आठवें वर्ष में बालक को उपाध्याय के घर पढ़ने बैठा दिया जाता था। शस्त्र और शास्त्र दोनों प्रकार की विद्याओं का आम रिवाज था। शस्त्रविद्या में

विविध प्रकार के आयुधों का संचालन, सवारी करना और सब प्रकार के वारों को रोकना आदि बातें प्रचलित थी, और शास्त्रविद्या में व्याकरण, छन्द, कोश, तर्क, ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र और विज्ञान आदि की शिक्षा का प्रचार था। साथ ही सकल कलाओं की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक था। गीत, नृत्य और कला (चित्रकला) आदि का उस समय अच्छा प्रचार था (जि० क० १, २४)। कन्याएँ भी व्याकरण, छन्द, नाटक, निर्घट्ट, तर्क, अमरकोश और अलंकार ग्रन्थों तथा बहत्तर कलाओं, विज्ञान, गीत, नृत्य, प्राकृत काव्य, आयुर्वेद, सकल पुराण-शास्त्र, सामुद्रिक लक्षण, कामशास्त्र, उर्ध्व भाषाओं, छोटी दर्शन, छियानवे धर्म-सम्प्रदायों एवं अठारह लिपियों का ज्ञान प्राप्त करती थीं (सि० क० १, ७)। जि० चउ० में पाँचवें वर्ष में बालक को उपाध्याय के घर पहुँचे भोजन का उल्लेख है। (त्रि० चउ० ६३)। बालकों की विद्या का आरम्भ ओंकार से होता था (जि० चउ० ६४)। लक्षण, छन्द, तर्क, व्याकरण, पुराण आदि की भाँति ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र आदि की शिक्षा दी जाती थी। किन्तु तन्त्र-मन्त्र की शिक्षा बालक ही विशेष रूप से ग्रहण करते थे। अस्त्र-शस्त्र चलाने की शिक्षा का भी प्रचार था। उपाध्याय के घर से सकल शास्त्रों में निष्णात हो कर शिष्य घर लौटते थे। कन्याएँ मृनि से शिक्षा ग्रहण करती थी। पुत्र की विद्या-प्राप्ति के उपलक्ष्य में सेठ-साहूकार दान देते थे। विद्यालय से बालक को दान-उत्सवपूर्वक घर लाया जाता था (म० क० २, २-३)। इस प्रकार मध्ययुगीन भारतीय समाज में शिक्षा का अच्छा प्रचार एवं मान था।

विवाह का कार्य प्रायः ब्राह्मण लोग करते थे। वे विवाह तय करते थे, लग्न शोधते थे और वैवाहिक विधि सम्पन्न करते थे। वर-कन्या के माता-पिता योग्य कुल तथा वर-वधू को देख कर ही विवाह करते थे। वर्ण-व्यवस्था का प्रचार था। राजा अपनी कन्या ब्राह्मण को नहीं देता था। किन्तु वणिक् या साहसी कुमार को दयाह देता था। गन्धर्व विवाह भी होता था। किन्तु आम प्रचार नहीं था। विवाह में कन्या को दायजा देने की प्रथा थी। कहीं-कहीं लड़का लड़की को और लड़की लड़के को देख कर किसी शर्त पर या साधारण रूप से विवाह करते थे और कहीं-कहीं ब्राह्मण चित्रपट को दिखा कर लड़का-लड़की का मन भरते थे (जि० चउ० १०५-१०६)। इस से स्पष्ट है कि वे विवाह-कार्य में अपना मत स्वतन्त्र रखते थे। विलासवती का सनत्कुमार से ऐसा ही प्रेम था कि वह उसे छोड़ कर अन्य किसी से ब्याह नहीं करना चाहती थी। किन्तु मैनासुन्दरी माता-पिता को आज्ञा एवं रुचि का पालन करती है।

विवाह के पूर्व कन्या पक्ष की ओर से लग्न भेजी जाती थी। वर के माता-पिता उत्सव मनाते थे। पक्ति-भोजन देते थे। तब गाजे-बाजों के साथ बरात प्रस्थान करती थी। बरात बैलगाड़ी, हाथी और घोड़ों पर जाती थी। जिनदस्त की बरात में एक करोड़ बैल थे। बरात में स्त्रियाँ भी जाती थी। वे मार्ग में मंगल गीत गाती चरती थी (जि० क० २, ११)। विवाह-स्थल पर मँडवा गाड़ा जाता था। कटनी बनाई

जाती थी। चौक मोतियों की रंगावली से पूरा जाता था। बरात को प्रायः नगर से बाहर ठहराया जाता था। वर हाथों में कंकण, गले में ध्वेत पुष्पों की माला तथा हार, कानों में कुण्डल और सिर पर सेहरा बाँधते थे। वर के प्रस्थान करने समय मंगलाचार किया जाता था। वर की सवारी हाथी पर निकलती थी। बरात के नगर में पहुँचने पर घर-घर में दिवाली मनायी जाती थी। विवाह में नृत्य-गान की प्रथा थी। कन्या के द्वार पर वर के पहुँचने पर उस का तिलक किया जाता था। वर को मोतियों से पूरित चौक में बिठाया जाता था। तरह-तरह के मंगलाचार किये जाते थे (वि० क० १०,४)। मंगल गान गाये जाते थे। कई तरह के बाजे बजते थे। तिलक तथा मंगलाचार के पश्चात् ब्राह्मण वेद की ऋचाओं को पढ़ते थे (सि० क० १,१४)। मंगल हवन होता था। सप्तपदी के साथ माँवरें पड़ती थीं। विवाह के अन्त में कई प्रकार के नृत्यगान तथा कौतुक होते थे। वर कई दिनों तक ससुराल में रह कर राग-रंग में मस्त रहता था। कन्या की बिदा के समय वर-बधू के सिर पर हूँकार तथा सिद्धि के लिए जी डाले जाते थे। दायजे में दास-दासी, हाथी-घोड़ा, गाय-भैंस तथा सेना एवं रत्न, हीरा, मोती, माणिक आदि दिये जाते थे। बहू के साथ बेटे के विवाह से लौटने पर माता उत्सव मनाती थी। बेटे-बहू को नजर उतार कर आरती उतारती थी (जि० क० ३,२)। ग्योछावर कर दान देती थी। कपूर के दिये जलाये जाते थे।

इस प्रकार विवाह-कार्य प्रमुख सामाजिक उत्सव के रूप में किये जाते थे। लोगों को आसन पीढो पर बिठाया जाता था। बहुत स्वागत-सत्कार किया जाता था। (भ० क० १,९) मामा और फूफा के भाई-बहनों में ब्याह होने की प्रथा थी। श्रीपाल और गुणमाला ममेरे-कुकरे भाई-बहन थे। वस्तुतः यह दक्षिण भारत की प्रथा है, जो जैन साहित्य में कई काव्यों तथा पुराणों में वर्णित मिलती है। इसी प्रकार जूड़े में फूलों को खोसना आज भी दक्षिण भारत में प्रचलित है। किन्तु कुंकुम की पत्रावली रचना और माँग को मोती से भरना उत्तर-पश्चिम और विशेष कर राजस्थान की प्रथा जान पड़ती है। उत्तर भारत में ही पुरुष कानों में कुण्डल पहनते हैं। राजा भविष्यदत्त कानों में सोने के कुंडल पहनते थे (भ० क० २०,९)। सिर पर सोने के मुकुट बाँधते थे। राजा का यह विशेष बेश था। कन्याएँ गेंद से खेलती थी (भ० क० १,८)। वे वीणा-वादन और नृत्य-गीत में कुशल होती थीं। बड़े घर की स्त्रियाँ मोतियों से जड़ी हुई साड़ी पहनती थीं (सि० क० २,१४)। इसी प्रकार उत्सवों के समय रत्नजड़ित अंगिया पहनती थी। उन पर हीरा, सोना आदि की नक्काशी कड़ी रहती थी (जि० चउ० १३४-१३५)। पुरुष-स्त्रियाँ प्रायः जल-विहार, जल-क्रीड़ा करते थे। वसन्त में वन में विहार करते थे। इस प्रकार अपभ्रंस के इन कथाकाव्यों में वर्णित जीवन सामन्तकालीन वैभव से युक्त है। कहीं-कहीं राजपूतकालीन प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। किन्तु आखेट-क्रीड़ा करना, बलि देना, शूली पर चढ़ाना आदि बातें इन में नहीं मिलती। परन्तु जिनदत्त का कुमारी के मुँह से निकलते हुए भुजंग को मारना,

भविष्यदत्त का राक्षस को मारने के लिए तैयार होना तथा विभिन्न नायकों का युद्ध करना आदि इस बात के प्रमाण हैं कि व्यावहारिक हिंसा में प्रतिकार करना जैन शास्त्रों तथा साधुओं के द्वारा विहित था। पं० नरसेन ने बलि-प्रथा में बछड़ा, घोड़ा तथा बकरे का उल्लेख किया है (सि० क० १, ६)। इसी प्रकार नर-बलि का भी उल्लेख मिलता है (सि० क० ४, १७)।

लोक-निरुक्ति

लोक-निरुक्ति में जन सामान्य में प्रचलित शब्दावली का अध्ययन किया जाता है। वस्तुतः प्रचलित देशी शब्दों का मूल रूप ढूँढ निकालना बहुत ही कठिन है। क्योंकि शताब्दियों तक चलन में रहने वाले शब्द जनता के प्रयत्न-लाभ, सुख-सुख और शिक्षा के कारण घिस-पिस कर कई रूपों में बदले हुए मिलते हैं। फिर भी, भाषा विशेष के शब्दों के बदलाव की अपनी प्रक्रिया एवं कुछ सामान्य नियम होते हैं, जिन के अनुसार स्थानीय नाम तथा पुरुष-स्त्रियों के नामों का अनुसन्धान किया जा सकता है।

अपभ्रंश कथाकाव्यों में प्राप्त पुरुषों की नामावली इस प्रकार है—चंदमेवर (चंदसिंह), जीवदेउ, जिणदत्त, विमल, रल्ह, सील्ह, वोल्ह, दंता, सारु, घनु, चमर, पीता, धाघु, धणुदेउ, सघान, सुमति, महामति, कन्हउ, खोखर, बिज्जाहर, तीकउ, वीकउ, सुखाल, दिउपाल, तेजू, आमे, बासे, अजउ, बिजउ, रजउ, उवहिदत्त, चारुदत्त, गुणदत्त, सुवत्त, सोमदत्त, धणउ, धणदत्त, सिरिगणु, हरिगणु, आसादित्त, छोमे, हप्पा, शुदत्त, जयदत्त, धणवाहण, असोक, भविसयत्त, वंधुयत्त, धणयत्त, सोमप्पइ, धणवइ, धणेशर, सुगुत्त, समाहिगुत्त, णरसेणु, पयपालु, सिरिपालु, धवलु, कनयकेउ, धरवालु, धणयालु, मयरकेउ, अरिदमणु, भुवालु, हरिवलु, सणयकुमारु, वसुभूइ, महेसरु, वज्जोयर, जसोहणु, चंदउत्तु, हारप्पह, जसुवम्मु, इसाणुचउ, इत्यादि।

स्त्रियों के नाम हैं—

कंचणमइ, पोमावड, कमलसिरि, विमला, विमलमति, सिरियामती, असोक-सिरी, रूपादे, कंचणदे, उपमादे, मामादे, चित्तेरुह, सावलदे, तारादे, मंदोवरि, चंद्रामती, हीरादे, रेवती, सारगदे, वीरमदे, गंगादे, कमलादे, पियसुंदरि, भोगवती, मोरवती, कइलासकुमारि, सिगारमइ, वसंतमाला, विलासवइ, णरसुंदरि, सुरसुंदरि, मयणासुंदरि, रयणमजुसा, वणमाला, गुणमाला, चित्तलेह, जगरेहा, सुरेहा, गुणरेहा, मणरेह, रंभा, रद्धरेहा, विलासमई, जयलच्छी, लच्छि, सरूवा, मयणवेय, णायसिरि, भविसाणरुव, अनंगसुंदरि, गोरि इत्यादि।

प्रमुख नगरों के नाम इस प्रकार हैं—

सेयविय (श्वेताम्बी), तामलिप्ति (ताम्रालिप्ती), कपिल्ल, उज्जेणि, गयउर (गजपुर), दहिपुर (दशपुर), वसंतपुर, चंपापुर, कौकण, पोयणउर (पोदनपुर), रयणूउर (रथनूपुर), तिलयउर (तिलकपुर), सिरिउर (श्रीपुर), आदि।

सप्तम अध्याय परम्परा और प्रभाव

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में तथा साहित्य में अपभ्रंश का अत्यन्त महत्त्व है। भाषा के अन्तर्गत नये-नये शब्द-रूप, सर्वनाम, परसर्ग, देशज क्रियापद एवं कृदन्त क्रियाओं का बाहुल्य तो अपभ्रंश में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता ही है, पर उत्तरनर्ती काल में लिग की अव्यवस्था और क्रिया में लिग भी लक्षित होता है, जिन में से अधिकांश उपादान आ० भा० आर्यभाषाओं में आज भी कुछ ज्यों के त्यों तथा विकसित अवस्था में देखे जा सकते हैं। भाषा विषयक इस अध्ययन से यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी का विकास-विकास उर्दू या किसी अन्य भाषा से न हो कर परम्परागत मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं की विकसित धारा से हुआ है और इसी लिए भाषा विकास की दृष्टि में उस का जन्म संस्कृत से न हो कर अपभ्रंश से हुआ है। लेकिन इस का यह अर्थ नहीं है कि संस्कृत से उस का सम्बन्ध नहीं था, या नहीं है। वस्तुतः अपभ्रंश का लगाव भी संस्कृत से रहा है, किन्तु उस की जड़े बोलियों में लक्षित होती हैं। बोली जाने वाली प्रत्येक भाषा व्यावहारिक एवं जन-जीवन से सम्बद्ध होती है। वह किसी भाषा या शास्त्र के बल पर जन्म नहीं लेती। यही बात हिन्दी के सम्बन्ध में भी लागू होती है। इस अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि नयी अवस्था में ढलने और विकसित होने के सम्बन्ध से ही अपभ्रंश और हिन्दी का सम्बन्ध जोड़ा जाता है; मूल रूप में नहीं।

यद्यपि वैदिक साहित्य में कुछ बिखरे हुए आख्यान मिलते हैं, किन्तु मूल रूप में उन का सम्बन्ध इतिवृत्त से न हो कर मन्त्रों की अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन के लिए हुआ है। इस लिए वस्तु रूप में उन में घटनाएँ न हो कर उन का संश्लेष मात्र है। यास्क के निरुक्त में ऐसे ही आख्यानो का उल्लेख है। परन्तु 'बृहद्देवता' में अवश्य वे आख्यान रूप में वर्णित हैं। वस्तुतः भारतीय साहित्य में कथा के रूप में सब से बड़ा सकलन महाभारत कहा जाता है। महाभारत का एक चौथाई भाग उपाख्यानो से भरपूर है। किन्तु उस से भी प्राचीन गुणादय की 'बृहत्कथा' कही गयी है, जो पैशाची प्राकृत में एक लाख श्लोकप्रमाण लिखी गयी थी। संस्कृत में बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह, बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर के नाम से विभिन्न कवियों के तीन रूपान्तरित काव्य मिलते हैं, जिन को देखने से यह पता लगता है कि इस देश में पद्यबद्ध कथा लिखने का चलन अत्यन्त प्राचीन है। कथाओं की इस परम्परा में आर्यशूरकृत जातकमाला, शिवाय

रचित भगवतीआराधना, हरिषेण विरचित बृहत्कथाकोष, संघदासकृत बसुदेवहिण्डी, नेमिचन्द्र रचित आख्यानमणिकोश, श्रीचंद विरचित कथाकोष, ब्र० नेमिचंद कृत आराधनाकथाकोश तथा पं० रघू विरचित आराधनासार और पुष्पासवकथाकोष आदि पालि, कन्नड़, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखे हुए कथाकोश हैं; जिन में विभिन्न कथाएँ संकलित हैं।

इस प्रकार भारतीय साहित्य में पञ्चबद्ध कथाओं का लेखन ई० पू० छठी शताब्दी के लगभग प्रचलित हो गया था; किन्तु कथाकाव्य के रूप में लोक-कहानी को कथाभिप्रायों से समन्वित कर कदाचित् प्राकृत और अपभ्रंश में प्रबन्ध शैली में पहली बार इस साहित्यिक विधा का सूत्रपात हुआ। इन में वर्णित कथाएँ दादो-नानी की कहानियाँ हैं, जो उद्देश्य विशेष से नियोजित तथा कवि की कल्पना से अनुस्यूत हैं। अतएव कुछ कथाएँ लोक-कथा या जनश्रुति के रूप में प्रचलित होने पर भी व्रत-माहात्म्य तथा अनुष्ठानों से सम्बद्ध हो कर प्रबन्ध के आकार में रचित हैं।

यद्यपि प्रबन्ध में वर्णित एवं आलोचित मुख्य कथाकाव्यों को महाकाव्य की कोटि में रखा जा सकता है, किन्तु मेरी दृष्टि में महाकाव्य की रचना साधारण बात न होने से तथा महत्कार्य और आदर्श का विधान जीवन की समूची घटनाओं एवं प्रमुख पात्रों में व्याप्त होने पर और जीवन के शाश्वत प्रश्नों का समाधान अथवा जीवन-सन्देश की स्पष्ट अभिव्यक्ति होने पर ही कोई प्रबन्धकाव्य महाकाव्य कहा जा सकता है। और इस मान्यता के अनुसार इने-गिने दस-बीस महाकाव्य ही विश्व के साहित्य में मिल सकेंगे। अतएव अपभ्रंश की इन कथाओं को हमने एकार्थकाव्य की कोटि का माना है; जिन में लोक-कथाएँ कतिपय घटनाओं के विग्रह में मानवीय संवेदना से सजीव एवं चारित्रिक विधान में अनुभूति पूर्ण लक्षित होती हैं। इन में कहानी के लगभग सभी तत्त्वों का तथा साहित्यिक रुढ़ियों का भलीभाँति समावेश है। कथा के अन्तर्गत मुख्य घटनाओं के घटित होने पर उस वृत्त की एक से अधिक बार आवृत्ति होती है। इसी प्रकार हेतु कथाओं तथा सामान्य कथाभिप्रायों की भी समन्विति रहती है, जो कथा काव्यों का विशिष्ट गुण कहा जा सकता है। चरितकाव्य एक प्रकार के सकलकथा-काव्य होते हैं, जिन में किसी महापुरुष का जीवन-चरित आदि से अन्त तक वर्णित रहता है। वास्तव में चरित लोक में देखा जाता है, काव्य में तो केवल वस्तु-वर्णन ही निबद्ध रहता है। अतएव कथाकाव्य और चरितकाव्य का मौलिक अन्तर वस्तु-वर्णन और शैली में दिखलाई पड़ता है। चरित शब्द ही पुण्य अभिधा का वाचक है। नाट्यशास्त्र में रूपकगत चरित-नाट्य की संज्ञा 'प्रकरण' कही गयी है। नाटक में दिव्यता पूर्ण राजर्षिवंश-चरित का कीर्तन होता है, किन्तु प्रकरण में न तो नायक उदात्त होता है और न दिव्यचरित ही। यद्यपि सभी काव्य और नाटकों में नायक का कुछ चरित वर्णित रहता है, किन्तु पुण्य विधा के रूप में विप्र, वणिक् और सचिव आदि के चरित-वर्णन का विधान है और चरितकाव्य में रूपक की भाँति राजर्षि वंश का चरित वर्णित

रहता है। कथाकाव्य में कथा के भीतर कथाएँ रहती हैं, पर चरितकाव्य में केवल मुख्य कथा विभिन्न अवान्तर कथाओं के साथ निबद्ध-रहती है। कथाकाव्य की अपेक्षा चरितकाव्य में अतिलौकिक बातों (Super natural elements) का अत्यधिक समावेश देखा जाता है। कथाकाव्यों की तो अधिकांश कथाएँ संयोग और दैवी संयोग के साथ कुतूहल, उत्सुकता और जिज्ञासा को प्रवर्तन कर क्षिप्रता से गतिशील लक्षित होती हैं; जब कि चरितकाव्यों में घटनाएँ एक-एक कर या मन्थरता से आगे बढ़ती हैं। इस प्रकार कई बातों में दोनों में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगत होता है।

यद्यपि अपभ्रंश के कथाकाव्यों की वस्तु स्थातवृत्त हैं, क्योंकि जिनदत्तकथा को छोड़ कर लगभग सभी कथाएँ किसी न किसी रूप में प्राकृत-साहित्य से गृहीत हैं; किन्तु एक तो उन में परिवर्तन मिलता है और दूसरे लोक-जीवन का पूरा पुट है, इस लिए ये लोक प्रचलित कथाएँ ही जान पड़ती हैं, जो उद्देश्य विशेष से साहित्यिक अनुबन्ध में अनुस्यूत हैं। लाखू ने जिनदत्त कथा को स्वयं अर्हदत्त (जिनदत्त) से सुन कर लिखा था।^१ इसी प्रकार विबुध श्रीधर ने भी किसी आचार्य के मुख से सुन कर भविष्यदत्तचरित्र लिखा था।^२ प्राकृत-साहित्य में भी इस प्रकार की कथाएँ अनुश्रुतियों के रूप में सदियों तक प्रचलित रही हैं। क्योंकि प्राकृत के कथाकाव्य भी लोकप्रचलित कथाओं के आधार पर लिखे गये हैं। इस का सब से बड़ा प्रमाण यही है कि आज भी ये साहित्यिक कथाबन्ध में निबद्ध कथाएँ देश-विदेशों में लोक-कथा के रूप में सुनी जाती हैं।

इन कथाकाव्यों के समूचे प्रबन्ध में मानव जीवन का संतुलनपूर्ण चित्र झलकता दृष्टिगत होता है। अतएव पंच सन्धियों के समावेश के साथ ही महत्कार्य-योजना भी इन में निहित है। कथा-प्रवाह में इतिवृत्तात्मक और रसात्मक विवरण तथा भावों की मार्मिक व्यञ्जना हुई हैं। किसी-किसी कथाकाव्य में तो कथा में से कथा फूट पड़ी है। कहीं-कहीं विवरण में अनावश्यक रूप से वस्तुओं की लम्बी सूची तथा नामावली मिलती है—जैसे कि, उद्यान-वर्णन में फल-फूल और पेड़ों के नाम गिनाना, पंक्ति-भोज में विविध पकवानों का उल्लेख करना, विवाह के समय बाजों के नाम बताना, वाणिज्य यात्रा के लिए जाने वालों के नाम गिनाना, इत्यादि। इसी प्रकार भ० क० में विभिन्न आभूषणों की नामावली और जि० क० में स्त्री-भेद का विवरण मिलता है।

जायसी के पद्मावत की भाँति अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य व्यक्तिप्रधान न हो कर घटनाप्रधान है। अतएव वर्णित घटनाएँ कार्य से सम्बद्ध हैं। कार्य की संप्राप्ति होने तक घटनाओं में आवेग तथा क्षिप्रता एव क्रिया लक्षित होती है, किन्तु कार्य-सिद्धि के उप-

१. नगि अरुहदत्त कह कहहि तेम अहिणव विरहवि महु पुरउ जेम। जि० क०, १, ३।

चन्द्रप्रभस्य जगतामधिपस्य तीर्थजिज्ञातेममद्भुत कथा कविकण्ठभूषा।

२. विस्तारिता च मुनिनाथ गणक्रमेण ज्ञाता मयाप्यपरमूरिमुखाम्बुजेभ्यः।

भविष्यदत्तचरित्र, ५२।

रान्त उपशम हो जाती हैं। वस्तुतः यह कथाकाव्य की विशेषता है, जो मध्ययुगीन भारतीय कथाकाव्यों में दृष्टिगोचर होती है। अतएव अपभ्रंश और हिन्दी दोनों में ही प्रबन्ध-रचना में बहुत कुछ साम्य है, और इसी लिए यह कहा जा सकता है कि पद्मावत चरितकाव्य न हो कर कथाकाव्य है।

अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यों में चित्रित नायक वणिक् तथा राजवंश के कुमार हैं, जो अपने जीवन में पिता द्वारा तिरस्कृत या उपेक्षित हो कर अथवा अन्य किसी घटना से प्रभावित हो कर अपने घर से निकल पड़ते हैं तथा नगर से प्रवसित हो द्वीप-द्वीपान्तरो की यात्रा करते हैं। यात्रा के समय प्रायः सभी नायक असहाय दर्शाये जाते हैं। वे भाई, धर्मपिता या किसी सार्थवाह के अनुग्रह से पोत में बैठ कर कंचनद्वीप या सिंहलद्वीप की यात्रा करते हैं। मार्ग में किसी द्वीप या सिंहल द्वीप में पहुँच कर कुमार का भाग्योदय होता है। वह अपने साहस, पुण्य या दैवी सयोग से राजकुमारी को प्राप्त करता है अथवा उस के साथ उस का पाणिग्रहण कराया जाता है। लौटते समय कुमार की सुन्दर पत्नी तथा अतुल धन-सम्पत्ति को देख कर पोत का अधिकारी सार्थवाह, धर्मपिता या सौतेला भाई कंचन-कामिनी के लोभ में पड़ कर कुमार को छल से या तो समुद्र के तट पर छोड़ देता है अथवा समुद्र में गिरा देता है (भ० क० को छोड़ कर सब में समुद्र में गिराया जाता है)। समुद्र में गिरा हुआ कुमार काष्ठफलक का अवलम्बन ले कर अथवा किसी विद्या या पुण्य के बल से समुद्र पार करता है। अधिकतर कथाओं में काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करना दर्शाया गया है। समुद्र पार कर लेने पर प्रायः किसी न किसी सुन्दरी के साथ उस का विवाह होता है। इस का यही अभिप्राय जान पड़ता है कि भारतीय लोक-जीवन में शताब्दियों से यह विश्वास बना हुआ है कि समुद्र-पार कोई सुन्दरी रहती है, पर उसे पाने के लिए कई सकटों का सामना करना पड़ता है। जो उस संकट को या संकटों को पार कर लेता है वह सुन्दरी का वरण करता है। इसी लिए सुन्दरी की प्राप्ति के लिए लोक-कथाओं में कई सकटों का वर्णन मिलता है। नायक ही नहीं नायिका को भी संकट झेलना पड़ता है। नायक के समुद्र में गिरा दिये जाने पर धर्मपिता, सौतेला भाई या सार्थवाह सुन्दरी के सामने काम-प्रस्ताव रखता है। वह ठुकरा देती है। उस के शील के प्रभाव से जलदेवता या जिनशासन की देवी प्रकट होती है अथवा पोत भग्न हो जाता है। इस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं को झेल कर नायक-नायिका परस्पर मिल पाते हैं, और बिरकाल तक सुख भोग कर दोनों परम पद को प्राप्त करते हैं।

कथानक को दृष्टि से हिन्दी के सूफी काव्य और अपभ्रंश के कथाकाव्यों की वस्तु में बहुत कुछ साम्य है। सूफी काव्यों में भी प्रमुख पात्र परिस्थिति विशेष में जन्म लेते हैं और एक ही बंग के प्रेम में पड़ते तथा आतुर हो कर मार्गप्रदर्शक के अनुसार प्रेममार्ग में अग्रसर हो कर विरह बेदना सहते हैं, और अन्त में संयोग हो जाता है।

सामान्य रूप से अपभ्रंश-कथाकाव्यों में मार्गप्रदर्शन तथा प्रेमाभिर्व्यंजना की उत्कृष्टता नहीं मिलती। किन्तु वि० क० में मित्र वसुभूति सनत्कुमार का मार्गप्रदर्शन करता है तथा प्रेमाभिर्व्यंजना ही काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। धार्मिक अंश तो सब से अन्त में तथा अन्य कथाकाव्यों की अपेक्षा बहुत ही कम मिलता है। वस्तुतः अपभ्रंश का यह शुद्ध प्रेमाख्यान है, जिस में धार्मिक वातावरण का उपयोग न हो कर लोकाख्यान की प्रेममूलक प्रवृत्तियों का समावेश देवी संयोग तथा कथाभिप्रायों के साथ हुआ है। प्रेमाख्यानक काव्यों से तुलना करने पर निम्नलिखित बातें अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं कथाकाव्यों में समान रूप से लक्षित होती हैं।

(१) प्रेम कथाओं की भाँति नायक चित्र-दर्शन, रूप-श्रवण या प्रत्यक्ष-दर्शन अथवा पुतली के रूप में उत्कीर्ण नायिक का रूप-दर्शन कर उस के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उमे प्राप्त करने का उपक्रम करते हैं। भ० क० में भविष्यदत्त भविष्यानुष्णा के सौन्दर्य पर विमुग्ध हो राक्षस से युद्ध करने के लिए तत्पर हो जाता है। इसी प्रकार सुमित्रा के निमित्त सिन्धुनरेश से युद्ध कर उसे पराजित करता है। जिनदत्त तो पुतली निमित्त विमलमती के रूप को देख कर उस पर आसक्त हो जाता है। उस का यात्रिक जीवन ही प्रेम और परिणय से भरपूर है। सनत्कुमार विलासवती के प्रेम में पड़ कर अनेक आपत्तियों को झेलता है और संयोग होने पर भी बार-बार वियोगजन्य दुःख का अनुभव उसे करना पड़ता है। किन्तु दोनों का सच्चा प्रेम अन्त में यथार्थ रूप में परिणत हो जाता है और दोनों का संयोग हो जाता है। इसी प्रकार श्रीपाल कई प्रकार के देवी संयोग तथा पुण्य के प्रभाव से रत्नमंजूषा का पाणिग्रहण करता है और उस से वियुक्त होता है पर अन्त में फिर संयोग हो जाता है।

(२) इन सभी कथाओं में नायक सिंहलद्वीप की यात्रा करते हैं। जान पड़ता है कि सिंहल की यात्रा एक लोक प्रचलित रूढ़ि थी, जो मध्ययुगीन काव्यों में रूढ़-सी हो गयी थी।

(३) इस यात्रा में नायक को सम्पत्ति और स्त्री दोनों का अपूर्व लाभ होता है। किन्तु दुर्भाग्य से पोत भग्न होने से या साथ के प्रमुख जन के छल से नायक समुद्र में गिर जाता है और काष्ठफलक के सहारे समुद्र को पार करता हुआ दिखाया जाता है।

(४) देवी संयोग तथा अतिलौकिक बातों का समावेश दोनों में मिलता है।

(५) भ० क० और पदमावत का उत्तरार्द्ध भाग किसी ऐतिहासिक घटना से सम्बद्ध है, जिस में नायक को नायिका की रक्षा एवं प्राप्ति के लिए युद्ध करना पड़ता है।

(६) इन सभी कथाओं में गार्हस्थ्य अवस्था में परिपुष्ट प्रेम के दर्शन नहीं होते; क्योंकि कथा-चक्र संयोग या वियोग से आरम्भ हो कर संयोग में परिपूर्ण हो जाता है। उस के अनन्तर की घटना ऊपर से चिपकायी हुई जान पड़ती है, जिस में नगर में मुनि-राज का आगमन और नायक का पुत्र को राजगद्दी सौंप कर मुनिव्रत धारण करने का विवरण तथा तपस्या कर स्वर्ग या निर्वाण-प्राप्ति का उल्लेख रहता है। अतएव गार्हस्थ्यक

प्रेम की विवृति न होकर राग-विरागमयी मधुर भावनाओं का कल्पनात्मक वर्णन तथा संयोग और वियोग की भूमिकाओं का अनुभूतिपूर्ण चित्रण लक्षित होता है। भ० क० में अवश्य कमलधरी का चरित्र गार्हस्थ्य दशा के सच्चे एवं पवित्र प्रेम से ओतप्रोत है। प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से अपभ्रंश और हिन्दी के तथाकथित चरितकाव्यों में अत्यन्त साम्य है। वस्तुतः हिन्दी के अधिकतर प्रेमाख्यानक एवं सूफी काव्य कथाकाव्य हैं, जो अपभ्रंश की लोक-परम्परा से प्रभावित रहे हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धों के दो प्रकार माने हैं^१—व्यक्तिप्रधान और घटनाप्रधान। व्यक्तिप्रधान प्रबन्ध में नायक के जीवन की सम्पूर्ण मुख्य घटनाएँ वर्णित रहती हैं। अतएव संघटना की दृष्टि से आ० आनन्दवर्धन इसे सकलकथा कहते हैं,^२ और आ० हेमचन्द्र चरितकाव्य^३। यद्यार्थ में अपभ्रंश के कथाकाव्य तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं सूफी काव्य कथाकाव्य कहे जा सकते हैं; जिन में कार्य किसी मुख्य घटना से सम्बन्धित होता है और इसलिए वे सब घटनाप्रधान प्रबन्धों के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि संस्कृत में बुद्धचरित (अश्वघोष), चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दी), धर्मशर्माभ्युदय (हरिवन्द), कुमारपाल चरित (हेमचन्द्र), नैषधीयचरित (हर्ष), रघुवंश (कालिदास), रामचरित, विक्रमाकदेवचरित तथा श्रीकण्ठ-चरित आदि चरितकाव्य और शिशुपाल वध, जानकीहरण (कुमारदास), दशग्रीववध (मार्कण्डेय मिश्र) तथा शिव-परिणय आदि घटनामूलक प्रबन्धकाव्य हैं। किन्तु संस्कृत के इन घटनाप्रबन्धों को हम कथाकाव्य नहीं कह सकते। क्योंकि प्रबन्ध में घटना या व्यक्ति को प्रधान रूप में चित्रित करना प्रबन्ध रचना से सम्बन्धित है। अतएव अपभ्रंश और हिन्दी के मधुमालती, मृगावती, पदमावत आदि काव्य समान रूप से घटना-प्रधान हैं, जो कथाकाव्य की कोटि में आते हैं। क्योंकि वस्तु, प्रबन्ध-रचना और शैली की दृष्टि से दोनों में बहुत कुछ साम्य लक्षित होता है। निम्नलिखित बातों में दोनों में समानता देखी जाती है—

(१) अपभ्रंश और हिन्दी के उक्त कथाकाव्य लोक-कथाओं के आधार पर लिखे गये हैं। अतएव अधिकतर कथाएँ आज भी गाँवों में सुनी जा सकती हैं, जिन में कई प्रकार के रूपान्तर प्राप्त होते हैं। पदमावत की कथा भी मूल रूप में लोककथा है।^४

(२) वस्तु की भाँति वर्णन में लोक प्रचलित उपमानों, लोकोक्तियों, सूक्तियों और देशी शब्दों का प्राधान्य कथाकाव्यों में निहित रहता है।

(३) कही-कही वर्णनों में ऐसा जान पड़ता है मानो आपस में बैठ कर बातें कर रहे हों।

(४) संवादों में बोलचाल के रूपों की स्पष्ट झलक मिलती है।

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी—ग्रन्थावली, पृ० ७१।

२ आ० आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, ३, ७।

३ आ० हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, आठवीं अध्याय।

४, रवीन्द्र 'भ्रमर' : 'पदमावत की कथा का लोक-रूप, आलोचना, वर्ष ४, पृ० ३८-४४।

(५) कथाओं के माध्यम से उपदेश देना सामान्य रूप से इन कथाकाव्यों का उद्देश्य है। अतएव दोनों प्रकार के कथाकाव्यों में वस्तु सोद्देश्य नियोजित रहती है।

(६) लोक-वार्ताओं की सरल और संक्षिप्त शैली दोनों में देखी जाती है।

(७) दोनों में ही कथानक-रूढ़ियों और किन्हीं साहित्यिक रूढ़ियों का पालन मिलता है।

(८) दोनों ही कड़वकबन्ध या उस से मिलते-जुलते छन्दों की रचना विशेष में लिखे गये हैं।

(९) दोनों में ही नायिका का नख-शिख-वर्णन, कामावस्थाओं का वर्णन, विरह की तीव्रता, आदर्श प्रेम की व्यंजना, दूती द्वारा प्रणय-निवेदन, स्त्री-भेद, वन-विहार और कामक्रीडा आदि के वर्णन में रीतिकालीन प्रवृत्तियों के बीज दिखाई पड़ते हैं।

(१०) कथा में औत्सुध्य, जिज्ञासा, कुतूहल, दैवीसंयोग आदि कहानियों में पायी जाने वाली सामान्य बातें उक्त दोनों भाषाओं के कथाकाव्यों में मिलती हैं।

(११) सामाजिक रीति-पद्धति एवं लोकाचार का दोनों में उल्लेख मिलता है; जैसे कि— छट्टी, नामकरण, बरात, विवाह, देवी-देवता-पूजन, इत्यादि।

(१२) दोनों में लोक-कथाओं के सामान्य अभिप्राय (Motives) निहित रहते हैं, जिन्हे देख कर सरलता से लोककथा का पता लग जाता है।

इस प्रकार सामान्य रूप से जहाँ अपभ्रंश और हिन्दी के कथाकाव्यों में समानता दिखाई देती है, वही कुछ बातों में अन्तर भी है। निम्नलिखित बातों में दोनों में भेद लक्षित होता है—

(१) हिन्दी की प्रेमाख्यानक एवं सूफी कथाएँ रूपक-कथाएँ कही जाती हैं, पर अपभ्रंश की कथाएँ सामान्य कथाएँ हैं।

(२) अपभ्रंश के कथाकाव्य सन्धियों में निबद्ध है, किन्तु सूफी एवं प्रेमाख्यानक खण्डों में विभक्त है। वस्तुतः ये खण्ड छोटी-छोटी सन्धियों की भाँति हैं, जिन का नाम खण्ड में वर्णित विषय के आधार पर रखा गया है। अपभ्रंश के पठमचरित और महापुराण आदि में इस प्रकार की अनेक सन्धियाँ हैं, जो निश्चय ही आकार में इन से बड़ी हैं।

(३) सूफी एवं प्रेमाख्यानक काव्यों की भाँति अपभ्रंश के कथाकाव्यों में प्रेम की अलौकिक व्यंजना नहीं मिलती।

(४) जायसी के पदमावत की भाँति विरह की अतिशय तीव्रता एवं अलिल सृष्टि के साथ उस की करुण एवं मार्मिक व्यंजना अपभ्रंश के कथाकाव्यों में नहीं है। वास्तव में यह सूफी प्रभाव है, जो मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में ही विशेष रूप से निहित है।

(५) पदमावत की भाँति समासोक्ति-पद्धति किसी भी कथाकाव्य में नहीं मिलती। क्योंकि अपभ्रंशकथा लेखकों का उद्देश्य गूढ़ अभिव्यंजना न कर किसी तथ्य का उद्घाटन कर उस का प्रभाव एवं चमत्कार दर्शाना था।

(६) सोद्देश्य वस्तु-रचना होने पर भी दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। साधारणतया दोनों ही अपनी-अपनी मान्यताओं का प्रचार साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से करना चाहते थे। इस लिए दोनों में बुरे प्रयोजन मिलते हैं।

इस प्रकार दोनों में अन्तर होते हुए भी कई बातें समान हैं। कथा में पृष्ठ-पावती (दुखहरनदास) और वि० क० में बहुत कुछ समानता मिलती है। इसी प्रकार पदमावत तथा जि० क०, भ० क० और सि० क० तथा अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों की घटनाओं में किन्हीं बातों में साम्य दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों की भाँति सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्यों में कथा-तत्त्व, साहसिक-रोमांचक तत्त्व घटनाओं में विविध मोड़ और बाह्य-आन्तरिक जीवन में संघर्ष देखा जाता है। इन सभी काव्यों का पर्यवसान शान्त रस में लक्षित होता है। डॉ० सिंह के शब्दों में पदमावत में प्रबन्ध-काव्य, कथा-आख्यायिका और धर्मकथा तीनों ही के तत्त्वों का समन्वय हुआ है। चरित-काव्यों के (कथाकाव्य के) समान ही उस में अलौकिक, अतिमानवीय शक्तियों तथा साहसिक कार्यों की योजना, अनेक कथानक रुढ़ियाँ, प्रेम, वीरता और वैराग्य का सुन्दर समन्वय मिलता है^१। इसी प्रकार अन्य प्रेमाख्यानक काव्य तथा कुतुबन की मृगावती बिलकुल मौलिक रचनाएँ नहीं हैं। उन के रचना-स्रोत अपभ्रंश-साहित्य में ढूँढ़े जा सकते हैं^२। वास्तव में इस प्रकार की कथा-कहानियाँ बर्षों से ही नहीं शताब्दियों से भारतीय लोक-जीवन में मौखिक रूप से प्रचलित रही हैं। किन्तु साहित्य रूप में निबद्ध हो जाने पर परम्परा तथा प्रभाव के रूप में पूर्ववर्ती साहित्य एवं रचना का बहुत कुछ प्रभाव परवर्ती साहित्य पर पड़ा है, जिसे हम झुठला नहीं सकते। बंगाली कवि दोलत-काजी की सती मायन और लोरचन्द्रानी भी इसी परम्परा की रचनाएँ हैं, जो कथा-काव्य की विधा से समन्वित हैं^३।

यथार्थ में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जननी अपभ्रंश में ही प्रांतीय भाषाओं में लिखी हुई प्रारम्भिक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। प्राचीन बंगला का सिद्ध-साहित्य, गुजराती का रामा-साहित्य, महानुभाव सम्प्रदाय की आदि रचनाएँ तथा पुरानी राजस्थानी में लिखी हुई प्राचीनतम रचनाएँ अपभ्रंश में ही हैं। असमिया में हेम सरस्वती विरचित 'प्रह्लादचरित' चौदहवीं शताब्दी की अपभ्रंश मिश्रित प्रथम रचना मानी जाती है। इसी प्रकार मराठी के प्रबन्धकाव्य भक्तिरसप्रधान कथाकाव्य कहे जाते हैं^४। इन सभी प्रबन्धकाव्यों की सामान्य विशेषता है—अपभ्रंश के कथाकाव्यों की भाँति संस्कृत की शास्त्रीय शैली से हट कर लोक-भाषा, लोक-शैली में कथा के लगभग सभी तत्त्वों का सुन्दर विनियोग कर कथाकाव्य के रूप में प्रबन्ध-रचना।

१. डॉ० सम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४०६।

२. स० सत्येन्द्रनाथ घोषाल : विश्वभारती एनर्स, जिल्ड ६, जून १९६६, पृ० ६६।

३. व. जर्नल ऑन द विश्वभारती स्टडी सर्फिल, जिल्ड १, अंक १, १९६६, पृ० ३८।

४. प्रो० भी० गो० बेंशपाण्डे : मराठी का भक्ति-साहित्य, पृ० २२६।

संस्कृत-काव्यों का प्रभाव

अपभ्रंश-कथा-काव्यों पर संस्कृत के प्राचीन काव्यों का परम्परागत रूप में थोड़ा-बहुत प्रभाव लक्षित होता है। कुछ बातें प्रबन्धकाव्य में रुढ़ि के रूप में प्रयुक्त हैं; उदाहरण के लिए—मंगलाचरण, आत्मविनय-प्रदर्शन, नगर की स्वर्ग का एक खण्ड कहना तथा वन-वर्णन में वनस्पति तथा वृक्षों के नाम गिनाना, इत्यादि। अतएव संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों में ये वर्णन स्वाभाविक हैं। इस प्रकार के वर्णन निम्नलिखित हैं—

आत्म विनय-प्रदर्शन—

मन्दः कवियस्य प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।

प्राशुल्यमे फले लोभादुद्वाहुरिव वामनः ॥रघुवंश, १,३।

बुहयण सयम्भु पई विण्णवइ मई सरिसउ अण्णु णाहि कुकइ ।

पउमचरिउ, १,३,१ ।

बुहयण सम्भालमि तुम्ह तित्थु

हउं मन्दबुद्धि णिग्गुणु णिरत्थु । भ० क०, १,२ ।

पयसमत्ति किरिया विससया

सन्धिछन्दु वायरण भासया ।

देसमासु लक्षणु ण तक्कउ

मुणमि णेव आयहि गुरुक्कउ । जि० क०, १,६ ।

हउ अखउ जिणदत्तपुराणु

पड्डिउन लक्खण छन्द वखाणु । जि० चउ०, १,२० ।

लक्खणु ण मुणमि णवि छन्दभेउ

किह करउ कहत्तणु एवमेउ । सत्तवसणकहा ।

सहासदुदु विससयस लक्खणु णउ जाणेमि छन्दुवि सालंकार तह विट्ठिम कम्बु करेमि ।

मयणपराजयचरिउ (हरिदेव), १,३

छन्दालंकार न बुजिजयउ

निग्गण्टु तक्कु दूरज्जियउ । पासणाहचरिउ (देवदत्त)

नगर-वर्णन—

इसी प्रकार नगर-वर्णन में उस की कल्पना स्वर्ग से करना या उसे स्वर्ग का एक खण्ड बताना—संस्कृत के महाकवि वाल्मीकि तथा कालिदास की भाँति अपभ्रंश-काव्यों को अत्यन्त प्रिय है ।

स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणा गा गताना ।

शेषः पुण्यहंतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ॥ मेघदूत, १,३० ।

पट्टणु पइसरिय जं धवल बरालंकरियउ ।

केण वि कारणेण णं सम्गखंडु ओयरिउ ॥रिट्ठणेमिचरिउ, २८,४ ।

वर गेय रवाउलु रहस मुराउलु महिहि सग्गु नं अवयरिउ । पउमसिरीचरिउ, १,२ ।

तहि गयउरु णाउ पट्टणु जण जणियच्छरिउ ।

णं गयणु मुएवि सम्गखंडु महि अवयरिउ ॥भ० क०, १,५ ।

अवयरिउ णाई पच्चक्खु सग्गु जोइउ सुरिक्खु सुमुहुत्तु लग्गु । वही, १, ९ ।
 धरणिहि अवइ लह जणह सउन्नहं सयग्गखंडु नावइ खसिउ । वि० क०, ११, ३ ।
 बलिबंड धरन्तहं सुरवरहं अमरावइ णं खसि पडिय । सि० क०, १, ४ ।
 पामरि धरणि अकासहि चडो जणु जणु चइ छुटि सग्ग ते पडो । जि० चउ०, २१ ।
 राजघाणु किमु करि वणियइ पच्चक्खु सग्गु खंडु जाणियइ । वही, ४० ।

वन-वर्णन—

वन-वर्णन में परिगणनात्मकता वाल्मीकि रामायण की भाँति पउमचरित, भ० क०, वि० क०, जि० क०, जि० चउ० और भ० च० आदि में दृष्टिगत होता है । इसी प्रकार वाल्मीकिरामायण और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास की 'रामचन्द्रिका' की भाँति भ० क० में भविष्यदत्त पहले माँ को उपदेश देता है और फिर माँ भविष्यदत्त को शिक्षा देती है (भ० क० ३, १७) । कहीं-कहीं अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों को पढ़ते-पढ़ते संस्कृत के काव्यो जैसा आनन्द मिलने लगता है । और ऐसे वर्णनो को देख कर यह बात बार-बार मन में उठती है कि सम्भवतः संस्कृत के काव्यो को किसी-किसी कवि ने पढ़ा या सुना अवश्य होगा । अतएव रामायण की भाँति विलासवती को विद्याधर की वाटिका में सहकार के वृक्ष के तले अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई सीता की भाँति चित्रित करना, रघुवंश के तेरहवें सर्ग में श्रीरामचन्द्र द्वारा प्रदर्शित मार्गस्थित वन-पर्वत आदि के स्मृति रूप में वर्णन जैसा ही भ० च० में विबुध श्रीधर का वर्णन करना तथा वि० क० में अभिज्ञानशाकुन्तल की भाँति तपोवन का वर्णन करना, तापसी द्वारा सनत्कुमार और विलासवती का मिलाप होना एवं लता-कुंजो में क्रीड़ा करना, इत्यादि वर्णनो में संस्कृत के प्राचीन कवियों की रचनाओ की कुछ न कुछ झलक अवश्य मिलती है । अतएव पढ़ते ही संस्कृत के उक्त ग्रन्थो में वर्णित दृश्य एवं वातावरण का चित्र आँखों के सामने झूलने लगता है । सम्भव है प्राकृत के प्राचीन प्रबन्ध काव्यों में अथवा तरंगलीला, तरंगवती, वत्सरात्र, सद्यवत्स आदि कथाओ में इस प्रकार के वर्णन तथा चरित्र अंकित हो । वस्तुतः संस्कृत के अन्य कवियों की अपेक्षा महाकवि कालिदास की रचनाओ का प्रभाव अपभ्रंश-काव्यों पर देखा जा सकता है । 'पउमचरित' पर भी कहीं-कहीं कालिदास की रचनाओ का प्रभाव दिखाई पड़ता है ।

तुलना कीजिए—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिवरा सा ।

नरेन्द्रमार्गट्टि इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ रघुवंश, ६, ६५ ।

पुर उज्जोवन्तिय दीवि जेम, पच्छइ अन्धाह करन्ति तेम ।

णं सिद्धि कुमुणिवर परिहरन्ति, दुग्गन्ध रुक्ख णं भमरपन्ति । प० च० ७, ३, ८-९ ।

‘दीपशिखा’ वाली कल्पना दोनों में समान है। उक्त उपमा के कारण कालिदास का उपनाम दीपशिखा कहा जाता है। अतएव कालिदास की यह मौलिक कल्पना मानी गयी है।

भ० क० में ‘कुमारसंभव’ के एक श्लोक का भाव-साम्य निम्नलिखित रूप में मिलता है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः । १,५९ ।

जुवणवियाररसवसपसरि सो सूरउ सो पंडियउ ।

चलमम्मणवयणुल्लावइहि जो परतिपहि ण खंडियउ ॥ भ० क०, ३, १८ ।

इसी प्रकार का भाव एक प्राकृत गाथा में भी मिलता है। वि० क० में वर्णित सागर वर्णन की तुलना रघुवंश के तेरहवें सर्ग में वर्णित समुद्र के चित्रण से की जा सकती है।^१ इसी प्रकार निम्नलिखित उक्ति में समानता ढूँढी जा सकती है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः । रघुवंश, ८, ८७ ।

सुट्टइ जीविज्जइ जेम णवि तेम अस्तुट्टइ णवि मरणु । भ० क०, ३, १२ ।

मेघदूत की भांति कही-कही लाक्षणिक प्रयोग भी लक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए—

त्वय्यायत्तं कृपिकलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।

आसीसिउ तउ तियहि तरुणिगणखणल्लिणालि अंचिउ । जि० क०, ३, २ ।

कटि की कुशता का वर्णन कई काव्यों में समान रूप से वर्णित है। यथा—

समचक्षकल कडियलु किमु मज्जसउ णज्जइ करयलु मुट्ठहि गिज्जसउ । भ० क० ५, ९

जंघजुयल कदली ऊपरइ तामु लोक मूठिहि माइयइ । जि० चउ०

मिलाइए—

उदरं नतमध्यपृष्ठता स्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना ।

चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गता त्रिबलिभ्राजि कुतं दमस्वसुः ॥ नैषध, २, ३४ ।

इसी प्रकार—

जो भक्खइ मंमु तामु कहिमि किं होइ दय । भ० क०, १, ३

कामलुब्धे कुतो लज्जा, अर्यहोने कुतः क्रिया ।

मद्यपाने कुतः शीघ्र, मासमध्ये कुतो दया ॥

तथा—

जाहे चरण सारुण बइ कोमल, पेच्छिबि जले पट्ट रत्तुप्पल । (मु० च०)

तुलना कीजिए—

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरं । (हनुमन्नाटक ५, ६४)

१. देखिए—वि० क०, ३, १ । रघुवंश, १३, ११-१२ ।

इस प्रकार कई स्थल संस्कृत के काव्यों में वर्णित भावों में तथा वर्णन-शैली में समान लक्षित होते हैं। किन्तु समूचे प्रभाव को समझ लेने पर यह निश्चय कर लेना कठिन-सा प्रतीत होता है कि वस्तुतः अपभ्रंश के उक्त कवियों ने संस्कृत-साहित्य का अनुशीलन कर प्रभाव रूप में उस से ग्रहण किया था। सम्भव है कि प्राकृत-साहित्य से या परम्परा के रूप में अनुभूति से ये कथाकाव्य प्रभावित रहे हों। क्योंकि वि० क० और श्रीपालकथा को ध्यान से देखने पर यह निश्चय हो जाता है कि प्राकृत-साहित्य के वर्ण्य-विषय को ही नहीं भावों को भी ज्यों का त्यों अपनाया गया है। अतएव कई स्थलों पर सूक्तियाँ, लोकोक्तियाँ तथा भाव-साम्य लक्षित होता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि संस्कृत की साम्यमूलक कुछ बातें सीधी संस्कृत-साहित्य से न आ कर प्राकृत-साहित्य के माध्यम से अपना ली गयी हों। फिर, समानान्तर रूप से लिखा जाने वाला भारतीय साहित्य अपने-अपने क्षेत्रों में एक-दूसरे से थोड़ा-बहुत प्रभावित अवश्य रहा है।

अपभ्रंश-कथाकाव्यों में वर्णन-साम्य

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों तथा कथाकाव्यों में कई स्थलों पर साम्य लक्षित होता है। कहीं-कहीं यह समानता वर्णन तथा शैली में देखी जाती है और कहीं-कहीं भावों में। भ० क० के वियोग-वर्णन तथा प० च० के वियोग-वर्णन की शैली समान है। इसी प्रकार पुष्पदन्त के महापुराण तथा भ० क० के गीतों में एवं गीति शैली में कहीं-कहीं साम्य लक्षित होता है।

उदाहरण के लिए—

मओमलसमार्यग लीलावहारा
फणिदेण चंदेण इंदेण दिट्ठा

रमावासवच्छत्यलोलंतहारा।
पुणो दो वि राया सरंते पइट्ठा।

महापुराण १७, १२।

तुलना कीजिए—

अहो सुंदरं होइ एयं ण कज्जं
गयं णिफलं ताम सव्वं वणिज्जं

अगम्मं पि गंतूण खट्ठं अखज्जं।
हुअं अम्ह गुत्तम्मि लज्जावणिज्जं।

भ० क०, ३, २६।

इसी प्रकार मुनि कनकामर के करकण्डचरित और विबुध श्रीधर के भ० च० के गीतों में शैलीगत साम्य स्पष्ट जान पड़ता है।

इसी प्रकार—

कुंतारं भज्जंति
रहसेण वग्गंति
तं वाट्ठुडंठेण
दिट्ठियाइं तिरियाइं

कुंजरइं गज्जंति
करिदसणे लगंति... करकण्डचरित, ३, १५
कमलसिरिपुत्तेण
बहुडुल्लभिरियाइं... भ० क० (विबुधश्रीधर)

अब कुछ भाव-साम्य विषयक उदाहरण द्रष्टव्य है—

रूप-वर्णन—

णं वम्महभल्लि

विषणसीलजुवाणजणि ।

तहि पिक्खवि कंति

बिभिउ सत्ति कुमार मणि । भ० क०, ५, ८ ।

उन्नयवंसुठभव आसासिय तिहुयण जयहु ।

अहिणवगुणसुंदरि चावलट्टि मयरद्वयहु ॥ पउमसिरिचरिउ, २, ३, ३६ ।

इसी प्रकार प० च० तथा भ० क० में कही-कही स्पष्ट भावों में समानता देखी जाती है ।

धिर कलहंस गमण गह मंघर

किस भज्जारे नियवे सुवित्थर ।

रोमावलि मयरहसतिणी

णं पिपोलि रिछोलि बिलिणी ।

प० च०, ३८, ३, ३ ।

धिर कलहंस लीलमइ गामिणि

जणहो घणहु परिवारहु सामिणि ।

भ० क०, १, १२ ।

रोमावलि बलि अंग विहावइ

धिय पिपोलिरिछोलि व णावइ । बहो, ५, ९ ।

उदाहरण के लिए, निम्नलिखित उद्धरण में रोमावली की कल्पना बीटो की पंक्ति से देने में घनपाल की मौलिकता का प्रकाशन न हो कर परम्परा का पालन मात्र प्रतीत होता है । इसी प्रकार अन्य उदाहरण हैं—

ता भणइं किसोयरि कमलसिरि

ण करमि कमलमुट्ठल्लउ ।

पर सुमरंति हे सुउ होइ मह

फुट्ठु ण मण हियउल्लउ ॥ ३, १६

—भ० क० (विनुष श्रोधर)

हिम्रडा फुट्टु तडत्ति करि कालक्खेवें काइं ।

देक्खउं हय विहि कहि ठवइ पइं विणु दुक्खसयाइं ॥ प्रकीर्णक ।

ते तुव भमउं समउं रइरससुहु सेवताहं वट्टए ।

कुण्णिण मे सरीरि लज्जाहउ हियउ तडत्ति न फुट्टए ॥ जि० क०, ४, २५ ।

ओसहु निरु मिट्ठं विज्जुवइट्ठं अहु जण कामु न होइ पिउ । पउमसिरिचरिउ २, ७ ।

सविणउ भणइं काइं किर वुच्चइ ओसहु गुलियउ कामु ण रुच्चइ ।

—भ० क० (घनपाल), ३, १४ ।

इसी प्रकार समुद्र की पुरुष रूप में कल्पना भी घनपाल की निजी मौलिकता नहीं है । संस्कृत के प्राचीन साहित्य में समुद्र का अत्यन्त विस्तृत वर्णन मिलता है, जिस में धीर, गम्भीर पुरुष या महापुरुष के रूप में कल्पना की गयी है ।

नाभिप्रसूडाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।

अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिषेते ॥ रघुवंश, १३, ६ ।

आयुष्मन्निति बहुविस्मयो यमग्निः सद्रत्नः सकलजगज्जनोपबोध्यः ।

गम्भीरप्रकृतिरनलसत्त्वयोगः प्रायस्त्वामनुहरते विना जडिम्ना ॥

—महापुराण (जिनसेन) २८, २०२ ।

लम्बिल उ समुद्रु जललवगहीरु सप्पुरिसु व धिर गंभीरु धीरु ।

—भ० क०, ३, २२ ।

डॉ० भायाणी ने प० च० और भ० क० की तुलना करते हुए रचना के प्रारम्भिक अंश पर स्पष्टतया स्वयम्भू का प्रभाव दर्शाया है । (पदमचरित की भूमिका, पृ० ३६-३७) । भ० क० पर विबुध श्रीधर के अपभ्रंशकाव्य भ० च० का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है ।

जो पुण्णेण रहिउ सिरि चाहइ सो धणेण विणु सत्तु पसाहइ ।

—भ० क०, विबुध श्रीधर, २, १९ ।

अह णिडणु जणि सोहइ ण कोइ धणुसंपय विणु पुण्णहि ण होइ ।

—भ० क० (धनपाल), १, २ ।

उदाहरण के लिए—भूपाल के पूर्व कुरुजंगल देश में राजा मेघेश्वर का उल्लेख करना तथा नगर, शरणा आदि के वर्णनो में कहीं-कहीं साम्य लक्षित होता है ।

भ० क० का अपभ्रंश की परवर्ती रचनाओं पर प्रभाव

धनपाल की भ० क० पर जहाँ प्राचीन संस्कृत तथा अपभ्रंश कवियों की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है, वहीं अपभ्रंश तथा हिन्दी की परवर्ती रचनाओं पर धनपाल की उक्त रचना का प्रभाव लक्षित होता है । निम्नलिखित उदाहरणों में स्पष्टतया भावो का साम्य द्रष्टव्य है—

जसु जित्तिउ बुद्धिवियासु होइ सो तित्तिउ पयाइइ मच्चलोइ ।

भ० क०, १, २ ।

जसु जेत्तिउ मइ पसर पवट्टइ सो तेत्तिउ धरणिपले पयट्टइ ।

—बाहुबलिचरित, १, ९ (द्वितीय धनपाल)

इक्खहु णामि फलु संवज्झइ किं अंबइ आमलउ णिवज्झइ ।

जो उततणइं अमि उप्पण्णउं तासु सरीर होइ किं दुण्णउं । २, ३ ।

पाउ करहि सुहु अहिलसहि पर सिविणेवि ण होइ ।

माइणिण्ये बाइयइं अंब किं इक्खइ कोइ ॥ आवकाचार, १६ ।

पिक्खिवि अइरावइ गुल्लुगुल्लु किं इयरहत्ति मा मउ करंतु ।

भ० क०, १, २ ।

जइ अइरावइ भत्तो ता सेसगया म मच्चंतु । सन्देशरासक, १, ११ ।

महकव्व इहु ताह तणिय किर कवण कह ।

किं उइय मयंकि जोइगणउ म करउ पह ॥ भ० क०, १, २ ।

अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइयं ससहरेण णिसिम्मए ।

ता किं णहु जोइजइ भुण्णे रयणीसु जोइक्खं ॥ सन्देशरासक, १, ८ ।

जसु जित्तिउ वुद्धिवियासु होइ सो तित्तउ पयाइइ मच्चलोइ । भ० क० १, २

जा जस्स कम्मसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा । सन्देशरासक, १, १७ ।

समुद्र-यात्रा के वर्णन में कई स्थल पं० रघू की श्रीपालकथा में पं० नरसेन की सि० क० और जि० क० से तुलना करवे पर बहुत कुछ समान मिलते हैं । इसी प्रकार नगर-वर्णन में भी कुछ-कुछ साम्य लक्षित होता है । वन या उद्यान-वर्णन में अपभ्रंश कथा-काव्यों में तथा धर्मपरीक्षा में परिगणनात्मक प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है । भ० क० में भी यह परम्परा तथा कवि के रूप में मिलती है । अतएव कुछ बातों में साम्य होने पर भी निश्चय रूप से प० च० तथा महापुराण का जितना प्रभाव परवर्ती अपभ्रंश काव्यों पर पड़ा है; उतना भविसयत्तकहा का नहीं । क्योंकि भ० क० के प्रारम्भिक कुछ कवकों में तो अवश्य पौराणिक शैली लक्षित होती है; किन्तु शेष भाग शास्त्रीय शैली से निर्बन्ध हो कर लिखा गया है । अतएव लोक-कथाओं में प्रचलित बातों तथा प्रबन्ध-रचना की विभिन्न प्रवृत्तियों का लोक-शैली में वर्णन इस काव्य की मुख्य विशेषता है । और इसी लिए भ० क० में कई मधुर गीतों की रचना मिलती है ।

अपभ्रंश कथाकाव्यों का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

अपभ्रंश कथाकाव्य तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की कथावस्तु की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों प्रकार के काव्यों की वस्तु में बहुत कुछ साम्य है । केवल दोनों के उद्देश्य विशेष में अन्तर है । अतएव कथा के वर्णन में तथा घटनाओं के मोड़ में और चरित्र-चित्रण में भेद लक्षित होता है । किन्तु कथा-प्रकार में, प्रबन्ध-रचना में तथा शैली में हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं सूफी काव्यों पर अपभ्रंश के कथाकाव्यों का प्रभाव दिखाई पड़ता है । अतएव कथानक रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों में अद्भुत साम्य है । इसी प्रकार कामावस्थाओं, स्त्री-भेद, नवशिक्ष-वर्णन आदि सभी रीतिकालिक प्रवृत्तियों का दोनों में समावेश मिलता है ।

यद्यपि हिन्दी के सूफी काव्यों में सज्जन-दुर्जन-वर्णन, आत्मविनय-प्रदर्शन तथा काव्य की प्रेरणा आदि काव्य-रूढ़ियों का पालन नहीं हुआ है, किन्तु मंगलाचरण, आत्म-परिचय तथा कथा-रचना का उद्देश्य एवं गुह्य-परम्परा का निर्देश प्रेमाख्यानों में मिलता है । इसी प्रकार अपभ्रंश कथाकाव्य की भाँति प्रेमाख्यानक काव्यों में कहीं-कहीं कथा की प्राचीनता का उल्लेख देखा जाता है । यही नहीं, कई कथाएँ साम्प्रदायिक मत

एवं बादों से रहित शुद्ध प्रेमकथाएँ कही जा सकती हैं; जिन में प्रेम के अलौकिक रूप का वर्णन न हो कर लोक प्रचलित यथार्थ प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः आरम्भिक सूफी कवि उदार तथा लोकयुगीन प्रवृत्तियों से प्रभावित थे। किन्तु परवर्ती काल में भारतीय जीवन की लोक-कथाओं को अपनाकर सूफी कवियों ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहा था। परन्तु जान कवि के अधिकांश ग्रन्थ सूफी विचार-पद्धति तथा प्रेमोत्कर्ष से रहित प्रेमाख्यानक काव्य है। इतना ही नहीं, जान कवि की इन रचनाओं में मसनवी की परम्परा का पालन भी नहीं हुआ है।^१ यथार्थ में, भारतीय साहित्य में अधिकतर प्रेमकथाएँ अपने-अपने मत का प्रचार करने के लिए विभिन्न सन्तकवियों के द्वारा लिखी जाती रही हैं, क्योंकि मनोरंजन तथा प्रभाव की दृष्टि से इन कथाकाव्यों का अत्यन्त महत्त्व है। और इसी लिए इन कथाओं में सामाजिक अभिप्राय तथा सामान्य विश्वास निहित भलीभाँति है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जिन कथानक-रूढ़ियों का उल्लेख किया है, उन में से अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं कथाकाव्यों में निम्नलिखित रूढ़ियों का समावेश मिलता है^२—

(१) चित्र या पुतली में किसी सुन्दरी को देख कर उस पर मोहित हो जाना, (२) रूप-परिवर्तन, (३) नायक का औदार्य, (४) उजाड़ नगरी, (५) विजन वन में सुन्दरी से साक्षात्कार, (६) शत्रु से युद्ध कर या मत्त हाथी को वश में करने पर सुन्दरी से प्रेम या विवाह, (७) जल की खोज में जाने पर प्रिया-वियोग और ऋषि, विद्याधर या असुर का दर्शन, इत्यादि।

इसी प्रकार विवाह के पूर्व नायिका-प्राप्ति का प्रयत्न तथा लौकिक और दैवी बाधाओं की योजना अपभ्रंश और हिन्दी के लगभग सभी प्रबन्ध काव्यों में मिलती है।^३ सिंहलद्वीप की यात्रा का वर्णन भी अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यों में तथा हिन्दी के लगभग सभी प्रेमाख्यानक काव्यों में हुआ है। और समुद्र में जहाज के भग्न होने तथा नायक-नायिका के बिछूड़ने की घटना भी समान रूप से वर्णित मिलती है।

प्रायः सूफी प्रबन्धकाव्यों की कथा का अन्त संयोगमूलक दुस्मान्त होता है। किन्तु कवि मंशन, जान, उसमान, नूरमुहम्मद, ख्वाजा अहमद और शेख रहीम की अधिकतर रचनाएँ सुखान्त हैं।^४ अपभ्रंश के कथाकाव्यों में भी बिरह की तीव्रता के पश्चात् संयोग तथा लौकिक सुख का वर्णन मिलता है। इस लिए वियोग सभी कथाकाव्यों में अनिवार्य रूप से वर्णित है। प्रेमाख्यानक कथाकाव्यों में तो प्रेम एवं वियोग ही मुख्य हैं। इस प्रकार अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में कई बातें समान रूप से वर्णित लक्षित होती हैं, जिन में से कुछ निम्नलिखित हैं—

१. वही, पृ० २७७।

२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव, पृ० ८०-८१।

३. डॉ० सरला शुक्ल जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० १७९।

४. वही, पृ० २८६।

(१) घनपाल की भविष्यदत्तकथा और जायसी के पदमावत का पूर्वार्द्ध भाग लोककथा है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक जान पड़ता है।^१ दोनों ही प्रबन्धकाव्य दो खण्डों में विभक्त हैं। विषय भी लगभग दोनों में समान है—अभिप्राय की दृष्टि से मूल रूप में।

(२) विरह-वर्णन, नखशिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन और कामदशाओं आदि के वर्णन में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का उदय स्पष्ट रूप से देखा जाता है।

(३) साहसिक कार्यों तथा अतिमानवीय बातों का समावेश दोनों में मिलता है।

(४) साहित्यिक रुझानों का भी किसी-किसी ने पालन किया है।

(५) प्रबन्ध-संघटना में भी कहीं-कहीं साम्य है।

(६) लगभग सभी सूफी एवं प्रेमाख्यानक काव्य चौपाई-दोहायुक्त शैली में लिखे गये हैं, जो अपभ्रंश की कड़वक शैली का परवर्ती रूप है।

(७) देश्य शब्दों, लोकोक्तियों, मुहावरों आदि का प्रचुर प्रयोग दोनों में मिलता है। लोक-जीवन की अनेक बातों में समानता होने से दोनों में बहुत कम अन्तर दिखाई पड़ता है।

सूफी-काव्य रचयिताओं ने अधिकांश दोहा-चौपाई के क्रम से काव्य-रचना की है तथा चौपाइयों के क्रम में विशेष कर पाँच चौपाइयों से ले कर सात या नौ तक के अन्तर में दोहा रखा है। मंसनकृत मधुमालती, जान कवि विरचित रतनमंजरी, और नूरमुहम्मद कृत इन्द्रावती में पाँच अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम मिलता है। इसी प्रकार उसमान रचित चित्रावली में, कासिमशाह कृत हंसजवाहिर में तथा कवि नसीरकृत प्रेमदर्पण में सात अर्द्धालियों के अनन्तर एक दोहे का क्रम दृष्टिगोचर होता है। और हुसेनअली रचित पुठुपावती में तथा कवि शेख निसारकृत यूसुफजुलैला में नौ अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहे के क्रम से रचना हुई है। किन्तु जान कवि कृत कामलता में चौपाई छन्द ही मिलता है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में सामान्यतः चार पदद्विया छन्द से ले कर पन्द्रह, सोलह तथा किसी में बीस छन्द और द्विपदी या तत्सम किसी अन्य छन्द-योजना का क्रम देखा जाता है। किन्तु अधिकतर पाँच या छह पद-द्विया छन्द के बाद द्विपदी का क्रम प्राप्त होता है। अतएव रचना-बन्ध की यह शैली निश्चित ही अपभ्रंश से परम्परा के रूप में हिन्दी-प्रबन्धकाव्यों को प्राप्त हुई है, जिस का परवर्ती रूप हमें जायसी के पदमावत और रामचरितमानस में लक्षित होता है। इसी प्रकार चौपाई बन्ध की स्वतन्त्र शैली अपभ्रंश से ही हिन्दी को मिली है। कवि रत्न कृत 'जिनदत्तचउपई' लगभग छह सौ चौपाइयों में निबद्ध रचना है। सम्पूर्ण रचना चौपाइयों में लिखी हुई मिलती है, जो अपभ्रंश के कथाकाव्य के अन्तर्गत परिगणित है।

१. रवीन्द्र धर्मर : 'पदमावत की कथा का लोक-रूप' आलोचना, वर्ष ४, अंक ४, पृ० ३८-४४।

२. डॉ० सरला शुक्ल : जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० २७०।

३. वही, पृ० ३६३।

शैली की भाँति सूफी एवं प्रेमास्थानक काव्यों पर अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में वर्णित छन्दों का प्रभाव देखा जाता है। स्पष्ट ही सत्यवती-कथा, मृगावती, नृकचन्दा, मैनासत, छिताईचरित, मधुमालती आदि प्रबन्धकाव्य चौपाई और दोहा में लिखे गये हैं।^१ इसी प्रकार मधुमालती, बिजावली, पुहुपवरिषा, रतनमंजरी, कंबलावती, लैला-मँजून, कलावती, हसजवाहिर, इन्दावती, अनुरागबाँसुरी, पुहुपावती, यूसुफजुलेखा, भाषा प्रेमरस तथा प्रेम दर्पण आदि में चौपाई-दोहा की योजना मिलती है। पदमावत और रामचरितमानस तो सर्वविदित ही हैं। वस्तुतः अपभ्रंश के कथाकाव्यों में पद्धड़िया छन्द के साथ द्विपदी या उस के आकार का अथवा अन्य कोई छन्द प्रयुक्त हो सकता था। किन्तु साधारणतया द्विपदी, दोहा या भत्ता छन्द का प्रयोग मिलता है। अतएव अनुरागबाँसुरी में भी चौपाइयों के साथ बरबै का प्रयोग किया गया है।^२ इस से स्पष्ट जान पड़ता है कि अपभ्रंश के कवक में, जिस प्रकार पद्धड़िया के अन्त में द्विपदी या दोहा का प्रचलन रहा है, उसी प्रकार सूफी या प्रेमास्थानक काव्यों में भी चौपाई के अन्त में दोहा या उस की जाति के छन्द का चलन रहा है।

वस्तुतः चौपाई और दोहा अपभ्रंश के मात्रिक छन्द हैं। अपभ्रंश के मूलछन्द मात्रिक ही हैं। हिन्दी के चौपाई, छप्पय, दोहा, रोला, दुमिल, सोरठा, गीत, कुण्ड-लिया, उल्लाला, पद्धड़ी या पद्धरि आदि छन्द निश्चित रूप से प्राकृत के हैं।^३ अतएव रहीम का बरबै, गंग का छप्पय, तुलसीदासकी चौपाई, बिहारी का दोहा तथा सेनापति का कवित्त एवं सबैया प्रभृति हिन्दी के प्रमुख छन्द प्राकृत-अपभ्रंश-धारा में से होकर हिन्दी-साहित्य में समा गये हैं।^४ परवर्ती काल में भारत की अन्य भाषाओं में भी इनमें से कई छन्दों का प्रयोग होने लगा था।

दोहा छन्द अपभ्रंश में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रयुक्त रहा है। दोहा का सब से पहला प्रयोग हमें विक्रमोर्वशीय में मिलता है। जिस प्रकार अर्भंग, दिंडी, साकी और ओबी आदि मराठी के निजी छन्द हैं,^५ उसी प्रकार दोहा, चौपाई, गीता, हरिगीता आदि अपभ्रंश के औरस छन्द हैं। बरबै छन्द में प्रथम और तृतीय चरण में १२-१२ तथा द्वितीय और चतुर्थ में सात-सात मात्राएँ होती हैं। अपभ्रंश में इस से मिलता-जुलठा छन्द भ्रमरावलि है। इस में भी प्रथम चरण में बारह और द्वितीय में सात मात्राएँ होती हैं।^६

यथा—

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४०६।

२. डॉ० सरला शुक्ल : आयसो के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० ४६२।

३. देवेन्द्रकुमार जैन : 'प्राकृतछन्दकोश', हिन्दुस्तानी, भाग २२, अंक ३-४, पृ० ४४।

४. वही, पृ० ४४।

५. 'अर्भंग, दिंडी, साकी, घनाक्षरी, लवाई, छप्पा, ओबी, कटिबन्ध, चूर्णिका ह्याना केवल मराठी छन्द म्हणतात। चिखनाथ काशीनाथ राजवाडे' मराठी छन्द, १८४८, पृ० ३४।

६. समे सप्त ओंजे द्वादश भ्रमरावली। छन्दोऽनुशासन, ६, २०. ६।

और रणसंगत भमइ, भमरावल ।

मयणघणुह गुणवल्लि, णं सामलि ॥

हिन्दी का हरिगीतिका छन्द तो ज्यों का त्यों प्राकृतपैगलम् में हरिगीता नाम से मिलता है ।^१ दोनों में ही अट्टाईस-अट्टाईस मात्राएँ तथा अन्त में गुरु रहता है । इसी प्रकार सोरठा भी ११ और १३ मात्राओं से रचित दोनों में समान रूप से मिलता है ।^२ इस छन्द विषयक समानता को देख कर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश-साहित्य में प्रयुक्त छन्दों का ही हिन्दी-साहित्य में ज्यों का त्यों अथवा कुछ हेर-फेर के साथ प्रयोग हुआ है, जो स्वाभाविक ही है । क्योंकि परम्परा से विकसित कोई भी भाषा या साहित्य यकायक अपने घरातल पर अधिक समय तक स्थिर रहने के लिए साहित्यिक आदर्श एवं मानक-रूपों का आलम्बन ले कर ही समर्थ हो पाता है । और यही कारण है कि प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य भी हमें स्वाभाविक बोलचाल की भाषा में लिखा हुआ नहीं मिलता ।

इस प्रकार प्रबन्ध-शैली तथा रचना की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्यों का विशेष महत्त्व है । जो लोग सूफी काव्यों को मसनवी शैली में लिखा हुआ कहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि प्रबन्ध-संघटना में मंगलाचरण, आत्म-विनय-प्रदर्शन, स्ववंश-कीर्ति, प्राचीन कवियों तथा आचार्यों का उल्लेख आदि प्रबन्ध काव्य की रुढ़ियों का तथा नख-शिल, स्त्री-भेद, दूती द्वारा प्रेम-निवेदन, उपवन-विहार, जल-क्रीड़ा, सिंहलद्वीप की यात्रा तथा कामावस्थाओं का वर्णन एवं वियोग में कौआ उड़ा कर सन्देश भेजना, आदि बातों का पालन अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यों की पद्धति पर हुआ है । और फिर, स्पष्ट रूप से चौपाई-दोहा, चौपाई तथा गीत शैली का स्वतन्त्र प्रयोग अपभ्रंश कथाकाव्यों में मिलता है । हिन्दी का चौपाई छन्द और अपभ्रंश का पद्धतिया बहुत कर एक ही छन्द है । दोनों में सोलह-सोलह मात्राएँ होती हैं तथा दो पंक्तियाँ चार चरणों की होती हैं । आ० स्वयम्भू के पहले से भी यह छन्द प्रचलित रहा है । अतएव यह कड़वक शैली अपभ्रंश के काव्यों की विशेष प्रवृत्ति है । पं० विश्वनाथ के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है ।^३ भारतीय साहित्य में यह पद्धति अपभ्रंश काव्यों में ही प्रयुक्त देखी जाती है ।

परवर्ती विकास में पद्यबद्ध हिन्दी काव्यों में जैन कवियों द्वारा लिखित रचनाएँ इसी परम्परा का पालन करती हुई लक्षित होती हैं । उन में अन्तर इतना ही है कि कड़वक शैली में जहाँ पद्धतिया के अन्त में कोई भी छन्द जुट सकता था, वहाँ अपभ्रंश कथाकाव्यों की उत्तरकालीन प्रवृत्ति की भाँति द्विपदी या उस की जाति के किसी छन्द

१. गण चारि पंचकल ठविज्जसु बोअ ठामहि छक्कलो,

पअ पअह अंतहि गुरु करिज्जसु वणणेण सुसज्जो । प्रा० पे०, १, १६१ ।

२. बहो, १ १७० ।

३. अपभ्रंशे निबद्धेऽस्मिन् सर्गा कृडवकाभिधा ।

तथापभ्रंशयोग्यानिच्छन्दांसि विविधान्यापि साहित्यवर्णन, ६, ३२७ ।

का प्रयोग न हो कर दोहा का ही प्रयोग किया जाने लगा था। बरवै का भी प्रयोग मिलता है। इस प्रकार अपभ्रंश-कथाकाव्य-धारा में विकसित शैलीगत प्रयोग तथा छन्दोबद्ध कदवक-रचना सूफी काव्य तथा प्रेमाख्यानक काव्यों में ही नहीं, तुलसीदास के रामचरितमानस में भी दिखाई पड़ती है। इस रूप में तथा प्रबन्धगत अन्य बातों में भी स्पष्ट रूप से भलीभाँति समझ लेने पर यह धारणा बन जाती है कि अपभ्रंश की प्रबन्ध-काव्य-धारा से जाने-अनजाने हिन्दी की साहित्यिक परम्परा का विकास हुआ है।

धनपाल की भ० क० और जायसी का पदमावत

धनपाल की भ० क० और जायसी के पदमावत की विषय-वस्तु लोक-कथाएँ हैं, जिन में नायक की समुद्र-यात्रा, सुन्दरी-प्राप्ति, विहलद्वीप का कथानक-रुद्धि के रूप में उल्लेख, आदि बातें मिलती-जुलती हैं। किन्तु समुद्र में जहाज के डूबने और नायक-नायिका का काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करने का वर्णन भ० क० में न हो कर वि० क० में है। इसी प्रकार स्त्री-भेद का वर्णन जि० क० में है, और पद्मस्तु-वर्णन वि० क० में है। किन्तु नलशिख, नामपरिगणन (उद्यान-वन-वर्णन में), युद्ध और विवाह आदि का वर्णन दोनों में मिलता है। वस्तुतः कथा की दृष्टि से पदमावत वि० क० के निकट है। सुआ संवाद और उत्तराद में राजा के बन्दो होने आदि की घटनाओं को छोड़ कर दोनों में साम्य लक्षित होता है। मूल घटनाएँ—सिंहलद्वीप की यात्रा, लोटते समय पोत का भग्न होना, नायक-नायिका का विभिन्न द्वीपों में पहुँचने पर संयोग या दैवीसंयोग से दोनों का समागम होना, नायक या नायिका का हरण और युद्ध होना, आदि।

इस प्रकार वस्तु की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर है, पर प्रबन्ध रचना और शैली की दृष्टि से दोनों में समानता ढूँढ़ी जा सकती है। इसी प्रकार भाव साम्य को सूचित करने वाले कई स्थल दोनों में दिखाई पड़ते हैं, जिन में से कुछ निम्नांकित हैं—

काई किलेसहि काउ अयाणिए किं चिउ होइ विरोलिण् पाणिये ।

(भ० क०, २, ७)

का मा जोग कथन के कये, निकसै चिउ न बिना दधि मथे ।

(पदमावत, प्रेमखण्ड ६)

खुट्टइ जीविज्जइ जेम णवि तेम अखुट्टइ णवि मरणु ।

(भ० क०, ३, १२)

जो रे उवा, सो अथवा रहा न कोइ संसार । (पदमावत, पदमावती-नागमती सतीखण्ड, ३)

इउ जाणिवि जं साहसु मुच्चइ तं परसत्तहीणु जणि वुच्चइ ।

(भ० क०, ५, ७)

साधन्ह सिद्धि न पाइय जौ लगि सधै न तप्प । (पदमावत, प्रेमखण्ड ६)

अपभ्रंश तथा हिन्दी के अन्य काव्य

अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यों में तथा हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में कई बातों में समानता मिलती है, जो एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है। भाव-साम्य के रूप में कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अमिलन्ताण व दीसइ जेहो द्वरे बि संठियाणंणि ।

अइ विट्ठरवि गयणयले इह तह बि ठुलइ सुहु गलिणो । सु० ब०

तथा—

कहि ससहर कहि मयरहर कहि बरिहिणु कहि मेहु ।

दूरटियाहं बि सज्जनहं होइ असइडलु जेहु ॥हेमचन्द्र के दोहों में संकलित

मिलाइए—

बसै मीन जल धरती, अम्बा बसै अकास ।

जो पिरीत पै दुबौ महं, अन्त होंहि एक पास ॥पद्मावत

इसी प्रकार—

कमोदनी जल हरि बसै, चन्दा बसै अकासि ।

जो जाही का भावता, सो ताही कै पासि ॥कबीर

अन्य है—

णिय कम्मैज्ज लिलाइहं लिहियत सो को मेटइ जो विहि विहियत । (सि० क०)

तुलना कीजिए—

जो जेहिकै जस लिखा लिलारा ।

जो विधि करै होय पै सोई । (कुँवरावत : जलीमुराद)

विधि ने अपने हाथ जो लिखा होइ तो होइ । (चिन्तावल्लो)

तथा—

तैं तुव भमउं सभबैं-रहरस सुहु सेवन्ताहं वट्टए ।

कुण्णिण मे सरीरि।लज्जाहउ हियउ तडत्ति फुट्टए ॥जि०-क०

मिलाइए—

सम्भारियां सन्ताप, बीसतरिया न बीसरइ ।

कालेजा बिन्धि-काप, परहर तू फाटइ नही ॥ढोला-भाऊ रा बूहा, १८० ।

इसी प्रकार—

ता परिएहु दुक्खु भद्दु हिययहो णिगच्छेवि जाइ दुह महियहो ।
खणु एक्कु वि भद्दु णत्थि सुहासिय चित्तचित्ति अण्णिय समासिय ।

(भ० क०, विबुधश्रीधर)

यह भाव सम्देशरासक तथा रामचरितमानस में कुछ हेर-फेर के साथ मिलता है। अन्य हिन्दी की पद्यबद्ध रचनाओं में भ० क० और जि० क० आदि कथाकाव्यों की वर्ण्यविषयक विशेषताएँ स्पष्ट रूप से मिलती हैं।

सुणिमित्तई जायई तामु ताम	गयपयहिणंति उड्डेवि साम ।
वामंग सुत्ति रुहरुह वाउ	पिय मेलावउ कुलकुलइ काउ ।
वामउ किलिकिचिउ लावण	दाहिणउ अंगु दरिसिउ भएण ।
दाहिणु लोयणु कंदइ सवाहु	णं भणई एण मग्गेण जाहु ।

भ० क०, ४, ५ ।

तुलना कीजिए—

चारा जायु वाम दिसि लेई	भनहुँ सकल मंगल कहि देई ।
दाहिन काग सुखेत सुहावा	नकुल दरसु सब काहूँ पावा ।
सानुकूल बह विविच बयारी	सषट सबाल आव बर नारी ।
लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा	सुरभी सनमुख सिमुहि पिआवा ।
मृगमाला फिरि दाहिनी आई	मंगल गन जनु दीन्हि देखाई ।

रामचरित मानस, बालकाण्ड, ३०३ ।

इसी प्रकार अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यों का वर्ण्य विषय एवं भाव-साम्य हिन्दी के सूर, तुलसी, जायसी तथा सूफ़ी और प्रेमाख्यानक काव्यों में लक्षित होता है। उदाहरण के लिए कुछ स्थल निम्नलिखित हैं—

हो हो पवास गामिय बत्थंधरि जण कुपियं कीस ।
पढमंचिय को मुक्कमि णिय पाण किं अंचलं तुज्जा ॥

सि० क० (नरसेन) ।

करमुत्तिप्य जातोऽसि बालादिह किमद्भुतम् ।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौष्ट्यं गणयाम्यहम् ॥
बाहू बिछोडवि जाहि तुहँ हउं देवई को दोसु ।
हिययट्टिउ जइ नीसरहि जाणउं मूज सरोसु ॥
बाहू छुट्टाये जात हो निबल जानि कै मोहि ।
हिरदै ते जब जाहुगे मरव बढौगो तोहि । सूरदास

ऊँचो हहा हरि सों कहियो तुम,
हो न यहाँ यह हों नहि मानों ।
या तन तैं बिछुरै तो कहा—
मन तैं अनहैं जो बसी तब जानी । देव

इसी प्रकार—

लोग कहनउ साचो भयो

जागत चोर न कुइ मुसि गयउ ।

जि० चउ०, ३१३ ।

अबहू जायु अजाना होत, आव निसि भोर ।

तब किछु हाथ न लागिहि, मूस जाहि जब चोर ।

पदमावत, प्रेमखण्ड, ६ ।

भ० क० के वात्सल्यमूलक वियोग वर्णन ने विशेष रूप से हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। अपभ्रंश-साहित्य में भी कवि धनपाल के पूर्व यह साहित्यिक प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। अतएव सूर, तुलसी आदि के काव्य-साहित्य पर निश्चित रूप से भ० क० का प्रभाव माना जा सकता है। और इस दृष्टि से भ० क० (८।१२) के वर्णन विशेष महत्वपूर्ण है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए इस प्रकार की ओर भी कई विशेष बातें हैं; किन्तु विस्तार-भय से यहाँ लिखना उचित न होगा। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में काव्य-रूढ़ियों, प्रबन्ध-रचना-शैली, कथानक-रूढ़ियों तथा रीतिकालिक प्रवृत्तियों में भी समानता मिलती है। अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की कथा-वस्तु और रचना-पद्धति में अद्भुत साम्य लक्षित होता है। सम्भव है कि सूफी काव्य मसनवी शैली से प्रभावित रहे हो, पर वस्तु, प्रबन्ध-रचना और शैली से तो यही स्पष्ट जान पड़ता है कि सूफी कवियों ने भारतीय जीवन में घुली-मिली कथाओं को यहाँ के सामाजिक जीवन के आलोक में परम्परागत अपभ्रंश-प्रबन्धकाव्य की कड़वक शैली में प्रसृत कर प्रबन्धकाव्य की परम्परा को विकसित किया है, जो हमारी दृष्टि में अपभ्रंश-प्रबन्धकाव्यों की परवर्ती विकसित धारा कथाकाव्य की परिपाटी का अनुकरण करते लक्षित होते हैं।

केवल वस्तु-रचना और शैली की दृष्टि से ही नहीं कही-कही भावों में और विशेषकर छन्दों में प्राकृत-अपभ्रंश को काव्य-धारा का स्पष्ट प्रवाह दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की रचना पद्धतियाँ बन्ध में हुई हैं। पद्धतियाँ चौपाई की जाति का ही छन्द हैं, जो चउवई का पुराना नाम जान पड़ता है। साधारणतया चौपाई के साथ दोहे की भाँति अपभ्रंश-प्रबन्धकाव्यों में द्विपदी तथा अन्य उसी जाति के छन्दों का व्यापक प्रचलन रहा है, पर परवर्ती काल में वह दोहा या द्विपदी में सीमित हो गया; जो अपभ्रंश की परम्परा से हिन्दी में प्रचलित हुआ। इसी प्रकार हिन्दी के चौपाई,

दोहा, छप्पय, रोला, दुमिल, सोरठा, गीति, कुण्डलिया, बल्लाला, पढ़ी या पढ़रि, हरिगीतिका और बरबै तथा कवित्त, सबैया आदि छन्द ब्राह्मण-अवधंश-काव्य-धारा से विकसित हो कर परम्परा से हिन्दी में प्रचलित हुए हैं। इस प्रकार कई बातों में हिन्दी-साहित्य पर अवधंश-साहित्य एवं कथाकाव्यों का प्रभाव लक्षित होता है, जो स्पष्ट रूप से परम्परा के विकास का सूचक है।



सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

हस्तलिखित ग्रन्थ

[पाण्डुलिपियाँ तथा माइक्रोफिल्म]

प्राकृत, अपभ्रंश

१. जम्बुसामिचरितः : वीर कवि—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर ।
२. जिनवत्तकथा : छाखू—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर ।
३. जिनवत्तचउपई : कवि रल्ह—जैन साहित्य-शोध-संस्थान, महावीर भवन, जयपुर ।
४. धम्मपरिक्ला : हरिपेण—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर ।
५. पाइअलच्छी नाममाला : धनपाल—अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर ।
६. प्राकृत छन्दःकोश . कवि अल्ह—श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा ।
७. प्राकृतप्रकाश : चण्ड—दि० जैन सरस्वती भवन, पंचायती मन्दिर, देहली ।
८. बाहुबलिचरितः : द्वितीय धनपाल—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर ।
९. भविसयत्तकथा : प्रथम धनपाल—श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा ।
१०. भविसयत्तचरितः : विबुध श्रीधर—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर ।
११. महीपालचरितः : वीर देव—श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा ।
१२. मेहेत्तरचरितः : पं० रयघू—श्री अग्रवाल दि० बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा ।
१३. विलासवईकथा (माइक्रोफिल्म कॉपी) : साधारण सिद्धसेन—श्री ला० इ० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद ।
१४. सत्त्वसणकथा : माणिक्यचन्द्र—श्री दि० जैन मन्दिर, भरतपुर ।
१५. सणमईचरितः : पं० रयघू—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर ।
१६. सिद्धचक्रकथा : पं० नरसेन—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर ।
१७. श्रीपालकथा : पं० रयघू—श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा ।
१८. सुकौसलचरितः : पं० रयघू—श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा ।

प्राचीन ग्रन्थ

संस्कृत

१. उपासकाध्ययन : सोमदेवसूरि, सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ।
२. ऋग्वेद-संहिता : सं० सातवलेकर, १९५७ ।
३. ऋग्वेद-संहिता : सायण भाष्य युक्त, प्रथम भाग, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३३ ।
४. ऐतरेयारण्यक—आनन्दाश्रम पूना ।
५. कर्पूरमंजरी की टीका : वासुदेव, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।
६. काव्य-मीमांसा . राजशेखर, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३४ ।
७. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, प्रथम भाग, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई ।
८. काव्यानुशासन : वाग्भट ।
९. काव्यादर्श : दण्डी, पूना, १९३८ ।
१०. काव्यादर्श की टीका : रत्नश्रीज्ञान, मिथिला विद्यापीठ, १९५७ ।
११. काव्यालंकार . भामह, चौखम्बा प्रकाशन, वि० सं० १९८५ ।
१२. काव्यालंकार : रुद्रट, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२८ ।
१३. काशिकावृत्ति . वामन जयादित्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।
१४. कुमारसम्भव : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५१ ।
१५. कौपीतकिब्राह्मण : सं० मधुसूदन ओझा, आनन्दाश्रम संस्कृत-ग्रन्थावली ।
१६. छन्दःशास्त्र : पिंगलाचार्य, काव्यमाला ९१, निर्णय सागर, बम्बई ।
१७. जातिविवेकाध्याय
१८. तत्त्वार्थसूत्र . उमारस्वाति ।
१९. तन्त्रवार्तिक
२०. तन्त्रसार . अभिनवगुप्त ।
२१. तन्त्रालोक
२२. दशरूपक . घनंजय, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।
२३. ध्वन्यालोक—रिसर्व इन्स्टीट्यूट, मद्रास ।
२४. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, लोचन टीका युक्त, चौखम्बा प्रकाशन, वि० सं० १९९७ ।
२५. नाट्यशास्त्र . भरतमुनि, द्वितीय जिल्द, बड़ौदा ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट १९३४ ।
२६. निरुक्त : यास्क, दुर्गाचार्य कृत टीका सहित ।
२७. नैषधीयचरित : श्री हर्ष, चौखम्बा प्रकाशन, १९५४ ।
२८. न्यायकुमुदचन्द्र की भूमिका : पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री ।
२९. प्राकृतचन्द्रिका . पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट ।

३०. पाली-प्राकृत-अध्याकरण : पं० मयुराप्रसाद दीक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, काशी, १९५४ ।
३१. पुरुषार्थ सिद्धधुपाय : अमृतचन्द्राचार्य, रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई ।
३२. प्राकृतप्रकाश : वररुचि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।
३३. प्राकृत रूपावतार : सिंहराज, रायल एशियाटिक सोसायटी ।
३४. प्राकृतशब्दप्रदीपिका : नरसिंह
३५. प्राकृतशब्दानुशासन : त्रिविक्रम, जैन सस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर ।
३६. प्राकृत सर्वस्व : मार्कण्डेय
३७. प्राकृतानुशासन : पुरुषोत्तमदेव
३८. बालरामायण : राजशेखर
३९. बृहज्जिनवाणोसंग्रह
४०. बृहत्कथाकोश : हरिषेण
४१. बृहत्संहिता
४२. ब्रह्मपुराण
४३. ब्रह्मवैवर्तपुराण
४४. भागवतपुराण—गोरखपुर, वि० सं० २०१० ।
४५. भावसंग्रह : देवसेन
४६. भट्टपुराण
४७. मनुस्मृति
४८. महापुराण : जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
४९. महाभारत
५०. महाभाष्य : पंतजलि, चौखम्बा प्रकाशन, १९५४ ।
५१. महार्थमंजरी
५२. मृच्छकटिक : शूद्रक, पृथ्वीधर की टीका युक्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५० ।
५३. मेघदूत : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५१ ।
५४. यशस्तिलकचम्पू : सोमदेवसूरि, अनु० पं० मुन्दरलाल शास्त्री, बनारस ।
५५. रघुवंश : कालिदास, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, वि० सं० १९८४ ।
५६. रत्नकरण्डश्रावकाचार : समन्तभद्र, सूरत ।
५७. वाक्यपदीय : हेलाराज, त्रावणकोर, १९३५ ।
५८. वाग्भटालंकार : वाग्भट, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।
५९. वाल्मीकिरामायण : वाल्मीकि, मन्नास, १९५८ ।
६०. विविध तीर्थ कल्प : जिनप्रभसूरि : सं० मुनि जिनविजय, शान्तिनिकेतन, १९३४ ।
६१. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, तृतीय खण्ड : सं० डॉ० बी० जे० संडेसरा, बड़ौदा, १९५८ ।
६२. वैयाकरणभूषणसार : कौण्डभट्ट, चौखम्बा प्रकाशन, १९३९ ।

६३. वैशाकरण सिद्धान्त लघुमंजूषा : नाथेशभट्ट, चौखम्बा प्रकाशन, सं० १९८५ ।
 ६४. व्यास-स्मृति—भारतीय महाविद्यालय, कलकत्ता ।
 ६५. शक्तिसंगमतन्त्र, द्वितीय भाग : सं० विनयतोष भट्टाचर्म, बङ्गोदा, १९४१ ।
 ६६. शतपथब्राह्मण : सायण, लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।
 ६७. पद्मभाषाचन्द्रिका : लक्ष्मीधर, सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई, १९१६ ।
 ६८. समवायांगसूत्र
 ६९. सरस्वतीकण्ठाभरण : भोज, निर्णयसामर प्रेस, बम्बई ।
 ७०. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, चौखम्बा प्रकाशन, १९५५ ।
 ७१. सिद्धान्तकीमुद्दी : भट्टोजि दीक्षित
 ७२. स्थानाङ्गसूत्रम् ।
 ७३. हनुमन्नाटक—क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, वि० सं० १९६६ ।
 ७४. ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र ।

अपभ्रंश

१. उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भूमिका, लेखक डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ।
२. कथाकोशप्रकरण (जिनेश्वरसूरि) की भूमिका : लेखक मुनि जिनविजय ।
३. करकण्ठचरित : कनकामर, सं० डॉ० हीरालाल जैन ।
४. कीर्तिलता : विद्यापति ।
५. छन्दोऽनुशासन : आ० हेमचन्द्र, सं० ह० दा० बेलणकर, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९६१ ।
६. असहृचरित : पुष्पदन्त, सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, कारंजा, १९३१ ।
७. जिनदत्ताख्यानद्वय : सं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक, भा० वि० भवन, सं० २००९ ।
८. पायकुमारचरित : पुष्पदन्त, सं० डॉ० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३ ।
९. देशी नाममाला : हेमचन्द्र ।
१०. पञ्चमचरित (प्रथम भाग) : स्वयम्भू, सं० डॉ० हरिबल्लभ भावाणी, १९५३ ।
११. पञ्चमचरित : प्रथम भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७ ।
१२. पञ्चमसिरीचरित : घाहिल, सं० मोदी और भायाणी, भा० वि० भवन, १९४८ ।
१३. पाण्डुदोहा : मुनि रामसिंह, सं० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३ ।
१४. प्राकृतपैगलम् : सं० डॉ० भोलाशंकर व्यास, प्राकृत टैक्सट सोसायटी, वाराणसी, १९५९ ।
१५. मयणपराजयचरित : हरिदेव, सं० डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२ ।

१६. महापुराण : पुष्पदन्त, सं० डॉ० ह्रीरालाल जैन, भा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९४१ ।
१७. लीलावतीकथा : कोऊहल, सं० डॉ० आ० ने० उपाध्ये, भा० वि० भवन ।
१८. सनत्कुमारचरित की भूमिका : डॉ० हरमन जैकोबी, १९२१ ।
१९. सन्देशरासक : अब्दुलरहमान, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, १९६० ।
२०. सिद्धहेमचन्दानुशासन : हेमचन्द्र, सं० डॉ० परशुराम वैद्य, पूना, १९२८ ।
२१. स्वयम्भूछन्द (स्वयम्भू) : सं० डॉ० वेलणकर, प्रकाशित जर्नल आव द युनिवर्सिटी आव बाम्बे, जिल्द ५, नवम्बर, १९३६ ।
(पुस्तकाकार) राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६२ ।
२२. ज्ञानपंचमोकहा : महेश्वरसूरि, प्रकाशित भा० वि० भवन, बम्बई ।

आधुनिक ग्रन्थ तथा शोध-प्रबन्ध

बंगला

१. मजूमदार, दक्षिणारंजनमित्र (सं०) : ठाकुरमारझुलि (रूपकथा), कलकत्ता, बंगाब्द १३५९ ।

गुजराती

१. देसाई, मोहनलाल दुलीचन्द : जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३ ।

मराठी

१. राजवाडे, विश्वनाथ काशीनाथ : मराठी छन्द, १८४८ ई० ।
२. विवेकसिन्धु ।

हिन्दी

१. अग्रवाल, वासुदेवशरण . पाणिनिकालीन भारतवर्ष, प्रथम संस्करण ।
२. उपाध्याय, डॉ० कृष्णदेव : भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन, १९६० ।
३. उपाध्याय, डॉ० भगवतशरण : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण ।
४. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, तृतीय संस्करण ।
५. ओझा, डॉ० दशरथ और शर्मा : रासा और रासान्वयी काव्य, प्रथम संस्करण ।
६. कासलीवाल, डॉ० कस्तूरचन्द : राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की ग्रन्थ-सूची, तृतीय भाग, जयपुर ।
७. कोछड़, डॉ० हरिवंश : अपभ्रंश-साहित्य, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली ।
८. गुलेरी, चन्द्रधर शर्मा : पुरानी हिन्दी, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी ।

९. गैरोला, वाचस्पति : अक्षर अमर रहें, चौखम्बा, १९५९ ।
१०. गैरोला, वाचस्पति : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, चौखम्बा प्रकाशन ।
११. चटर्जी, सुनीतिकुमार : ऋतम्भरा ।
१२. " " : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी ।
१३. चतुर्वेदी, शिवसहाय : गीने की बिदा, अजन्ता प्रेस, पटना, १९५३ ।
१४. जैन, कामताप्रसाद : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४७ ।
१५. जैन, डॉ० जगदीश चन्द्र : प्राकृत-साहित्य का इतिहास ।
१६. जैन, बेवेन्द्रकुमार : सन्देशरासक तथा परवर्ती हिन्दी काव्य-धारा (अप्रकाशित) ।
१७. जोशी, डॉ० हेमचन्द्र : अनु० प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, मूल लेखक—रिचर्ड पिशल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५८ ।
१८. तुलसीदास : रामचरित-मानस (मूल गुटका), गोरखपुर ।
१९. देशपाण्डे, प्रो० भो० गो० : मराठी का भक्ति-साहित्य, चौखम्बा, १९५९ ।
२०. द्विवेदी, डॉ० हजारी प्रसाद : हिन्दी-साहित्य का आदि काल, १९६१ ।
२१. पण्डित, डॉ० प्रबोध बेचरदास : प्राकृत भाषा, बनारस, १९५४ ।
२२. प्रेमी, नाथूराम : जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण ।
२३. बाहुरी, हरदेव : प्राकृत और उस का साहित्य ।
२४. मल्लिनाथन्, सी० एस० : तामिल भाषा का जैन साहित्य ।
२५. मालवणिया, दलसुखभाई : जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन ।
२६. मिश्र, पं० ज्वाला प्रसाद : जातिभास्कर, १९५५ ।
२७. मिश्र, शिवशेखर : भारतीय संस्कृति में आर्येतराश, लखनऊ ।
२८. वत्स, शिवमूर्ति सिंह : अवध की लोक कथाएँ, भा० २, आत्माराम एण्ड सन्स,
१९५६ ।
२९. वर्मा, रामलाल : अनु० अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, दिल्ली १९५९ ।
३०. व्यास, लक्ष्मीशंकर : चौलुक्य कुमारपाल, प्रथम संस्करण ।
३१. शास्त्री, जगन्नाथ : व्रतकोश, प्रथम भाग, बनारस ।
३२. शास्त्री, नेमिचन्द्र : जैन साहित्य-परिशीलन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
३३. शास्त्री, पं० हरिकृष्ण : ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड, १९५४ ।
३४. शुक्ल, पं० रामचन्द्र : जायसी-ग्रन्थावली, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा,
तृतीय संस्करण, सं० २००३ ।
३५. " " : गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम संस्करण ।
३६. " " : रस-मीमांसा, तृतीय संस्करण ।
३७. शुक्ल, डॉ० सरला : जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य,
लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २०१३ वि० ।

३८. सक्सेना, प्रकाशनारायण : संयुक्त प्रान्त की अपराधी जातियाँ, १९४९ ।
३९. सत्येन्द्र, डॉ० गौरीशंकर : लोक साहित्य विज्ञान १९६२ ।
४०. " " मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन, १९६० ।
४१. " " ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन, प्रथम संस्करण ।
४२. सिंह, नामवर : पुरानी राजस्थानी, मूल लेखक डॉ० एल० पी० टेसिटोरी, अनु० नामवरसिंह, द्वितीय संस्करण ।
४३. सिंह, नामवर : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण, १९६१ ।
४४. सिंह, शम्भूनाथ : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप—विकास, बनारस, १९५६ ।
४५. सिंह, त्रिवेणी प्रसाद : हिन्दू धार्मिक कथाओं के मौक्तिक अर्थ, प्रथम संस्करण ।
४६. सुन्दरम्, पूर्ण सोम : तमिल और उस का साहित्य, प्रथम संस्करण ।
४७. त्रिपाठी, डॉ० गंगाचरण . अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध) ।

अभिनन्दन ग्रन्थ

१. प्रेमी-अभिनन्दन ग्रन्थ

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ

१. अनेकान्त—वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली ।
२. आलोचना—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
३. जैन सन्देश (शोधार्क)—भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा ।
४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
५. भारतीय विद्या—भारतीय विद्या भवन, बम्बई ।
६. महावीर-जयन्ती स्मारिका—राजस्थान जैन सभा, जयपुर ।
७. शोध-पत्रिका—साहित्य-संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर ।
८. सरस्वती—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ।
९. साहित्य—बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना ।
१०. साहित्य-सन्देश—साहित्य-रत्न भण्डार, आगरा ।
११. हिन्दी-अनुशीलन—भारतीय हिन्दो परिषद् प्रयाग ।
१२. हिन्दुस्तानी—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद ।
१३. होलकर कालेज मेगज़ीन, १९५८-५९,—होलकर महाविद्यालय, इन्दौर ।

कोश एवं सन्दर्भ ग्रन्थ

१. अनेकार्थ संग्रह—हेमचन्द्र, चौखम्बा, वाराणसी ।
२. अभिधान चिन्तामणि कोश—हेमचन्द्र, सूरत, १९४६ ।
३. अमरकोश—अमरसिंह
४. जैन ग्रन्थावली—जैन स्वताम्बर कान्फेन्स, मुम्बई, वि० सं० १९६५ ।
५. जैनागम शब्द-संग्रह (अर्द्धमागधी-गुजराती कोश) लिबडी, वि० सं० १९८३ ।
६. भरत कोश—सं० रामकृष्ण कवि, तिरुपति, १९५१ ई० ।
७. मेदिनी कोश
८. विश्व प्रकाश—महेश्वर
९. विश्वलोचन—श्रीधर सेन, निर्णय सागर प्रेस, १९१२ ई० ।
१०. शब्दकल्पद्रुम—राधाकान्तदेव बहादुर, कलकत्ता, शक १८०८ ।
११. शब्दरत्नसमन्वय कोश—महाराज शाहाराज, तंजौर ।
१२. शब्दार्थ चिन्तामणि, प्रथम भाग,—सुखानन्द, आगरा, वि० सं० १९२१ ।

ENGLISH

1. Alsdorfe, Ludwig : Apabhramsa - studian, Leipzig, 1937.
2. Burhngame, E. W. : Buddhist Legends, Part I, Harvard University Press, 1921.
3. Chatterji, Sunitikumar : Origin and Development of the Bengali Language, Calcutta, 1958.
4. Chattopadhyaya, Dr. Sudhakar : Early History of North India, Calcutta, 1958.
5. Chokshi, V. J. : The Vivagasuyam and comparative Prakrit grammar, Ahmedabad, 1933
6. Cowll, E. B. : The Jataka or stories of the Buddha's former births, London, 1957.
7. Dalal, C. D. : Catalogue of Manuscripts at Patan, Vol. I, Baroda, 1937.
8. Dalal & Gune : Editor, Bhavisiyattakaha of Dhanpal, Baroda, 1937.
9. Frazer, Sir James Georege, O. M. : The Golden Bough, London, 1955.
10. Frazer, Sir James George, O. M. : Aftermath A Supplement to the Golden Bough, London, 1955.
11. Ghurye, Dr. G. S. : Caste and class in India.

12. Graefe, W. : Legends as Mile-Stones in the History of Tamil Literature, Bengalore.
13. Gray, Louis H. : Foundations of Language, 1958.
14. Gune, N. P. : The discovery of English, Poona
15. Handiqui, K. K. : Yasastilaka and Indian Culture, Sholapur, 1949.
16. Hariyappa, H. L. : Rgvedic Legends through the ages
17. Hertel, Dr. Johannes · Editor, Panch Tantra, Cambridge 1908
18. Hopkins, E. Washburn · Epic Mytholgy.
19. Hultzch, E. Editor, Prakrit Rupavtara (Simharaja). Royal Asiatic Society London, 1909.
20. Jarrell-Ain-i-Akbari, Vol. III (Abul Fazl Allami), 1948.
21. Jayaswal, K P Hindu Polity, Part I, 1953.
22. Kashyap, Ruliamam : Vedic origins of zorastrinism.
23. Katre, S. M. : Prakrit Languages and then Contribution to India, Bombay, 1945.
24. Majumdar, R. C . General Editor, The age of Imperial Unity, Vol. II, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1953.
25. Majumdar, R. C. : General Editor, the Delhi Sultnata, Bombay, 1960.
26. Majumdar, R. C. General Editor, The struggle for empire, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1957
27. Munshi, K. M. : The Glory that was Gurjaradesa, Part III, 1944.
28. Pei, Mario A. . The world's Chief Languages, London, 1944
29. Penzer, N. M. & Tawney, C H : The ocean of story Vol. III, London, 1924.
30. Pischel, R. : Editor, The Desi Namamala of Hema Chandra, Vizianagram, 1938.
31. Ramlinson, G. . The Religions of the Ancient World.
32. Ramnaryanlal & sons, Allahabad, Publisher of the Arabian Nights, Hindi Translation, 1922
33. Sarkar, Dinesh Chandra A Grammar of the Prakrit Language, Calcutta, 1942.
34. Shastri, K. A. Nilkanta · History of India, Part I.
35. Shastri, K. A. Nilkanta : Age of the Nandas and Mauryas, 1952.
36. Smith, V. A. : The early History of India, London, 1957.
37. Sorabje, Jahangir, B. A., Ph D. : Selections from Avesta, Part I.
88. Tagare, Gajanan Vasudeva : Historical Grammar of Apabhramsa, Poona, 1948.

39. Thoms, J. Sahan : Editor, A book of Famous Myths and Legends, Chicago, 1954.
40. Vaidya, P. L. : Prakrit Grammar of Trivikram, Sholapur, 1954.
41. Welenkar, H. D. : Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts, Vol. III-IV, Bombay, 1930.
42. Welenkar, H. D. : Jina Ratana Kosha, Vol. I, Poona 1944.
43. Winternitz, M. : A History of Indian Literature, Vol. II, Calcutta, 1933.

ENGLISH JOURNALS

1. Allahabad University studies, Part I, 1925.
2. Archaeological Survey of Mysore Annual report, 1929.
3. Bhartiya Vidya : Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.
4. Epigraphia Indica, Vol. XXV, Part VIII, Oct. 40.
5. Indian Antiquary, Vol. X, October, 1881.
6. Journal of the Oriental Institute, Baroda.
7. New Indian Antiquary, Vol. I, October, 1938.
8. Royal Asiatic Society, Vol. II, London, 1907.
9. The Jain Antiquary, Vol. XVIII, No. 2.
10. The Journal of the Visva-Bharati Study Circle Vol. I, No. 1, 1909.
11. Visva-Bharti Annuals, Vol. IX, June, 1959.

DICTIONARIES

1. A Comparative and Etymological Dictionary, of the Nepali Language by Ralph Lilley Turner, M. C., M. A., London, 1931.
2. Dictionary of Anthropology.
3. Encyclopedia of Britannica, Vo. IX, 1957.
4. Encyclopedia of Religion and Ethics by James Hastings, Vol. VI, Edinburgh, 1955.
5. Larousse Encyclopedia of Mythology by Robert Graves.
- ✓ 6. Motif—Index of Folk—literature, Vol. I.
7. Sanskrit—English Dictionary, Vol. I by V. S. Apte, Editor Gode & Karve, Poona, 1957.
8. Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legend, Vol. II by Stith Thompson, 1949.

शब्दानुक्रमणिका

[अ]

अंग, अंगदेश १०५, २१४, २१६, २८७,
३१२
अंगरेजी १५
अकलंक ५४, १६४, १६५, १६६, २१८
अकलंकन्याय १६५
अगरबन्द नाहटा ५६, १६९ टि०, ३६७
टि०, ३७८ टि०
अग्निपुराण ६७, ८०
अग्रवाल ४६, ८६
अजह ४१२
अजगर १
अजमेर ४९
अजमपाल २१३
अजितपुराण ७५
अजितसैन ५३, २८१
अडिल्ला १३४, ३५५
अणथमीकहा ६३, ३३६
अणुवयरयणपईठ (अणुवतरत्नप्रदीप)
२११, २१२, २१३
अतिभाषा १४, २०
अनंगपाल ४९
अनंगरति १७३, १७४, १९१, १९६,
१९७, १९८, ४०२
अनंगवती १७०, १८९, १९३, १९५,
१९६, १९८, १९९
अनंगसुन्दरी १६९, १७०, १९४, १९५,
१९६, ४१२
अनन्तकीर्ति ६४

अनन्तपाल १४३
अनन्तविधान ३३६
अनार्य १०, २५, ३९३, ३९७
अनुरागबांसुरी ४३०
अनुष्टुप् ३५७
अनूपगढ़ ३६९, ३७०
अनेकार्थसंग्रह १५
अन्हलवाहा ४९
अपभ्रंश १, ४, ६, ७, ११, १२, १३,
१४, १५, १६, १७, १८, १९, २१,
२२, २३, २४, २५, २७, २९, ३०,
३१, ३२, ३३, ३४, ३६, ३७, ३८,
३९, ४०, ४१ ४२, ४३, ४४, ४५,
४६, ४७, ४८, ५४, ५५, ५६, ५७,
५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६८, ७०,
७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८,
७९, ८१, ८४, ८८, ९३, ९७, ९९,
१०५, १०८, १२१, १२५, १२६,
१२७, १२८, १२९, १३३, १३५,
१३९, १४३, १४४, १५२, १५३,
१५४, १५७, १६०, १६१, १७५,
१८३, १८५, १९०, १९२, १९६,
२००, २०२, २०३, २०८, २११,
२१८, २२०, २२३, २२४, २३२,
२३५, २३८, २४६, २४७, २४९,
२५०, २५१, २५३, २७५, २७६,
२७७, २७८, २८०, २८५, २९३,
३०६, ३०८, ३०९, ३१०, ३११,
३२१, ३२३, ३२८, ३२९, ३३०,

३३१, ३३२, ३३४, ३३६, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४५, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५४, ३५५, ३५८, ३५९, ३६०, ३६२, ३६३, ३६४, ३६६, ३६९, ३७३, ३७४, ३७५, ३७७, ३७९, ३८०, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९२, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२४, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६	अमरपुरसुन्दरी २३३, २५०, २५४ अम्बरसेन ३६९, ३७० अम्बा, अम्बा १६ अरब २, ५० अरह १४५ अरिदमणक, अरिदमन [अरिदमण] २८१. २८७, ३१२, ४१२ अरेबियननाइट्स ३९३ अर्थप्रकाशक १७ अर्हत्त २२० अर्हदास ५३ अलोगद २१० अलीमुराद ४३३ अल्सडोर्फ ३७, ६०, १३३ अवदान ३६३ अवधी ३७, ४६, ३७२, ३७६, ३७७, ३८८, ३९६ अवन्ती ३४ अवहट्ट १४, २३, २४, ३७, ४७ अवहंस २३, २४, ४७ अवेस्ता ३, ५, ६, ८, ३५७ अव्युत्पन्न १४ अथोक ११, २६, २२८ अश्वघोष १३, ४१८ असमिया ४२० असीरियन ४३ असुर ६९ असोकसिरी ४१२ अहीर २६, २७, २८ [आ] आइक्लिया ७१ आख्यान ७१, ७२ आख्यायिका ७१, ७२, ७३, ७४, ७९, ८०
--	---

अपभ्रंशकाव्यत्रयी ५६

अपभ्रष्ट १४, १७, ४२, ४३, ४६

अपशब्द १४, १५, १६, १७, २२, २४,
३०, ४२, ४५, ९९

अफगान ३६३

अबीरिया २६

अबुलफजल २७

अब्दुलरहमान २३, २४ टि०, ६१

अभंग ४३०

अभिधानचिन्तामणि २४६ टि०

अभिनवगुप्त ४५, ५३, ३५९

अभिज्ञानशाकुन्तल ४२२

अभ्रदेव ६४

अमरुक ५५

अमरकीर्ति १२५

अमरकीर्तिमणि ६४, ३३६

अमरकोश १५

अमरचन्द २०

अमरचन्द्र ५३, ८०

अमृतचन्द्र ८७

आस्थानमणिकोष ४१४
 आगरा ५६, ८४, २१०
 आभानुशासन २२२
 आनन्दवर्धन १९, ५३, ७४, ७५, ७७,
 ८०
 आबू २०
 आभाणक २०५
 आभीर १८, २० टि०, २१, २४, २५,
 २६, २७, २८, २९, ३०, ३३, ४०,
 ४१, ४२, ४८, ५०, ५१
 आभीरी १९, २५, २९, ३२, ३४, ४१,
 ४२
 आभीरोक्ति २१, २२, ३१, ४१
 आमेर २८६, ३११
 आयरलैण्ड ३
 आरनाल २५०, २५३
 आराधनाकथाकोश ६८, ४१४
 आर्मेनियन ४७
 आर्य ३, ७, ८, १०, १७, ४१, ४६,
 ६२, ३७४, ३९७, ३९८, ४१३,
 ४२०
 आर्यभाषा ३, ६, ७, ९, १२, १४, १५,
 २०, ३८
 आर्यभूमि ३
 आर्यशूर ३६३, ४१३
 आर्यावर्त २२, २९
 आर्यप्राकृत १४, १८
 आर्येतर ३, ८, १०, १६, ३८, ४३
 आलवार ४४, ५२
 आल्हा ३६३
 आवली २०४, २५०, २५७
 आशाधर ८७
 आसादितु ४१२
 आसे ४१२
 ५७

आस्ट्रिक ८
 आह्वयमल्ल २१२

[इ]

इजिप्ट ६६, ३६९, ३७६ ३८८
 इण्डस २५
 इन्द्रावती ३७०, ३७२, ४२९, ४३०
 इसाणचंदु ४१२

[ई]

ईरान ३, ८, २५
 ईरानियन ९
 ईरानी ३, ६, ७
 ईशान २१८
 ईशानचन्द्र १६९, १७२, १८७, ४०३
 ईश्वरसेन २५, ४८

[उ]

उकारबहुल २०, २१, २२, ३०, ४१
 उकारान्त २१, ३६, ३७, ३८, ४६, १२९
 उक्तिरत्नाकर ४०, ४८
 उक्तिव्यक्तिप्रकरण ४०, ४६, ५८
 उज्जैन (उज्जैणि, उज्जैनी) २०, ५०,
 २८१, २८६, ३१२, ३१४, ३७०,
 ४१२

उत्तमर्षि ६८
 उत्तरपुराण २२२
 उत्तरप्रदेश ६९
 उदयचन्द्र ६४
 उदयगन्तु कदै ५४
 उदयन ५४
 उद्भट ५३
 उद्योतकर ५४
 उद्योतनसूरि ३९
 उपनागर १८, ३३, ३४

उपनिषद् ६५, ६९
 उपमादे ४१२
 उभयवत् २६५, २६६
 उम्बर २८१
 उर्व ४१३
 उल्लाला ३५५, ४३०, ४३६
 उवएसमालकहाणय ६२
 उवहिदत्तु ४१२
 उष्णिक् ३५७, ३५८
 उसमान ४२८, ४२९

[श्रु]

श्रुत्वेद ५
 श्रुत्वाएँ ४११
 श्रुतुसंहार १८२
 श्रुषभ १४५, १४९
 श्रुषभदेव ३७८

[ए]

एंगलो-सेक्सन १५
 एकनाथ ४४
 एकारबहुल २०
 एटा २०९, २१०, २६०
 एण्ट्रोमीडा ३७४

[ऐ]

ऐतरेयारण्यक ७१ टि०

[ओ]

ओकारबहुल २०
 ओकारान्त ६, ७, २१, ३०, ३६
 ओसा ५१ टि०, ५२ टि०
 ओवी ४३०

[क]

कंचनढीग ११३, ३६५, ३९५, ४१६
 कंचनपुर ८९, २८३, ३१४
 कंचनप्रम १५१

कंचनमाला २९१, ३१४
 कंचलावती ४३०
 कच्छ १४३, २५८
 कच्छी ६
 कच्छपदेश ३६७
 कटाहद्वीप १७२
 कड़वक ३५५, ३५८, ३५९, ४२९ ४३०,
 ४३५
 कणाद ५२
 कत्य ७१
 कथा ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७,
 ७८, ७९, ८०, ८१, ८२
 कथामानक ३६२, ३६३, ३७३, ३७६,
 ३८१, ३८८, ३९०
 कथारत्नकोश ६८
 कथारत्नाकर ६८
 कथासरित्सागर ६८, ३६६, ३६७, ३७५,
 ३७७, ३७९, ३८०, ३८७, ३९६,
 ४१३

कथासुरसुन्दरी ७०
 कनककेतु २८९, ३१३
 कनकमाला ३१३
 कनकामर ३६४, ३९५, ४२४
 कनिष्क ५०
 कन्दुक ३
 कन्धर १४३
 कन्धार १४३
 कन्नड़ २२३, २८५
 कन्नौज ४९
 कन्नौजी ४७

कन्हू ४१२

कपिल ५२
 कबीरदास ४४
 कमलनयन २२३, २६०

कमलप्रभा २८१	कालिदास ३३, ४४, ७१, १२९, १३१,
कमलश्री ८८, ८९, ९१, ९२, ९३, ९४,	१५३, १५५, १५७, १८२, २१८,
९५, ९६, १०४, १०५, १०७,	२३२, २३५, ४२१
११२, ११४, ११५, ११६, ११७,	कावुक ३
११८, ११९, १२०, १२१, १२३,	काव्य १३८
१४६, १४७, १४८, १५०, १५१,	काव्यमीमांसा ३४
१५२, १५३, १५४, १५५, १५६,	काव्यावर्षा ३९
१५७, १६०, १६१, ३४६, ३४८,	काव्यालङ्कार ७१ टि०, ७३ टि०
३४९, ४०४, ४०८, ४०९, ४१८	कासगंज २१०
कम्बोजी ८	कासिमशाह ४२९
करकण्डु ३६४	काहल १८५
करकण्डुचरित ५६, ६१, ३६४, ३९५,	किंगलियर ३७६
४२४	कीर १०५
करीली २०९, २१०	कीर्तिलता २४, ४०, ४७, ६१
कर्कोटक ३६८	कीर्तिसिंह २७७, २७८, २७९
कर्णाटक (कर्नाटक) ५८, १०६	कुंडलडोप २२७
कलचुरि ४९	कुंडलपुर २८३, २८६, २९१, ३१३
कलहंस १३९	कुंडलिया ४३०, ४३६,
कलावती ३३५, ३६४, ३६५, ३६६,	कुंवरपाल २१०, २१३
३७४, ४३०	कुंवरवत ४३३
कलिंग १०६	कुतुबन ४२०
कवित्त ४३६	कुम्तक ५३
कविदर्पण १२५	कुन्धु १४५
कविराज ५५	कुन्दकुन्द ८८, १६५, १६६
कविराजमार्ग ५४	कुन्दप्रभा २८१, २८७, ३०३, ३१२
कहाकोसु ६३, ३३६	कुमार १७
काकन्दो १६८	कुमारदास ५५, ४१८
कादम्बरी ७२, ७७, २०२, २२४, २२८,	कुमारपालचरित ४१८
२३३	कुमारिलभट्ट ५४
कापालिक ५२	कुरुजांगल ८८, १०१, १४५, २८१
कामलता ४२१	कुवलयमाला ३९, ५७
कामा २८६	कुषाण ५०, ५१
कार्तिकश्रीभाग्यपंचमीमाहात्म्य १५२	कुस्वान १२
कालामुख ५२	कृष्ण ६६, ३२८

कृष्णदेव उपाध्याय ३७२ टि०, ३७७ टि०
 केदारनाथ शर्मा ३७५ टि०, ३७७ टि०
 केशवदास ३३१, ४२२
 कोंकण २८३, २९०, २९१, ३०३, ३१४
 ४००

कोऊहल २३, ३९, ७०
 कोल ८, १४
 कोल्लापपुर २८३
 कोसवाल २०९, २११
 कोसिज ९०
 कौल ५२
 कौशाम्बी २८२, २८७, ३१२
 कौपीतिक ब्राह्मण ९
 क्षत्रबुद्धामणि ३८१
 क्षमाकल्याण १५३
 क्षमाश्रमण ७०
 क्षेमेन्द्र ५३, ५५, ६८

[ख]

खण्डय २५०
 खतपत्र १२
 खति ३
 खस ३, १०५
 खोखर ४१२
 खोटन १२
 खोलक ३
 खमेर ८
 खाजा अहमद ४२८

[ग]

गंगाचरण त्रिपाठी ३७६ टि०, ३७७ टि०
 गजपुर ८८, ९१, ९२, ९३, १००, १०१
 १०९, ११२, १३१, १५१, ४०६
 गणघर ९९

गणपतिसिंह २७८
 गन्धर्वदत्ता २१६
 गलितक २०५
 गाथा ३, १३९, २५०, ३०९ ३५५,
 ३५८

गान्धारी २०४
 गायत्री ३५७
 गीति ४३०, ४३६
 गीतिकाव्य १२
 गुजरात १९, २०, २२, २५, २७, ३४,
 ४१, ४६, ४९, ५२, ५४, ५८, ६९,
 ८४, ८७, १०६, २००, २५८,
 २९१, ३१४

गुजराती ४६, ४७, ४८, ५४, ५७, १६८,
 २८१, २८५, ४२०

गुटिया ३५४
 गुणकीर्ति २७७
 गुणचन्द्र २०
 गुणचन्द्र ५३
 गुणमद्र ६३, ६४, २२२
 गुणमाला २८९, २९०, २९१, २९६,
 ३०५, ३०६, ३१३, ३१९, ४००,
 ४०८, ४११

गुणविजय २५२
 गुणसुन्दर २८५
 गुणसुन्दरी २८३
 गुणाढ्य १, ६८, ३६३
 गुणे ८३, ८५, १३७, १४०
 गुण्ड २५

गुम्बिया जातक ३९५
 गुर्जररासक ४८
 गुलेरी, बन्धुवर शर्मा ४७
 गुजर २७, ४८

गुहिरिपु २८
 गैरोला, वाचस्पति ५३टि०, ५५ टि०,
 ६९ टि०
 गोवर्धनाचार्य ५५
 गोश्रृंग ११
 गौतम गणधर ३१५
 ग्वालियर २७७, २७८
 ग्रामीण भाषा २३, ३५
 ग्राम्य ३३, ३४, ४४, ४५, ४७
 ग्राम्य भाषा १९, २०
 ग्रीक १३, ४७, ५०, ५१

[घ]

घत्ता १३५, १६२, १६३, २०४, २०८,
 ३५५, ३५९, ४३०
 घनवाहन २१५, २२८, ३६७
 घर्षभाव १३
 घाहल ४९
 घूषट ३५४
 घोटक ३
 घोषभाव १२

[च]

चंदणछट्टीकहा २११
 (चन्दनवष्ठीकया) ३३६
 चंदसिंह ४१२
 चउकु ३५४
 चउरी ३५४
 चकारप्रधान २१
 चकारबहुल २०
 चक्रसेन १७३
 चटर्जी, सुनीतिकुमार ४०, ४७ टि०
 चण्ड १२, १८, ३६
 चण्डीदास ५२
 चतुर्मुख २४, १३४, २१८

चतुष्पदी २०६
 चन्द्रपहचरित ६१
 चन्द्रप्रभचरित १४४, १६६
 चन्द्रबाहू १४४, १४५, २०९, २१२
 चन्द्रखेखर २१३, २२८, २४८, २६१,
 २६३, २६६
 चन्दापन ३८५
 चन्देल ४९
 चम्पापुर २१४, २१६, २२०, २२१,
 २२२, २२४, २३२, २४४, २६२,
 २६३, २६४, २६५, २७२, २८१,
 २८७, २९२, ३१२, ३१४, ३८१

चम्बल ४८
 चर्चरी १०५, २४९, ३५८, ३५९
 चाणक्य ७१
 चाण्डाल १४, १८
 चाण्डाली २९, ३१, ३२, ३४
 चामर १३६
 चार २५२, ३०९
 चार्वाक् ५२
 चालुक्य ४९, ५०, ५१
 चित्तिया २५०, २५६
 चित्ररेखा २०७
 चित्रलेखा ३१३, ३१४
 चित्रसेन ३७८
 चित्रसेनी ३७०, ३७१
 चित्राग ९२, १४३, ३६५
 चित्रावली ४२९, ४३०, ४३३
 चीन ६६, ३६९
 चीनक ३
 चीनी १२
 चुल्लधम्मपाल ३८६
 चुल्लिका ३३, ३५
 चेदि ४९

जैतन्य (महाप्रभु) ५२
 चोकसी वी० जे० ४, ५
 चोली ३५४
 चौपाई (चउपाई) १६२, २००, २०४,
 २७३, २७४, २७५, २७६, ४३०
 ४३१, ४३५
 चोल ५४
 चोहान ४९

[छ]

छट्टी ४०९, ४१९
 छड्डुणिका २०५
 छत्तीसगढ २७, ३२८
 छन्दस् १४
 छन्दोनुशासन १३९, १६२, २०४ टि०,
 २०५ टि०, २०६ टि०, २०७ टि०,
 २०८, २५० टि०, २५१ टि०,
 २५२, २५४, २५५ टि०, २५६
 छप्पय ४३०, ४३६
 छायावादी १०८
 छिताईचरित ४३०
 छोहारद्वीप २२७

[ज]

जंभेहिया (जम्भेट्टिका) २५०, २५६
 जगदीशचन्द्र जैन १६६
 जगन्नाथ कवि २८५
 जगसुन्दरी प्रयोगमाला ५८, ६२
 जटायु ३२७
 जनभाषा १४
 जफराबाद ८६
 जम्बूद्वीप १४५, २१३, २४८
 जम्बुसामिचरित ६१
 जम्बुस्वामीचरित ८४, १२६ टि०
 जयकीर्ति २५३

जयकीर्तिसूरि २८५
 जयदेव ५२, ५५, १६५
 जयपुर १४४, १५३, २२२, ३११,
 ४०६
 जयमित्रहल ७७, २८५
 जयसिंहसूरि ५३, ७०
 जयेन्द्रपाल २१३
 जरासिन्धु ३२८
 जर्मन ३६९
 जसमाला २९१
 जसहरचरित ५२, ५६, ६१
 जाट २७, १०५
 जातक ६८
 जातकमाला ३६३
 जाति भाषा १४, १८ टि०, २०, ३१
 जातिभास्कर २८ टि०
 जातिविवेकाध्याय २६
 जान ४२८, ४२९
 जानाश्रयी २०५
 जायसवंश २०८, २०९
 जायसी ९४, १२२, ३३१, ३४४, ३९५,
 ४१५, ४१८, ४१९, ४५९, ४३४
 जालन्धर १०५
 जिणयत्तकहा ६१, ६२, १९६, २००,
 २२०, २४१, २४३, २४५, २४८,
 २४९, २५०, २५६, २५७, २६१,
 २६३, २६६, २६८, २६९, २७१,
 ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५,
 ३५१, ३५२, ३५४, ३६०, ३६६,
 ३६७, ३६८, ३७१, ३७८, ३९१,
 ३९४, ३९५, ३९९, ४००, ४०२,
 ४०९, ४१०, ४११, ४१५, ४२०,
 ४२१, ४२२, ४२३, ४२५, ४२७,
 ४३२, ४३३, ४३४

जिणरत्तिकहा ३३६

जिन ५२, ५४

जिनउदय १५३

जिनदत्त (अर्हदत्त) २०, १९६, २१४,

२१५, २१६, २१७, २१९, २२१,

२२२, २२५, २२८, २३३, २३४,

२३५, २३७, २३८, २३९, २४०,

२४१, २४२, २४३, २४४, २४८,

२५७, २५८, २६२, २६३, २६४,

२६५, २६६, २७०, २७१, २७२,

३४०, ३४३, ३४५, ३४८, ३५०,

३६६, ३६७, ३६८, ३७८, ३८०,

३८१, ३९९, ४००, ४०१, ४०२,

४०३, ४०४, ४०९, ४१०, ४१५,

४१७

जिनदत्तकथा २०८, २१२, २२२, २२३,

२२७, २३१, २३३, २३४, २३७

जिनदत्तचउपई ६२, २५९, २६०, २६१,

२६३, २७१, २७३, २७५, ३६२,

४१०, ४११, ४२१, ४२२, ४२३,

४२९, ४३५

जिनदत्तचरित १२८, २११, २२२, २२३,

२५९, २६१

जिनदत्ताख्यान ७०, २२०, २२२, २६२

जिनदास ५५

जिनपूजापुरन्दरविधान ३३६

जिनप्रभसूरि ८०

जिनरत्नकोश १५२, १६७, १६९, २२३,

२८५, ३११

जिनरात्रिविधानकथा ३११

जिनविजय ७० टि०, ८५

जिनसेन ८०, ८८, १६५

जिनहर्ष १६८

जिनहर्षगणि ७०, २३५, २८५

जिनेश्वरसूरि ६८, ७०

जीतकल्पसूत्र १६६

जीवकचिन्तामणि ५४, ७९

जीवन्मरचरित ६१

जीवजसा २१३, २१७, २६१, २६३

जीवदेव २१३, २१४, २१७, २२८, २५८

२६६, २७२

जीवराजगणि २८५

जुहार ३५४

जूवा ३५४

जैकोबी, हर्मन ३७, ५६, ६०, ८३, ८५,

१२७

जेम्स जॉर्जफेजर ३९४ टि०

जेम्स हेस्टिन्स ३९७

जैन १०, ११, १४, ४२, ५२, ५३, ५४,

५८, ६०, ३९२, ३९३, ३९४,

३९७, ३९८, ४०५, ४०६, ४०७,

४११, ४१२

जैनेन्द्र १७

जैमिनि ५३

जैसलमेर २१०

जैसवाल २०९, २१०, २१२

जोगेन्द्रचन्द्रधोष ३९५

ज्ञानपंचमी १५३

ज्ञानपंचमीकथा ७०, १५१, १५२

ज्ञानपंचमीचउपई १५३

ज्ञानपंचमीचैत्यवन्दन १५२

ज्ञानविमलसूरि २८५

ज्ञानसागर २८५

ज्ञानसूर्योदय ५३

[इ]

इम्बटक २५०

इसी २५

[ट]

टक्क २१, ३९, ४१, १०५

टौमथम्ब ३८३

[ठ]

ठक्कर माल्हे १५३

ठकुरसी ६४

ठाकुरमारझुलि ३६६

ठाणापुरी २८३

[ड]

डाडी ३५४

डालिमकुमार ३७९

डूंगरसिंह २७७, २७८, २७९

डेमल्स, एम० एल० ३६३ टि०,

डोकरी ३५४

[ढ]

ढक्क ३१, ३२, ३९, ४१, ४२

ढवलगीत ३५८

ढोल २९८

ढोला ३७५, ३८३

ढोलामारु ७०

ढोला-मारु रा दोहा ३८५, ४३३

[ण]

णायकुमारचरित ५६, ७५

णायधम्मकहा ६८

णिज्जरपंचमीविहाणकहा ६३, ३३६

णेमिणाहचरित ६१, ७७, २०८, २८५

[त]

तक्क ३

तक्षशिला ५०

तगारे, ग० वा० १२८

तत्त्वार्थभाष्य १६६

तन्त्रसार ४५, ३५९

तन्त्रालोक ७२ टि०

तमिल ५१, ५२, ५४, ७०, ७९, २८५

तरंगलोला ७९

तरंगवर्द्ध ७०, ७९

तर्तरीक ३

तहनगढ़, ताहनगढ़ २०९, २१०, २१२,

२१३

ताम्रलिप्ता १६९, १८७, १८९, १९१,

१९५, ३६८, ३७५, ३८२

तारा १५१

तिलकद्वीप ९०, ९२, ९४, १००, १५०,

१५२, १५७, २२७, २४२, ३३८,

३९९, ४०६, ४०९

तिलकपुर ९०, ९१, १२२, १४७, १४८,

१४९, १५०, ३४०, ३६५

तिलकमञ्जरी ६९, ८४

तिलकमञ्जरीसार ८४

तिहुनगढ़ २०९

तिहुणपाल २०९, २१०

तीकड ४१२

तीर्थकर महावीर ११, ४०५, ४०६, ४०७

तुंगभद्र ४१

तुक्क ३

तुर्क २, ५०, १०६

तुकिस्तान १२

तुर्की १०५

तुलसीदास ४४, ९४, ९८, ४३०, ४३२,

४३४, ४३५

तेजपाल ८४

तेलुगु ४६

तोणया (तूणक) २५०, २५४

तोमर ४९, ५७ टि०

तोमरवंशी २७७, २७८

त्रवण २२

त्रिकालचतुर्विंशती ३३७
त्रिभंगिका (त्रिभंगिया) २५०, २५६
त्रिभुवनगिरि २०९, २१०, २१२, २१९
त्रिविक्रमदेव ३८ टि०, ५३

[थ]

थॉमस विलियम जे० ३८९

[द]

दक्खिनी १२
दक्षिण ४६, ६९, ८७, १८२
दक्षिणार्जनमित्र मज्जिमबार ३७९
दण्डी १९, २९, ३२, ३९, ४१, ५३,
५८, ७४, ११०
दशपुर (दशपुर) २२४, २६२, २६४
दन्तिपुर ३६४
दमयन्ती ३६६
दर्दरक ३
दलाल ८३, ८५, १३७ १४०
दशकुमारचरित ६९, ७७
दशपुर २१४, ३७८
दशरूपक ७८ टि०
दस्यु १४
दामु ३५४
दामोदर ४०, २८५
दिंडी ४३०
दिगम्बर २८१, २८४
दिल्ली ८६, ८७, २७९
दुःखलब्धिका ३६७
दुखहरनदास ३६९, ३८२, ४२०
दुवारसि नरगलतारोकथा ३३६
दुमिल ४३०, ४३६
दुर्वर् १३६, १६२, २५०, ३५५, ३५८
देलबाड़ा ८४

५८

देवचन्द १४४
देवदत्त ६४
देवनन्दि ५५, ६३, ६४, १६५
देवपाल ८६
देवभद्रसूरि ६८, १६६, १६७
देवभाषा २०
देवसेन ५४, ८७
देवसेनगणि २४ टि०, १२५
देवानन्द १७२
देवेन्द्रकुमार जैन ४३० टि०
देशी २२, २३, २४, २५, ३१, ३५,
३८, ३९, ४०, ४१, ४४, ४५, ४७,
४८, ८३, २४६, ३२१, ३२२,
३२८, ३५४, ४१२
देशीनाममाला ४०
देसाई, मोहनलाल बुलीचन्द १५३ टि०
देसीसहस्रगह ४०
देहली ४९
दोहा १६२, २००, २०६, ३०९, ४३०,
४३१, ४३२, ४३५, ४३६
दोहाकोष ५६
दोलतकाजी ३८५, ४२०
दोलतराम २८५
द्रविड ८, २९
द्राविडी २९
द्रुमकुल्य ४०
द्रोण २१८
द्विपदी २०७
द्विवेदी, हजारी प्रसाद ५६ टि०

[घ]

घण्टुका १६४, १६७
घण्टकड़ ८३, ८४
घनजय ५३, ७८

घनदत्त १०२

घनदत्तकथा ८०

घनपति १४६, १४७, १४८, १५०, १५१

घनपति ब्रजजी ३९२

घनपाल २४ टि०, ६४, ६९, ८३, ८४,

८५, ८७, ८८, ९४, ९९, ११३,

१२७, १२८, १३१, १४१, १५१,

१५२, १५३, १५४, १५७, १५८,

१६२, १६५, २२९, २४२, २४३,

२५९, २७८, ३१३, ३२०, ३४८,

४०६, ४०८, ४२५, ४२६, ४२९,

४३५

घनपाल (द्वितीय) ३११

घनमित्र ९०

घनवह ८८, ८९, ९२, ९३, ९५, १०२,

१०३, ११३, ११८, १२०, १२१,

१२३, १५१, १५३, १५४, ३६५,

४०१, ४०३

घनश्री ८३

घनिक १२ टि०

घनेश्वर १४६, १५२

घनेसरसूरि ७०

घम्मपद ११, १२

घरणीपति १५१

घरपाल २९०, २९९, ३०४

घरसेन २३, २५, १४३

घर्कट ८४

घर्मकीर्ति ५४

घर्मधीर २८५

घर्मपरीक्षा ८४, १२५, १६५, ३४१,

३४२

घर्मपाल २१३

घर्मपुर ३७०

घर्मोपदेशमाला ७०

घवल २५०, २८२, २८८, २८९, २९०,

२९६, २९९, ३००, ३०१, ३०२,

३०३, ३०४, ३०८, ३१२, ३१३,

३१६, ३१७, ३१९, ३२०, ३२५,

३५०, ३६८, ३९९, ४०१, ४०६,

४०८

घाड़ीवाहन ३१२

घाहिल ६४, १३१

घुत्त २४

घृतस्थान ७०

घ्रुवक ३५५, ३५९

घ्न्यालोक ७२ टि०, ७५ टि०, ८१ टि०

[न]

नमिऊणक्षेत्रसमास १६६

नकारबहुल २०

नकारान्त २१

नन्दिवर्द्धन १५१

नमि साधु १९, ३२, ३६, ४१, ५३

नयनन्दो २४ टि०, ६४, १२५, १२६,

३३०

नयमुन्दर २८५

नरसिंह १२ टि०

नरमुन्दरी ३२४

नरसेन ६४, ७७, १३१, २८४, २८५,

२८६, ३११, ३५२, ३६२, ४०६,

४१२, ४२७

नर्मदासुन्दरी ७०

नलिना २५०

नवकोकिल २०६

नागकुमारकावियम् ५४

नागचन्द्र ५३

नागर १८, १९, ३४

नागश्री ९०

नामसरूपा १५२
 नागेश १७
 नाट्य ३१, ३२, ४५
 नाट्यशास्त्र २०, २१, ३१, ४१ टि०,
 ७८ टि०, ४१४
 नाथ ५२, ५३
 नाथूराम प्रेमी २२२
 नामवरसिंह ७६, ३६४
 नाराच (सोमकान्त) २५५, २५९, २७३,
 २७४, २७५
 नारायण १४५
 नारायण साहू १४४
 निम्बार्क ५२
 निय प्राकृत १२
 निरुक्त १०, ६७, ४१३
 निर्दुःखसप्तमीविधान ३३६
 निर्वाणलीलावती ७०
 निशान २९८
 नीलकेशि ५४
 नूरमुहम्मद ३७१, ४२८, ४२९
 नूरुकरवा ४३०
 नेपाल ४१, ४२, ४८, २८४
 नेमचन्द ६३, ६४
 नेमिचन्द ६८
 नेमिचन्द्र शास्त्री १५३
 नेमिनाथ ३६४
 नेमिनाथचउपई ६२
 नेमिनाथचरित ३६४
 नेमिनाहचरित ८५
 नेमीश्वर ३२८
 न्यायावतार १६६

[प]

पंक्ति ३५७
 पंक्ति ३५४

पंचायर (नाराच) २५०, २५४
 पंचतन्त्र ६९, ३६१
 पंचमीकथा १५२, १५३,
 पंचमीरास १५२
 पञाब १९, २०, ३४, ४०, ४२, ४८, ५०
 पउमचरित २३, ३५ टि०, ३९, ५६,
 ६१, ७२ टि०, ७५, ८५, ९७, ९८,
 १२१, २३३, २३७, २४९, ४१९,
 ४२१
 पउमसिरीचरित ५६, ३८२, ४२१, ४२५
 पञ्जुणचरित ६१
 पञ्जटिका १३४
 पटह २९६
 पतंजलि ७, १६, १७, २५ टि०, ४२,
 ४३
 पढड़ी (पढरि), पढड़िया १३४, ३०९,
 ३२३, ३२५, ३२९, ३३०, ३५८,
 ४३०, ४३६
 पद्मदेव २३, ३९
 पद्यानाम २२३
 पद्यप्रभचरित १६७
 पद्यश्री ३४८
 पद्यश्रीचरित (पउमसिरीचरित) ३४१,
 ३४२
 पद्यावत ८१, ९९, ३४४, ३९५, ४१५,
 ४१६, ४१७, ४१९, ४२०, ४२९,
 ४३०, ४३२, ४३३, ४३५
 पद्यावती २०६, ३०९, ४०५, ४०६,
 ४०७
 पद्यावतीचरित ३६७, ३७८
 पद्यावतीचौपाई ६२,
 पघिनी (पोमिणी) २५०, २५४
 पद्मालाल चौधरी १५३, २२३
 प्रमाणिया (प्रमाणिका) २५०, २५५

पम्प ५४	पुरन्दरविहाणकहा ३३६
परतीपरिकथा ७२	पुरवाडवंश ८४, २०८ २१९
परमानन्द जैन ५६, ८३, १४१, २७८, २८०	पुरानी हिन्दी ४७
परम्परा ४९	पुरुषार्थसिद्धधुपाय ८८ टि०
परिमल्ल २८५	पुष्करमल २६०
परीक्षागुरु ७२	पुष्पवन्त २३, २४, ३९, ५२, ५८, ६१, १२५, १३१, २१८
पल्लव ५०	पुस्तक ३
पवनगति १७२	पुष्टपक्षरिषा ४३०
पबाड़ा ५९	पुष्टपावती ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३८२, ४२०, ४२९, ४३०
पहलवी ६, ८	पृथ्वीधर २९, ३०, ३१, ४१
पायलच्छी नाममाला ८४	पृथ्वीराजरासो २६
पारववहकथा ३३६	पेन्जरटॉनी ३९२, ३९४, ३९६ टि०
पाटक ३	पेस २
पाण ३५४	पेरु २
फाणिनि ७, १०, १७, ४३	पैशाची ३३, ३५, ३६
पाण्डवपुराण ७५	पोदनपुर १४३
पादलिप्तसूरि ३९, ७०, ७९	पौण्ड्रवर्धन ३६७
पाध्ये २	प्रकृति १५
पारसी ५१	प्रजापति ३६९
पालम्ब २६०	प्रजापाल (पयपाल्प) २८१, २८४, २८६, २९१, २९२, २९९, ३०३, ३०७, ३१२, ३१४, ३२०, ३२४, ३५०
पाली ५, ६, ७, ११, १४, ३७, ३८, ४७	प्रतिहारेन्दुराज ५३
पार्थव ५०	प्रतीक २४७
पार्श्वनाथ ४०७	प्रद्युम्नचरित ३६४
पार्श्वनाथचरित १४३	प्रद्युम्नसूरि २८५
पाशुपत ५२	प्रबन्धकोश ६८
पाषण्ड १०	प्रभाकर ५४
पासणाहचरित ६१, ३३५	प्रभावन्द ५४
पाहुडबोहा ५६, ६१	प्रबन्धसारोद्धार १६७
पिगल २५०, २५६	प्रह्लादचरित ४२०
पिचडू २	
पिशेल, रिचर्ड ५६	
पुष्पासवकहाकोसु	
(पुष्पासवकथाकोश) ६३, ६८, ३३६	

प्राकृत १, ४, ५, ६, ७, ११, १२, १३,
 १४, १५, १८, १९, २०, २१,
 २२, २३, २४, २५, २९, ३१,
 ३२, ३३, ३४, ३७, ३८, ४०,
 ४४, ४५, ४७, ५४, ५७, ५८,
 ५९, ६२, ६८, ७०, ७३, ७४,
 ७६, ७९, ९९, १२६, १२८, १३३,
 १३९, १५१, १५२, १६७, १६८,
 १७५, १७६, १८३, २०१, २२०,
 २२२, २२३, २२४, २३२, २३५,
 २४६, २५०, २५१, २५३, २८५,
 ३३६, ३३९, ३४३, ३५४, ३५८,
 ३५९, ३६७, ३७५, ३८०, ३९५,
 ३९६, ४१०, ४१३, ४१४, ४१५,
 ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४३१,
 ४३५, ४३६
 प्राकृतछन्दकोश २०५, २०६ टि०, २५२,
 २५५ टि०
 प्राकृतपैगलम् १३४, १३६ टि०, १३८
 टि०, १३९, २०४ टि०, २०६,
 २४२, २५३, २५५ टि०, २५६
 प्राकृतप्रकाश १८, ३६
 प्राकृतमणिदीप १८
 प्राकृतरूपावतार १८
 प्राकृतशब्दानुशासन १८
 प्राचीनमूर्जारकाव्यसंग्रह ५६
 प्राश्ना ३४
 प्रियमेलकतीर्थ ३८१
 प्रियसुन्दरी ९३
 प्रेमवर्षण ४३०
 प्रेमाश्वानक ३३१, ३४१, ३४२, ३६७,
 ३६९, ३८२, ३८८, ४१७, ४१८,
 ४२०, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०,
 ४३२

प्टोलेमी २५, २६
 प्लवंगम् १३८

[फ]

फर्करीक ३
 फारसी ६, ८
 फिलोसॉफियन ४३
 फिरोजाबाद २१२
 फुल्लडक २५०

[ब]

बंगला ४३, ४८, ३७४, ३७९, ३८८,
 ३९६, ४२०
 बंगाल ४९, १०६, ३६३, ३६४, ३६६,
 ३८५
 बखतावरमल्ल २२३
 बड़ौदा ५६, ८३
 बनबारीलाल १५२, १५३
 बन्धुदत्त ८९, ९१, ९३, ९५, ९६, ११२,
 ११३, ११४, १२३, १४०, १४१,
 १४७, १४९, १५०, १५२, १५५,
 ३४०, ३४६, ३४८, ३५०, ३५७,
 ३६५, ४०१, ४०३
 बप्पभट्टसूरि १६४
 बम्बरकुल २८२, २८४,
 बयाना २०९, २१०
 बरलिगमे ३८८, ३९६, ३९७ टि०
 बरवै ४३०, ४३२, ४३६
 बरार ५८, ६९
 बर्न ३८८
 बर्बर १०५
 बालर ३५४
 बाणभट्ट ५३, ६९, ७२, २०२, २१८,
 २२४, २२८, २३३, ३३०
 बालरामायण ३४ टि०

बाहरी, हरदेव ५७ टि०
 बाहुबलिचरित ६१, ३३५
 बाहुबलिचरित ८४, १६५, ३११
 बिलरामपुर २०९
 बिलरामपुर २१२
 बुद्ध ५२
 बुद्धस्वामी ६९
 बुद्धू ३६४
 बुन्देलखण्ड २७, ४९, २१०, ३६२
 बुन्देली ४७, ४८, ३७२, ३७६, ३७७,
 ३७९
 बुलाकीचद २०९
 बृहती ३५७, ३५८
 बृहत्कथा १, ६९, ३६३
 बृहत्कथाकोश ६८, ३६८, ४१४
 बृहत्कथामञ्जरी ६९, ४१३
 बृहत्कथाश्लोकसंग्रह ६९, ४१३
 बृहत्पद्मदर्शनसमुच्चय १६५
 बृहत्संहिता २८
 बृहदारण्यक ६८
 बृहद्देवता ६७, ४१३
 बेगमपुर ३७०
 बेचरदास बोशी १६७
 बेतवा २०
 बोझी ८, ९
 बोद्ध १०, ११, १४, ४२, ५२, ५३,
 ५४, ३९७, ३९८, ४०५
 ब्लूमफील्ड ३९४
 ब्रज ३७४, ३७६, ३७७, ३७९, ३८३,
 ३८४, ३८५, ३८८, ३९६
 ब्र० नेमिदत्त २८५
 ब्रह्मपुराण २८
 ब्रह्म रायमल्ल २८५
 ब्रह्मवैवर्त ६७

ब्रह्मसाधारण ६२, ६५, ३३७
 ब्राचद १८, १९, ३४
 ब्राह्मण १०, ६५, ६७, ६९
 ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तण्ड २६

[भ]

भंभापहन २२७
 भगवती आराधना ३६३
 भगवतीदास ६४, १२६, २३५
 भट्टकेदार २०८
 भट्टतीत ५३
 भट्टनायक ५३
 भट्टारक ६९
 भट्टि ५५
 भण्टाक ३
 भद् २४
 भद्रा ३६७, ३६८
 भरतसैन २१३
 भरतपुर ५६, २०९, २१०
 भरतमुनि १८, २०, २१, २२, २४, २९,
 ३०, ३१, ३७, ४१, ७८, ३५७
 भक्क २८२
 भर्तृहरि १६, ४२, ५५
 भवदत्त ९०
 भवभूति ५३
 भविष्यदत्त ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४,
 ९५, ९८, १००, १०५, १०६,
 १०७, १०८, ११०, १११, ११२,
 ११३, ११४, ११५, ११६, ११७,
 ११८, १२०, १२१, १२२, १२३,
 १२४, १२९, १३१, १४०, १४१,
 १४२, १४३, १४४, १४५, १४६,
 १४७, १४८, १४९, १५०, १५१,
 १५२, १५३, १५५, १५६, १५७,

१६०, १९६, २४२, ३३८, ३४०,	४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४३२,
३४२, ३४६, ३४८, ३४९, ३५०,	४३४, ४३५
३७५, ३८६, ३८७, ३८९, ३९०,	भविस्यत्तचरिय १४३, १४४
३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३,	भाइ ३५४
४०४, ४०६, ३०७, ४०८, ४०९,	भादानक २१, ४२
४११, ४१२, ४१७, ४२२	भामह २५, ३२, ४८, ५३, ७१, ७४
भविष्यदत्तकथा ७३, ८१, ८७, ९६,	भायाणी, ह० चु०, ७५, ८५
११२, ११५, ११९, १२७, १२८,	भारत-हीरानी ८
१३५, १५१, १५३, १५४, १५८,	भारतवर्ष ३९३, ३९४, ३९५, ३९६,
१५९, २५९, २७८, ४०८	३९८
भविष्यदत्तचरित्र १४४, १४५, १५२,	भारवि ५४
१५३, ३४३, ४१५, ४२२, ४२४,	भारोपीय ७
४२६	भावसंग्रह ८७
भविष्यदत्तजीपई १५२	भाषा १७, १८, २१
भविष्यदत्तश्रुतपंचमी १५३	भीनमाल ४९
भविष्यानुकूपा ९०, ९१, ९२, ९४, ९५,	भील १४
९६, १०३, १०४, १०८, ११६,	भुंगल २९६
११७, १२०, १२१, १२२, १२३,	भुजंगप्रयात १३७, २५०
१४२, १४८, १४९, १५१, १५५,	भुणसार ३५४
१५७, १९०, १९६, २४२, ३३८,	भुवनसुन्दरीचरित्र ७०
३४०, ३४६, ३४८, ३६५, ४००,	भूपाल ९३, १०६, १२३, १४३, १४५,
४०१, ४०२, ४०९, ४१७	१४७, १५१, ४०३
भविस्यदत्तचरित्र १५२, १५३	भूषणभट्टतनय ७०
भविस्यदत्तकहा ५६, ६३, ७५, ८३, ८४,	भेको १
८५, ८७, ९३, ९७, १२५, १२८,	भेरी २९६, २९७
१३७, १४०, १८५, १९०, १९६,	भेसंड २९६
२००, २०२, २०३, २२०, २४२,	भोज १९, ३३, ४५, ४८, ५१, ५३, ८४
२४३, २४६, २५७, ३०७, ३१०,	भोजपुरी ३७२, ३७६, ३७७, ३८८
३३८, ३४०, ३४१, ३४२, ३४४,	भोजप्रबन्ध ६९
३४६, ३५१, ३५२, ३६५, ३६६,	भोट १०५
३७४, ३७५, ३८६, ३९१, ३९९,	भ्रमरपय (भमरपया) २५६
४००, ४०४, ४०७, ४०८, ४०९,	भ्रमरावलि ४३०
४१०, ४११, ४१५, ४१६, ४१७,	भ्रष्टनिरा ४०
४१८, ४२०, ४२१, ४२२, ४२४,	

[म]

मंखक ५५	मनोवेग १२, १२३, १५०, ३४०, ३९९, ४०६
मंगल २५०	मनोहरदाम २५०, २५४
मंगोल २, ५०	मन्मथविलसित ३२५, ३२६
मंजुश्री १५२	मम्मट २०, ५३
मंझन ४२८, ४२९	मयणजुज्झ ६२
मकरकेतु २८३, २९१, ३१३	मयणपराजयचरित ५३, ६२, १२५ टि०, ४२१
मगध ३३, २१३, २५८, २६४	मरहट्टा २०४
मच्छ १४३	मरहट्टा १३६, १३७
मज्जिमवारा २१०	मरहट्टा २९१, ३१२
मणिमद्र १५०, १५१, २९०, ३४०, ३९९, ४०६	(महाराष्ट्र) ३१४
मण्डनमिश्र ५४	मराठी ४४, ४८, ५७, ५९, ४२०
मतिसागर २८१	मरु १०५
मत्स्यपुराण २६, २८	मलयकीर्ति २७७, ३२६
मथुरा ३३, ४९, ५०, १६४, २१०, २१३	मलयगिरि १७७, १८१, १८२
मदनद्वीप १४७	मलयपर्वत ३८४, ४०३
मदनपराजय ५३	मलयसुन्दरी ७०
मदनमंजरी १७२, २८३	मल्लवादी १६५
मदनमंजूषा २८२	मल्लिणाहकल्बे ३३५
मदनवेगा ९०	मल्लिनाथ १७, ३३
मदनसागर २१२	मल्लिभूषण २८५
मदनसेना २८२, २८४	मल्लिबाड ३१४
मदनावतार (चन्द्रानन) २५०, २५४, ३०९	मल्लिवेण ६८
मदुरा ८६	मसान २
मधुमालती ४९, ३६३, ४१८, ४२९, ४३०	महाकाल २८२
मध्यम स्पर्श १२	महाधवल २१८
मघ्व ५२	महानुभाव ४२०
मनकरहारास ६२	महापुराण ५६, ७५, ८० टि०, १२५, १३१, २४९, ३५८, ४१९, ४२४, ४२६
मनुस्मृति २७, ७२ टि०	महामारत २८, ६८, ४१३
मनोरथदत्त १७१, ३८२	महामाष्य ९, १६, १७, २५ टि०, २६, ४३, ६७ टि०
मनोरमा १५२	

महाराष्ट्र ४०, ४१, ४२, ४४, ४६, ५०
 महाराष्ट्री १२, १३, ३३, ३४, ३५, ३९,
 ५०
 महार्थमंजरी २२ टि०
 महावीर २७७, ३१४, ३१५
 महावीरचरित ६१, ३३५
 महाशूद्र २६, ३०, ३१
 महिन्दु २४ टि०
 महिमभट्ट ५३
 महीपालकथा ८०
 महेन्द्रकुमार १६६
 महेन्द्रसूरि ७०
 महेश्वरानन्द २२
 महेश्वरसूरि ७०, १५१, १५३
 माएसर ८३,
 मागधी ५, ७, ११, १२, ३१, ३२, ३३,
 ३५, ३६, ४२
 माघ ५४,
 माढी १४५
 माणिकचन्द ६२, ६४
 माणिक्यचन्द्र ५३, ३२६, ४०९
 माघवानलकामकन्दला ६९
 मानभद्र ९०, ९१, १४८, ४०६, ४०७
 मानवीयकरण २३२,
 मान्यखेट ४९, ५८
 मारवाड़ १९, २१, २२, ३४, १०५
 मार्कण्डेय १२, १८, ४१, १६८
 मालव १९
 मालवा २५, ३४, ४२, ४६, ४८, ४९,
 ५०, २८१, २८६
 मालवणिमा १६६
 मितालि ३
 मिश्र ४३, ५१, ३६९
 मिस्र ६६, ३८८, ३९२, ३९३
 ५९

मीमांसक ३९७, ३९८
 मुकुन्दराज ४४
 मुकुल ५३
 मुक्तिविमल १५३
 मुण्डा ८
 मुनि जिनविजय ६० टि०
 मुनिबालचन्द्र ६४
 मुहम्मदबिन तुगलक ८६, ८७
 मुहम्मदशाह ८६, ८७
 मृगाकलेखाचरित्र १२६
 मृगावती ४१८, ४२०, ४३०
 मूच्छकटिक २९, ३२, ३६, ३९
 मेगस्थनीज ८
 मेचद्रुत १३१, ४२१
 मेघविजय १५३
 मेघेस्वर १४५
 मेघेस्वरचरित २७७
 मेदिनी १५
 मेवाड़ २९१, ३१४
 मेवाडी ४७
 मेहेसरचरित ६१
 मैक्समूलर ३९८
 मैनपुरी २१०, २६०
 मेनागद्वीप (मयनाग) ९५, १०१, १०६,
 १०९, ११२, १२१, १४१, १५२,
 १५५, २२७, ३६५, ३८६, ४०१
 मैनासत ४३०
 मैनासुन्दरी २१३, २६१, २८१, २८४,
 २८६, २८७, २८८, २९२, २९७,
 २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३,
 ३१२, ३१४, ३१६, ३१८, ३२०,
 ३४८, ३४९, ३८८, ४०२, ४०३,
 ४१०
 मोणय २५०

मोहपराजय ५३

मौक्तिकदाम (मुत्तीदाम) २५०, २५१

मौक्तिकदाम्नी ३०९

मौन ८

म्लेच्छ १६, २४, २५, ३०, ४१, ४३

[य]

यजुर्वेद ३५७

यति ६९

यति विनयचन्द्र ६३, ६४

यशःकीर्ति ५८, ६२, ६३, ६४, ७५,
१२५, १६५, २७७, ३२६

यशमाला ३१४

यशस्तिलक ४४, ५२

यशोदरकावियम् ५४

यशोदेवसूरि १६४, १६७

यशोवन ९०

यशोघर १४८, १५२

यशोघरचरित १२५, १३१

यशोभद्रसूरि १६४

यशोवर्मा १६९, १७६

यावज ४९

यावजवंश २११

यास्क १०, ६७, ४१३

यूनानी २, ५०

यूसुफजुलेखा ४२९, ४३०

योगशास्त्र ६२

[र]

रगाचार्य ३०

रंगीली ३७०, ३७१, ३८६

रघुवंश ७९

रतनपाल ८६

रतनमंजरी ४२९, ४३०

रत्नकरण्डावकाशार ८८

रत्नद्वीप २२७, २८२, ३१२

रत्नपालभण्डारी १५३

रत्नमंजूषा २८९, २९०, २९५, ३०३,
३०४, ३०६, ३१३, ३१९, ३२१,
३२३, ३२५, ३४७, ३९९, ४००,
४०६, ४१७

रत्नशेखर २८५

रत्नश्रीज्ञान ३१, ५८

रत्नसंभया २८२

रत्नाकर ५२

रघनूपुर (रघनूपुर) १७६, २१६, २२२,
२२४, २२६, २६५, ४१२

रमणीलता २५०

रम्मु ८६

रयणकरंडसावयायार ३३६

रयणसेहरकहा ७०

रयधू (रहधू) २४ टि०, ६३, ६४, २७७,
२७९, २८०, २८४, २८६, २९९,
३१०, ३१४, ३२३, ३३६

रत्न ६४, २५९, २६०, २६१, २६३,
२६६, २७३, ४०६, ४१२

रविदेव ५५

रविप्रतकथा ३८५

राउत २७, २८

राजपुताना २५, ४२, ४६, ४८

राजवल्लभ ३६७, ३७८

राजशेखर ४१, ५३, ११०, ३३९

राजशेखरसूरि ६८

राजस्थान ५८

राजस्थानी ४७, ४८, ५७, २७५

राजापुर ३६९, ३७०

राम ६६, ३०२, ३२४, ३२७, ३९६,
४२२

रामचन्द्र २०

रामचन्द्र ५३, ११४, १५५, १५७, ३०७

रामचन्द्र तिवारी ३६९

रामचन्द्र शुक्ल ८१, १९६, २३५

रामचन्द्रसूरि ५३

रामचरितमानस ५९, ७९, ८१, ९८, ९९,

४२९, ४३०, ४३२, ४३४

रामानन्द ५२

रामानुज ५२

रामायण ४० टि०, ७१, ७२, ७९, ९८,

९९, १०९, १३१, ३९६, ४२२

रायमल्ल १५२

राल्स्टन ३९३

रावण २४३, ३१८, ३२७, ३२८, ३९६

राष्ट्रीय ४६

रिट्टणमिचरित ७७, ४२१

रुद्रट ३९, ५३, ७३, ८०

रुद्रभूति २५

रुप्पिणी १४५

रुप्यक ५३

रूपक ४५

रूपसुन्दरी २८१

रूपिणी १४४

रुस ३६९, ३९३

रोद् १

रोहगवार ३७०

रोला ४३०, ४३६

रोहिणीचरित ३३६

रोहिणीविहाणकहा ६३

[ल]

लक्ष्मण २४ टि०, ३९, २०८, ३२८

लक्ष्मणगणि १६४

लक्ष्मणदेव ३६४

६०

लक्ष्मीधर १८, ३३, ४१, १६९, १७५

लक्ष्मीधरशाह १६४

लक्ष्मदेव २०८

लण्डी १५२

लन्विमुनि २८५

ललित २०७

ललितकीर्ति ६३, ६४, ३३६

ललितक २०६

ललिता २०५, २५०

[व]

वचनकोश २०९

वज्रजोयर ९०, ४१२

वड्डकहा ६८

वणारसी १५२

वत्सराजकथा ८०

वदनक २०५

वनमाला २९०, ३१३

वरागचरित ३३५

वरांगचरित १२५

वराहमिहिर २८

वर्दा २

वर्द्धमानकथा ७७, ३११

वर्द्धमानचरित १४४, ३३५

वलभी २३

वल्लभ ५२

वसन्तचञ्चर २४९, २५०, २५६

वसन्तपुर २१४, २१७, २२४, २५८,

२६३, २६६, ३६८

वसुदेवहिण्डी ७०

वसुधा ३६९

वसुपाल २८३, २८४

वसुभूष ४१२

वसुभूति १६९, १७०, १७१, १७३, १७४, १७८, १७९, १८३, १८९, १९५, १९८, २८४	विद्यालानन्द ५४ विद्यालान्दिन २८५ विद्यापति ४०, ४७, ५२, ६१, ३३१ विद्युत् २०५ विद्युत्प्रभ १४८ विनयचन्द्र ५३, ६३, ६५, ३३६ विनयन्तर १७१, १७५, १९४, १९५ १९८ विनयविजयसूरि २८५ विनुषश्रीधर ६३, ६५, ८१, ८५, ८८, १२७, १४३, १४४, १५२, १५३, १५४, १५५, १५७, १५८, १६२, ३४३, ३६०, ४१५ विभाषा २९, ३१, ३४, ३९, ४१ विमल २१४, २१७ विमलकीर्ति ६३, ६५ विमलबुद्धि ९३, विमलमती १९६, २१४, २१६, २२१, २२५, २२८, २३४, २३५, २४१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, ३४१, ३८१, ४१७ विमलसूरि ९८, २३५ विरहाङ्क २५१ विरहाङ्कजातिसमुच्चय २०५ विरोस् ७ विलासपुर १७२ विलासमती २१७, ३१४ विलासवर्द्धकहा ६१, ६३ (विलासवती कथा) १६४, १६७, १७४, १८५, १९६, २००, २०२, ३४२, ३४४, ३४८, ३५१, ३६०, ३८०, ३८१, ३९१, ३९६, ४०४, ४०७, ४११, ४१७, ४२०, ४२२, ४२३, ४२४, ४३२,
वस्तु २५० वस्तुक ३५५ वाक्यपदीय १६ टि०, वाग्भट १९, ३४, ५३ वादीभसिह ५५ वामन ५३ वामनपुराण ६८ वायुपुराण २८ वारंगल ८६ वारक ३ वार्ता ७१, ७२ वाल्मीकि ४०, १२०, १३१, २१८, २३५, ४२१ वाल्मीकिरामायण ५९, वासे ४१२ विकथा ८० विक्रमोर्वशीय ३५९, ४३० विचित्तमनोहरा (विचित्रमनोहरा) २५०, २५२, २५६ विच्छिन्ति २०८, ३२६ विजयपाल २१०, २१३ विजयलक्ष्मीसूरि १५२ विजयश्री २७९ विजयसिंह ७५ विजयसिंहसूरि ७० विजया ३६७ विजयार्ध १७९, २१६ विज्ञानेश्वर ५४ विदर्भ ४० विदिशा २५ विदणू १५३	

विलासवती १६८, १६९, १७०, १७१,	वैताड्य १७२, १७३
१७२, १७३, १७४, १८६, १८७,	वैतालपञ्चशतिका ६९
१८८, १८९, १९०, १९१, १९२,	वैतालपञ्चीसी ७०
१९३, १९४, १९५, १९६, १९७,	वैदिक ४, ५, ६, ७, ९, १०, १७, ३५,
१९८, १९९, ३३८, ३४०, ३४१,	४०, ४४, ४७, ६६, ६७, ६९,
३४६, ३४८, ३४९, ३६३, ३६९,	१३३, ३५७, ३५८
३७०, ३७१, ३७२, ३८२, ३८४,	वैराटक १०६
३८५, ३९६, ३९९, ४०१, ४०२,	वैष्णव ५२, ५३, ४०७
४०३, ४०४, ४०९, ४१०, ४१७,	व्याडि १६, ४२
४२२,	व्यास २१८
विलासिनी २०७, २५०	व्युह्वर ६०
विल्हण २१९	व्रज ३७, ४७, ४८
विविधतीर्थकल्प ८८ टि०,	व्रतकथाकोश ६८
विवेकसिन्धु ४४ टि०	
विद्वनाथ २०, ७२, ७३, ११०	[श]
विश्वप्रकाश १५	शकर ५४
विश्वभूषण २२३, २६१, २६२,	शंकु ५३
विश्वलोचन १५	शंखनारी १३७
विष्णुधर्मोत्तरपुराण २२, ३१	शंखपुर २८४
वीकड ४१२	शक २, ५०, ५१
वीर ८४	शकारी २९, ३१, ३२, ३४
वीरकवि १२५	शक्तिसंगमतन्त्र २६, २८
वीरवमण (दमन) २९२, २९८, २९९,	शबर १४
३०५, ३१४, ३१७, ३१९	शब्दकल्पद्रुम १५, १६ टि०
वीरदेवगणि ८०	शब्दरत्नसमन्वय १५, १६ टि०,
वीरसूरि १६६	शब्दार्थचिन्तामणि ४१ टि०
वीरसेन ५४	शमसाबाद ८६
वील्ह ४१२	शम्भुनाथ ७५, ७६, ९७
वृत्तजातिसमुच्चय २५१	शशिकान्त जैन ४०७ टि०
वृत्तरत्नाकर २०८	शाकटायन १७
वेद ७, ८, ४१	शाक्त ५२
वेबर ६०,	शाकवी ३४
बेलणकर १६२, २०४ टि०, २०५ टि०,	शाकुन्तल १५५
२५०	शान्ति १४५

शान्तिनाथचरित १४४	२९२, २९४, २९५, २९८, २९९,
शान्तिसूरि १६४	३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४,
शाबरभाष्य २२	३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३१२.
शाबरी २९, ३१, ३२, ३४	३१३, ३१४, ६१६, ३१७, ३१८,
शिल्प्यधिकारम् ५३	३१९, ३२०, ३२४, ३२५, ३४६,
शिव ४०५	२४७, ३४८, ३५०, ३६८, ३७६,
शिवपुराण ६८	३९७, ३९९, ४००, ४०१, ४०२,
शिवसहाय चतुर्वेदी ३८० टि०,	४०३, ४०४, ४०८, ४११, ४१७
शिवस्वामी ५५	श्रीपालकथा २८५, ३०७, ३१०, ३११,
शिवाय ३६३	३१४, ३२३, ३३८, ३४२, ३५६,
शिष्ट २०, ३०, ४४	३६८, ३७२, ३७६, ३९४, ४०४,
शुकबहसरी ६९	४२४
शुक्ल, रामचन्द्र ९४, ११०, १११, ११२	श्रीपालचरित्र २८५
टि०, ११९, १२० टि०	श्रीपालदास २८५
शुभचन्द्र २८५	श्रीपालाख्यान २८५
शूद्र २५, २६, २७, ३०, ४१, ४२, ४३	श्रीपुर १७१, १८७, १९१, ३८२
शूलामणि ५४	श्रीमती २१५, २१६, २२२, २३४, २४१,
शृंगारमती २१६, २२१, २३०, २३६,	२४२, २४३, २६२, २६३, २६५,
२४१, २६५, २६६, ३८१	२६६, ३४०, ३४७, ३६७, ३७९,
शृंगारसुन्दरी २८३	३८१
शेक्सपियर ३७६, ३९६	श्रीमद्भागवत २६ टि०, २८, ६७, ७१
शेखनिसार ४२९	श्रीलाल २२३
शेखरहीम ४२८	श्रीविजय ५४
शैव ५२, ५३, ५४	श्रुतकीर्ति ६२, ७५
शैवागम २२	श्रुतपंचमीव्रतकथा ३४२
शौरसेनी १८, ३१, ३३, ३४, ३५, ४६,	श्रुतसागर ६८
४७, २००	श्रुतावतार १४३
श्रीचन्द्र ६३, ६५, ३३६	श्रुतिक ९९, २७७, ३१४, ३१५
श्रीधर १४३, १४४, १४५, १५२, २११,	श्वेताम्बर २८१, ३७६
२१२, २१९, २२०, २७८	श्वेताम्बी १६९, १७१, १७६
श्रीधरसैन १४३	[ख]
श्रीषष्ठ २१०	षट्कर्मोपदेश १२६ टि०
श्रीपाल २७७, २८१, २८२, २८३, २८४,	षड्पदी १६३
२८५, २८६, २८८, २८९, २९०,	षड्माषाष्टत्रिका ३३ टि०, ३४ टि०, ३५

[स]

संकीर्ण स्कन्धक २०६

संजममंजरी ५६

संभवणाहचरित ६१

संस्कार १७

संस्कारहीन १६

संस्कृत ४, ५, ७, १०, १३, १४, १७,

१९, २०, २१, २२, २३, २५, २९,

३२, ३४, ३८, ४०, ४२, ४४, ४५,

४६, ४४, ५७, ५८, ६८, ७०, ७३,

७४, ७७, ७९, ८१, ८४, ९९,

१०९, ११०, १२६, १२७, १२८,

१३३, १३६, १३९, १४३, १४४,

१५२, १५३, १५४, १६२, १६७,

१६८, १७६, २००, २०१, २०२,

२१८, २२२, २२३, २२४, २३०,

२३२, २३५, २४१, २४५, २४६,

२५१, २५२, २५३, २५५, २७४,

२८५, ३०९, ३३१, ३३६, ३३८,

३३९, ३४५, ३५१, ३५२, ३५३,

३५४, ३५८, ३५९, ४१३, ४१४,

४१८, ४२०, ४२१, ४२२, ४२४,

४२५, ४२६

सकलकीर्ति ६८, २८५

सकलविधिविधान ३३०

सती मयना ओ लोर चन्द्रानी ३८५

सत्त्वसणकहा ६१, ६२, ३२६

(सप्तव्यसनकथा) ३२७, ३३०, ३४१,

३५४, ४०९, ४२१

सत्त्वसणवज्जणकहा ७३

सत्यवतीकथा ४३०

सत्यवान ३०२

सत्यसागरगणि २८५

सत्येन्द्र ६७ टि०, ३६२, ३७२, ३७४

टि०, ३७५ टि०, ३७६ टि०, ३७७

टि०, ३७८, ३७९ टि०, ३८१ टि०,

३८३ टि०, ३८४ टि०, ३८५ टि०,

३८६ टि०, ३८७ टि०, ३८८ टि०,

३९६ टि०

सदयवत्सकथा ८०

सघात ४९२

सनत्कुमारचरित २४ टि०, ३९ टि०,

५६, १४५, १६८, १६९, १७०,

१७१, १७२, १७३, १७४, १७७,

१७८, १७९, १८३, १८६, १८७,

१८८, १८९, १९१, १९३, १९४,

१९५, १९६, १९७, १९८, १९९,

३४१, ३४८, ३७०, ३८४, ३८५,

३९८, ३९९, ४०१, ४०२, ४०३,

४०४, ४०८, ४०९, ४१०, ४१७,

४२२

सन्देशरासक २४, ६१, ९९, ४२७, ४३४

सन्मतितर्क १६५, १६६

समन्तभद्र ५४, ८८, १६५

समयसार २७९

समराइच्चकहा ७०

समरावित्यकथा १६८

समवायागसूत्र ८० टि०

समाधिगुप्त १५२, २८६, ३१२

समानिका (समाणिया) २५०, २५६

समाधिगुप्त ४१२

समुद्रगुप्त २५

समुद्रदत्त १७१, ३४८, ३५०, ३७८,

४०१

समृद्धिदत्त १७१

सम्प्रसारण ४, ६, ३८

सम्महजिणचरित ६१

(सन्मतिजिनचरित्र) २७८, २७९

सम्मत्तगुणनिहाण २७७
 सम्यक्त्वरहस्यस्तोत्र १६६
 सरला शुक्ल ४१६ टि०, ४२७ टि०,
 ४२८ टि०, ४२९ टि०, ४३० टि०
 सरस्वती ८३
 सरस्वतीकण्ठाभरण ३३ टि०, ४५ टि०
 सकृपा ९३, ९५, ९६, १०२, १०७,
 १२३, १४६, १४७, १४९, १६०,
 ३४६, ३५०
 सर्वाङ्गसुन्दरीकथा ८०
 सवैया ४३६
 सहकारकुसुममंजरी २०७
 सहजावद्द्वीप २२७
 सहस्रबल १७२
 साकी ४३०
 सागरदत्त २१४, २१५, २१६, २२०,
 २४२, २४३, २४८, २६२, २६३,
 २६४, २६५, २७२, ३६७, ३६८
 सांतिनाहचरित ६१
 साधारण १६४, १६८
 साधारणसिद्धसेन ६३, ६५
 साधुसुन्दरगणि ४०
 सानुदेव १७२, १९५
 सामवेद ३५७
 सायण ५४
 सावयधम्मदोहा ५६, ६१
 सावर्ण्यभाव १२
 सावित्री १९५, ३०२
 सावित्री सरीत ३८९, ३९०
 साहित्यदर्पण ७३ टि०
 साहल २१३
 सिध ३५४
 सिध शम्भूनाथ ३६४
 सिंहद्वीप ३१३

सिंहदेवगणि १२ टि०
 सिंहरथ २८१, ३१२
 सिंहराज १८
 सिंहलद्वीप १५१, १७१, १८७, १९१,
 १९५, २१५, २१६, २२२, २२३,
 २२७, २२८, २४२, २४४, २६५,
 ३४०, ३६७, ३६८, ३७०, ३७१,
 ३७२, ३७९, ३८२, ३८७, ३९५,
 ३९६, ४१६, ४१७, ४२८, ४३१
 सिंहसूरि ६८
 सिंहावलोकन १३८
 सिंहासनद्वात्रिंशतिका ६९
 सिंहासनवत्सीसी ७०
 सिकन्दर २५, ५०
 सिग्विणी २५०
 सिधियार्थ २, ५०
 सिद्धचक्रकहा ६१, ७५, १९६, २७७,
 ३११ ३१४
 सिद्धचक्रकथा १३१, २८५, २८६, ३११,
 ३१५, ३२१, ३४१, ३४२, ३४६,
 ३४८, ३५१, ३५२, ३५४, ३६२,
 ३६८, ३७१, ३७६, ३९१, ३९४,
 ३९९, ४०५ टि०, ४०६ टि०, ४०७,
 ४०८, ४१०, ४११, ४१२, ४२०,
 ४२७, ४३३, ४३४
 सिद्धचक्ररास २८५
 सिद्धसूरि १६६
 सिद्धसेनगणि १६६,
 सिद्धसेन, सिद्धसेनदिवाकर १६४, १६५,
 १६६, १६८, ३४८
 सिद्धसेनसूरि १६४, १६७
 सिद्धहेमशब्दानुशासन ५६
 सिन्ध १९, २०, ४०, ५०
 सिन्धो ४३, ४६

सिरिडर ४१२	मुखमाधिगुप्त २१८
सिरिपालकहा ६१, २७७	मुहडप्रभ ८४
सीता ११४, १५५, १५७, १९५, ३०२, ३२४, ३२७	मुहडादेवी ८४
सील ४१२	सूफी ५३
सुकुमालचरिउ ६१	सूर १२२, ४३४, ४३५
सुकुमालचरित १४४	सूरतेज १६८
मुकोसलचरिउ ६१	सेन ४९
सुकौशलचरित्र २७८, २७९	सोखवडविहाणकहा ३३६
मुखवडविहाणकहा ६३	सोपारकपुर २८४
मुखसम्पत्तिविधानकथा ३३६	सोमकीर्ति २८५
सुगन्धदशमीविधानकथा ३३६	सोमदेव ४४, ५३
सुगुप्ति १४६	सोमदेवमूरि ८७
सुतार्लिगन ३२५	सोमप्यइ ४१२
सुतारा १५१	सोमप्रभ १४५
सुदंसणचरिउ ३३०, ३३१, ४३३	सोमराजी (शंखनारी) २५३
सुदर्शनचरित १२५, १२६, ३४१, ३४२	सोरठ २९१, ३१२, ३१४
सुदामाचरित ६९	सोरठा ३५८, ४३०, ४३१, ४३६
सुपट्ट साहु १४४, १४५	सोलकी ४९
सुपासनाहचरिउ १६४	सौभाग्यपंचमीकथा १५३
सुप्यट १४५	सौभाग्यसुन्दरी २८१, २८४
सुप्यदोहा ६१	सौराष्ट्र ६९
सुमतिगणि ७०	सौराष्ट्री ४६, ४७
सुमतिमूरि २२०	स्कन्ददास ३६८, ३७५
सुमित्रा ९२, १५०, १५१, १९६, ३६५, ३८७	स्कन्दपुराण ३६६
सुयंघदहमीकहा ६३	स्वयम्भू २३, २४, ३५, ३९, ५८, ६१, ७२, ७७, ८५, ९७, १२१, १२५, १३१, १३४, १३५, १६५, २१८, २३३, २३५, २३७, २५४, ३०९, ३३०, ३५५
सुरसुन्दरी २८१, २८४, २८६, २८७, २९९, ३००, ३०३, ३१२	स्वरभक्ति ४, ६
सुरसुन्दरीचरिउ ७०	स्वरयोग ४, ७
सुरसुन्दरीरास २८५	स्वगवस्थान ६
मुलीचनाचरित १२५	स्वरूपा १५७
मुवाबत्तीसी ७०	स्वर्णद्वीप १४७
मुत्रता ९१, १४८, १५१	

घोर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल न० २८०.३ देवेन्द्र

१११

